इकाई–1 योग सूत्र का परिचय, योग की परिभाषा

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 भारतीय परम्परा में योग का स्वरूप
1.4 योग सूत्र का परिचय
1.4.1 योग सूत्र के प्रणेता : पतंजलि
1.4.2 योग सूत्र का ऐतिहासिक महत्त्व एवं स्वरूप
1.4.3 योग सूत्र की विषय वस्तु
1.5 योग की परिभाषा
1.5.1 विभिन्न मतों में योग की परिभाषा
1.5.2 योग सूत्र में योग की परिभाषा
1.6 सारांश
1.7 शब्दावली
1.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ
1.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
1.11 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

योग विषय पर आजकल बहुत से विचार प्रस्तुत किए जा रहे हैं। आपने देखा होगा कि इस विषय पर पढ़ने के लिए प्रचुर मात्रा में आसानी से पाठ्य सामग्री भी उपलब्ध हो जाती है। आज यदि आवश्यकता है, तो वो इसके व्यवस्थित स्वरूप को जानने की है। जिसमें महर्षि पतंजलि कृत योगसूत्र का महत्त्वपूर्ण योगदान है। अधिक न कहे तो भी बिना योग सूत्र के भारतीय योग परम्परा को व्यवस्थित रूप में समझना लगभग असम्भव है। यहाँ प्रस्तुत इकाई में हम इसके स्वरूप को जानने का प्रयास करेंगे।

आज प्रायः योग को सही वस्तु–स्थिति को न समझ पाने के कारण कई सारे भ्रम उत्पन्न हो रहे हैं। लोग योग के ऐतिहासिक एवं दार्शनिक विकास क्रम को जाने बगैर मन–माने ढंग से इसकी व्याख्या कर रहे हैं। जो स्थिति को बहुत संवेदनशील बना रहा है। योग की विचारधारा को व्यवस्थित रूप में समझने के लिए यह अत्यावश्यक है, कि इसके ऐतिहासिक और दार्शनिक पक्षों को सही रूप में समझा जाए तभी हम इस क्षेत्र में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकेंगे। प्रस्तुत इकाई के माध्यम से हम आशा करेंगे कि आप तक योग सूत्र से सम्बन्धित व्यवस्थित और प्रमाणिक जानकारी प्राप्त कर सकेगें साथ ही आप योगसूत्र के और अध्ययन के लिए प्रेरित भी होगें।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप इस योग्य हो जायेंगे कि–

- भारतीय परम्परा में योग के स्वरूप और महत्त्व से परिचित हो सकेंगे।
- योग के अद्वितीय ग्रन्थ–योगसूत्र का परिचय पा सकेंगे।

- योग की परिभाषाएं जानने का प्रयास करेंगे और इसकी व्यापकता पर प्रकाश डाल पायेंगे।
- योग की दार्शनिक पृष्ठभूमि का सामान्य परिचय पा सकेंगे।

1.3 भारतीय परम्परा में योग का स्वरूप

भारतीय परम्परा में योग के स्वरूप को जानने के लिए हमें भारतीय परम्परा के विभिन्न आयामों पर विचार करना होगा। जिसमें भारतीय परम्परा को जानने और समझने के लिए आवश्यक सामाग्री मिल सके। इसके लिए इस परम्परा के ऐतिहासिक और दार्शनिक विकास पर एक दृष्टि डालनी होगी। आइए इसे क्रम से समझने का प्रयास करें।

1.3.1 ऐतिहासिक सन्दर्भों में योग :

भारतीय परम्परा का इतिहास विश्व का सबसे प्राचीन इतिहास रहा है। आप जानते होंगे कि सिन्धु घाटी की सभ्यता विभिन्न दृष्टिकोणों से विश्व की प्राचीनतम सभ्यता रही है। 1921–1922 में हुई खुदाई के आधार पर हमने भारतीय परम्परा के विकास की ऐतिहासिक जानकारियां हासिल की। जिनके आधार पर हम उस सभ्यता के खान–पान, रहन–सहन आदि व्यवस्थाओं को जान सके। ये खुदाई भारत के (हड़प्पा और मोहनजोदड़ो) पंजाब, राजस्थान, गुजरात आदि क्षेत्रों में हुई। उत्खनन से प्राप्त सभी सामाग्रियां विभिन्न दृष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण साबित हुई।

यहां पर हमारा उद्देश्य अन्य पहलुओं पर विचार न करके केवल योग सम्बन्धी सामाग्री पर अपना ध्यान केन्द्रित करना है। उत्खनन से प्राप्त अवशेषों से यह बात सामने आयी है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता से ही योग मानव जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग था। कई सारी ध्यानमुद्रा में स्थित मूर्तियाँ इस ओर इशारा करती है कि उस समय के लोगों को योग के विभिन्न पहलू ज्ञात थे। कई अवशेष विभिन्न आसनों की ओर भी संकेत करते हैं। जो कि यौगिक अभ्यासों का बहुत ही आवश्यक अंग है।

चित्र : 1

चित्र : 2

हड़प्पा और मोहनजोदड़ो का खुदाई से प्राप्त ध्यानमुद्रा में स्थित मूर्तियाँ

इसके अतिरिक्त योग के आदि प्रवर्तक को लेकर भी कई सारे विवाद सामने आते हैं। महाभारत के अनुसार सांख्य के आदि वक्ता कपिल और योग के हिरण्यगर्भ हैं। अब समस्या यह आती है, कि ये हिरण्यगर्भ कौन थे? जिस प्रश्न का अभी तक कोई सर्वसम्मति से समुचित उत्तर नही मिल पाया है। समस्या तब और गंभीर हो जाती है जब हम हिरण्यगर्भ के द्वारा रचित कोई भी योग शास्त्र का ग्रन्थ नहीं पाते हैं। कुछ विद्वानों का मानना है, कि हिरण्यगर्भ कोई ऋषि थे जिन्होंने योग का प्रथम उपदेश किया और बाद में अन्य अन्य आचार्यों ने अपने अपने योग परक ग्रन्थों में उन्हीं की योग प्रणाली का विस्तार से विचार किया। अन्ततः पतंजलि भी इसी क्रम में आगे अपने योगसूत्रों की रचना उनके समय में उपलब्ध योग प्रणालियों के आधार पर करते हैं। इसी कारण पतंजलि को योगसूत्र का सम्पादक या संकलनकर्त्ता कहा जाता है। परन्तु अपने योगसूत्र में वे हिरण्यगर्भ नामक किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं लेते हैं। जो भी हो हिरण्यगर्भ को योग के आदि वक्ता और उपदेशकर्त्ता के रूप में जाना जाता है। यहाँ तक कि कुछ विद्वान तो उनके द्वारा रचित हिरण्यगर्भ योगशास्त्र का भी वर्णन करते हैं। इस दृष्टि से हिरण्यगर्भ ही एक मात्र पहले ऋषि हुए जिन्होंने योग की आधार शिला रखने मे अग्रज की भूमिका निभाई।

पातंजल योगसूत्र के बाद स्पष्ट रूप से हमें कोई अन्य ग्रन्थ प्राप्त नही होता जिसके द्वारा योग का व्यवस्थित स्वरूप प्राप्त किया जा सके। इस प्रकार महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर एवं साथ ही पुरातात्विक उत्खनन के तथ्यों को जानने के बाद योग की ऐतिहासिक स्थिति बहुत स्पष्ट हो जाती है।

1.3.2 दार्शनिक सन्दर्भो में योग :

भारतीय दार्शनिक विचारधाराओं में योग हमेशा एक केन्द्रीय अवयव के रूप में रहा है। यदि योग के दार्शनिक पक्ष को विचार किया जाए तो हम देखेंगे कि भारतीय दार्शनिक विचारधाराओं ने इसके विकास मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। सर्वप्रथम यदि वैदिक विचारधाराओं पर दृष्टि डाले तो योग की स्पष्ट छवि हमें वहाँ देखने को मिलती है। विद्वानों का मानना है, कि योग का उल्लेख ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में अनेक स्थानों पर हुआ है। इनमें कुछ स्थल तो योग साधना का स्पष्ट संकेत करते हैं–

उदाहरण के लिए–

(क) यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन।

स धीनां योगमिन्वति।। (ऋक् संहिता, मण्डल 1, सूक्त 18, मन्त्र 7)

(ख) स घा नो योग आभुवत् स राये स पुरंध्याम्।

गमद वाजेभिरा स नः।। (ऋक् संहिता, 1/5/3, सामवेद संहिता 1/2/10/3, अथर्ववेद 20/69/1)

(ग) योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे।

सखय इन्द्रमूतये।। (ऋक् संहिता, 1/30/7, शुक्ल यजुर्वेद, 1/14, सामवेद, 1/2/11/1, अथर्ववेद, 20/26/1)

इन मन्त्रों में 'योग' शब्द निश्चय ही चित्त की किसी न किसी प्रकार की एकाग्रता की अभिव्यक्ति कर रहा है। इस प्रकार सांकेतिक रूप से योग का स्वरूप प्रत्यक्षतः और अप्रत्यक्षतः वेदों में दिखाई देता है। हमारे सभी दर्शन वेदों से अपनी प्रामाणिकता सिद्ध

करते हैं। ठीक इसी प्रकार योग के साक्ष्य वेदों में मिलने के कारण हम कह सकते हैं कि योग भी वेद–सम्मत है।

इसके अतिरिक्त योग अन्य दर्शनों में भी विस्तार से देखने को मिलता है। बौद्ध, जैन आदि अवैदिक कहे जाने वाले दर्शनों में भी योग के साक्ष्य मिलते हैं। यहाँ हम यह भी कह सकते हैं, कि जिस दर्शन में साधना है, वहाँ साधना के केन्द्र में योग है। योग प्रत्येक दर्शन की उपासना पद्धति का महत्त्वपूर्ण अंग है। इसलिए विभिन्न दर्शनों का अध्ययन करते हुए इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

अभ्यास प्रश्न भाग–1

1. अति लघु उत्तरीय प्रश्न–
   (क) विश्व की किस प्राचीन सभ्यता में योग के साक्ष्य मिलते हैं?

   (ख) योग के प्रथम उपदेष्टा किसे कहा जाता है?

   (ग) योग से सम्बन्धित जानकारी सर्वप्रथम किस प्राचीनतम ग्रन्थ में मिलती है?

2. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें।
   (क) सांख्य दर्शन के प्रथम उपदेशक ..... हैं।

   (ख) ..... में योग दर्शन को व्यवस्थित रूप प्रदान किया गया।

1.4 योगसूत्र का परिचय

आप जानते होंगे कि भारत में बहुत से सूत्र ग्रन्थ लिखे गए, जिनमें सार–रूप में बहुत सी जानकारियाँ उपलब्ध होती हैं। इन ग्रन्थों की अपनी एक परम्परा है। योग सूत्र भी इन्हीं सूत्र ग्रन्थ परम्परा का एक हिस्सा है। जिसमें योग परक विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों को सार रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। यहाँ योग सूत्र का विस्तृत परिचय पाने के लिए हम इसका अध्ययन बिन्दुवार करेंगे। जिससे योग सूत्र की सामान्य और प्रामाणिक जानकारी मिल पाएगी।

1.4.1 योग सूत्र के प्रणेता : पतंजलि :

योग सूत्र के विद्यार्थियों के लिए यह बहुत ही आवश्यक है कि योग सूत्र का अध्ययन करने के साथ–साथ वे इसके संकलनकर्त्ता महर्षि पतंजलि के विषय में भी जाने। पतंजलि का परिचय दिए बिना योग सूत्र पर विचार करना निरर्थक होगा। इस कारण यहां पर हम प्रयास करेंगे कि विभिन्न प्रामाणिक शोधों के आधार पतंजलि विषय में क्या जानकारी उपलब्ध होती है।

कुछ लोगों का मानना है, कि पतंजलि नाम के बहुत से व्यक्ति हमारे प्राचीन इतिहास में हुए होंगे जिनको लेकर हमेशा से मतवाद होता रहा है। यहां हम इस पर अधिक विचार न कर केवल प्रामाणिक सन्दर्भों के आधार पर पतंजलि के व्यक्तित्व का ऐतिहासिक वृत्त जानने का प्रयास करेंगे। विद्वानों के अनुसार विभिन्न कालों में हुए पतंजलि नाम के आचार्य या फिर पतंजलि का विवरण मुख्य रूप से तीन सन्दर्भों में मिलता है–

1. योग सूत्र के रचयिता।
2. पाणिनी व्याकरण के महाभाष्यकार।
3. आयुर्वेद के किसी संदेहास्पद ग्रन्थ के रचयिता।

इस विषय पर एक बड़ा सुन्दर और लोकप्रिय श्लोक भी प्राप्त होता है–

योगेन चित्तस्य पदेन वाचा मलं शरीरस्य च वैधकेन।
योपारोक्तं प्रवरं मुनीनां पतंजलिर्नप्रान्जलिर्नतोऽस्मि।।

अर्थात् मैं करबद्ध होकर ऐसे पतंजलि मुनि को प्रणाम करता हूँ, जिन्होंने योग के द्वारा चित्त शुद्धि, व्याकरण के द्वारा वचन शुद्धि और आयुर्वेद के द्वारा शरीर शुद्धि का उपाय बताया।

इस प्रकार प्रचलित मान्यता में इन तीनों कार्यों के श्रेय पतंजलि को ही जाता है। यह मान्यता बहुत प्राचीन समय से चली आ रही है, जिसे भर्तृहरि, समुद्रगुप्त, भोजराज आदि ने अनेक बार दोहराया है।

अन्य विद्वानों के मत में पतंजलि को गोनर्दीय कहकर उनको उत्तर प्रदेश राज्य के अन्तर्गत गोण्डा का निवासी भी बताया है। वहीं दूसरी ओर एक अन्य प्रचलित मान्यता के आधार पर इन्हें शेषनाग का अवतार बताया जाता है। इस सन्दर्भ में विद्वानों को मानना है कि ये कश्मीर में रहनें वाले नागू जाति के ब्राह्मणों के बीच पैदा हुए थे और मुखिया थे। अद्‌भुत शास्त्रज्ञान और विभिन्न भाषाओं के प्रकाण्ड विद्वान पण्डित होने के कारण इनको सहस्रजिव्हत्व (एक हजार जीभ वाला) की कल्पना में शेषावतार के रूप में प्रसिद्धि मिल गयी होगी। इसी कारण कुछ स्थानों पर ऐसा विवरण भी मिलता है कि पतंजलि अपने शिष्यों को पर्दे के पीछे छिपकर पढ़ाते थे, और शिष्यों के लिए कड़ा निर्देश था कि पर्दे को उठाकर न देखा जाए। इस दुःसाहस का बड़ा गंभीर परिणाम हो सकता है। एक दिन अत्यन्त जिज्ञासावश एक शिष्य ने दुःसाहस कर दिया और पतंजलि ने क्रुद्ध होकर अपनी एक हजार जिव्हाओं से अग्नि फेंककर सब कुछ नष्ट कर दिया। भाग्यवश एक शिष्य वहाँ से बचकर भाग गया जिसके बाद में उनके द्वारा दिए गए उपदेशों का संग्रह किया।

एक किंवदन्ती के अनुसार ऐसा ज्ञात होता है, कि प्रातःकाल नदी में अचानक से सूर्य के अर्घ्य देते समय कोई बालक एक ब्राह्मण के अंजलि में आ गया और उस दृष्टान्त के कारण इनका नाम पतंजलि पड़ गया। बाद में उसी ब्राह्मण के यहां इनकी शिक्षा–दीक्षा हुई। कुछ विद्वान इन्हें शुंगवंशीय महाराज पुष्यमित्र के दरबारी पण्डित के रूप में भी बताते हैं। इस आधार पर इनका समय द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व (2 Century B.C.) निर्णय किया जाता है। हालांकि इनके समय के विषय में भी स्थिति स्पष्ट नहीं होती है लेकिन फिर भी अधिक से अधिक सन्दर्भ हमें यही समय बताते हैं।

चित्र : 3 महर्षि पतंजलि

इन सभी तथ्यों को जानने के बाद आपके लिए यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण जानकारी है कि पतंजलि, योग सूत्र के मूल लेखक नहीं अपितु संकलनकर्त्ता माने जाते हैं। विद्वानों का ऐसा मानना भी है, कि उन्होंने अपने समय में प्रचलित योग की विभिन्न पद्धतियों का संग्रह कर उनको सूत्रात्मक रूप में अपने ग्रन्थ में संग्रहित किया। सूत्र का यह लक्षण भी होता है, कि वह कम से कम शब्दों में बिना कोई सन्देह उत्पन्न किए बहुत बड़े सिद्धान्त को भी अपने में समेट ले। जो हमें पतंजलि कृत योग सूत्रों को देखने से पता चल जाता है।

1.4.2 योग सूत्र का ऐतिहासिक महत्त्व एवं स्वरूप :

आप अब तक जान चुके होंगे कि विभिन्न ऐतिहासिक साक्ष्य योग की प्राचीनता को बताते हैं। उसी प्रकार यदि दार्शनिक सन्दर्भों में देखा जाए तो योग का अपना दार्शनिक महत्त्व भी है। हमारा अध्ययन यहाँ योग सूत्र को केन्द्र में रखकर किया जा रहा है। जिसमें जो महत्त्वपूर्ण बात हम देखते हैं वह यह है, कि जहां पर भी योग दर्शन की बात की जाती है, वहां योग सूत्र ही दिखाई देता है। इसका सीधा सा कारण अब तक आप लोग भी समझ गए होंगे और वह यह है कि एक मात्र पतंजलि ही ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने योग को व्यवस्थित स्वरूप देकर अपने ग्रन्थ के माध्यम से सूत्र रूप में संकलित किया। जिसके कारण अन्य दार्शनिक विचारधाराओं में योग की स्थिति को जानने में बहुत सहायता मिली। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से योग सूत्र की प्राचीनता स्पष्ट रूप से बता दी गयी है। यदि बिना किसी विवाद में उलझे योग सूत्र का काल दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व निर्धारित किया जाए तो अन्य दर्शन जो कि इसके बाद विकसित हुए, उन पर इसका स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है।

ऐतिहासिक रूप से सांख्य दर्शन को योग से पहले बताया जाता है, परन्तु यह भी निर्विवाद रूप से सत्य है, कि योग सांख्य दर्शन का क्रियात्मक पक्ष प्रस्तुत करता है। जिसके कारण कभी–कभी दोनों दर्शनों को एक दूसरे का पूरक या समान तन्त्र भी कहा जाता है। दोनों ही दर्शन एक दूसरे से काफी समानता रखते हैं। इस विषय पर विभिन्न दर्शन ग्रन्थों में विस्तृत चर्चा मिलती है। तथा इस ग्रन्थ पर अनेक टीकायें भी प्राप्त होती हैं। अतः योग सूत्र के महत्त्व को अधिक गहराई से जानने के लिए आपको यह जानना भी आवश्यक है कि उस पर कितनी टीकाएं उपलब्ध है। इनके आधार पर हम इस ओर स्पष्ट संकेत कर सकते हैं कि योग सूत्र की लोकप्रियता और महत्त्व कभी कम नहीं रहा। जिसके कारण हर काल में इस पर भिन्न–भिन्न रूपों में व्याख्यायें सामने आती हैं। ये सारी व्याख्याएं योग सूत्र के अर्थों को स्पष्ट करने के लिए हैं। जिनके माध्यम से सूत्र रूप में लिखी व्यापक सैद्धान्तिक जानकारी को और अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सके।

यदि आप योग सूत्र के इतिहास पर दृष्टि डालें तो पतंजलि के सूत्रों के पश्चात जिस रचना को सर्वाधिक प्रसिद्धि मिली वह थी–व्यास भाष्य। व्यास भाष्य, व्यास के द्वारा योग सूत्र की प्रथम टीका या व्याख्या थी। जिसमें योग सूत्र के शास्त्रीय और व्यावहारिक ज्ञान पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। इस भाष्य को 'योग भाष्य', 'व्यास भाष्य', 'पातंजल भाष्य' और 'सांख्य प्रवचन भाष्य' आदि नामों से जाना जाता है। हालांकि इस बात पर बहुत से विवाद अभी तक बने हुए हैं, कि ये व्यास कौन थे–वेद व्यास या ब्रह्मसूत्रकार बादरायण व्यास? हम यहाँ इन प्रश्नों में न उलझकर केवल यह जानने का प्रयास करेंगे कि ऐतिहासिक दृष्टि से इसका क्या महत्त्व है। यह बात अब तक आपको स्पष्ट हो गयी होगी कि पातंजल योग सूत्र पर पहली टीका व्यास द्वारा लिखी गयी। इसमें योग सूत्र में आए विभिन्न सैद्धान्तिक पक्षों पर विस्तार से चर्चा की गयी है। इसका महत्त्व भी इसी से स्पष्ट

हो जाता है कि इसके बाद की सभी रचनाओं मे कहीं न कहीं इसी का अनुसरण करके व्याख्याएं प्रस्तुत की गयी है।

काल की दृष्टि से विद्वानों ने इसे दूसरी शताब्दी ई0 (2^{nd} Century AD) के समय का माना है। जिससे स्पष्ट होता है, कि व्यास की यह रचना योग सूत्र पर पहला उपदेश थी क्योंकि अन्य सारी रचनाएं इस समय के बाद की ही मिलती हैं। यहां आप यह बात भी समझ लें समय के विषय में उक्त जानकारी अभी तक विवादों के घेरे में हैं परन्तु प्रचलित मान्यताओं के आधार पर यही सही समय लगता है, जिससे व्यास भाष्य की रचना हुई।

व्यास के बाद योग सूत्र पर अन्य रचना वाचस्पति मिश्र की 'तत्त्व वैशारदी' उपलब्ध होती है। वाचस्पति मिश्र का समय 10वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का माना जाता है। इस प्रकार व्यास के कई शताब्दियों बाद योग सूत्र पर दूसरी रचना उपलब्ध होता है। वाचस्पति मिश्र ने अपनी टीका में व्यास के द्वारा दी गयी व्याख्या को और अधिक स्पष्ट किया है, और साथ ही कई अन्य महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों की भी विवेचना की है।

वाचस्पति मिश्र के ठीक बाद लगभग 11वीं शताब्दी में धार के राजा भोजदेव ने योग सूत्र पर अपनी टीका लिखी। जिसे भोजवृत्ति के नाम से जाना जाता है। इसके अतिरिक्त भावागणेश ने 17वीं शताब्दी में एक और टीका लिखी। तथा नागोजी भट्ट (17वीं शताब्दी), रामानन्दयति और नारायण तीर्थ (18वीं शताब्दी) आदि ने भी टीकाएं लिखीं।

आजकल उपलब्ध टीकाओं में स्वामी हरिहरानन्द अरण्य की 'भास्वती' नामक टीका काफी प्रसिद्ध है। इसके अलावा अंग्रेजी अनुवाद में गंगानाथ झा, राजेन्द्र लाल मिश्र और जे.एच. वुड्स ने भी बड़ा सराहनीय कार्य किया है।

इन सभी विषयों को जानने के बाद आप लोग योग सूत्र के ऐतिहासिक स्वरूप और इसके महत्त्व से भली भांति परिचित हो गए होंगे। इन सारे विषयों पर जानकारी देने का उद्देश्य केवल इतना था कि आप लोग योग सूत्र से सम्बन्धित प्रामाणिक जानकारी प्राप्त कर सकें और यदि भविष्य में इसका विशेष अध्ययन करना चाहें तो उक्त ग्रन्थों के अध्ययन से लाभान्वित हो सकें।

1.4.3 योग सूत्र की विषय वस्तु :

जैसा कि आप सभी लोग जान गए होंगे कि योग सूत्र योग के विभिन्न बड़े–बड़े सिद्धान्तों और विषयों पर लिखा गया संक्षिप्त प्रस्तुतीकरण है। जिसमें अल्प शब्दों बिना किसी संशय के योग के बड़े–बड़े दार्शनिक विचारों को बड़े ही सरल, प्रामाणिक और व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इसके विषयों को चार अध्यायों के अन्तर्गत रखा गया है जिन्हें 'पाद' की संज्ञा दी है–

1. समाधि पाद
2. साधन पाद
3. विभूति पाद
4. कैवल्य पाद

समाधि पाद में 51, साधन पाद में 55, विभूति पद में 55 और कैवल्य पाद में 34 सूत्र हैं। कुल मिलाकर सम्पूर्ण योग सूत्र में 195 सूत्रों में उपलब्ध होता है। विषय के अनुसार इन्हीं 195 सूत्रों में योग के विभिन्न विषय संक्षिप्त रूप में समझाए गए हैं जिन्हें समझने के लिए हम उपलब्ध टीकाओं और अनुवादों का सहारा लेते हैं। वह तो पहले ही बताया जा चुका है कि योग सांख्य का व्यावहारिक रूप बताता है। सांख्य यदि दर्शन है, तो योग उसका

प्रायोगिक स्वरूप बताता है। इन्हीं विषयों को लेकर योग सूत्र के चारों पादों या अध्यायों में विस्तृत चर्चा मिलती है। विषय की दृष्टि से चारों अध्यायों की विषय वस्तु को संक्षिप्त रूप से कुछ इस प्रकार समझ सकते हैं–

समाधि पाद – समाधि पाद के अन्तर्गत, समाधि से सम्बन्धित मुख्य–मुख्य विषयों को लिया गया है। जैसा कि आप नाम से ही समझ रहे होंगे। समाधि से सम्बन्धित सभी दार्शनिक सिद्धान्तों और विषयों को इस अध्याय के अन्तर्गत बड़े ही व्यवस्थित क्रम में बताकर बाद में समाधि की स्थिति को प्राप्त करने के लिए यौगिक पद्धतियों का वर्णन भी मिलता है।

इस अध्याय में सर्वप्रथम योग की परिभाषा बताई गयी है जो कि चित्त की वृत्तियों का सभी प्रकार से निरुद्ध होने की स्थिति का नाम है। यहां पर भाष्यों के अन्तर्गत यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि यह योग समाधि है। समाधि के आगे दो भेद– सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात बताए गए हैं। जिनको बाद में विस्तार से जानकारी दी गयी है। दोनों ही प्रकार की समाधियों के आन्तर भेदों को भी विस्तार पूर्वक समझाने का प्रयास किया गया है। समाधि की स्थिति को प्राप्त करने के साधनों के विषय में भी विस्तार से चर्चा की गयी है। इसके लिए सर्वप्रथम अभ्यास और वैराग्य के नाम से दो साधन बताए गए हैं। (अभ्यास और वैरग्य का विस्तृत विवेचन चतुर्थ ईकाइ में किया जायेगा) विद्वानों के अनुसार इस अध्याय के अन्तर्गत बताए अभ्यास सामान्य योगाभ्यासी के लिए नहीं अपितु उच्च कोटि के अधिकारी के लिए है। जिनका चित्त पहले से ही स्थिर हो चुका है, उन्हीं को ध्यान में रखकर यहाँ अभ्यासों की चर्चा की गयी है। कई सारे अभ्यास दिखने में जितने आसान प्रतीत होते हैं करने में उतने ही कठिन है।

ईश्वर प्रणिधान या ईश्वर भक्ति (ईश्वर प्रणिधान का विस्तृत विवेचन चतुर्थ ईकाइ में किया जायेगा) और ईश्वर के स्वरूप की चर्चा भी इसी अध्याय के अन्तर्गत की गयी है। ईश्वर वर्णन के कारण ही कभी–कभी सांख्य और योग में अन्तर किया जाता है। सांख्य जहां ईश्वर का वर्णन नहीं करता वहीं योग (पातंजल योग) ईश्वर का वर्णन करने के कारण कभी–कभी सेश्वर–सांख्य के नाम से जाना जाता है।

इस प्रकार विभिन्न विषयों की विस्तार से चर्चा करने के साथ–साथ योग के दार्शनिक स्वरूप को बड़े ही सुन्दर ढंग से रखने का प्रयास समाधि पाद के अन्तर्गत किया गया है। चित्त से लेकर समाधि के भेद–प्रभेद एवं चित्त निरोध आदि के उपाय आदि भी इसी अध्याय के अन्तर्गत समझाए गए हैं। जिनके अध्ययन के बाद आपको योग की दार्शनिक पृष्ठभूमि का आकलन स्वतः ही लग जाएगा। इसी अध्याय के अन्तर्गत यदि सूक्ष्म अध्ययन किया जाए तो योग के विभिन्न विषय जो बचे हुए 3 पादों में आने वाले हैं, उनका भी स्पष्ट–अस्पष्ट चित्र दिखाई दे जाता है।

साधन पाद – साधन पाद के अन्तर्गत योग को प्राप्त करने के लिए विभिन्न उपाय आदि बताये गए हैं। भाष्यकारों के अनुसार पहले अध्याय अर्थात् समाधि पाद के अन्तर्गत बताए गए अभ्यास उत्तम अधिकार प्राप्त योगियों के लिए उपयुक्त है। जबकि मध्यम और साधारण अधिकारी उन अभ्यासों को करने में सक्षम नहीं है। इसी को ध्यान में रखकर इस अध्याय के प्रारम्भ में यह स्पष्ट कर दिया है कि मध्यम अधिकारी के लिए क्रिया योग ही सर्वोत्तम साधन है। क्रिया योग के अन्तर्गत तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान का समावेश किया है। इसी की विस्तृत चर्चा के साथ इस अध्याय की शुरुआत होती है। पंचक्लेशों की विस्तृत चर्चा भी इसी अध्याय के अन्तर्गत मिलती है। यह आपको पहले भी बताया जा चुका है कि क्लेशों की पूर्ण निवृत्ति ही योग का साधन बनता है। बिना इनकी निवृत्ति के योग सम्भव

नहीं। इसी अध्याय के अन्तर्गत आपको आगे चलकर अष्टांग योग की भी चर्चा मिलेगी जिसे साधारण अधिकारी के लिए अति उत्तम साधन माना गया है। अष्टांग योग के अन्तर्गत यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का समावेश किया गया है। अष्टांग योग सर्वाधिक प्रचलित साधना पद्धति है जिसको योग विषयक लगभग सभी अध्ययनों में देखा जा सकता है।

अष्टांग योग के विभिन्न अंगों की विवेचना के साथ–साथ यहां उनसे प्राप्त होने वाली सिद्धियों का भी वर्णन किया गया है। जिसके कारण यहाँ प्राप्त होने वाले अष्टांग योग के वर्णन की तुलना किसी अन्य स्थल से नहीं की जा सकती है। इस अध्याय के अन्तर्गत विभिन्न दार्शनिक विषयों का भी वर्णन किया गया है। जिसमें 'दृष्टा' और 'दृश्य' प्रमुख हैं। दृष्टा यहां पुरुष को एवं दृश्य प्रकृति को कहा गया है। इन दोनों में विवेक ज्ञान हो जाना ही योग की प्राप्ति कराता है। इन दोनों की मिली हुई अवस्था के कारण ही अविद्या की स्थिति बनी रहती है। इसके अतिरिक्त 'चतुर्व्युहवाद' की भी स्पष्ट विवेचना इसी अध्याय के अन्तर्गत आती है। हेय–दुःख का वर्णन, हेय–हेतु–दुःख के कारण का वर्णन, हान–मोक्ष का स्वरूप और हानोपाय–मोक्ष प्राप्ति का उपाय सम्मिलित है। इस प्रकार यह अध्याय स्वयं में पूर्ण रूप से योग के विभिन्न दार्शनिक पहलुओं पर विस्तृत विचार प्रस्तुत करता है। कर्मफल का सिद्धान्त भी इसी अध्याय के अन्तर्गत आता है। इन सभी विषयों का ठीक प्रकार से समावेश होने के कारण इस अध्याय का नाम साधन पाद बहुत ठीक जान पड़ता है।

विभूति पाद – धारणा, ध्यान और समाधि के वर्णन से शुरु होने वाले इस अध्याय के अन्तर्गत बड़े ही रहस्यास्पद एवं रोचक विषयों का समावेश देखने को मिलता है। यहां दार्शनिक विषयों का उल्लेख पहले के अध्यायों की अपेक्षा बहुत कम देखने को मिलता है। फिर भी, दार्शनिक दृष्टि से इस अध्याय का भी महत्त्व कम नहीं है। दार्शनिक विषयों में धर्म, धर्मी आदि का स्वरूप, चित्त के परिणाम आदि की विवेचना मिलती है। इसके साथ–साथ धारणा, ध्यान और समाधि को यहां सम्मिलित रूप से 'संयम' के रूप में बताया गया है। 'संयम' योग सूत्र की पारिभाषिक शब्दावली का प्रमुख अंग है। सामान्यतया संयम का अर्थ नियंत्रण से होता है, परन्तु यहां इसका प्रयोग की धारणा, ध्यान और समाधि के सम्मिश्रण को बताया है।

इन सभी विषयों के साथ–साथ इस अध्याय का प्रमुख विषय संयमजनित विभूतियों का वर्णन है। जिस कारण इस अध्याय का नाम विभूति पाद रखा गया है। विभूति का अर्थ यहां पर सिद्धियों से ही है। जो योग की अन्तरंग अवस्था में जाकर संयम का परिणाम बताई गयी है। उदाहरण के रूप में चन्द्रमा में संयम करने से तारों का ज्ञान, ध्रुव तारे में संयम करने से तारों की गति का ज्ञान, सूर्य में संयम करने से भुवनों का ज्ञान, कण्ठ–कूप में संयम करने से भूख–प्यास की निवृत्ति आदि–आदि विभिन्न सिद्धियॉ और विभूतियाँ संयम के परिणाम से प्रकट होनी बताई गयी है। इस प्रकार इन सब विषयों के समावेश के कारण यह अध्याय अपने आप में बड़े ही रोचक ढंग से योग दर्शन की प्रस्तुति करता है। इस आशय से विभूति पाद नामक यह अध्याय अपने नाम के अनुसार अपने विषयों को भली–भांति प्रस्तुत करता है। यहाँ एक और बात बहुत ध्यान देन योग्य है, कि इन सब विभूतियों का वर्णन करने के साथ–साथ यहाँ यह भी स्पष्ट कर दिया गया है, कि यह सारी विभूतियाँ, सिद्धियाँ योग मार्ग में बाधक है। इनका साधन नहीं करना चाहिए अन्यथा योग का वास्तविक लक्ष्य समाधि को पाना संभव नहीं है। यह सारी विभूतियाँ तो केवल

योग मार्ग में हमारी सही–सही स्थिति को बताती है। जिससे हम योग मार्ग में बिना किसी संदेह के आगे बढ़ सकें।

कैवल्य पाद – जैसा कि इसके नाम से ही प्रतीत हो रहा है, कि यह अध्याय योग के चरम लक्ष्य 'कैवल्य' की स्थिति को बताने वाला है। इस अध्याय के अन्तर्गत भी योग के दार्शनिक स्वरूप पर विस्तृत चर्चा देखने को मिलती है।

इस अध्याय की शुरुआत पांच प्रकार से प्राप्त होने वाली सिद्धियों के वर्णन से होती है जिसमें बताया गया है कि सिद्धियाँ जन्म से, औषधि से, मन्त्र से, तप से और समाधि के द्वारा मिलती है। जिसमें बाद में समाधि जन्य सिद्धि को शुद्ध माना है। जिसका कारण बताया गया है कि समाधि में वासनाजन्य संस्कार नहीं रहते इस कारण समाधि से प्राप्त सिद्धि भी पवित्र संस्कार वाली होती है। इस अध्याय के अन्तर्गत निर्माण चित्त, चतुर्विध कर्म, वासना आदि का बड़ा ही सुन्दर वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त जीवनमुक्त की मनोवृत्ति पर भी समुचित प्रकाश डाला गया है। अन्त में कैवल्य का स्वरूप बताकर इस अध्याय की समाप्ति के साथ योगसूत्र की भी पूर्णता हो जाती है। पहले के अध्यायों की अपेक्षा यह अध्याय अधिक छोटा है। परन्तु, इसके बिना योग सूत्र की पूर्णता भी नहीं होती। इस कारण इस अध्याय का महत्त्व और अधिक बढ़ जाता है।

अभ्यास प्रश्न भाग–2

1. अति लघु उत्तरीय प्रश्न–
   (क) योग सूत्र के प्रणेता कौन हैं?

   (ख) पतंजलि का महाभाष्य किस ग्रन्थ पर लिखा गया?

   (ग) योग की परिभाषा योग सूत्र में कहाँ मिलती है?

2. एक शब्द में उत्तर दिजिए –

   (क) योग सूत्र के प्रथम भाष्यकार कौन हैं?

   (ख) वाचस्पति मिश्र का योग सूत्र पर भाष्य किस नाम से जाना जाता है?

   (ग) योग सूत्र में कितने अध्याय हैं?

3. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें।

   (क) योग सूत्र में कुल ..... सूत्र हैं।

   (ख) कैवल्य का वर्णन योग सूत्र के ..... अध्याय के अन्तर्गत आता है।

1.5 योग की परिभाषा

अभी तक आप योग सूत्र के ऐतिहासिक पक्षों के साथ–साथ बाहरी स्वरूप को भी जान गए होंगे। योग सूत्र के प्रमुख विषयों में जाने से पहले इसकी बहुत आवश्यकता होती है, कि हम पहले योग सूत्र के बाहरी स्वरूप को ठीक ढंग से जाने लें। आपने अब तक योग के ऐतिहासिक पक्षों के साथ–साथ योग सूत्र के रचनाकार, भाष्यकार एवं योग सूत्र की विषय वस्तु से भी परिचय प्राप्त कर लिया होगा। यहां पर योग सूत्र के अन्तर्गत योग की

परिभाषा पर विचार करने से पहले हम विभिन्न मतों में योग की परिभाषा पर विचार करेंगे जिससे बाद में योग सूत्र में दी गयी परिभाषा पर विस्तृत प्रकाश डाल सकेंगे।

1.5.1 विभिन्न मतों में योग की परिभाषा :

विभिन्न ग्रन्थों में योग की परिभाषा अलग–अलग ढंग से दी गयी है। जो उनके सिद्धान्तों के अनुरूप योग की स्थिति को प्रकट करती है। भगवद्गीता में योग की कुछ महत्त्वपूर्ण परिभाषाएं दी गयी हैं, जिनमें *योगः कर्मसु कौशलम्* और *समत्वं योग उच्यते* प्रमुख रूप से बतायी जाती है। पहली वाली परिभाषा बड़ी गंभीर है, क्योंकि कर्मों में कुशलता ही योग है। ऐसा अर्थ पहले देखने पर आता है, परन्तु ध्यान से समझने पर पता चलेगा कि कुशलता पूर्वक कर्म करना ही योग है। जिसमें आसक्तिरहित निष्काम कर्म ही इसकी श्रेणी में आते हैं।

दूसरी परिभाषा में सर्वत्र समान स्थिति में बने रहना योग है। इसका अर्थ यह हुआ कि चाहे लाभ हो, हानि हो, सुख हो या फिर दुःख सभी स्थितियों में समभाव रहना योग का लक्षण बताया गया है। यह दोनों परिभाषाएं योग की अभिव्यक्ति गीता के सन्दर्भ में करती है। गीता की प्रसिद्धि की तरह ये दोनों परिभाषाएं भी योग के क्षेत्र में बहुत प्रसिद्ध हैं। अब अन्य परिभाषाओं पर विचार करें–

सर्वप्रथम यह जान लें कि योग शब्द का स्वयं में क्या अर्थ हो सकता है। योग शब्द पाणिनी अष्टाध्यायी में तीन स्थानों पर अलग–अलग रूप से व्यक्त किया गया है। यह तो आप जानते ही होंगे कि संस्कृत के सभी शब्द किसी न किसी 'धातु' (Root word) से निकलते और धातु के अनुरूप ही उनके अर्थ भी होते हैं। ठीक इसी प्रकार से योग शब्द भी 'युज' धातु से बना है। पाणिनी के धातु पाठ में इसे तीन जगह प्रयुक्त किया गया है। जिसमें इसे निम्न तीन प्रकार से व्यक्त कर सकते हैं–

1. युज् – समाधौ 2.युजिर् – योगे 3.युज – संयमने

इन तीनों धातुओं से योग शब्द के तीन अर्थ सामने आते हैं। पहले युज् धातु का अर्थ 'समाधि' से है अर्थात योग का अर्थ समाधि हुआ। दूसरे प्रयोग में युज् धातु का अर्थ 'जोड़ने' से है। अब योग का अर्थ जोड़ना हुआ। तीसरे और अंतिम प्रयोग में युज् धातु का अर्थ संयम से है। जिसके अनुसार योग का अर्थ संयमन होता है। लगभग सभी शास्त्रों में योग का प्रयोग इन्हीं तीन अर्थों में किया जाता है। विभिन्न मतों में योग की परिभाषाएं जानकर यह आसानी से पता लगाया जा सकता है कि यहां किस रूप में योग शब्द का प्रयोग और व्यवहार किया जा रहा है।

'सात्वत संहिता' नामक ग्रन्थ में शाण्डिल्य के अनुसार– आत्मा और परमात्मा के स्वरूप को जानना योग है। इसी प्रकार सिद्धसिद्धान्त पद्धति में– आत्मा और परमात्मा का मिलन योग है। तन्त्र ग्रन्थों को देखने से पता चलता है कि वहां जीव को आत्मा और शिव को परमात्मा के रूप में बताया गया है। तन्त्र के अनुसार जीव और शिव का एकरूप हो जाना ही योग है। इस प्रकार से ये परिभाषाएं लगभग एक ही ओर झुकी हुई लगती हैं। अब आप यह समझ सकते हैं कि विभिन्न ग्रन्थों में योग की परिभाषा एक जैसी ही प्रतीत होती है। परन्तु, कुछ विद्वानों के मतों को देखने के बाद ऐसा लगेगा कि योग को किसी एक परिभाषा विशेष के द्वारा नहीं समझाया जा सकता।

श्री अरविन्द के अनुसार– सम्पूर्ण जीवन योग है। अरविन्द आश्रम की ही श्री माँ योग को मनोविज्ञान की दृष्टि से परिभाषित करते हुए कहती है– योग आध्यात्मिक मनोविज्ञान है। योग को इस प्रकार परिभाषित करने से यह सिद्ध होता है कि योग मन और मन की

अनन्त गहराई से सम्बन्धित है। मन को जानने और समझने का विज्ञान, मनोविज्ञान है और योग इस मनोविज्ञान को और अधिक समृद्ध कर देने वाला ज्ञान।

इस प्रकार विभिन्न मतों में योग की परिभाषा को देखने से लगता है कि योग वहां केन्द्रिय साधन के रूप में विद्यमान है। योग जीवनशैली, साधना और उनके दर्शन का वह हिस्सा है जिसके बिना विभिन्न दर्शन और साधना विज्ञान अधूरे से दिखाई देते हैं। यह आप केवल परिभाषाओं के ही माध्यम से समझ सकते हैं।

1.5.2 योग सूत्र में योग की परिभाषा :

अन्य ग्रन्थों की भांति योग सूत्र क्योंकि योग पर ही आधारित है, अतः वह प्रारम्भ में ही योग को परिभाषित करता है। समाधि पाद में योग की परिभाषा कुछ इस प्रकार बतायी गई है–

योगश्चित्तवृत्ति निरोधः ।। (पातंजल योग सूत्र, 1/2)

योग, चित्त वृत्तियों का निरुद्ध होना है। अर्थात् योग उस अवस्था विशेष का नाम है, जिसमें चित्त में चल रही सभी वृत्तियां रूक जाती हैं। यदि हम और अधिक जानने का प्रयास करें तो व्यास–भाष्य मे हमें स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि योग समाधि है। इस प्रकार जब चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियां विभिन्न अभ्यासों के माध्यम से रोक दी जाती है, तो वह अवस्था समाधि या योग कहलाती है। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है, कि योग को परिभाषित करने के लिए युज् धातु के कौन से अर्थ का प्रयोग किया गया है। जैसा कि आपने पहले देखा, युज् धातु तीन अर्थों में प्रयुक्त होती है। यहाँ युज् धातु समाधि अर्थ में प्रयोग हो रही है। अतः योग की परिभाषा के लिए यहां युज् समाधौ वाला प्रयोग ठीक है।

हमारा चित्त तरह–तरह की वस्तुओं, दृश्यों, स्मृतियों, कल्पनाओं आदि में हमेशा उलझा रहता है। इन दृश्यों, स्मृतियों, कल्पनाओं, वस्तुओं आदि को वृत्ति भी कहा जा सकता है। इन सभी विषयों को हम अगले अध्यायों में और अधिक स्पष्ट करेंगे। यहाँ पर आपको समझाने के लिए केवल इतना बताना चाहते हैं कि जब हमारा चित्त इन सभी वृत्तियों से बाहर आ जाता है, या जब चित्त में किसी भी प्रकार की हलचल नहीं होती तब वही स्थिति योग कहलाती है। इसमें बहुत से स्तर आते हैं। इन स्तरों को योग में विभिन्न उपलब्धियों के माध्यम से समझा जा सकता है। अंतिम उपलब्धि जिसमें की चित्त में कोई भी हलचल न हो, वह एक शान्त सरोवर की भांति हो, ऐसी स्थिति को चित्त का समाधि में होना कहलाता है। यही स्थिति योग भी है क्योंकि ऊपर हम बता आए हैं कि योग को ही समाधि कहा गया है। यहां ध्यान देने की बात यह है कि योग को समाधि पातंजल योग में कहा गया है। अन्य ग्रन्थों में योग की परिभाषा उन ग्रन्थों के अनुसार अलग हो सकती है। अतः सारांश में हम यह कह सकते हैं कि पातंजल योग सूत्र में योग, चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध है या चित्त का बिलकुल शान्त हो जाना है जो समाधि की अवस्था भी कहलाती है।

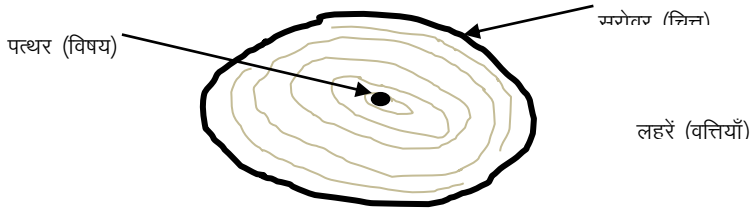

चित्र : 4

विचलित चित्त (सामान्य मनुष्य का चित्त)

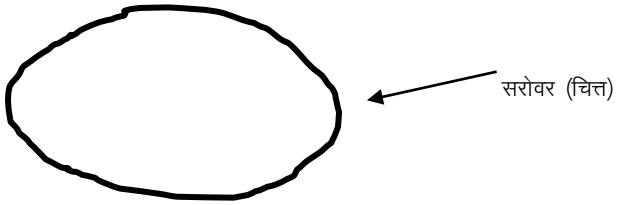

चित्र : 5

निस्तरंग चित्त (योगी का चित्त)

अभ्यास प्रश्न भाग–3

1. अति लघु उत्तरीय प्रश्न–
   (क) योग शब्द संस्कृत की किस धातु से बना है?
   (ख) 'युज समाधौ' का क्या अर्थ होता है?
2. लघु उत्तरीय प्रश्न–
   (क) श्री अरविन्द के अनुसार योग की क्या परिभाषा है?
   (ख) पातंजल योग सूत्र में योग की परिभाषा क्या है?

1.6 सारांश

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद अब आप समझ गए होंगे कि योग हमारी प्राचीन सभ्यता का अंग था। सिन्धु घाटी, मोहनजोदड़ों आदि ऐतिहासिक स्थलों की खुदाई से प्राप्त अवशेष इस बात को पूर्ण रूप से सिद्ध करते हैं। इसके बाद भी बहुत से ऐसे सन्दर्भ प्राप्त होते हैं जिनसे हमें योग की प्राचीनता का पता चलता है। योग उत्खनन से प्राप्त अवशेषों में ही नहीं अपितु ग्रन्थों में भी दिखाई देता है। जिससे इसकी प्राचीनता ही नहीं अपितु प्रामाणिकता का भी पता चलता है। ऋग्वेद, जो कि विश्व इतिहास की सबसे प्राचीन पुस्तक कही जाती है, उसमें भी योग के सन्दर्भ मिलते हैं। जिसके बहुत से प्रमाण हमने इकाई की शुरुआत में दिए।

वेदों के साथ–साथ हमारे यहां पुराण, उपनिषद एवं अन्य प्रमुख दार्शनिक सम्प्रदाय भी विकसित हुए। आप पीछे जान चुके होंगे कि वेदों की आधारशिला पर विकसित हुए विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों और मतों में योग की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। विभिन्न मतों में योग को तरह–तरह से परिभाषित किया गया है। जिसके योग की व्यापकता का पता चलता है, कि उन्होंने योग को एक दार्शनिक और व्यवस्थित स्वरूप प्रदान करने का सबसे बड़ा कार्य किया।

हिरण्यगर्भ नामक ऋषि भले ही योग के प्रवर्तक माने जाते हैं। परन्तु महर्षि पतंजलि का कार्य सबसे महत्त्वपूर्ण रहा। उनका योगदान भारतीय दर्शन के क्षेत्र में सबसे बड़ी उपलब्धि कहा जाए तो उचित ही होगा। हालांकि उनके जीवन से जुड़े प्रमाण अभी तक सही रूप में उपलब्ध नहीं हो पाये हैं, जिस कारण उनके जीवन के विषय में कई सारे संदेह उत्पन्न होते हैं। इतिहासकारों, संस्कृत के विद्वानों, शोध कर्त्ताओं के द्वारा जितनी जानकारी मिलती

है उसीको व्यवस्थित ढंग से हम बता चुके हैं। जिसके द्वारा महर्षि पतंजलि का संक्षिप्त परिचय प्राप्त किया जा सकता है।सबसे महत्त्वपूर्ण विषय पातंजल योग सूत्र की सम्पूर्ण विषय वस्तु को जानने का है। बिना योग सूत्र की विषय वस्तु को जाने इसका प्रारम्भ करना अनुचित होगा। अतः यह आवश्यक है, कि योग सूत्र की विषय वस्तु के साथ–साथ, ऐतिहासिक दृष्टि से इस पर विभिन्न भाष्यों की भी संक्षिप्त जानकारी मिल सके। जिसका प्रस्तुत इकाई में उपयुक्त वर्णन किया गया है।

इसके अतिरिक्त विभिन्न मतों में योग की परिभाषा के साथ योग सूत्र में योग की परिभाषा के महत्त्वपूर्ण बिन्दु पर विस्तार से विचार किया गया है। जिससे योग सूत्र में योग की परिभाषा को तुलनात्मक दृष्टि से समझा जा सकता है। इस प्रकार संक्षिप्त रूप में योग सूत्र की विषय वस्तु के साथ–साथ योग की परिभाषा को बहुत अच्छे ढंग से जाना जा सकता है। प्रस्तुत इकाई के द्वारा योग के महत्त्व और भारतीय दर्शन में पातंजलि योग सूत्र के स्थान को भी ठीक–ठीक समझा जा सकता है।

1.7 पारिभाषिक शब्दावली

सांख्य – एक प्राचीन दर्शन जिसकी शुरुआत कपिल के द्वारा हुई। यह दर्शन योग दर्शन के समान विचारधारा वाला है। इस कारण कभी–कभी इन दोनों दर्शनों को साथ–साथ सांख्य योग भी कहा जाता है।

अवैदिक – वेदों को न मानने वाले दर्शन अवैदिक कहलाते हैं। इनमें बौद्ध, जैन और चार्वाक दर्शन आते हैं।

उपदेष्टा – उपदेश करने वाला।

भाष्य – किसी भी ग्रन्थ विशेष पर लिखी जाने वाली विस्तृत विवेचना भाष्य कहलाती है। पातंजल योग सूत्र में केवल कुछ सूत्र दिए गए हैं जो कि बहुत कम शब्दों के प्रयोग से लिखे गए हैं। उन्हें विस्तार से समझाने के लिए विद्वानों ने उन पर अपने विस्तृत विचार प्रस्तुत किए जो बाद में उनके भाष्यों के रूप में प्रसिद्ध हुए।

विषय–वस्तु – किसी ग्रन्थ में उपलब्ध सामग्री का संक्षेप में प्रस्तुतिकरण।

सूत्र – कम से कम शब्दों में, बिना किसी प्रकार संदेह उत्पन्न किए किसी सिद्धान्त विषय को लिखना सूत्र कहलाता है। पातंजल योग सूत्र में इसी प्रकार कुछ शब्दों का प्रयोग कर इस प्रकार के सूत्र लिखे गए हैं जो बहुत बड़े दार्शनिक विचारों को प्रस्तुत करते हैं।

चित्त – पातंजल योग सूत्र में मन का पर्यायवाची शब्द। चित्त यहां पूर पूरे अन्तःकरण का भी द्योतक (द्वितीय इकाई में चित्त के विषय पर विस्तृत विवेचना की जायेगी)।

1.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर :

(उत्तर) अभ्यास प्रश्न भाग–1

1. (क) सिन्धु घाटी की सभ्यता

   (ख) हिरण्यगर्भ

   (ग) ऋग्वेद

2. (क) कपिल

   (ख) पातंजल योग सूत्र

(उत्तर) अभ्यास प्रश्न भाग–2

1. (क) महर्षि पतंजलि

   (ख) पाणिनी अष्टाध्यायी

   (ग) महर्षि व्यास

2. (क) तत्त्व वेशारदी

   (ख) चार

   (ग) 195

3. (क) कैवल्य पाद

   (ख) समाधि पाद, 2 सूत्र

(उत्तर) अभ्यास प्रश्न भाग–3

1. (क) 'युज्' धातु से

   (ख) योग का अर्थ समाधि है।

2. (क) सम्पूर्ण योग ही समाधि है।

   (ख) योग का अर्थ चित्त वृत्तियों का निरुद्ध होना है।

1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. श्री वास्तव, डॉ॰ सुरेशचन्द्र,(2008) पातंजलयोग दर्शनम्, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी
2. मिश्र, डॉ॰ जगदीशचन्द्र, (2008) भारतीय दर्शन, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी
3. दासगुप्त, सुरेन्द्रनाथ (2008) भारतीय दर्शन का इतिहास भाग–1 अनु॰ कलानाथ शास्त्री व सुधीर कुमार, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर
4. तीर्थ, स्वामी ओमानंद, (सम्वत्–2054), पातंजल योग प्रदीप, गीता प्रेस, गोरखपुर

1.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. योगाभ्यास का मूलाधार, लेखक – स्वामी शिवानंद, प्रकाशक – दिव्य जीवन संघ प्रकाशन

2. योगदर्शन, लेखक– परमहंस निरंजनानंद, प्रकाशक – श्री पंचदशनाम परमहंस अलखबाड़ा, बिहार

3. कल्याण का योगांक, प्रकाशक – गीताप्रेस गोरखपुर

4. विवेकानंद साहित्य, भाग 3 व 4, प्रकाशक – अद्वैत आश्रम, कोलकत्ता

5. योग मीमांसा, त्रैमासिक शोध पत्रिका, प्रकाशक – कैवल्य धाम लोनावला, महाराष्ट्र

6. http://hinduebooks.blogspot.com

7. http://www.hindudharmaforums.com

8. http://sanskritdocuments.org

9. http://archive.org

1.12 निबन्धात्मक प्रश्न

प्रश्न 1. योग सूत्र के प्रणेता का परिचय देते हुए इसके ऐतिहासिक महत्व को भी स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 2. योग सूत्र की विषय वस्तु का वर्णन कीजिए।

प्रश्न 3. विभिन्न मतों के अनुसार योग की परिभाषा को स्पष्ट करें।

प्रश्न 4. योग सूत्र के अनुसार योग की परिभाषा की व्याख्या कीजिए।

इकाई–2 चित्त की अवधारणा तथा चित्त की भूमियाँ

2.1 प्रस्तावाना

2.2 उद्देश्य

2.3 चित्त की अवधारणा

2.3.1 अंतःकरण के रूप में चित्त

2.3.2 चित्त की क्रिया विधि

2.4 चित्त की भूमियाँ

2.4.1 क्षिप्त भूमि

2.4.2 मूढ़ भूमि

2.4.3 विक्षिप्त भूमि

2.4.4 एकाग्र भूमि

2.4.5 निरुद्ध भूमि

2.5 सारांश

2.6 परिभाषिक शब्दावली

2.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

2.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

2.10 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना :

इससे पूर्व की इकाई में आप योग की विभिन्न परिभाषाओं द्वारा यह जान चुके हैं। कि योग क्या है? पहले की इकाई में आपने योग की परिभाषाओं में महर्षि पतंजलि द्वारा दी गयी परिभाषा का भी अध्ययन किया होगा। जिसके अनुसार "चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है।"प्रस्तुत इकाई में आप चित्त के विषय में विस्तार से जान सकेंगे। इसके साथ ही आप चित्त की भूमियों के विषय का ज्ञान भी इस इकाई के अन्तर्गत् प्राप्त कर सकेंगे। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप योग में चित्त व चित्त भूमियों के अध्ययन के महत्व को समझ व समझा सकेगें। तथा चित्त व चित्त भूमियों के ज्ञान सम्बन्धि विभिन्न विचारों का विश्लेषण कर सकेंगे।

2.2 उद्देश्य :

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप–

- चित्त एवं चित्त भूमियों के अर्थ को समझ सकेंगे।
- आप चित्त के व्यवहारिक ज्ञान से अवगत हो सकेंगे।
- विभिन्न चित्त भूमियों में मानवीय भावनाओं एवं संवेदनाओं के अन्तर को जान सकेंगे।

2.3 चित्त की अवधारणा :

चित्त वृत्तियों का निरोध ही योग है। इस परिभाषा के सामने आते ही प्रत्येक विद्यार्थी की पहली जिज्ञासा होती है। चित्त क्या है? तथा इस चित्त के क्या कार्य हैं?

यदि सामान्य भाषा में कहें तो मानव के द्वारा सम्पादित की जाने वाली सभी क्रियाओं का कारण यह चित्त ही है। यह चित्त ही शरीर के अन्तर्गत आने वाली इन्द्रियों को विभिन्न क्रियाओं को करने का निर्देश देता है। अर्थात मनुष्य द्वारा आँखों से देखना, कानों से सुनना हाथ व पैरों को हिलाना आदि सभी क्रियायें चित्त के निर्देशानुसार ही होती हैं। यह चित्त ही सभी क्रियाओं की प्रेरणा है। तो क्या चित्त और आत्मा एक ही है। क्यों कि जब तक आत्मा मानव शरीर में रहती है। तब तक शारीरिक क्रियायें संचालित होती हैं। किन्तु जब आत्मा निकल जाती है। तो शारीरिक क्रियायें भी बंद हो जाती हैं।

वास्तव में चित्त और आत्मा को अलग–अलग करके जानना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव कार्य है। क्योंकि इन दोनों में से एक के अनुपस्थित होने पर दूसरे को जाना नहीं जा सकता। जहाँ आत्मा शरीर में चेतना का कारण है। वहीं चित्त इस चेतन शरीर द्वारा कि जाने वाली क्रियाओं का कारण है। व्यवहारिक रूप से मानव में जो "मैं" का भाव है। अर्थात् मैं खाता हूँ, मैं जाता हूँ, मैं करता हूँ आदि चित्त के ही कारण है।

अब प्रश्न उठता है कि यह चित्त आता कहाँ से है? सृष्टि उत्पत्ति के क्रम में जब प्रकृति के त्रिगुणों सत्व, रज और तम में वैषम्य उत्पन्न होता है। तब सत्व गुण के बढने तथा राज और तम के घटने पर जो स्थिति उत्पन्न होती है। वही चित्त की उत्पत्ति की अवस्था है। इसी कारण चित्त को सत्वप्रधान कहा जाता है। दर्शन की भाषा में चित्त को प्रकृति का सात्विक परिणाम कहा गया है।

चूंकि प्रकृति त्रिगुणात्मक है। अतः चित्त भी त्रिगुणात्मक है। इन तीनों गुणों की अलग–अलग विशिष्टता के कारण चित्त भी तीन प्रकार का होता है– प्रख्याशील, प्रवृत्तिशील, और स्थितिशील।

प्रख्याशील चित्त सत्वप्रधान होता है। और सत्वगुण के प्रभाव के कारण वह धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य में रत रहता है। वहीं प्रवृत्तिशील चित्त रजप्रधान होता है। रजोगुण के प्रभाव के कारण चित्त विषयों का भोग करने में प्रवृत्त होने लगता है। तथा स्थितिशील चित्त तमोगुण प्रधान होता है। जिसके कारण वह अधर्म, अज्ञान, अनैश्वर्य, राग आदि वृत्तियों में लगा रहता है। चित्त के इन तीनों प्रकारों से अलग चित्त का एक और प्रकार भी है। जिसे योगीजन 'पर प्रसंख्यान' कहते है। इस प्रकार के चित्त में मात्र सत्वगुण होता है। तमोगुण का तो पहले अर्थात् प्रख्याशील चित्त में ही लोप हो चुका है। किन्तु अब चित्त रजोगुण से भी पूरी तरह मुक्त होता है। चित्त की यह अवस्था धर्ममेघ नामक समाधि कहलाती है। इस समाधि के विषय में आप आगे के अध्यायों में जानेंगे।

विद्धानों ने चित्त को कई व्यवहारिक उदाहरणों द्वारा समझाया है। इन्हीं में से एक उदाहरण में चित्त को एक तालाब के समान बताया गया है जिस प्रकार तालाब में एक छोटे से छोटा कण या मात्र हवा की एक लहर भी तरंग उत्पन्न कर देती है। उसी प्रकार चित्त में एक छोटा सा विषय भी हलचल उत्पन्न कर देता है।

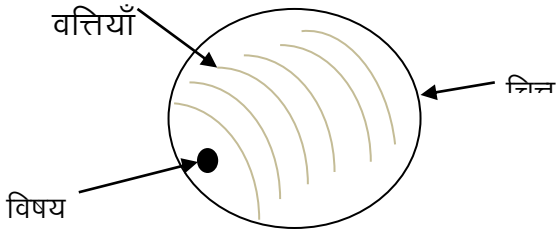

चित्र : 1

एक अन्य उदाहरण में चित्त को स्फटिक मणि के समान बताया गया है। जिस प्रकार स्फटिक के समीप जो रंग होता है। वह उसी रंग जैसा हो जाता है। उसी प्रकार चित्त सत्व, रज और तम जिस गुण के प्रभाव में होता है। उसका स्वभाव भी वैसा ही हो जाता है। इसका वर्णन हम पूर्व में चित्त के प्रकारों प्रख्या, प्रवृत्ति, स्थिति में भी कर आये हैं।

यह चित्त शुद्ध चैतन्यस्वरूप पुरुष की अभिव्यक्ति का माध्यम है। पुरुष विषय भोग करने के लिए प्रकृति का सहारा लेता है। और चित्त प्रकृति से ही उत्पन्न तत्व है। जो पुरूष के लिए विषय को ग्रहण करता है। पातंजल योग सूत्र के भाष्यकार महर्षि व्यास ने चित्त को चुम्बक के समान बताया है। जिस प्रकार चुम्बक के निकट आते ही लोहा उसकी और खिंचने लगता है। उसी प्रकार चित्त के सम्पर्क में आने पर पुरुष भी चित्त में उत्पन्न वृत्तियों के अनुरुप सुख, दुःख, मोह आदि का भोग करने लगता है। किन्तु वास्तव में चित्त और पुरुष सदैव एक दूसरे से भिन्न होते है। जैसे– चुम्बक और लोहा

पुरुष को भोग या मोक्ष की ओर ले जाने में भी इस चित्त का ही योगदान होता है। इसी कारण चित्त को एक नदी के उदाहरण से समझाया गया है। जिसकी दो धारायें हैं। एक धारा कल्याण अर्थात् मोक्ष के लिए बहती है। और दूसरी धारा संसारिक बन्धनों में बांधती है।

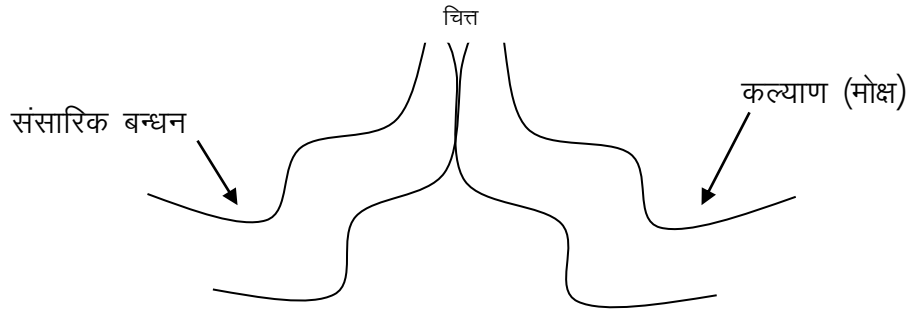

चित्र : 2

सामान्य मनुष्यों के चित्त में ये दोनों धारायें तो होती है। किन्तु मोक्ष की ओर जाने वाली धारा बहुत हल्की होती है। जबकि भोग की ओर जाने वाली धारा बहुत चौड़ी और प्रबल होती है। किन्तु जब एक सामान्य मनुष्य योग की शरण में जाता हो तब वह चित्त वृत्तियों के निराध के विभिन्न उपायों को अपना कर मोक्ष की ओर जाने वाली धारा को मजबूत व तेज बना लेता है। और भोग की ओर जाने वाली धारा धीरे धीरे सूख जाती है। (चित्त वृत्तियों के निरोध के उपाय आप इस अध्याय की इकाई–3 में जानेगें)।

सामान्यजन **योगीजन**

(चित्तावस्था) **(चित्तावस्था)**

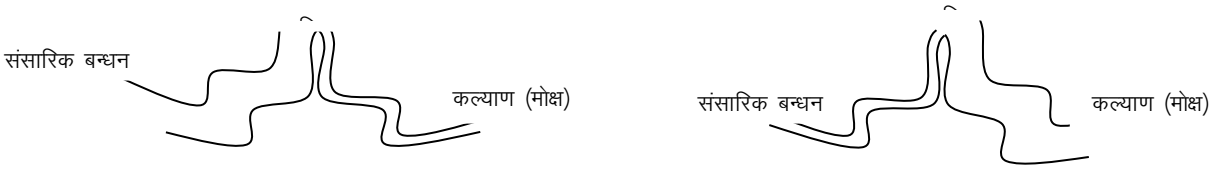

चित्र : 3

जिससे वह संसारिक बन्धनों से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। चित्त सम्बन्धी उक्त उदाहरण से चित्त का एक महत्वपूर्ण लक्षण स्पष्ट होता है। चित्त कभी हमें अच्छी दिशा मे अर्थात् अच्छे कार्यों कि ओर ले जाता है। और कभी बुरी दिशा अर्थात् गलत कार्यों कि ओर। किन्तु योग साधना एक ऐसा सशक्त साधन है। जिसके द्वारा हम चित्त को केवल अच्छी दिशा की ओर ही गतिशील रख सकते है। अब आगे की चर्चा में आप चित्त के अन्तःकरण स्वरूप तथा चित्त की क्रियाविधि के विषय में जानेगें।

अभ्यास प्रश्न भाग–1

1. रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए–

   (क) प्रकृति.....है।

   (ख) चित्त मूल रूप .....है।

   (ग) चित्त एक नदी की भाँति है। जिसकी दो धारायें है। एक ..... की ओर जाती है और दूसरी ..... की ओर।

   (घ) महर्षि व्यास ने चित्त को ..... के समान बताया है।

2. एक शब्द में उत्तर दीजिए–

   (क) चित्त को प्रकृति का कैसा परिणाम कहा गया है?

   (ख) मन, बुद्धि, अहंकार व चित्त के संयुक्त रूप को क्या कहते हैं?

   (ग) प्रख्याशील चित्त में किस गुण की प्रधानता होती है?

2.3.1 अंतःकरण के रूप में चित्त :

सृष्टि उत्पत्ति के क्रम में जब चित्त अर्थात् पुरुष के प्रकाश से बुद्धि प्रकाशित होती है। तब चित्त की उत्पत्ति होती है। अर्थात् पुरुष के सम्पर्क से बुद्धि का चेतन होना ही चित्त का बनना है। चेतन होते ही यह बुद्धि अर्थात् चित्त कार्यों को सम्पादित करना प्रारम्भ कर देता है।

चित्त को अन्तःकरण के रूप में भी स्वीकार किया गया है। विशेषकर योगदर्शन में चित्त के लिए अन्तःकरण शब्द का प्रयोग किया गया है। यदि अन्य दर्शनों की बात करें तो न्याय दर्शन में अन्तःकरण के लिए मन शब्द को अधिक प्रयोग किया गया है वहीं अद्वैत वेदान्त में मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त को अन्तकरण के रूप में स्वीकार किया गया है। यहाँ अंतःकरण चतुष्टय की अवधारणा कि गयी है। किन्तु सांख्य मन, बुद्धि एवं अहंकार को ही अंतःकरण मानता है।

किन्तु इस सभी से भिन्न योगदर्शन मन, बुद्धि, अहंकार एवं चित्त इन चारों के समूह को ही अंतःकरण की संज्ञा देता है। इन चारों तत्वों के अपने कार्य विशेष है। जिनके आधार पर मनुष्य के जीवन की क्रियायें सम्पादित होती है। जैसे मन का कार्य संशय करना है। अर्थात् जब मनुष्य किसी कार्य में संशय कर रहा होता है। तब समझना चाहिए की यह संशय का भाव मन के द्वारा उत्पन्न किया गया है। और यदि मनुष्य द्वारा किसी कार्य को करने का निश्चय लिया गया है तब समझना चाहिए कि यह कार्य बुद्धि के द्वारा किया गया है, यदि मनुष्य किसी विषय को लेकर अभिमान प्रदर्शित कर रहा होता है। अर्थात् कि यह मेरा है! मैने यह किया! मै ऐसा हूँ !आदि तब समझना चाहिए कि यह अहंकार द्वारा कराया जा रहा है। और यदि स्मरण सम्बन्धी क्रिया मनुष्य द्वारा की जा रही हो तो यह चित्त द्वारा हो रहा है। ऐसा समझना चाहिए। भूतकाल में किये गये कार्यों के संस्कारों का संग्रह हमारे चित्त में ही होता है। और समय समय पर यह संस्कार कार्य रूप में परिणत होकर सामने आते है।

चित्त का कार्य होता है। इन सस्कारों को प्रदर्शित करना। संस्कार जितने बुरे होंगे चित्त भी उतना ही मलिन होगा किन्तु योग साधना द्वारा चित्त पर जमे इन संस्कारों के मल को साफ किया जा सकता है। इसे एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है।– जब किसी प्रकाशदान (लालटेन) के काँच पर कालिख जमा हो जाती है। तब प्रकाश बहुत कम बाहर निकल पाता है, किन्तु जब काँच पर से उस कालिख को साफ कर दिया जाता है, तब भरपूर मात्रा में प्रकाश चारों ओर फैलता है। ऐसा हि हमें चित्त के साथ समझना चाहिए। चित्त प्रकाशदान के काँच के समान है। और प्रकाशदान की बाती आत्मा के समान । जब चित्त पर संस्कारों का मल (कालिख) चढ़ जाती है। तो आत्मा का प्रकाश बाहर नहीं निकल पाता। किन्तु योग साधना के द्वारा जब चित्त पर जमे इन मल को साफ कर दिया जाता है। तो आत्मा का प्रकाश (ज्ञान) सर्वत्र फैल जाता है। अब चित्त की क्रिया विधि को हम आगे की चर्चा में विस्तार से जानेंगे।

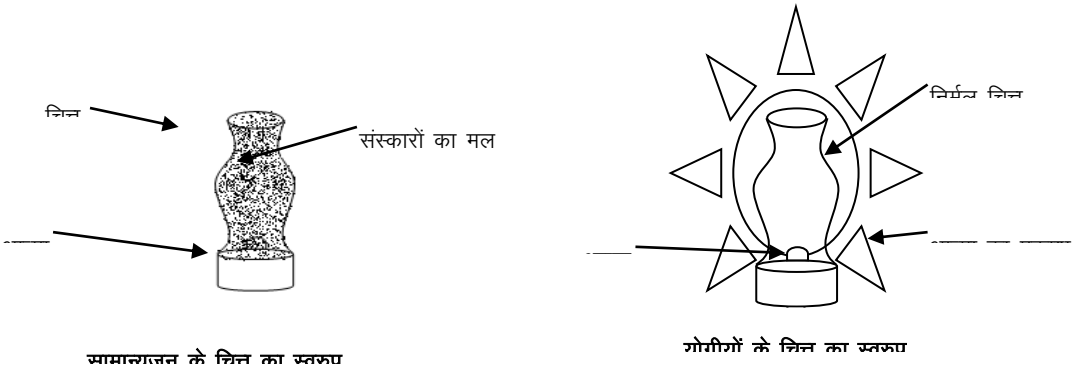

सामान्यजन के चित्त का स्वरूप योगीयों के चित्त का स्वरूप

चित्र : 4

अभ्यास प्रश्न भाग–2

1. सत्य/असत्य बताइये
   (क) योगदर्शन में चित्त को अंतःकरण कहा गया है।
   सत्य/असत्य
   (ख) मन का कार्य निश्चय करना है।
   सत्य/असत्य
   (ग) पुरुष के सम्पर्क से बुद्धि में चेतना आती है।
   सत्य/असत्य
2. लघु उत्तरीय प्रश्न–
   (क) सांख्य के अनुसार अंतःकरण कौन–कौन से हैं?
   (ख) मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त के क्या–क्या कार्य हैं?
   (ग) चित्त में पड़े संस्कारों से आप क्या समझते हो?

2.3.2 चित्त की क्रिया विधि :

चित्त के द्वारा की जाने वाली सभी क्रियायें पुरुष के अनुभव को सम्भव बनाने के लिए ही होती है, अब प्रश्न उठता है। कि इस प्रक्रिया की क्रिया विधि क्या है? इसे इस प्रकार से समझा जा सकता है। सर्वप्रथम बुद्धि इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य विषयों के सम्पर्क में आती है। किन्तु वह इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये गये विषय का विवरण ग्रहण नहीं कर पाती। किन्तु जैसे ही विषय मन के सम्पर्क में आता है। वैसे ही उस विषय के विवरण के सम्बन्ध में मन संशय अर्थात् संकल्प–विकल्प करने लगता है। उसके पश्चात् विषय का विवरण अहंकार के पास जाता है। अहंकार उस विषय पर अभिमान करता है। और अंत में विषय पुनः बुद्धि द्वारा ग्रहण किया जाता है। और अब बुद्धि उस विषय पर निर्णय ले लेती है। कि उस विषय को ग्रहण किया जाना है, अथवा नहीं। यह पूरी प्रक्रिया चित्त में संस्कार के रूप में संग्रहित हो जाती है। और भविष्य में उस विषय के पुनः सामने आने पर मनुष्य द्वारा शीध्र प्रतिक्रिया कर दी जाती है। क्योंकि उस विषय का ज्ञान चित्त में अनुभव के रूप में संग्रहित था। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को सामान्यतः आसानी से नहीं समझा जा सकता अतः आइये इसे एक उदाहरण के द्वारा समझें – मान लिजिए एक फल (सेब, केला आदि) विषय के रूप में हमारे सामने आता है। फल का ज्ञान आँखों के द्वारा हमारी बुद्धि तक जाता है। और बुद्धि "कुछ है" का भाव उत्पन्न करती है। किन्तु उसके सामने आते ही हम कोई प्रतिक्रिया नहीं करते। परन्तु जैसे ही फल का ज्ञान मन के पास जाता है। मन संशय उत्पन्न करता है। कि "यह शायद फल है, इसे ग्रहण किया जा सकता है।" तत्पश्चात् फल का ज्ञान अहंकार के पास जाता है। अहंकार "यह फल मेरा है।" इस रूप में अभिमान करके बुद्धि के पास उसे भेज देता है। अंत में बुद्धि उस अभिमान को ग्रहण करती है। और निश्चय करती है। कि "यदि यह फल मेरा है, तो इसे खा लेना चाहिए।" और मनुष्य इसी अनुरूप क्रिया करता हुआ फल को खा लेता है। अब यह सारी प्रक्रिया उसके चित्त में संस्कार के रूप में संग्रहित हो जाता है। और भविष्य में उस फल के सामने आते ही स्मरण क्रिया सक्रिय होती है। और मनुष्य के द्वारा फल को शीघ्र ग्रहण कर लिया जाता है।

इस सब के अतिरिक्त बुद्धि को जिसमें अहंकार आदि भी शामिल है। योग की अन्य विचार धारा में चित्त भी कहते है। इसे हम पहले भी पढ़ चुके हैं। बुद्धि या चित्त जीवन की क्रियाओं के संचालन के अतिरिक्त अपने आप में संस्कारों को तथा पूर्वजन्मों की वासनाओं को भी समाहित रखता है। उचित समय पर प्रेरणा पाकर ये संस्कार चित्त जागृत हो जाते हैं। और जीवन में दृश्यमान हो उठते हैं। हम सभी मनुष्य पूर्व जन्म में किसी न किसी जीव योनी को भोग चुके हैं। उन सभी योनियों के संस्कार इस चित्त में पड़े हुए हैं। जिनके अनुसार ही हमें जीवन में दुःख या सुख का उपभोग करते हैं। जिस प्रकार किसी जाल में अनेक गाँठे होती है। उसी प्रकार इस चित्त में पूर्वजन्मों के संस्कार गुथे रहते हैं। और समय आने पर ये संस्कार रूपी गाँठे खुलती जाती है। और मनुष्य संस्कार के फलों को भोगता रहता है। संस्कार के रूप में प्रवृत्तियाँ (वृत्तियाँ) चित्त में इस प्रकार रहती हैं। कि कभी भी अचानक स्वतः ही प्रकट हो जाती है। क्योंकि वे पहले की अनुभूतियाँ है। और संस्कार रूप में चित्त में विद्यमान है। जैसे पूर्व में दिये गये उदाहरणानुसार फल (विषय) का ज्ञान जो संस्कार के रूप में चित्त में संग्रहित हो जाता है। और पुनः जब फल (विषय) दिखाई देता है। तो वह चित्त से अचानक प्रकट हो जाता है। चित्त में संस्कार के रूप में अच्छे और बुरे दोनों तरह के संस्कार संचित होते है। जो उचित अवसर आने पर कार्यरूप में परणित हो जाते है। अच्छे संस्कार सुख और बुरे संस्कार दुःख उत्पन्न करते है। किन्तु

यदि योग साधना का सहारा लिया जाये तो सुख और दुःख उत्पन्न करने के करक संस्कार को नष्ट किया जा सकता है। इसका वर्णन हम पूर्व में प्रकाशदान के उदाहरण की चर्चा में कर आये हैं। संस्कारों के संग्रह के अतिरिक्त चित्त का कार्य चेष्टा उत्पन्न करना भी हो। चित्त की इस चेष्टा के कारण ही इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों के सम्पर्क में आकर क्रिया करती है। जैसे नेत्रों द्वारा विषय का देखा जाना, कानों द्वारा विषय का सुना जाना आदि। चित्त द्वारा किये जाने वाले सभी कार्य मनुष्य के स्वभाव का निर्माण करते है। अर्थात् मनुष्य के चित्त की अवस्था के अनुरूप ही मनुष्य का स्वभाव और कार्य होंगे। योगदर्शन की भाषा में चित्त की इन अवस्थाओं को चित्त की भूमियाँ कहते है। चित्त की ये भूमियाँ पाँच प्रकार की होती है। चित्त की भूमियों पर विस्तृत चर्चा अब अगले शीर्षक में विस्तार से की जायेगी।

अभ्यास प्रश्न भाग – 3

1. बहुविकल्पीय प्रश्न–
   (क) बुद्धि का कार्य है–
   (अ) निश्चय करना (स) अभिमान करना
   (ब) स्मरण करना (द) संकल्प करना
   (ख) चित्त पर आवरण है–
   (अ) विचारों का (स) संस्कारो का
   (ब) भावनाओं का (द) चरित्र का
2. एक शब्द में उत्तर दीजिए–
   (क) संस्कारो के संग्रह के अतिरिक्त चित्त का क्या कार्य होता है?
   (ख) चित्त के द्वारा की जाने वाली सभी क्रियायें किसके लिए होती है?
   (ग) बुद्धि किसके माध्यम से सर्वप्रथम विषयों के सम्पर्क में आती है?

2.4 चित्त की भूमियाँ :

योग साधक जब साधारण मनुष्य की अवस्था से योगी पुरुष की अवस्था तक पहुँचता है। तो इस मार्ग में उसका चित्त विभिन्न स्तरों को प्राप्त करता हुआ आगे बढ़ता है। चित्त की प्रत्येक अवस्था में उस के मनोभाव व सामान्य क्रियाकलापों में परिवर्तन होता रहता है। अर्थात् जब उसका चित्त निम्नतर अवस्थाओं में रहता है। तब उसका मनोभाव व सामान्य क्रियाकलाप निम्न स्तर के ही होते हैं। उदाहरणतः वह रात दिन भोग विलास के कार्यो तथा सांसारिक माया मोह में लिप्त रहता है। किन्तु जैसे जैसे उसका चित्त योग साधना के बल पर उच्चतर अवस्थाओं को प्राप्त करता है। वैसे ही उसके मनोभावों और सामान्य क्रियाकलापों में भी उच्चता का भाव आने लगता है। अर्थात् वह रात दिन सात्विक प्रवृत्ति वाले कार्यो को करता रहता है। जैसे– ईश्वर भक्ति, निष्काम कर्म, ध्यान, प्राणायाम इत्यादि।

वैसे तो चित्त की अनेक अवस्थाएँ हो सकती हैं। किन्तु योगदर्शन में चित्त की पाँच अवस्थाओं का ही वर्णन किया गया है। और इन्हीं पाँच अवस्थाओं को यहाँ पर विस्तार से समझाया जायेगा। योगदर्शन की भाषा में चित्त की इन पाँच अवस्थाओं को चित्त की पाँच भूमियाँ कहते हैं। जो निम्न हैं– क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र, निरूद्ध। भूमियाँ शब्द का

प्रयोग यहाँ पर स्तर के रूप में ही प्रयोग किया गया है। अर्थात् चित्त जिस स्तर पर रहता है। उसे ही यहाँ चित्त की भूमि कहा गया है। चित्त की भूमियों की विशेषता यह है। कि प्रत्येक चित्त की भूमि में त्रिगुणों सत्व, रज और तम में से एक की प्रधानता होती है। और चित्त उस गुण की प्रधानता के अनुरूप ही क्रिया करता है।

पूर्व में हम यह चर्चा कर आये हैं। कि चित्त के मलिन होने का अर्थ है। चित्त पर पहले किये गये कर्मों के संस्कारों का आवरण पड़ना इसके विपरीत चित्त के निर्मल होने का अर्थ है। उस संस्कार रूपी आवरण का क्षीण अर्थात् हट जाना। चित्त जब निम्न भूमि से उच्च भूमि पर जाता है तब यह चित्त पर पड़ा संस्कारों का आवरण धीरे धीरे क्षीण हो जाता है। और जैसे ही चित्त उच्चतम् भूमि को प्राप्त होता है। वैसे ही संस्कारों का यह आवरण पूर्ण रूप से हट जाता है। और चित्त निर्मलता को प्राप्त हो जाता है। जो कि योग का परम लक्ष्य है। आइये अब चित्त की इन भूमियों पर क्रम से चर्चा करें –

अभ्यास प्रश्न भाग – 4

1. लघु उत्तरीय प्रश्न
   (क) चित्त की भूमियों का नामोल्लेख करें।
   (ख) चित्त मलिन क्यों होता है?
   (ग) चित्त के निर्मल होने से क्या तात्पर्य है?

2.4.1 क्षिप्त भूमि :

चित्त की इस भूमि में चित्त राजोगुण प्रधान होता है। तथा तमोगुण और सत्त्वगुण दबे हुए रहते हैं। चित्त की इस अवस्था में मनुष्य पंच ज्ञानेन्द्रियों और पंच कर्मेन्द्रियों द्वारा निरन्तर विषय भोग में लिप्त रहता है। इस अवस्था में मन और इन्द्रियों पर नियन्त्रण नहीं रहता और वह चंचल होकर निरन्तर विषयों के पीछे भागती रहती है। इस अवस्था में मनुष्य को कृत और अकृत कर्त्तव्यों का भी बोध नहीं रहता, सामान्य भाषा में कहें तो उसे भले बुरे का भी ध्यान नहीं रहता वह मात्र इन्द्रिय सुख के लिए कार्य करता रहता है। वर्तमान में अधिकांश मनुष्यों का चित्त इसी अवस्था में स्थिर रहता है। जिसके कारण हमें समाज में भोग विलास के प्रति ज्यादा आकर्षण देखने को मिलता है। और प्रत्येक मनुष्य राग, द्वेष, काम, क्रोध जैसे दुर्गुण मानव को शारीरिक और मानसिक दोनों से ग्रस्त करते है। इस समय समाज में जो अशांति का माहौल दिखाई दे रहा है। वह इस क्षिप्त भूमि युक्त चित्त के ही कारण है। विषयों के प्रति निरन्तर बढ़ती लालसा असंतोष, व्याभिचार, असत्यता, हिंसा, चोरी, जमाखेरी आदि दुष्प्रवृत्ति को बढ़ाने में सहायक होती है। इन दुष्प्रवृत्तियों के कारण मनुष्य का नैतिक रूप से निरन्तर पतन होता जा रहा है। सामान्य रूप से योग मनुष्य के नैतिक विकास की ही बात करता है। उसका परम उद्देश्य मनुष्य में नैतिकता का विकास करना ही है। इस कारण वह निरन्तर इस भूमि को त्याग कर उच्चतर भूमियों में स्थिर होने का उपदेश देता है। क्योंकि चित्त की यह अवस्था योग के अनुकूल नहीं होती। अब प्रश्न उठता है कि क्या इस अवस्था के चित्त वाले मनुष्यों का आध्यात्मिक विकास सम्भव नहीं है? चित्त की इस अवस्था के रहते मनुष्य कदापि योगाभ्यास के मार्ग पर नहीं चल सकता यह बात सही है। किन्तु वह प्रयास अवश्य कर सकता है। चूंकि इस अवस्था में भी सत्वगुण एक छोटे से अवसर की प्रतिक्षा में रहता है। और जैसे ही उसे वह अवसर मिलता है। (जैसे किसी साधु (अच्छे) व्यक्ति का संग) वैसे ही वह रजोगुण को दबाने का प्रयास करने लगता है। निरन्तर ऐसा होते रहने से वह उच्चतर भूमियों की दिशा में अग्रसर हो सकता है। और एक समय आता है जब वह उच्चतर चित्त भूमि में स्थिर हो जाता हैं

समाज में ऐसे कई उदाहरण है। जैसे डाकू रत्नाकर जो बाद में महर्षि बाल्मिक हुए, डाकू अंगुलिमार जो बुद्ध की शरण में जाकर संन्यासी हो गया। कहने का तात्पर्य है। कि योगसाधना के द्वारा चित्त की इस निम्न भूमि को त्याग कर उच्च भूमि को प्राप्त किया जा सकता है।

अभ्यास प्रश्न भाग – 5

1. रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए–

(क) क्षिप्त भूमि में चित्त में ..... गुण की प्रधानता होती है।

(ख) दुष्प्रवृतियों के कारण मनुष्य का ..... पतन हो जाता है।

(ग) क्षिप्त भूमि में चित्त चंचल होकर निरन्तर ..... के पीछे भागता रहता है।

(घ) राग, द्वेष, क्रोधादि दुर्गुण, मनुष्य को ..... व ..... रूप से रोगी बनाते हैं।

2.4.2 मूढ़ भूमि :

चित्त की यह अवस्था तमोगुण प्रधान होती है। सत्वगुण व रजोगुण दबे हुए रहते है। इस अवस्था के चित्त वाले मनुष्यों के स्वाभाव मे काम, लोभ और मोह की प्रवृत्ति अत्यधिक होती है। काम, लोभ और मोह से ग्रस्त इस चित्त के मनुष्य को कर्तव्य–अकर्तव्य का ज्ञान नहीं रहता। तथा वह शास्त्र विरुद्ध कर्मो का आचरण करते हुए अज्ञान और अधर्म के मार्ग पर अग्रसर रहता है। उसके जीवन में करने के लिए ऐसा कोई भी कार्य नहीं होता जो समाज के लिए हितकर हो उसका जीवन बिना पतवार की नाव के समान लक्ष्यहीन इधर उधर भटकता रहता है। वह निरन्तर निद्रा, आलस्य और प्रमाद आदि वृत्तियों से घिरा हुआ पशुओं के समान पेट भरने और सोने तक ही सीमित रहता है। मूढ चित्त वाले मनुष्य राक्षस और पिशाच प्रवृति के होते है। ये मादक पदार्थों जैसे शराब, अफीम आदि का सेवन कर अकर्मण्यता का जीवनयापन करते है। ऐसे मनुष्य पर संस्कृति की एक सुभाषित का उपदेश सटीक बैठता है–

येषां न विद्या न तपो न दानं,
ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मृत्यु लोके भुविभार भूता,
मनुष्यरूपेण मृगाःश्चरन्तिः।।

अर्थात् जिसके पास विद्या, तप, दान, ज्ञान, शील, गुण, धर्म नहीं है। वह इस पृथ्वी पर भार है। वह मनुष्य के रूप में घास चरता हुआ हिरन मात्र है।

चित्त की इस भूमि में चंचल कम किन्तु स्थिरता ज्यादा होती है। जैसा कि हमने पूर्व की चित्त भूमि (क्षिप्त) को जाना उसमें जिस प्रकार विषय भोगों के प्रति चंचलता रहती थी, किन्तु उसकी अपेक्षा इस चित्त भूमि में चंचलता तो कम होती ही है। अपितु कुछ प्राप्त करने की भी इच्छा नहीं होती। जिसके कारण इस चित्तावस्था का मनुष्य बिना किसी विकास के एक निम्न स्तरीय जीवन शैली के जीवन को बोझ की भाँति जीता है, किन्तु इस सबके बाद भी योगी का संग पाकर इस चित्त के मनुष्य भी अपने चित्त का विकास कर सकते है। और उच्चतर चित्त भूमियों को प्राप्त कर सकते हैं।

अभ्यास प्रश्न भाग – 6

1. एक शब्द में उत्तर दीजिए–

(क) मूढ़ भूमि में चित्त में किस गुण की प्रधानता होती है?

(ख) सुभाषित उपदेश में मूढ भूमि चित्त के मनुष्य की तुलना किस पशु की गयी है।

2. रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए–

(क) मूढ भूमि चित्त वाले मनुष्य ..... और ..... प्रवृत्ति के होते हैं।

(ख) मूढ भूमि में चित्त की चंचलता ..... भूमि से कम होती है।

(ग) मूढ भूमि के चित्त में ..... व ..... गुण दबे हुए रहते हैं।

2.4.3 विक्षिप्त भूमि :

चित्त की यह भूमि क्षिप्त और मूढ़ अवस्था से कुछ बेहतर है। इस चित्तावस्था में सत्वगुण का आधिक्य होता है। किन्तु यह सत्वगुण की अधिकता स्थाई नहीं रह पाती और बीच बीच में रजोगुण की प्रबलता के कारण चित्त विषयों कि ओर आकर्षित होने लगता है। जब तक सत्वगुण की प्रधानता रहती है। तब तक मनुष्य की प्रवृत्ति धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य में होती हैं किन्तु जैसे ही चित्त पर रजोगुण का प्रभाव बढ़ता है। वैसे ही मनुष्य की प्रवृत्ति विषयों की ओर होने लगती है।

चित्त की इस अवस्था में सत्व की प्रधानता कई बार व्यक्ति के साथ हुई किसी अप्रिय घटना जैसे किसी प्रियजन की मृत्यु के समय भी हो जाती है। उस समय उस व्यक्ति का मन सांसारिक माया मोह से विरक्त हो जाता है। और कुछ समय के लिए वह ईश्वर भक्ति या फिर अन्य आध्यात्मिक कर्मो में अपने समय को लगाता है, किन्तु जैसे ही उसके सम्मुख सांसारिक माया का कोई प्रबल विषय आता है। तो उसका चित्त सत्वगुण को त्याग कर रजोगुण को धारण कर लेता है। और पुनः विषय भोग में लिप्त हो जाता है। उसके जीवन में ऐसे परिवर्तन सहसा ही कई बार होते है। किन्तु वह सत्वगुण की प्रवृत्ति को स्थाई नहीं कर पाता।

चित्त की यह अवस्था प्रथम बार योगाभ्यास का प्रारम्भ करने वाले योग जिज्ञासुओं की भी होती है। जब कभी प्राथमिक योगजिज्ञासु किसी योगगुरू के उपदेशों को सुनता है तो उसके चित्त में सत्वगुण प्रबल हो उठता है और वह योगाभ्यास का प्रारम्भ कर देता है। किन्तु कुछ समय पश्चात् वही अपनी पुरानी अवस्था में लौट आता है।

जब चित्त सत्व प्रधान होता है। तब कई बार उसे योग की अवस्था के रूप में देखा जाता है। किन्तु यह योग की अवस्था नहीं क्योंकि योग उस अवस्था को कहते हैं, जिस स्थिति में मात्र सत्वगुण शेष रह जाता हो या फिर तीनों की साम्यावस्था हो जाती है, और चित्त अपने मूल अर्थात् प्रकृति में लीन हो जाता है। किन्तु यहाँ पर ऐसा कुछ नहीं होता। अतः यह अवस्था योग के अन्तर्गत नहीं आती। किन्तु पूर्व की अवस्थाओं की भाँति इस अवस्था में भी यदि योगीगुरु की विशेष कृपा हो तो चित्त उच्चतर भूमियों को प्राप्त कर सकता है।

अभ्यास प्रश्न भाग – 7

1. सत्य/असत्य बताइए–

(क) विक्षिप्त भूमि में कभी सत्व तो कभी रजोगुण प्रधान होता है।
सत्य/असत्य

(ख) विक्षिप्त भूमि मूढ़ भूमि से निम्न स्तर की होती है।
सत्य/असत्य

(ग) योगाभ्यास का प्रारम्भ करने वालों की भी विक्षिप्त अवस्था होती है।
सत्य/असत्य

2.4.4 एकाग्र भूमि :

चित्त की इस भूमि में सत्वगुण प्रधान होता है। और रजोगुण और तमोगुण दबे रहते है। इस अवस्था में चित्त की सात्त्विक वृत्ति किसी एक विषय की ओर लगी रहती है। इस सात्त्विक वृत्ति का प्रवाह जब निरन्तर बना रहता है, तब उसको एकाग्रता कहते हैं। विद्वान इसे चित्त की स्वाभाविक अवस्था कहते है। इस अवस्था में चित्त पर से रज और तम का आवरण पूर्ण रूप से हट जाता है। जिससे चित्त स्फाटिक के समान स्वच्छ और निर्मल हो जाता है। चित्त की एकाग्र भूमि में चित्त एक ही सात्विक विषय पर एकाग्र रहता है। चित्त उस सात्विक विषय से सम्बन्ध रखने वाली सभी घटनाओं के विषय पर विचार करता है। और अंत में उसी सात्विक विषय में लीन हो जाता है। यह वैसे ही जैसे आप यदि सागर के तट पर खड़े होकर सागर की विशालता को निहारते है। तो आप सागर की उस विशालता में खो जाते हैं। और जब आप नीले अनन्त आकाश को निहारते हैं तब आप उसके अनन्त विस्तार में खो जाते हैं।

चित्त की इस एकाग्र अवस्था में योग साधक किसी सात्विक विचार में खो जाता है। अब प्रश्न उठता है कि यह सात्विक विचार है क्या? यहाँ सात्विक विचार से तात्पर्य है अपने ईष्ट, गुरूवाक्य, सद्ग्रन्थवाक्य या अपने स्परूप पर एकाग्र होना जैसे कृष्ण भक्त मीरा, सूरदास आदि अपने चारों ओर मात्र कृष्ण को ही देखते थे। उनके जीवन में कृष्ण के अतिरिक्त अन्य कोई शेष नहीं था। उसी प्रकार भक्त राज हनुमान जिनका चित्त राम के नाम मे इस प्रकार लीन रहता की उनके रोम रोम में राम का निवास था।

योग की भाषा में चित्त की इस अवस्था को सम्प्रज्ञात समाधि भी कहा गया है। इस अवस्था में ईर्ष्या, घृणा, काम, क्रोध, अहंकार, दर्प, दम्भ का पूर्ण रूप से नाश हो चुका होता है, और दिव्य उल्लास तथा आनंद का भाव सागर जीवन को पल्लवित करता है। इस अवस्था के योगी की दृष्टि सम होती है। अर्थात् वह सभी जीवों को समान भाव से देखता है। उसका किसी भी जीव के प्रति वैर भाव नहीं होता। उसका चरित्र आदर्श होता है। उसके भीतर से "मैं" पन का नाश हो चुका होता है। सुख दुःख, स्तुति–निन्दा से उसका मन विचलित नहीं होता।

पूर्व की तीनों चित्त भूमियाँ क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त योग की श्रेणी की नहीं थी। किन्तु एकाग्र भूमि योगस्थ जीवन का प्रारम्भ है। यहाँ से वास्तविक योग का आरम्भ होता है।

अभ्यास प्रश्न भाग – 8

1. लघु उत्तरीय प्रश्न–
   (क) एकाग्र भूमि में त्रिगुणों की क्या दशा होती है?
   (ख) सात्विक विषय से क्या तात्पर्य है?
   (ग) कौन सी चित्त भूमियाँ योग की श्रेणी में नहीं आती?
2. एक शब्द में उत्तर दीजिए–
3. (क) एकाग्र भूमि में किस समाधि की प्राप्ति होती है।
   (ख) चित्त की एकाग्र भूमि में चित्त कहाँ एकाग्र रहता है।

2.4.5 निरुद्ध भूमि :

चित्त की इस भूमि में तमोगुण और रजोगुण के साथ साथ सत्वगुण सम्बन्धी वृत्तियों का भी निरोध हो चुका होता है। चित्त में मात्र पूर्व में किये गये कर्मों के संस्कार शेष रहते हैं। चित्त की यह अवस्था निरूद्ध भूमि कहलाता है। इस अवस्था में चित्त अपनी स्वाभाविक शान्त अवस्था में रहता है। ऐसा चित्त केवल सिद्ध योगियों का हि होता है। इन योगियों की आहार–विहार आदि क्रियाओं को समझ पाना भी कठिन होता है। उनका जीवन प्रारब्ध को भोगने मात्र के लिए शेष होता है। जैसे– आदि शंकराचार्य, रामकृष्ण परमहंस, महर्षि रमण, स्वामी शिवानंद आदि कई योगी पुरूष इस श्रेणी के है। ऐसे ज्ञान योग के साधक का चित्त आत्म साक्षात्कार के पश्चात् अपने स्त्रोत मूल प्रवृति में लीन हो चुका होता हे। चित्त की इस भूमि में होने वाली समाधि को असम्प्रज्ञात समाधि कहते है। (इस समाधि के विषय में आप आगामी इकाई 13 में विस्तार से पढेगें)

वेदान्त दर्शन की भाषा में कहें तो– इस अवस्था में साधक ब्रह्म के श्रवण, मनन और निरन्तर निदिध्यासन से ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। वह अनन्त विकास को प्राप्त कर ब्रह्म में लीन हो जाता है। यह ऐसा ही है। जैसे दुध को दुध में, तैल का तैल में अथवा जल को जल में डाला जाये तो दानों मिल जाते हैं, और एक बन जाते है। गीता में भगवान कृष्ण ऐसे चित्त वाले योगी को स्थित प्रज्ञ की संज्ञा देते हुए कहते हैं। हे पार्थ! जब मनुष्य अपने में ही अपने द्वारा संतुष्ट होकर मन में बैठी हुई समस्त कामनाओं को त्याग देता है। तब उसे स्थिति प्रज्ञ कहते हैं, ऐसे अन्य अनेक दर्शनों और सद् ग्रन्थों में इस अवस्था को विशेष रूप से चर्चा का विषय बनाया गया है। क्यों कि इस अवस्था को योग मार्ग का ही लक्ष्य नहीं अपितु मानव मात्र की मुक्ति मार्ग का लक्ष्य भी कहा गया है। यहाँ पर आकर दुःख–सुख, रोग–शोक, लाभ हानि आदि कोई भी विषय शेष नहीं रहता। पूर्व में हमने चित्त की जिस एकाग्र भूमि की चर्चा की थी चित्त की उस अवस्था (एकाग्र भूमि) में प्राप्त सम्प्रज्ञात समाधि का फल अथवा परिणाम असम्प्राज्ञात समाधि है, जो निरुद्ध भूमि में प्राप्त होती है।

अब तक चर्चा की गयी चित्त की इन पाँचों भूमियों में से क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त चित्त भूमियाँ योग के क्षेत्र की नहीं होती ये चित्त भूमियाँ योग के लिए उपादेय नहीं। किन्तु एकाग्र भूमि चित्त और निरुद्ध भूमि चित्त क्रमशः सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात योग के नाम से भी जाने जाते हैं। अतः यह दोनों चित्त भूमियाँ ही योग क्षेत्र की है। और चित्त वृत्तियों का निरोध कर इन दोनों चित्त भूमियों को प्राप्त करना ही योग का लक्ष्य है।

अभ्यास प्रश्न भाग – 9

1. सत्य/असत्य बताइए–
   (क) निरुद्ध भूमि में असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति होती है?
   सत्य/असत्य
   (ख) तीनों गुणों की वृत्तियों का निरोध निरुद्ध भूमि में होता है?
   सत्य/असत्य
2. लघु उत्तरीय प्रश्न–
   (क) स्थित प्रज्ञ से आप क्या समझते हैं?
   (ख) वेदान्त दर्शन की भाषा में निरुद्ध चित्त साधक कैसा होता है?
   (ग) निरुद्ध भूमि से प्राप्त असम्प्रज्ञात समाधि किसका परिणाम है?

2.5 सारांश :

चित्त की अवधारणा एवं चित्त की भूमियों के ज्ञान से ओत प्रोत इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप यह जान चुके होंगे की चित्त क्या है? और चित्त की भूमियों से क्या अभिप्राय है? चित्त भूमियों के प्रति आपके मन में जो जिज्ञासायें थी वह अब शान्त हो चुकि होंगी। चित्त को एक विशाल तालाब के समान माना गया है। जिसमें निरन्तर तरंगें उठती रहती है। यह तरंगे चित्त में विषय के गिरने के कारण उठती है। जैसे तालाब में पत्थर गिरने से तरंगें उठती है। चित्त में उठने वाली ये तरंगे चित्त को ही नहीं अपितु हमारे सम्पूर्ण जीवन को प्रभावित करती है। चित्त में उठने वाली ये तरंगे कई प्रकार की होती हैं। जिसके कारण हमारा व्यक्तित्व भी अनेक प्रकार का हो जाता है। इसी का अध्ययन हमने चित्त भूमियों के शीर्षक में किया। चित्त में जिस विषय के कारण वह तरंगे (वृत्तियाँ) उत्पन्न होती है। व्यक्ति का स्वभाव ही नहीं अपितु सम्पूर्ण व्यक्तित्व भी उन्हीं तरंगों के समान हो जाता है। सात्विक तरंगें व्यक्तित्व को सात्विक, राजसिक तरंगें व्यक्तित्व को राजसिक और तामसिक तरंगें व्यक्तित्व का तामसिक प्रवृत्ति का बना देती है।

किन्तु जब इन तरंगों का उठना बंद हो जाता है। अर्थात् जब चित्त निरुद्ध भूमि को प्राप्त हो जाता है, तब व्यक्ति का व्यक्तित्व संकीर्णता से मुक्त हो अनंत हो जाता है। अर्थात् सांसारिक बन्धनों में बंधा हुआ उसका जीवन अब इन बंधनों से मुक्त हो जाता है। अब वह एक सामान्य मनुष्य से ऊपर उठकर एक योगी के रूप में समाज में जाना जाने लगता है। अब वह स्वयं ही नही अपितु अन्य लोगों जो सांसारिक बंधनों में फंसे हैं, उन लोगों को भी मुक्ति के मार्ग का दर्शन कराता है। और यही योग का लक्ष्य है।

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप चित्त के व्यावहारिक रूप को समझ चुके होगें तथा चित्त की भूमियों के मानवीय भावनाओं एवं संवेदनाओं के अंतर को भी जान गये होगें।

2.6 पारिभाषिक शब्दावली :

वैषम्य	–	विषमता
अंतःकरण चतुष्टय कहलाताहै।	–	मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त का समूह अंतःकरण चतुष्टय
दृश्यमान	–	जो दिखाई दे वह दृश्यमान कहलाता है।

पंचज्ञानेन्द्रियाँ – आँख, कान, नाक, जीभ व त्वचा को पंच ज्ञानिन्द्रि कहते हैं।

पंच कर्मेन्द्रियाँ – हाथ, पैर, मुख, लिंग और गुदा को पंच कर्मेन्द्रि कहते हैं।

आधिक्य – अधिकता

योगस्थ – योग की अवस्था में स्थित होना योगस्थ कहलाता है।

उपादेय – उपयोगी

2.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

उत्तर (अभ्यास प्रश्न भाग) – 1

1. (क) त्रिगुणात्मक
   (ख) सत्वप्रधान
   (ग) भोग, मोक्ष
   (घ) चुम्बक
2. (क) सात्त्विक
   (ख) अंतःकरण चतुरष्टय
   (ग) सत्व गुण

उत्तर (अभ्यास प्रश्न भाग) – 2

1. (क) सत्य
   (ख) असत्य
   (ग) सत्य
2. (क) सांख्य के अनुसार अंतःकरण – मन, बुद्धि और अहंकार है।
   (ख) मन का कार्य संकल्प–विकल्प, बुद्धि का कार्य निश्चय, अहंकार का कार्य अभिमान तथा चित्त का कार्य स्मरण करना है।
   (ग) पूर्व में किये गये कर्मों के फल जिनका भोग अभी बाकि है। वे चित्त में संस्कार के रूप में पड़े रहते हैं।

उत्तर (अभ्यास प्रश्न भाग) – 3

1. (क) अ – निश्चय करना
   (ख) स – संस्कारों का
2. (क) चेष्टा
   (ख पुरुष
   (ग) इन्द्रियाँ

उत्तर (अभ्यास प्रश्न भाग) – 4

1. (क) चित्त की पांच भूमियाँ हैं–
   (1) क्षिप्त, (2) मूढ, (3) विक्षिप्त, (4) एकाग्र, (5) निरुद्ध
   (ख) संस्कारों के आवरण के कारण चित्त मलिन होता है।
   (ग) संस्कारों के आवरण के नष्ट होने पर चित्त निर्मल हो जाता है।

उत्तर (अभ्यास प्रश्न भाग) – 5

1. (क) रजोगुण
   (ख) नैतिक
   (ग) विषयों
(घ) शारीरिक, मानसिक

उत्तर (अभ्यास प्रश्न भाग) – 6

1. (क) तमोगुण
   (ख) हिरण
2. (क) राक्षस, पिशाच
   (ख) क्षिप्त
   (ग) रजोगुण, सत्वगुण

उत्तर (अभ्यास प्रश्न भाग) – 7

1. (क) सत्य (ख) असत्य (ग) सत्य

उत्तर (अभ्यास प्रश्न भाग) – 8

1. (क) एकाग्र भूमि में सत्व गुण प्रधान होता है तथा रजोगुण व तमोगुण दबे हुए होते हैं।

(ख) अपने ईष्ट, गुरुवाक्य, सद्ग्रन्थ वाक्य या अपने स्वरूप पर एकाग्रता सात्विक विषय है।

(ग) क्षिप्त, मूढ़ व विक्षिप्त चित्त भूमियाँ योग की श्रेणी में नहीं आती।

2. (क) सम्प्रज्ञात
   (ख) सात्विक विषय पर

उत्तर (अभ्यास प्रश्न भाग) – 9

1. (क) सत्य (ख) सत्य
2. (क) गीता के अनुसार – जब मनुष्य अपने में ही अपने द्वारा संतुष्ट होकर मन में बैठी हुई समस्त कामनाओं को त्याग देता है। तब इस अवस्था की स्थित प्रज्ञ कहते हैं।
   (ख) निरुद्ध चित्त साधक ब्रह्म स्वरूप ही हो जाता है।
   (ग) निरुद्ध भूमि में प्राप्त असम्प्रज्ञात समाधि एकाग्र भूमि में प्राप्त सम्प्रज्ञात समाधि का परिणाम है।

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. श्री वास्तव, डॉ॰ सुरेशचन्द्र,(2008) पातंजलयोग दर्शनम्, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी
2. मिश्र, डॉ॰ जगदीशचन्द्र, (2008) भारतीय दर्शन, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी

3. दासगुप्त, सुरेन्द्रनाथ (2008) भारतीय दर्शन का इतिहास भाग–1 अनु॰ कलानाथ शास्त्री व सुधीर कुमार, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

4. तीर्थ, स्वामी ओमानंद, (सम्वत्–2054), पातंजल योग प्रदीप, गीता प्रेस, गोरखपुर

2.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री :

1. योगभ्यास का मूलाधार, लेखक – स्वामी शिवानंद, प्रकाशक – दिव्य जीवन संघ प्रकाशन
2. योगदर्शन, लेखक– परमहंस निरंजनानंद, प्रकाशक – श्री पंचदशनाम परमहंस अलखबाड़ा, बिहार
3. कल्याण का योगांक, प्रकाशक – गीताप्रेस गोरखपुर
4. विवेकानंद साहित्य, भाग 3 व 4, प्रकाशक – अद्वैत आश्रम, कोलकत्ता
5. योग मीमांसा, त्रैमासिक शोध पत्रिका, प्रकाशक – कैवल्य धाम लोनावला, महाराष्ट्र
6. http://hinduebooks.blogspot.com
7. http://www.hindudharmaforums.com
8. http://sanskritdocuments.org
9. http://archive.org

2.10 निबंधात्मक प्रश्न :

प्रश्न 1. चित्त की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए चित्त की क्रियाविधि को समझाइये।
प्रश्न 2. अंतःकरण के रूप में चित्त की स्थिति को स्पष्ट कीजिए।
प्रश्न 3. क्षिप्त एवं मूढ़ चित्त भूमि के स्वरूप की व्याख्या कीजिए।
प्रश्न 4. विक्षिप्त चित्त भूमि के स्वरूप का वर्णन करते हुए योग में उसकी उपयोगिता का भी उल्लेख कीजिए।
प्रश्न 5. एकाग्र एवं निरूद्ध चित्त भूमि क्या है? योग के क्षेत्र में इनके महत्व को भी स्पष्ट कीजिए।

इकाई–3 चित्त वृत्तियाँ

3.1 प्रस्तावाना

3.2 उद्ददेश्य

3.3 चित्त की वृत्तियाँ

3.3.1 प्रमाण

3.3.2 विपर्यय वृत्ति

3.3.3 विकल्प वृत्ति

3.3.4 निद्रा वृत्ति

3.3.5 स्मृति वृत्ति :

3.4 सारांश

3.5 पारिभाषिक शब्दावली

3.6 अभ्यास प्रश्न के उत्तर

3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

3.8 सहायक/उपयोगी पाठय सामग्री।

3.9 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना :

प्रिय पाठको इकाई 2 में आप चित्त और चित्त की भूमियों के ज्ञान से अवगत हो चुके हैं। चित्त और चित्त की भूमियों के विषय को पढ़ते समय आपके सामने एक शब्द कई बार आया और वो शब्द था वृत्ति। अब प्रस्तुत इकाई में हम चित्त की वृत्तियों पर विस्तृत चर्चा करेंगे और वृत्तियों के प्रकारों और इनकी उपादेता पर प्रकाश डालेंगे।

हम जानेगें की वृत्तियों के प्रभाव से मानव किस प्रकार प्रभावित होता है और ये वृत्तियाँ किस प्रकार मानवीय व्यक्तित्व को आकार प्रदान करती है। सामान्य जीवन में हम भाववृत्ति, मनोवृत्ति आदि शब्दों को सुनते ही वास्तव में ये सभी चित्त की इन वृत्तियों पर ही आधारित है। योग सूत्र के रचनाकार महर्षि पतंजलि ने इन वृत्तियों की संख्या पांच बताई है। और वह क्रमशः प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति है।

3.2 उद्ददेश्य :

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप –

- चित्त की वृत्तियों के अर्थ को समझ सकेंगे
- चित्त की वृत्तियों के सकारात्मक और नकारात्मक पक्ष का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- चित्त वृत्तियों के व्यावहारिक ज्ञान से मानव जीवन पर पड़ने वाले उनके प्रभाव और मानव जीवन में उनकी उपादेयता का विश्लेषण कर सकेंगे।

3.3 चित्त की वृत्तियाँ :

पिछली इकाई में आपने कई बार वृत्ति शब्द को पढ़ा आइये अब इस शब्द और इसके अर्थ पर विस्तृत चर्चा करते हैं –

योगदर्शन में चार अतःकरण (मन, बुद्धि, अहंकार व चित्त) और दस बाह्य करण (पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ) को विषयों के ज्ञान हेतु और प्रतिक्रिया करने का साधन माना गया हैं, इन अंतःकरण और बाह्य करणों के द्वारा विषयों के प्रति जो ज्ञानात्मक परिणाम है। वहीं वृत्ति है। अर्थात् बुद्धि द्वारा निश्चय करना, अहंकार द्वारा अभिमान करना, मन द्वारा संकल्प–विकल्प और चित्त द्वारा संस्कार संग्रह तथा कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों द्वारा विषय ग्रहण कर क्रिया करना आदि सभी को वृत्ति कहा जा सकता है। किन्तु यदि हम मात्र चित्त की वृत्ति की बात करें तो जब चित्त इन्द्रियों के माध्यम से विषय के सम्पर्क में आता है। तब यह चित्त उस विषय का ही आकार ग्रहण कर लेता है। चित्त के द्वारा विषय के आकार को ग्रहण करने यह घटना ही चित्त की वृत्ति कहलाती है। पूर्व में हम पढ़ चुके हैं कि जब पुरुष के चैतन्य का प्रकाश चित्त पर पड़ता है, तो चित्त भी चैतन्य हो उठता है और इस चैतन्यता की अवस्था में ही चित्त विषयों के प्रति क्रिया करना आरम्भ कर देता है। इसी को चित्त वृत्ति कहते हैं। चित्त में उत्पन्न होने वाली इन अनित्य वृत्तियों का क्रमप्रवाह निरन्तर चलता रहता है। ये वृत्तियाँ ही चित्त में संस्कारों का संग्रह करती है और संग्रहित संस्कार ही पुनः वृत्तियों का रूप ले लेते हैं। इस प्रकार यह चक्र अनवत चलता रहता है। वृत्तियों के व्यावहारिक रूप से समझने के लिए निम्न उदाहरण को ध्यानपूर्वक समझें –यदि हम किसी तालाब में एक पत्थर फेकें तो हम देखते हैं कि तालाब में उस स्थान से जहाँ पर वह पत्थर जाकर गिरा है, वहाँ से वृत्ताकार लहरें उत्पन्न होती है और ये लहरे किनारे तक जाती है। पुनः यदि कोई पत्थर तालाब में फेंका जाये तो यह लहरे पुनः उत्पन्न हो जाती है। उसी प्रकार चित्त एक तालाब है और पत्थर विषय तथा तालाब में उठने वाली ये लहरें ही वृत्ति जिन्हें हम चित्त वृत्तियाँ कहते हैं।

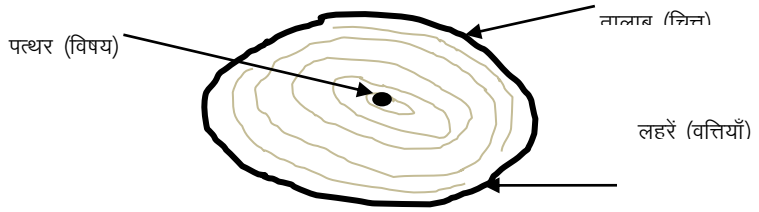

चित्र : 1

ये चित्त वृत्तियाँ जिस प्रकार की होती है मानव की भावनायें, अभिव्यक्ति, दृष्टिकोण आदि शारीरिक और मानसिक क्रियायें भी उसी प्रकार की हो जाती हैं जैसे हम जब काले रंग का चश्मा पहनते है तो हमें सब कुछ काला, हरा चश्मा पहनने पर सब कुछ हरा ही दिखायी देने लगता है। इसी कारण कभी हमें यह संसार अतिसुन्दर दिखायी देता है, और कभी शुष्क और नीरस, कभी तो हम किसी एक विचार के आवेग में बहते चले जाते है और कभी वही विचार हमें मूर्खता पूर्ण विचार लगने लगता है। चित्त की पांच वृत्तियों (प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति) के द्वारा ही व्यक्ति जीवन पर्यन्त सुख–दुःख का अनुभव करता है। वृत्तियों द्वारा जीवन में जब सुख की अनुभूति होती है तब हम उसे वृत्तियों का सकारात्मक तथा जब दुःख की अनुभूति होती है तब उसे हम वृत्तियों का नकारात्मक पहलू कहते हैं।

योग सूत्र में महर्षि पतंजलि ने वृत्तियों के इन दोनों पहलूओं को क्लिष्ट और अक्लिष्ट अर्थात् दुःखदायी और दुःख रहित बताया है। चित्त की वृत्तियों के उस स्वरूप की जो मानव को भोग की और प्रवृत्त करता है, उसे क्लिष्ट अर्थात् क्लेश कारक कहा गया है। और वृत्तियों के उस स्वरूप को जो मानव को योग की ओर ले जाता है उन्हें अक्लिष्ट अर्थात् क्लेश रहित कहा गया है। सत्व प्रधान वृत्तियाँ अक्लिष्ट और तमस् प्रधान वृत्तियाँ क्लिष्ट है।

जिन वृत्तियों के उत्पन्न होने का कारण अविद्या आदि पांच क्लेश (इन पंच क्लेशों का वर्णन योगसूत्र 2/3 में हुआ है।) हैं। वे वृत्तियाँ संस्कारों का संग्रह करती हैं जिससे जीवन कष्टप्रद हो जाता है। इसी कारण इन्हें क्लिष्ट वृत्तियाँ कहते हैं। किन्तु जो वृत्तियाँ अविद्या आदि पंच क्लेशों को नष्ट करती है, और चित्त में विवेक के प्रकाश को उत्पन्न करने में सहायक होती है। वे वृत्तियाँ जीवन में सुखप्रद होती है। अतः ऐसी वृत्तियों को अक्लिष्ट कहा गया हैं।

क्लिष्ट वृत्तियाँ क्लिष्ट संस्कारों और अक्लिष्ट वृत्तियाँ अक्लिष्ट संस्कारों को उत्पन्न करती है। उसी प्रकार ये क्लिष्ट व अक्लिष्ट संस्कार क्रमशः क्लिष्ट व अक्लिष्ट वृत्तियों को उत्पन्न करते हैं। और यह चक्र सतत् चलता रहता है। किन्तु योग के द्वारा सर्वप्रथम अक्लिष्ट वृत्तियों के द्वारा क्लिष्ट वृत्तियों को नष्ट किया जाता है और बाद में इन अक्लिष्ट वृत्तियों का भी निरोध कर दिया जाता है। जब क्लिष्ट वृत्तियों का पूर्ण निरोध हो जाता है, और मात्र अक्लिष्ट वृत्तियाँ ही शेष रह जाती है, तब सम्प्रज्ञात योग की प्राप्ति होती है और जब ये अक्लिष्ट वृत्तियाँ भी नहीं रहती तब योग के परम् लक्ष्य असम्प्रज्ञात योग की प्राप्ति होती है। तब चित्त वृत्तिशून्य हो जाता है, और चित्त का वृत्तिशून्य होना ही योग है।

अभ्यास प्रश्न भाग–1

1. एक शब्द में उत्तर दिजिए –

   (क) चित्त की कुल कितनी वृत्तियाँ हैं ?

   (ख) वृत्तियाँ चित्त में किसका संग्रह करती हैं?

   (ग) चित्त का वृत्तिशून्य होना क्या है?

2. लघु उत्तरीय प्रश्न

   (क) चित्त की वृत्ति क्या है ?

(ख) अक्लिष्ट वृत्ति से आप क्या समझते हैं?

(ग) क्लिष्ट वृत्ति का चित्त पर क्या प्रभाव होता है?

3.3.1 प्रमाण :

चित्त वृत्तियों में सर्वप्रथम प्रमाण पर चर्चा करेंगे। यही चित्त वृत्तियों में प्रथम वृत्ति है। इसका सम्बन्ध तथ्यों, परिस्थितियों और घटनाओं के अनुभव और सजगता पर आधारित ज्ञान से है। या इस प्रकार कहें कि जिसके द्वारा प्रमा अर्थात् ज्ञान की उत्पत्ति होती है उसे प्रमाण कहते हैं। प्रमाण के द्वारा ही इन्द्रियाँ विषयों को ग्रहण कर बुद्धि को उनका ज्ञान कराती हैं। प्रमाण की परिभाषा के अनुसार –

"जो कारण दोषों से रहित हो, अन्य ज्ञान से बाधित न हो, पूर्व से अज्ञात पदार्थ का ज्ञान कराता है उसे प्रमाण कहते हैं। (शास्त्र दीपिका –1/1/5)

यहाँ पर सबसे पहले प्रश्न उठता है कि ज्ञान क्या है? ज्ञान को चित्त का धर्म माना गया है, तथा चित्त की ऐसी वृत्ति जिसका विषय नवीन है, वह प्रमा (ज्ञान) है। अब यदि प्रमा और प्रमाण को जोड़कर देखा जाये तो विषय के सामान्य या विशेष रूप को ग्रहण करने वाली वृत्ति प्रमाण है, और चित्त में उस वृत्ति का बोध प्रमा (ज्ञान) है। उक्त विषय को और अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए निम्न चर्चा पर विशेष ध्यान दिजिए –

प्रमा (ज्ञान) की उत्पत्ति का आधार ये तीन तथ्य हैं

1. प्रमाता, 2. प्रमेय 3. प्रमाण।

प्रमाता विषय का ज्ञाता होता है, अर्थात् जिसे विषय का ज्ञान प्राप्त करना है। प्रमेय विषय को कहते हैं, तथा जिस साधन के द्वारा प्रमाता प्रमेय का ज्ञान प्राप्त करता है, वह प्रमाण है। इसे एक उदाहरण द्वारा और अधिक स्पष्टता से समझते हैं – माना किसी व्यक्ति को किसी पुस्तक के बारे में जानना है कि वह पुस्तक किस लेखक की है, इस पुस्तक में क्या जानकारी है, इत्यादि तब वह व्यक्ति उस पुस्तक को लेता है। और उसे प्रत्यक्ष रूप से देखता और पढ़ता है जिससे उसे उसका ज्ञान हो जाता है। यहां प्रमाता व्यक्ति है। प्रमेय पुस्तक है और प्रत्यक्ष प्रमाण है तथा पुस्तक के बारे में जानकारी ज्ञान है।

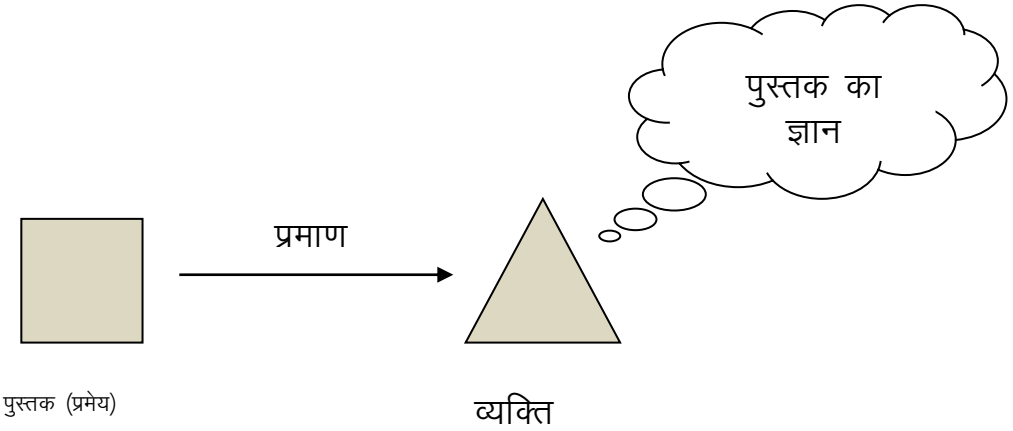

चित्र : 2

अतः प्रमाण के बिना हमें प्रमेय का ज्ञान नहीं हो सकता, प्रमेय की सिद्धि के लिए प्रमाण की आवश्यकता होती है। प्रमाण सदैव नवीन ज्ञानोत्पादक होता है। प्रमाण से ही हमें किसी विषय का ज्ञान होता है। योग दर्शन के अनुसार चित्त की यह प्रथम वृत्ति है, और प्रमाण संख्या में तीन हैं –

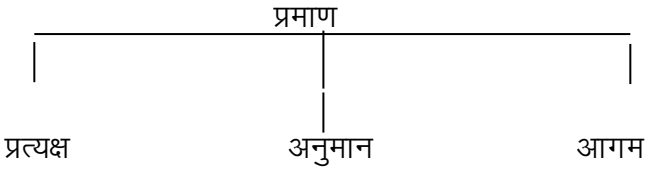

वैसे प्रमाण की संख्या पर भारतीय दर्शन में मतभेद हैं, जैसे – जैन दर्शन दो प्रमाण मानता है, प्रत्यक्ष और परोक्ष वहीं चार्वाक ने एक प्रमाण प्रत्यक्ष को मान्यता दी है, न्याय और वैषेशिक दर्शन प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चार प्रमाणों को मानता है, तथा मीमांसा व वेदान्त प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि इन प्रमाणों को मानता है। किन्तु योग और सांख्य दर्शन प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन प्रमाणों को ही स्वीकार करते हैं। आइये अब इन तीनों प्रमाणों पर क्रमशः विस्तृत चर्चा करते हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण : जब इन्द्रियों का उनके विषय से सीधा संयोग होता है, तब उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है जैसे–आँख के द्वारा देखना, कान के द्वारा सुनना, जिह्वा के द्वारा स्वाद ग्रहण करना, नाक के द्वारा सुघंना तथा त्वचा के द्वारा स्पर्श करना। एक अन्य परिभाषा द्वारा इसे समझते हैं। जब किसी व्यक्ति को इन्द्रियों के माध्यम से वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। तब बुद्धि विषय के आकार को धारण कर लेती है, यही प्रक्रिया प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाती है। इस प्रक्रिया में इन्द्रियाँ महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। किन्तु वह मात्रा सहायक के रूप में होती है। मुख्य कार्य तो बुद्धि का है। इस चर्चा को और अधिक इस उदाहरण के द्वारा समझते हैं –जिस प्रकार खेत या क्यारियों तक नदी से जल को नहर की सहायता से पहुँचाया जाता है, उसी प्रकार इन्द्रियों के माध्यम से विषय का ज्ञान बुद्धि तक ले जाया जाता है, और बुद्धि इस विषय का ज्ञान प्राप्त कर लेती है।

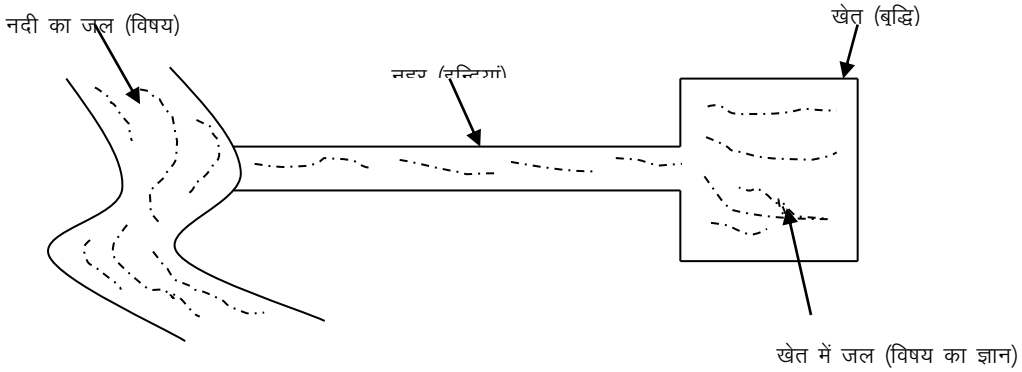

चित्र : 3

उक्त उदाहरण से स्पष्ट है, कि प्रत्यक्ष प्रमाण हमारी इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान या अनुभव है। प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रियों की उपयोगिता उतनी ही है, जितनी खेत तक पानी ले जाने में नहर की इसीलिए वस्तु और बुद्धि के होते हुए भी यदि इन्द्रियों का अभाव हो तो प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव नहीं जैसे अंधे व्यक्ति को कोई भी वस्तु दिखाई नहीं दे सकती अतः वह सुन्दर दृश्य आदि का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। किन्तु फिर भी प्रत्यक्ष प्रमाण को बुद्धि का धर्म कहा गया है। इन्द्रियों का नहीं। इस प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रक्रिया में बुद्धि की प्रधानता है। इन्द्रियों गौण भाव से रहती है।

अब तक आप प्रत्यक्ष प्रमाण के बारे में समझ गये होंगे। आइये अब अनुमान प्रमाण पर विस्तृत चर्चा करें।

अनुमान प्रमाण : सामान्यतः अनुमान प्रमाण से तात्पर्य किसी तथ्य के पीछे निहित कारक के अनुमान से है। जैसे यदि कुछ दूरी पर हमें धुआँ उठता दिखाई दे रहा है, तो हम निश्चित हि यह अनुमान लगाते है कि वहाँ धुआँ है, अतः वहाँ आग लगी है। इसी प्रकार किसी परिणाम को देखकर हम जब उसका विश्लेषण करते हैं, और उसके कारण के सम्बन्ध में एक निष्कर्ष निकालते हैं, तो इसे ही अनुमान प्रमाण कहते हैं। संसार में किसी भी विषय अथवा वस्तु का कोई न कोई चिन्ह अवश्य होता है, जिसके द्वारा हम उसे पहचानते हैं, भले ही वह विषय अथवा वस्तु प्रत्यक्ष रूप से हमारे सामने न हो। दर्शन की भाषा में विषय अथवा वस्तु के उस चिन्ह को लिंग और उस विषय या वस्तु को लिंगि कहते हैं। ऊपर दिये गये आग और धुँए के उदाहरण में आग लिंगि है, तथा आग का चिन्ह या लिंग धुँआ है। अतः यह अनुमान लगाया जाता है, कि जहाँ–जहाँ धुआँ है वहाँ–वहाँ आग का होना अनिवाय है। अर्थात् आग के न होने पर धुआँ नहीं हो सकता और यदि धुआँ है तो आग भी अवश्य होगी ऐसा अनुमान सदैव लगाया जाता है।

अनुमान प्रमाण के तीन प्रकारों का उल्लेख सांख्य दर्शन के ग्रन्थ सांख्यकारिका में किया गया है। किन्तु वहाँ उनका पूर्ण विवरण या नामों का उल्लेख नहीं किया गया। लेकिन न्याय दर्शन में अनुमान प्रमाण के तीन प्रकारों का विस्तृत वर्णन किया गया है। हालांकि योग सूत्र में अनुमान प्रमाण के प्रकारों का कोई उल्लेख नहीं किया गया किन्तु यहाँ पर अनुमान प्रमाण को और अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए न्याय दर्शन के अनुमान प्रमाणों के प्रकारों का उदाहरण सहित वर्णन किया जा रहा है। जिससे आप को अनुमान प्रमाण का विस्तृत ज्ञान प्राप्त हो सके। आइये समझते हैं, अनुमान प्रमाणों के तीनों प्रकारों को –

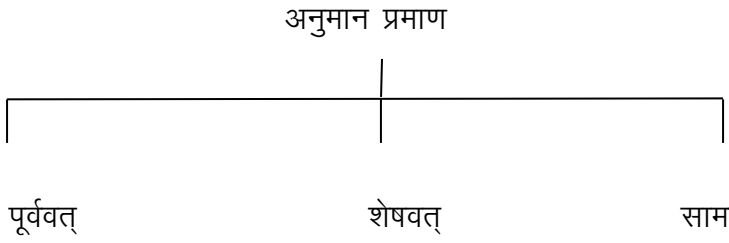

(क) पूर्ववत् अनुमान प्रमाण : पूर्ववत् अनुमान का सामान्य अर्थ है। पहले की तरह अर्थात् पहले के अनुभव के आधार पर किसी ज्ञान का अनुमान लगाना पूर्ववत् अनुमान कहलाता है। जेसे यदि कोई व्यक्ति कहे कि मैंने पहले देखा है, कि जहां कहीं भी धुआँ दिखे तो वहाँ आग अवश्य होगी। यहां पर व्यक्ति द्वारा आग का ज्ञान पूर्व के अनुभव के आधार पर अनुमान लगाना है। एक अन्य उदाहरण में यदि आकाश में काले घने बादल दिखाई देते हैं, तो सभी लोग वर्षा होने का अनुमान लगाते हैं, मौसम वैज्ञानिक भी इसका इस्तेमाल मौसम के पूर्वानुमान में बहुत अधिक करते हैं, अर्थात् पहले भी काले घने बादल होने पर वर्षा होने का अनुमान लगाया जाता रहा है। यही पूर्ववत् अनुमान प्रमाण है।

(ख) शेषवत् अनुमान प्रमाण : शेषवत् अनुमान प्रमाण में दृष्ट कार्य से अदृष्ट कारण का अनुमान किया जाता है। अर्थात् कार्य के होने के बाद कारण का अनुमान लगाना शेषवत् अनुमान कहलाता है। जैसे यदि हम नदी में बाढ़ देखते है, तो हम यह अनुमान लगाते हैं, कि शायद बहुत जोर की वर्षा हुई होगी तभी नदी में बाढ़ आई है। यहां पर नदी में बाढ़ कार्य है, जो की हो चुका है। और भारी वर्षा का अनुमान करना कारण है, जो की नदी में बाढ़ आने से किया गया है। अर्थात् भारी वर्षा के होने के बाद जो नदी में बाढ़ के रूप में कार्य शेष बचा उसका अनुमान करना शेषवत् अनुमान प्रमाण कहलाता है।

(ग) सामान्यतो दृष्ट अनुमान प्रमाण : जो कार्य सामान्य रूप से देखने को मिलता है उस कार्य के कारण का अनुमान सामान्यतोदृष्ट अनुमान प्रमाण कहलाता है। जैसे – कपडे को देखकर हम सामान्यतः अनुमान लगाते हैं, कि यह कपड़ा जुलाहे द्वारा बुना गया होगा या कुर्सी मेज आदि लकडी का सामान देखकर हम अनुमान लगाते हैं, कि यह कुर्सी मेज बढई ने बनाई होगी। एक अन्य उदाहरण के अनुसार दिन और रात होने पर हम सामान्यतः यह अनुमान लगाते हैं, कि पृथ्वी घूम रही है इसलिए दिन रात हो रहे है।

अब आप अनुमान प्रमाण को उसके भेदों सहित अच्छी प्रकार से समझ गये होगें। आगे हम आगम प्रमाण पर चर्चा करेंगे।

आगम प्रमाण : आगम प्रमाण के विषय में योगसूत्र के भाष्यकार महर्षि व्यास कहते हैं, कि "तत्त्वज्ञान करूणा और ज्ञानेन्द्रियों से पूर्ण व्यक्ति आप्त कहा जाता है, और जब वह आप्त व्यक्ति अनुभव किये गये ज्ञान को अन्य लोगों तक शब्दमय वाक्यों के द्वारा पहुँचाता है, तो उन शब्दों को सुनने से चित्त में जिस वृत्ति का उदय होता है, उसे आगम प्रमाण कहते हैं" इस कथन को यदि सरलता से कहें तो जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी ही बताने वाला व्यक्ति आप्त कहलाता है, तथा उस आप्त व्यक्ति द्वारा कहे गये वाक्यों से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को ही आगम प्रमाण कहते हैं। सांख्य दर्शन के ग्रन्थ सांख्यकारिका में इसे ही आप्त श्रुति तथा न्याय दर्शन ने इसे ही शब्द प्रमाण कहा है।

इस प्रकार सत्यवादी व्यक्ति, वेद तथा वेदों पर आश्रित अन्य सभी विधायें जैसे स्मृति, इतिहास, पुराण आदि द्वारा कहे गये वाक्यों से चित्त में जिस वृत्ति का उदय होता है। उसे आगम प्रमाण वृत्ति कहते हैं। आगम प्रमाण के उदाहरण हेतु हम अनेक योगियों एवं गुरुओं के द्वारा कहे गये ज्ञान को प्रस्तुत कर सकते हैं, जो हमारे द्वारा अनुभव नहीं किया गया किन्तु उन गुरुओं व योगियों के द्वारा वह ज्ञान अनुभव किया जा चुका है। अतः वह उस ज्ञान को हम तक पहुँचाते हैं। जिस पर हम पूरा विश्वास करते हैं, क्योंकि वह योगी गुरु ही आप्त व्यक्ति होते हैं, और उनके मुख से निकला ज्ञान ही आगम प्रमाण होता है।

अब तक आपने प्रमाण वृत्ति के प्रकारों को जाना अब –हम चर्चा करते है कि प्रमाण वृत्ति कब क्लिष्ट होती है, और कब अक्लिष्ट। प्रमाण के हमने तीन प्रकार पढ़े प्रत्यक्ष, अनुमान

और आगम। अब यदि प्रत्यक्ष प्रमाण के क्लिष्ट स्वरूप की बात करें तो – यदि हमारी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा किसी ऐसे विषय का प्रत्यक्षीकरण किया जा रहा है, जो हमारे चित्त को विचलित कर दे तो ऐसे प्रत्यक्ष प्रमाण को क्लिष्ट समझना चाहिए। जैसे नेत्रों द्वारा स्त्री सौन्दर्य का प्रत्यक्ष ज्ञान चित्त को चंचल बना देता है। अतः ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान क्लिष्ट हुआ इसके विपरीत यदि वह प्रत्यक्षीकरण जो चित्त में सात्विक विचार उत्पन्न करे वह अक्लिष्ट होगा। जैसे यदि नेत्रों का उदाहरण ही ले तो नेत्रों द्वारा अपने ईष्ट की मूर्ति या गुरु का प्रत्यक्ष होने पर चित्त में सात्विक वृत्तियों का प्रभुत्व होता है, जो समाधि मार्ग में सहायक है।

दूसरे क्रम पर अब हम अनुमान प्रमाण पर चर्चा करते हैं, कि वह कब क्लिष्ट होगा और कब अक्लिष्ट। जब अनुमान प्रमाण मोह और दुःख को उत्पन्न करे तो समझना चाहिए की वह अनुमान का क्लिष्ट स्वरूप है। जैसे यदि स्वाध्याय या ईश्वरोपासना करते हुए हमारी नासिका ज्ञानेन्द्रि को किसी विशेष भोज्य पदार्थ की सुगन्ध मिलने लगे और हम वहीं स्वाध्याय करते–करते या ईश्वरोपासना करते हुए तरह तरह के व्यजंन होने का अनुमान लगाने लगें तो हमारा चित्त किये जा रहे सात्विक मार्ग से हट कर चंचलता को प्राप्त हो जायेगा। या नूपुरों की ध्वनि को सुनकर स्त्री के होने का अनुमान चित्त को चंचल बना देता है। और यही अनुमान प्रमाण का क्लिष्ट स्वरूप है। किन्तु जब हमें कहीं वेदों की ऋचाओं के स्वरों के साथ धुआँ भी दीखाई दे, तो हम अनुमान लगाते है कि कहीं यज्ञ किया जा रहा है, और यदि हमारा चित्त यज्ञ जैसे सात्विक कार्यों की ओर बढ़ने लगे तब हमें समझना चाहिए की यह अनुमान का अक्लिष्ट स्वरूप है। क्योंकि ऐसा अनुमान हमारे चित्त को सात्विक कार्यों की और अग्रसारित करता है।

तीसरे क्रम पर यदि हम आगम प्रमाण की बात करें तो यह तभी क्लिष्ट होगा जब आप्त पुरुष द्वारा दिये गये ज्ञान को ग्रहण करने वाला जिज्ञासु अर्थ का अनर्थ कर दे। जैसे वेदों के उपदेशों का गलत अर्थ करके बलि आदि हिंसक कर्म करना। गीता के ज्ञान को युद्ध की हिंसा का समर्थक जान लेना आदि। अतः आगम प्रमाण मूलतः क्लिष्ट नहीं होता किन्तु यदि आप्त वचनों को ग्रहण वाला व्यक्ति ही वचनों के अर्थ को न समझ पाये तो यह आगम प्रमाण उस व्यक्ति (वचनों को ग्रहण करने वाला) के लिए क्लेश कारक होगा अन्यथा आगम प्रमाण अक्लिष्ट वृत्ति है जो कि समाधि मार्ग में अग्रसर होने में सहायक होता है।

इस प्रकार आपने प्रमाण के विषय पर विस्तृत ज्ञानकारी हासिल कि, आपने सबसे पहले प्रमाण के तीन प्रकार होते है, यह जाना उसके बाद प्रत्येक प्रमाण को अलग–अलग जाना और अन्त में यह भी जाना की यह प्रमाण वृत्ति कब क्लिष्ट अर्थात् क्लेश कारक होती है, और कब अक्लिष्ट अर्थात् अक्लेश कारक।

अभ्यास प्रश्न भाग–2

1. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें।
   (क) ज्ञान को .....का धर्म माना गया है।
   (ख) प्रमाता विषय का .....होता है।
   (ग) चित्त वृत्तियों के क्रम में सर्व प्रथम .....का स्थान है।
2. लघु उत्तरी प्रश्न
   (क) प्रमाण वृत्ति की परिभाषा दिजिए ?
   (ख) ज्ञान की उत्पत्ति के तीन कारक कौन से हैं ?

(ग) वेदान्त के अनुसार प्रमाण कितने हैं ?

3. सत्य असत्य बताइये।

(क) जब इन्द्रियों का उनके विषय से सीधा सम्पर्क होता है तब उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। (सत्य/असत्य)

(ख) प्रत्यक्ष प्रमाण में बुद्धि गौण भाव से रहती है।
(सत्य/असत्य)

(ग) लिंग तथा लिंगि पर आधारित प्रमाण को अनुमान प्रमाण कहते हैं। (सत्य/असत्य)

4. बहु विकल्पीय प्रश्न

(क) पूर्ववत् किस प्रमाण का प्रकार है।

अ. प्रत्यक्ष स. आगम

ब. अनुमान द. उपमान

(ख) वेद वाक्यों से उत्पन्न ज्ञान को किस प्रमाण के अन्तर्गत् रखा गया है।

अ. प्रत्यक्ष स. अनुमान

ब. आगम द. उपमान

(ग) तत्वज्ञान, करुणा और ज्ञानन्द्रियों से पूर्ण व्यक्ति होता है।

अ. असत्यवादी स. साहसी

ब. सामर्थ्यवान द. आप्त

3.3.2 विपर्यय वृत्ति :

योगसूत्र में प्रमाण वृत्ति के बाद विपर्यय वृत्ति का उल्लेख किया गया है। अब इस शीर्षक में हम विपर्यय वृत्ति पर विस्तृत चर्चा करेंगे। विपर्यय का तात्पर्य मिथ्या ज्ञान से है। मिथ्या ज्ञान अर्थात् गलत ज्ञान या किसी विषय का गलत परिचय। वेदान्त दर्शन में विपर्यय का एक सबसे उत्तम उदाहरण है। रस्सी को सर्प समझ लेना। उदहरण कुछ इस प्रकार है, यदि अन्धेरे कमरे में किसी कोने में कोई रस्सी का टुकडा पड़ा हो तो हम उससे अचानक भयभीत हो जाते हैं, क्योंकि हम उसे सर्प समझ लेते है। किन्तु जैसे ही प्रकाश फैलता है, और कमरा प्रकाश से भर जाता है, तब हमें दिखाई देता है, कि जिसे हम सर्प समझ रहे थे वह तो मात्र एक रस्सी का टुकड़ा है। प्रायः हम सभी लोग विपर्यय के शिकार होते है। समाज में फैलने वाली झूठी अफवाह विपर्यय का सबसे बड़ा उदाहरण है। विपर्यय वृत्ति हमारी सजगता को भ्रमित कर देती है, जिसके कारण हम सही गलत का बोध नहीं कर पाते ऐसा कई बार तक होता है, जब हम बहुत ज्यादा क्रोध में हो या फिर किसी भावावेश में अथवा नशे में। जब हम किसी घटना विषय अथवा वस्तु से सम्बन्धित सभी तथ्यों, परिस्थितियों और कारणों की जानकारी प्राप्त किये बिना उस पर प्रतिक्रिया देते है, या उस पर विश्वास कर लेते है तब हमारे द्वारा कि गयी वह प्रतिक्रिया या विश्वास विपर्यय की श्रेणी का होता है।

इस विपर्यय चित्त वृत्ति को संसार की बीजभूत अविद्या भी कहा गया हैं। इस विपर्यय द्वारा अविद्या के अन्तर्गत पंच क्लेश अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष व अभिनिवेश आते हैं, इसके विषय में आप अलग से पढ़ेगें।

सांख्य दर्शन ने इस विपर्यय के पांच भेद बताये हैं। अतः विपर्यय को विस्तार से जानने के लिए यहाँ पर इन पर भी चर्चा कि जा रही है, हालांकि सांख्य दर्शन के ये विपर्यय के पांच भेद और योगसूत्र के पंच क्लेश एक जैसे ही हैं अंतर बस इतना है की सांख्य में इन्हें

विपर्यय कहा गया हैं और योग सूत्र में क्लेश। आइये अब विपर्यय के पांच भेदों को समझते है –

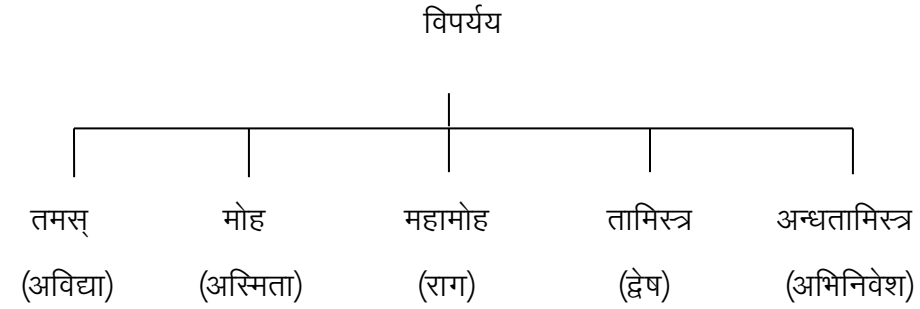

(क) तमस : आत्मा से भिन्न प्रवृत्ति, बुद्धि, अहंकार आदि को ही आत्मा मान लेना विपर्यय का पहला भेद तमस् है, इसे ही योग दर्शन ने अविद्या कहा गया है। उसके अनुसार अनित्य अशुचि, दुःख तथा अनात्मा को क्रमशः नित्य, शुचि सुख और आत्मा मान लेना ही अविद्या है।

(ख) मोह : देवता ऐश्वर्यो को प्राप्त करके अपने अमरत्व का अभिमान करते हैं, और इन्हें ही नित्य मानने लगते हैं, इसे ही सांख्य न विपर्यय का द्वितीय भेद मोह कहा है। वहीं योग दर्शन के अनुसार 'में ही सुखी, दुःखी कर्त्ता और भोक्ता है। इस प्रकार का अज्ञान अस्मिता है।

(ग) महामोह : सांख्य के अनुसार विषय सुखों को बार–बार प्राप्त करने की इच्छा ही महामोह नामक तीसरा विपर्यय है। योग दर्शन ने इसे राग कहा है। उसके अनुसार सांसारिक विषयों के सुख का भोग करने के पश्चात् उन्हें पुनः भोगने की इच्छा ही राग है।

(घ) तामिस्त्र : दुःख का अनुभव करने वाला व्यक्ति दुःख के प्रति अथवा उस दुःख को देने वाले के प्रति जो क्रोध का भाव रखता है, उसे ही सांख्य दर्शन तामिस्त्र कहता है और योग दर्शन इसे ही द्वेष कहता है।

(ड़) अन्धतामिस्त्र : व्यक्ति का जन्म होता है, और मृत्यु होती है। जिसका अनुभव व्यक्ति के चित्त में संस्कार के रूप में संग्रहित हो जाता हैं, जिससे वह मृत्यु के नाम को सुन कर ही घबराता है। और जीवन भर इस मृत्यु के भय से त्रस्त रहता है, मृत्यु के कारण होने वाली यह त्रास अर्थात् पीड़ा को ही सांख्य दर्शन अन्धतामिस्त्र कहता है तथा योग दर्शन इस मृत्यु के भय को ही अभिनिवेश कहता है।

इस प्रकार आपने विपर्यय को समझा विपर्यय हमारे जीवन की असफलताओं के लिए जिम्मेदार अकेला सबसे बड़ा कारण है किन्तु हमने यह भी पढ़ा है, कि यह वृत्तियाँ भोग और भोग दोनों की देने वाली है। अतः जब यह विपर्यय ज्ञान मनुष्य को पतन की और ले जाये तब इसे क्लिष्ट समझना चाहिए। जैसा की अब तक के विपर्यय के वर्णन से ज्ञात होता है। किन्तु जब यह विपर्यय मनुष्य की उन्नति का साधन बनता है। तब इसे अक्लिष्ट समझना चाहिए जैसे एक भक्त द्वारा ईश्वर की मूर्ति को ईश्वर समझ कर उसकी उपासना

करना विपर्यय वृत्ति का अक्लिष्ट स्वरूप है। इसमें भक्त मूर्ति को ईश्वर के समान मानने लगता है, जो कि मिथ्या है। किन्तु उसके ऐसा करने से उसका चित्त सात्विक वृत्तियों को अपनाने लगता है। तथा उसके मन में दया, करुणा, भक्ति आदि सात्विक भावनायें घर कर जाती है, ऐसा करने से उसे सम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्त करने में सहायता मिलती है। अर्थात् ऐसी चित्त वृत्ति समाधि में सहायक होती है। अतः ऐसी विपर्यय वृत्ति अक्लिष्ट कहलाती है।

पूर्व में जो विपर्यय के पांच भेद सांख्य दर्शन के अनुसार बताये गये है, वे अविद्या के कारण है और अविद्या के कारण उत्पन्न विपर्यय वृत्ति क्लिष्ट कहलाती है।

अब आप विपर्यय वत्ति को भालि भांति जान चुके होंगे। आपने विपर्यय वृत्ति के बारे में जाना सांख्य दर्शन के अनुसार उसके भेदों को समझा और विपर्यय वृत्ति किस प्रकार क्लिष्ट और अक्लिष्ट हो सकती है इसको भी समझा। आगे अब आप तृतीय चित्त वृत्ति विकल्प के बारे में विस्तार से जानेंगे तो आइये विकल्प चित्त वृत्ति पर चर्चा प्रारम्भ करते हैं।

अभ्यास प्रश्न भाग–3

1. एक शब्द में उत्तर दिजिए –

   (क) विपर्यय का तात्पर्य कैसे ज्ञान से है?

   (ख) रस्सी को सर्प समझ लेना कैसी वृत्ति का उदाहरण है?

   (ग) सांख्य दर्शन में विपर्यय के कितने भेद बताये गये हैं?

2. रिक्त स्थान की पूर्ति किजिए–

   (क) विषय भोगों को बार–बार भोगने की इच्छा .....नामक विपर्यय है?

   (ख) भक्त द्वारा ईश्वर प्रतिमा को पूजना विपर्यय का .....स्वरूप है।

   (ग) मृत्यु से भय.....नामक विपर्यय है।

3.3.3 विकल्प वृत्ति :

योग सूत्र के अनुसार "शब्द ज्ञान से उत्पन्न होने वाला सत्य वस्तु शून्य ज्ञान विकल्प है।" हम जानते हैं, कि इस परिभाषा को पढ़कर विकल्प वृत्ति के विषय में जानना आपके लिए एक कठिन कार्य हो सकता है। अतः इसे हम सरल शब्दों में समझते है – विकल्प वृत्ति का तात्पर्य निराधार विश्वास या कल्पना से है। वास्तव में विकल्प किसी भी ऐसे प्रकार के पदार्थ का ज्ञान है, जो कि वर्तमान में उपस्थित नहीं है। अर्थात् उस पदार्थ के अनुपस्थित होने पर भी उसके होने का अभास या ज्ञान होना विकल्प कहलाता है। इसे ही हम सामान्य भाषा में कल्पना कह देते हैं। इस कल्पना का सम्बन्ध हमारे मन–मस्तिष्क में उत्पन्न होने वाले विचारों के ऐसे आयाम से हो जो स्वतः निर्मित होते हैं, कई बार हमने अनुभव किया है, कि यह व्यर्थ की कल्पनायें तब ज्यादा उत्पन्न होती है, जब हम खाली समय बस बैठे होते है। हमारे पास करने को कोई कार्य नहीं होता जैसे कहावत है – खाली दिमाग शैतान का घर। इस प्रकार हमारे मन में खाली समय पर व्यर्थ के विचार व

कल्पनायें उत्पन्न होती रहती हैं। यह कल्पनायें हमारे चित्त रूपी शरीर में पहले छोटी–छोटी तरंगों के रूप में उत्पन्न होती है, किन्तु देखते ही देखते यह विशाल लहरों का रूप ले लेती हैं। यह भयंकर कल्पना शक्ति माया को उत्पन्न करती हैं। और जीवन को अस्त–व्यस्त कर देती है। जिस प्रकार टिड्डीयों का दल निरन्तर उड़ता जाता है, और मार्ग में आने वाली सारी हरियाली की चौपट कर जाता है, उसी प्रकार यह कल्पना या विकल्प वृत्ति भी हमारे मनोराज्य को मलिन कर देती है। हमारे विचारों को स्थूल बना देती है। अर्थात् हम स्वार्थ पूर्ण विचारधारा के मनुष्य बन जाते हैं। यह विकल्प वृत्ति हमारे बुद्धि विवेक पर हावी हो जाती है जिससे हम उचित अनुचित में भेद नहीं कर पाते और मात्र अपने स्वार्थ साधनों के लिए कार्य करने लगते हैं।

जब तक हमारा मन किसी यथार्थ तथ्य से जुड़ा नहीं होता अर्थात् जो वर्तमान में है, उस पर विचार नहीं कर रहा होता तब तक वह कल्पना (विकल्प) करने लगता है, कि उसके वर्तमान को ऐसा होना चाहिए या वैसा! वह सोचने लगता है, कि उसके पास धन, बल और ढेर सारा ऐश्वर्य होना चाहिए। उस समय वह व्यक्ति आत्म केन्द्रित होने लगता है, जिससे व्यक्ति अपने वास्तविक लक्ष्य से दूर होने लगता है।

यह विकल्प वृत्ति प्रमाण और विपर्यय से एकदम भिन्न होती है। हालांकि प्रमाण और विपर्यय भी अलग–अलग प्रकार के ज्ञान से सम्बन्धित हैं। जहां तक प्रमाण की बात है, प्रमाण पदार्थ के वास्तविक या आनुभाविक ज्ञान से सम्बन्धित है, जैसे वास्तविक पुष्प के दिखने पर पुष्प का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाना, उसकी मात्र सुगन्ध प्राप्त होने पर उसके अनुमान का ज्ञान हो जाना तथा किसी आप्त व्यक्ति के द्वारा पुष्प के बारे में बताने पर आगम ज्ञान हो जाना। वहीं विपर्यय मिथ्या ज्ञान है। जैसे यदि पुष्प की ही बात करें तो यदि पुष्प कागज का है, और उसके वास्तविक पुष्प होने का प्रतीत होना विपर्यय है। किन्तु यदि पुष्प है ही नहीं न ही वास्तविक और न ही कागज का परन्तु फिर भी मन मस्तिष्क में उसके आकार प्रकार का काल्पनिक चित्र विकल्प है।

अब हम विकल्प वृत्ति के क्लिष्ट और अक्लिष्ट होने पर चर्चा करते है। जैसा की हम पहले पढ़ आये हैं, कि वृत्तियों के क्लिष्ट और अक्लिष्ट रूप होते है, क्लिष्ट रूप भोग की ओर और अक्लिष्ट योग की ओर ले जाती हैं।

जब विकल्प वृत्ति व्यक्ति को आत्म केन्द्रित बनाती है, और उसे सांसारिक माया में और अधिक फंसती हैं। तब यह वृत्ति क्लिष्ट हो जाती है। जैसे यदि कोई व्यक्ति विकल्प वृत्ति के प्रभाव में आकर रात–दिन ऐसी कल्पनायें करने लगता है, जिसमें वह ढेर सारे ऐश्वर्य के बीच अपने जीवन को विलासिता से व्यतीत कर रहा है तब वह व्यक्ति उस विकल्प की पूर्ति हेतू अनुचित कार्यों को करने में भी नहीं हिचकिचाता वह धन और बल प्राप्त करने के लिए चोरी ड़कैती आदि हीन कार्यो का सहारा लेने लगता है। और ऐसे कार्यो से उसका जीवन निरन्तर भय और असुरक्षा की भावना में गुरने लगता है। चूंकि अनुचित तरीके से कमाया गया धन–बल मानसिक तनाव का कारण बनता है। इन विकल्पों की पूर्ति के लिए किये गये गलत कार्य बुरे संस्कार बनाते हैं, जिससे चित्त मलिन हो जाता है।

वहीं दूसरी ओर ऐसी कल्पनायें या विकल्प जो चित्त में बिना विक्षेप पैदा किये उत्पन्न होती है। वह अक्लिष्ट होती हैं। ऐसी विकल्प भावनायें विचारों में बिखराव नहीं लाती और व्यक्ति को विचार केन्द्रित बनाती है, जैसे यदि हम कृष्ण भक्त सूरदास की बात करें तो हम देखते है, की उन्होंने अपनी कृतियों में भगवान श्री कृष्ण के शिशु रूप का बड़ा मनोहारी वर्णन किया है। जब की नेत्रहीन सूरदास द्वारा कभी भी भगवान श्री कृष्ण की मूर्ति का प्रत्यक्ष

नहीं किया गया। हालांकि भक्त और भगवान का सम्बन्ध बहुत प्रगाढ़ होता है, और भक्त अपने भाव में ही अपने भगवान का प्रत्यक्ष कर सकता है। किन्तु फिर भी सूरदास जैसे अन्य भक्तों द्वारा विकल्प रूप में अपने ईष्ट के स्वरूप को देखना विकल्प वृत्ति का अक्लिष्ट रूप है। हठयोग साधन के एक प्रमुख ग्रन्थ घेरण्ड संहिता में ध्यान की स्थूल विधि में गुरु के स्वरूप और उसके चारों और के वातावरण का बड़ा ही दिव्य कल्पनिक वर्णन किया गया है। यहाँ पर यह काल्पनिक वर्णन विकल्प वृत्ति का अक्लिष्ट रूप है, चूकिं यह ध्यान की एक विधि है और इस प्रकार का ध्यान चित्त की वृत्तियों के निरोध उपायों के अन्तर्गत् आता है (वृत्ति निरोध के उपायों को आप अगली ईकाई में पढ़गें) कहने का तात्पर्य यह है, कि भक्त द्वारा अपने ईष्ट का मन में काल्पनिक स्वरूप का ध्यान भले ही विकल्प वृत्ति हो किन्तु यह योग मार्ग में साधक तत्व के रूप में कार्य करती है अतः यह वृत्ति अक्लिष्ट होगी।

इस प्रकार आपने विकल्प वृत्ति के बारे में जाना। इस चर्चा में आपने विकल्प वृत्ति क्या होती है? तथा प्रमाण, विपर्यय और विकल्प वृत्ति में क्या अन्तर होता है? इसको भी जाना और चर्चा के अंत में आपने जाना की विकल्प वृत्ति कब क्लिष्ट अर्थात् क्लेश कारक और कब अक्लिष्ट होती है। अतः अब आप विकल्प वृत्ति के ज्ञान से पूरी तरह परिचित हो चुके होंगे। जैसा की आप जानते ही हैं, कि विकल्प वृत्ति चित्त की तीसरी वृत्ति है। अब हम चित्त की चौथी वृत्ति निद्रा के विषय पर विस्तृत चर्चा करेंगे और इसके विभिन्न पहलूओं से अवगत होंगे। तो आइये चित्त की चौथी वृत्ति पर चर्चा शुरू करते हैं –

अभ्यास प्रश्न भाग–4

1. लघु उत्तरीय प्रश्न

   (क) योग सूत्र के अनुसार विकल्प वृत्ति को परिभाषित किजिए।

   (ख) विकल्प या कल्पना का सम्बन्ध कैसे विचारों से हैं।

   (ग) विकल्प वृत्ति हमारे विचारों पर क्या प्रभाव ड़ालती है।

2. सत्य/असत्य बताइए –

   (क) विकल्प को ही सामान्य भाषा में कल्पना कहा जाता है।

   (सत्य/असत्य)

   (ख) विकल्प वृत्ति का क्लिष्ट रूप हमारी बुद्धि को प्रखर बनाता है।

   (सत्य/असत्य)

   (ग) ईश्वर के स्वरूप की कल्पना विकल्प वृत्ति का अक्लिष्ट रूप है।

   (सत्य/असत्य)

3.3.4 निद्रा वृत्ति :

निद्रा वृत्ति ज्ञान के अभाव को कहते हैं। इसी का अन्य नाम सुषुप्ति भी है। योग सूत्र के भाष्यकार व्यास के अनुसार यह त्रिगुणात्मक होती है। अतः यह सुख स्वरूप, दुःख स्वरूप और मोह स्वरूप होती है।

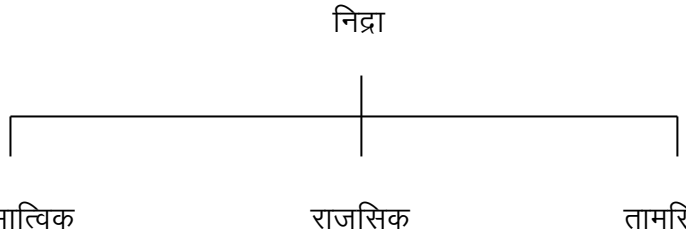

सात्विक निद्रा के पश्चात् मनुष्य को बोध होता है, कि मैं सुख पूर्वक सोया और मेरा मन प्रसन्न रहा वहीं राजसिक निद्रा से जागे मनुष्य को ज्ञान होता है, कि मैं दुःख पूर्वक सोया और मेरा मन अकर्मण्यता के बोझ से बोझिल रहा तथा तामसिक निद्रा से जागे मेनुष्य को बोध होता है, कि मैं गहरी निद्रा में सोया पर मेरा मन भारी–भारी लग रहा है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है, कि निद्रा में भी त्रिगुणात्मक वृत्तियाँ उत्पन्न होती है। जो संस्कारों को पैदा करती हैं। अतः इन का निरोध होना चाहिए। इसी कारण से निद्रा को वृत्ति का रूप दिया गया है। पहले की तीनों वृत्तियाँ प्रमाण, विपर्यय और विकल्प बहिर्मुखी वृत्तियाँ थी। किन्तु निद्रा अन्तर्मुखी वृत्ति हैं। निद्रा की अवस्था में बाह्य जगत् का बोध नहीं रहता अर्थात् बाह्य जगत में क्या हो रहा है, इससे निद्रा की अवस्था में पड़े मनुष्य को कोई फर्क नहीं पड़ता। मन का शरीर और बाह्य वातावरण से सम्पर्क लगभग समाप्त सा हो जाता है। योगसूत्र में जिस निद्रा वृत्ति का वर्णन किया गया है। वह स्वप्नावस्था नहीं है, वह उससे आगे की स्थिति है।

अर्थात् वह गहरी निद्रा की अवस्था है, वहां पर किसी भी प्रकार की मानसिक क्षमता का अनुभव नहीं होता। इस अवस्था में सभी प्रकार के भावों के प्रति उत्तेजना का अवरोध हो जाता हैं, निद्रा वृत्ति मूल रूप से तमोगुण प्रधान होती है। यह तमोगुण रजस् और सत्व को दबा देता हैं, इसीलिए निद्रा के समय चित्त में तमोगुण का ही सर्वाधिक प्रभाव दिखाई देता है। उस समय चित्त में किसी भी प्रकार के ज्ञान का अभाव हो होता है, जैसे एक अन्धरे कमरे में जाने पर हमें किसी भी वस्तु का ज्ञान नहीं होता मात्र उन वस्तुओं को छिपाने वाले अंधकार का ही ज्ञान होता है। इसी प्रकार निद्रा वृत्ति के दौरान सभी प्रकार के ज्ञान का अभाव हो जाता है। निद्रा वृत्ति में चेतना एक सीमित दायरे में सिमट जाती है। विद्वान निद्रा की इस अवस्था को समाधि की अवस्था के समान मानते हैं। किन्तु दोनों में अंतर यह है, कि निद्रा में मन पूर्ण–रूप से अन्तर्मुखी हो जाता है, तथा मन और इन्द्रियों का सम्पर्क अवरूद्ध हो जाता है। परन्तु समाधि की अवस्था में मन पूर्ण रूप से अन्तर्मुखी नहीं होता अपितु मन सजग और सतर्क बना रहता है। इसके साथ ही वह आत्म नियन्त्रित भी रहता है, जो कि निद्रा अवस्था में नहीं होता निद्रा अवस्था में सजगता का कोई स्थान नहीं। सजगता के न होने से स्थान, काल, पदार्थ आदि किसी भी वस्तु या भाव का ज्ञान नहीं होता। निद्रा की अवस्था में जो अन्तर्मुखता आती है, वह स्वैच्छिक नहीं होती किन्तु इसके विपरीत ध्यान या प्रत्याहार की अवस्था में इन्द्रियों की अन्तर्मुखता स्वैच्छिक होती है। निद्रावस्था की अन्तर्मुखता पर मनुष्य का कोई नियन्त्रण नहीं रहता किन्तु ध्यान की अवस्था में प्राप्त अन्तर्मुखता पर साधक का पूर्ण –नियंत्रण रहता है। ध्यान या समाधि की अवस्था में भी साधक की अपने शरीर का ज्ञान न के बराबर होता है। कई बार वह

दिगम्बर होकर अपने ईष्ट के भाव में खो जाता है। किन्तु इस अवस्था में उसकी चेतना बहुत उच्च स्तर को प्राप्त कर चुकि होती है। समाधि की अवस्था में वह परमात्म चेतना के साथ तदाकार अर्थात् एकरूप हो चुका होता है। इसके विपरीत निद्रा अवस्था में चेतना संकुचिक व संकीर्ण हो जाती है, चेतना का संकुचित और संकिर्ण होना ही ज्ञान प्राप्ति में बाधक होता है।

अन्य चित्त वृत्तियों कि भाँति ही निद्रा वृत्ति की क्लिष्ट और अक्लिष्ट होती है। अब तक हमने निद्रा वृत्ति के जिस स्वरूप का वर्णन किया वह निद्रा वृत्ति का विलष्ट स्वरूप था। कितु जब निद्रा वृत्ति समाधि में कभी–कभी सहायक होती है। तब इसे अक्लिष्ट जानना चाहिए। निद्रा अवस्था जब इतनी प्रगाढ़ हो जाये की आत्मा की अनुभूति होने लगे तब यह अंतर्मुखता की अन्तिम अवस्था होती है। यहां पर सभी विषयों की अवधारणायें समाप्त हो जाती हैं। निद्रा की इस चरम अवस्था में व्यक्ति स्वयं को आत्मा में स्थापित कर लेता है। आत्मिक अनुभव की इस अवस्था को ही तुरीय या अतिचेतन अवस्था कहा जाता है। यह अवस्था मानसिक दृश्य, विचार या भावनाओं से परे है। यह अवस्था मूलतः मन का अतिक्रमण है। यहाँ पर मन का समावेश आत्मिक अनुभूति में हो जाता है।

योग का परम् लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। यह मोक्ष आत्म तत्व को जानना है निद्रा की इस परम अवस्था में आत्म तत्त्व को जानने में सहायता मिलती है। निद्रा की यह अवस्था संस्कार शून्यता प्रदान करती है। अर्थात् निद्रा की इस अवस्था में चित्त में कोई नवीन संस्कार नहीं बनता जिसके कारण निद्रा की इस अवस्था को अक्लिष्ट वृत्ति के रूप में स्वीकार किया जाता है।

इस प्रकार आपने निद्रा वृत्ति शीर्षक के अन्तर्गत् निद्रा वृत्ति के विषय में जाना गुणों के अनुसार उसके सात्विक, राजसिक और तामसिक प्रकारों का अध्ययन किया। आपने निद्रा वृत्ति के क्लिष्ट स्वरूप को जानने के पश्चात् अक्लिष्ट स्वरूप को भी जाना। आपने यह भी जाना की निद्रा के अक्लिष्ट स्वरूप को तूरीय या अतिचेतन अवस्था के रूप में भी जाना जाता है, और यही वह अवस्था होती है जिसमें आत्मिक स्वरूप का अवलोकन किया जा सकता है। जहाँ पर निद्रा वृत्ति समाधि में बाधक हो वहाँ इसे क्लिष्ट और जब निद्रा वृत्ति आत्मिक दर्शन में सहायक हो जाती है। तब वही क्लिष्ट वृत्ति अक्लिष्ट हो जाती है।

अब यहाँ पर चित्त की चौथी वृत्ति निद्रा को समाप्त कर अगली पाँचवीं वृत्ति स्मृति के विषय पर ज्ञानार्जन करते हैं, तो आइये स्मृति वृत्ति पर चर्चा शुरू करते हैं। और जानते हैं, स्मृति वृत्ति के विभिन्न पहलूओं को।

अभ्यास प्रश्न भाग–5

1. बहु विकल्पीय प्रश्न

(क) चित्त की चौथी वृत्ति है –

अ. प्रमाण स. निद्रा

ब. विपर्यय द. विकल्प

(ख) निद्रा वृत्ति मूलतः किस गुण पर आश्रित है –

अ. राजसिक स. तामसिक

ब. सात्विक द. राजसिक व तामसिक

(ग) निद्रा के समय किसका अभाव होता है –

अ. विश्राम स. स्वप्न

ब. ज्ञान द. क्रिया

2. रिक्त स्थान की पूर्ति किजिए –

(क) मैं सुख से सोया ऐसा बोध ..... निद्रा के पश्चात् होता है।
(ख) निद्रा में मन ..... हो जाता है।

(ग) निद्रा की आत्मानुभव की अवस्था को ..... अवस्था भी कहते हैं।

3.3.5 स्मृति वृत्ति :

चित्त की पांचवीं वृत्ति स्मृति है। यह वृत्ति पूर्व की चारों वृत्तियों प्रमाण, विपर्यय, विकल्प और निद्रा पर आधारित होती हैं, पूर्व की चारों वृत्तियां किसी न किसी प्रकार के ज्ञान पर आधारित हैं, जिनका चित्त में संस्कार रूप में संग्रह हो जाता है। जब यह संस्कार पुनः विषय रूप में हमारे सामने आते हैं। तब इन्हें स्मृति कहा जाता है, या इस प्रकार कहें कि अनुभूत अर्थात् अनुभव किये गये विषय का संस्कार प्रणाली के माध्यम से वर्तमान में पुनः प्रकट होना, स्मृति है। जब किसी विषय, पदार्थ या कार्य का अनुभव नष्ट हो जाता है, तो वह संस्कार रूप में आपकी छाया को चित्त में छोड़ देता है और समय आने पर वह छाया पुनः विषय का रूप धारण कर स्मरणात्मक ज्ञान के रूप में हमारे सामने प्रकट हो जाती है। स्मृति वृत्ति अपने जनक अनुभव के द्वारा अर्जित सम्पत्ति का ही उपयोग करती है। जिस प्रकार एक पुत्र अपने पिता की छोडी हुई सम्पत्ति का उपयोग पूरे अधिकार के साथ कर सकता है। इसी प्रकार स्मृति अपने पिता अनुभव द्वारा सम्पत्ति में प्राप्त ज्ञान को भविष्य में आवश्यकता पड़ने पर उपयोग कर सकती है किन्तु उसके द्वारा जो ज्ञान भविष्य में उपयोग किया जायेगा वह उस अनुभव से कम या उसके बराबर ही होगा वह उस अनुभव ज्ञान से कभी भी अधिक कहीं हो सकता। जैसे यदि हम किसी पर्यटन स्थल से घूमकर आते हैं, और उसके विषय में किसी को बताते हो तो हम बस उतना ही बता सकते ही जितना की हमने देखा हम उससे कम तो बता सकते है, किन्तु अधिक नहीं।

अन्य चित्त वृत्तियों की भाँति यह वृत्ति भी त्रिगुणात्मक होती है, अर्थात् सात्त्विक स्मृति सुख कारक होती है, जैसे पूर्व में किसी सुख की याद आते ही हमें आनन्द का अनुभव होता है। राजसिक स्मृति मोह स्वरूप होती है, जैसे किसी प्रियजन की स्मृति होते ही मोह उत्पन्न होगा तथा तामसिक स्मृति दुःख देने वाली होती है, जैसे कोई दुःख का अनुभव हमें जैसे ही याद आता है। हमें तुरन्त वर्तमान में भी दुःख की अनुभूति होने लगती है।

जैसा की हम पहले कह चुके हैं कि स्मृति पूर्व की चारों वृत्ति पर आधारित होती है। अतः हम कह सकते हैं कि स्मृतियाँ सभी प्रकार के अनुभवों से उत्पन्न होती हैं, जैसे प्रमाण रूप अनुभव, विपर्यय रूप अनुभव, विकल्प रूप अनुभव तथा निद्रा रूप अनुभव स्मृति मुख्य रूप से दो प्रकार की होती है –

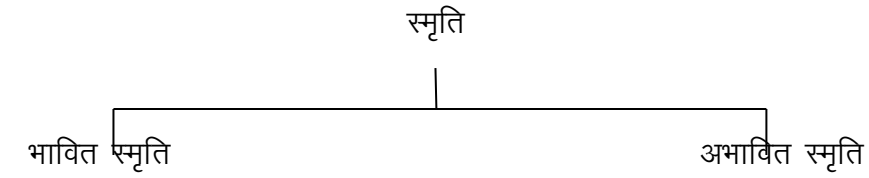

आइये अब स्मृति के इन दोनों प्रकारों की क्रमशः कुछ विस्तार से जानते हैं।

(क) भावित स्मृति : जिस स्मृति का विषय कल्पित या अयथार्थ होता है, उसे भावित स्मृति कहते हैं। यह स्मृति मुख्यतः स्वप्नावस्था में उत्पन्न होती है, जैसे यदि आज हम किसी विशेष स्थान पर घुमने गये जहां पुराने किले और महल थे यह एक ऐतिहासिक स्थल था। अब यदि हम घुमकर आने के बाद विश्राम करते हैं, और हमें नींद आ जाती है नींद में हम पुनः उन्हीं किले और महलों को देखते है। किन्तु अब स्वप्नावस्था में वे महल व किले हमें वैसे ही नहीं दिखाई देते जैसे की हमने देखे थे अब वह हमें कुछ या बहुत कुछ अलग दिखाई देते हैं। स्मृति के इस रूप को ही भावित स्मृति कहा गया है। इस स्मृति में अनुभव कि गयी घटना के घटनाक्रम में विसंगति होती है।

(ख) अभावित स्मृति : जिस स्मृति का विषय यथार्थ व अकल्पित हो वह अभावित स्मृति कहलाती है। यह स्मृति जागृत अवस्था में कार्य करती है, जैसे यदि हम भावित स्मृति के उदाहरण के पहले हिस्से को ले जहां तक हम ऐतिहासिक स्थल को घुमकर आये थे। उसके बाद यदि लौटकर हम घर आकर अपने मित्रों या भाई बहनों को उस ऐतिहासिक स्थल के बारे में बताते है तो हमारी स्मृति के द्वारा बताया गया सारा विवरण सहीं होगा उसमें कुछ भी कल्पित नहीं होगा और उसके घटनाक्रम में भी कोई विसंगति नहीं होगी। इस स्मृति को ही अभावित स्मृति का नाम दिया गया है।

ये स्मृति के दो प्रकार है, जो आपने अभी समझे। योग के अनुसार संस्कार अचेतन स्मृतियाँ है। ये स्मृतियाँ तर्क की कसौटि पर कसी नहीं जा सकती अर्थात् इन स्मृतियों को तर्क के द्वारा समझा या समझाया नहीं जा सकता। इन स्मृतियों का केवल यथार्थ या कल्पिनिक अनुभव ही किया जा सकता है, जिन्हें की योगदर्शन ने भावित व अभावित स्मृति कहा गया है।

स्मृति के विषय में जानने के पश्चात् अब हम चित्त की वृत्तियों के क्लिष्ट और अक्लिष्ट स्वरूप के अन्तर्गत स्मृति के क्लिष्ट और अक्लिष्ट स्वरूप पर चर्चा करते हैं। सबसे पहले हम स्मृति के क्लिष्ट अर्थात् क्लेश कारक स्वरूप पर चर्चा करते हैं। स्मृति अन्य वृत्तियों की भाँति ही त्रिगुणात्मक है। यह हम जान चुके है। अतः इन तीनों गुणों के फलस्वरूप हमें जो सुख, मोह और दुःख की स्मृति होती है। वह क्लिष्ट होती है। यहाँ पर आपके मन में एक प्रश्न उठ रहा होगा कि सुख वाली स्मृति क्लिष्ट कैसे? यहाँ पर हम जिस सुख कारक स्मृति की बात कर रहे है वह है सांसारिक भोग से उत्पन्न क्षणिक सुख अनुभूति की स्मृति है जो बार–बार हमारे चित्त में उस सांसारिक सुख को प्राप्त करने के लिए नवीन संस्कारों को चित्त पर आरोपित करती रहती है। जिससे चित्त मलिन होता जाता है जैसे अपने किसी प्रियजन के साथ बिताये कुछ सुख के पलों को बार–बार यदि करने से हमें क्षणिक सुख तो मिलता है, किन्तु बाद में उस पल के दोबार न आ पाने पर दुःख भी होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जो स्मृतियाँ सुख कारक हाती है। वह मात्र कुछ क्षण के लिए ही सुख प्रदान करती है। बाद में वे भी दुःख उत्पन्न करने लगती हैं।

अब बात करते ही अक्लिष्ट स्मृति की अक्लिष्ट स्मृति के अन्तर्गत् ऐसी सुख कारक स्मृतियाँ आती है, जो हमेशा आनन्द प्रदान करती है। जैसे – जब कभी हम किसी मन्दिर में ईश्वर की भव्य मूर्ति के दर्शन करके रोमांचित हो उठते हैं और बाद में पुनः उस भव्य विग्रह के स्मरण हो जाने पर हमारा रोम–रोम पुलकित हो उठता है। यह आनन्द जब तक रहता है, तब तक सुख प्रदान कता है। स्मृति में दोबारा उस आनन्द को प्राप्त करने के लिए दुःख का अनुभव नहीं होता अपितु ईश्वर दर्शन के लिए पिपासा बढ़ जाती है, तथा चित्त सात्त्विक कर्मों की ओर गतिशील हो जाता है। तब व्यक्ति के दैनिक कमो में आसन

प्राणायाम, ध्यान, जप, स्वाध्याय आदि सात्विक क्रियायें बढ़ जाती है, और यह सात्विक कर्म उसे सम्प्रज्ञात समाधि के पक्ष की ओर अग्रसारित करते हैं। यही स्मृति का अक्लिष्ट स्वरूप है।विधार्थीयों आपने स्मृति वृत्ति शीर्षक के अन्तर्गत् सबसे पहले स्मृति के बारे में सामान्य जानकारी प्राप्त की उसके बाद स्मृति के दो प्रकारों को समझा और फिर अंत में स्मृति के क्लिष्ट और अक्लिष्ट स्वरूप को समझा। अतः हम आशा करते हैं, कि आपको स्मृति वृत्ति के विषय पर पर्याप्त जानकारी प्राप्त हो चुकि होगी। स्मृति वृत्ति की चर्चा के समाप्त होने पर चित्त की वृत्तियों वाली इस इकाई का मुख्य भाग भी समाप्त होता है।

अभ्यास प्रश्न भाग–6

1. सत्य/असत्य बताइए –
   (क) चित्त की पांचवीं वृत्ति स्मृति है।
   (सत्य/असत्य)
   (ख) स्मृति वृत्ति भी त्रिगुणात्मक हैं।
   (सत्य/असत्य)
   (ग) स्मृति अन्य चारों वृत्तियों पर आधारित होती है।
   (सत्य/असत्य)
2. एक शब्द में उत्तर दिजिए –
   (क) किस प्रणाली के द्वारा अनुभव किया गया ज्ञान वर्तमान में स्मृति के रूप प्रकट होता है?

   (ख) जिस स्मृति का विषय कल्पित हो उसे कैसी स्मृति कहते हैं?

   (ग) किस स्मृति में अनुभव कि गयी घटना के घटनाक्रम में विसंगति नहीं होती।

3.4 सारांश :

चित्त की वृत्तियाँ शीर्षक वाली उक्त इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप चित्त सम्बन्धि मूलभूत ज्ञान को पूर्णतः प्राप्त कर चुके हैं। उक्त इकाई के अन्तर्गत अपने चित्त की पांच वृत्तियों प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति का पर्याप्त अध्ययन प्राप्त किया। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपके मन में उठने वाली चित्त वृत्तियों के सम्बन्ध की समस्त जिज्ञासायें शान्त हो चुकि होगी। वास्तव में चित्त वृत्तियां त्रिगुणात्मक होने से मानव चित्त को तीन प्रकार से प्रभावित करती है, चित्त पर पड़ने वाला वृत्तियों का यह त्रिगुणात्मक प्रभाव संस्कार के रूप में चित्त पर आरोपित होता है, जिससे चित्त अपने प्रकाश को पूर्णरूप से फैलाने में असमर्थ हो जाता है, और संस्कार रूपी मलिनता के आवरणों से पूर्णरूपेण ग्रसित कर लिया जाता है, जिससे मानव का बाह्य व्यवहार भी कलुषित हो जाता है। और वह निरन्तर पतन की ओर अग्रसर रहता है, उसके जीवन का न तो कोई लक्ष्य निर्धारित होता है, और न ही उसका जीवन किसी निर्धारित पथ पर चल पाता है। चित्त की ये वृत्तियाँ उसे निरन्तर चंचल बनाये रखती है, उसका चित्त निरन्तर विषयों के प्रति आकर्षित रहता है, और विषय के प्रति प्रतिक्षण बदलता रहता हैं। चित्त वृत्तियों का वास्तव में यहीं स्वभाव है। वह चित्त को प्रति क्षण चंचल बनाये रखती है। वृत्तियों की चंचलता से जब चित्त निरन्तर अधोगामी बना रहता है तब इन वृत्तियों के इस स्वभाव को ही क्लिष्ट अर्थात् क्लेश कारक कहा गया है। किन्तु ये चित्त वृत्तियाँ कभी–कभी ऐसे संस्कार भी पैदा करती है जो आगे चलकर चित्त को संस्कार मुक्त करने में सहायक होते है। तब वृत्तियों के इस

स्वभाव को अक्लिष्ट या अक्लेश कारक कहते हैं। हलांकि ये भी संस्कार पैदा करती है किन्तु ये संस्कार अन्य मलिन संस्कारों को नष्ट करने में सहायक होते है। जैसे भक्ति, दया, करुणा, प्रेम आदि सात्विक संस्कार ये सात्विक संस्कार ही आगे चलकर चित्त को पूर्ण रूप से संस्कार मुक्त करने में सहायक होते है। जिससे साधक को योग के परम् लक्ष्य असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति होती है।

3.5 पारिभाषिक शब्दावली :

1.	गौणभाव	–	निम्न या नीच भाव
2.	अदृष्ट	–	जो देखा न गया हो।
3.	स्वैच्छिक	–	अपनी ईच्छा से
4.	यथार्थ	–	वास्तविक
5.	दिगम्बर	–	निर्वस्त्र
6.	अतिक्रमण	–	सीमाओं को तोड़ना
7.	पिपासा	–	पाने की इच्छा

3.6 अभ्यास प्रश्न के उत्तर :

(उत्तर) अभ्यास प्रश्न भाग–1

1. (क) पांच (ख) संस्कार (ग) योग
2. (क) जब चित्त इन्द्रियों के माध्यम से विषय के सम्पर्क में आता है तब यह चित्त उस विषय का ही आकार ग्रहण कर लेता है। चित्त के द्वारा विषय के आकार को ग्रहण करने की यह घटना ही चित्त की वृत्ति कहलाती है।
   (ख) मनुष्य को योग की ओर प्रवृत्त करने वाली वृत्ति के स्वरूप को अक्लिष्ट वृत्ति कहते हैं।
   (ग) क्लिष्ट वृत्ति से उत्पन्न संस्कार चित्त को मलिन कर देते हैं।

(उत्तर) अभ्यास प्रश्न भाग –2

1. (क) चित्त (ख) ज्ञाता (ग) प्रमाण
2. (क) जो कारण दोषों से रहित हो, अन्य ज्ञान से बाधित न हो पूर्व से अज्ञात पदार्थ का ज्ञान कराता हो उसे प्रमाण कहते हैं।
   (ख) ज्ञान की उत्पत्ति के तीन कारक निम्न हैं–
   (1) प्रमाता (2) प्रमेय (3) प्रमाण
   (ग) वेदान्त दर्शन के अनुसार प्रमाण छः हैं –
   प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि
3. (क) सत्य (ख) असत्य (ग) सत्य
4. (क) ब (ख) ब (ग) द

(उत्तर) अभ्यास प्रश्न भाग –3

1. (क) मिथ्या (ख) विपर्यय (ग) पांच
2. (क) महामोह (ख) अक्लिष्ट (ग) अंधतामिस्त्र

(उत्तर) अभ्यास प्रश्न भाग –4

1. (क) शब्द ज्ञान से उत्पन्न होने वाला सत्य वस्तु शून्य विकल्प है।
   (ख) विकल्प का सम्बन्ध व्यर्थ के विचारों से है।
   (ग) विकल्प वृत्ति हमारे विचारों को स्वार्थपूर्ण स्थूल बना देते हैं।
2. (क) सत्य (ख) असत्य (ग) सत्य

(उत्तर) अभ्यास प्रश्न भाग –5

1. (क) स (ख) स (ग) ब
2. (क) सात्विक (ख) अन्तर्मुखी (ग) तुरीय

(उत्तर) अभ्यास प्रश्न भाग –6

1. (क) सत्य (ख) सत्य (ग) सत्य
2. (क) संस्कार (ख) भावित (ग) अभावित

3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. श्री वास्तव, डॉ॰ सुरेशचन्द्र,(2008) पातंजलयोग दर्शनम्, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी
2. मिश्र, डॉ॰ जगदीशचन्द्र, (2008) भारतीय दर्शन, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी
3. दासगुप्त, सुरेन्द्रनाथ (2008) भारतीय दर्शन का इतिहास भाग–1 अनु॰ कलानाथ शास्त्री व सुधीर कुमार, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर
4. तीर्थ, स्वामी ओमानंद, (सम्वत्–2054), पातंजल योग प्रदीप, गीता प्रेस, गोरखपुर

3.8 सहायक/उपयोगी पाठय सामग्री :

1. योगभ्यास का मूलाधार, लेखक – स्वामी शिवानंद, प्रकाशक – दिव्य जीवन संघ प्रकाशन
2. योगदर्शन, लेखक– परमहंस निरंजनानंद, प्रकाशक – श्री पंचदशनाम परमहंस अलखबाड़ा, बिहार
3. कल्याण का योगांक, प्रकाशक – गीताप्रेस गोरखपुर
4. विवेकानंद साहित्य, भाग 3 व 4, प्रकाशक – अद्वैत आश्रम, कोलकत्ता
5. योग मीमांसा, त्रैमासिक शोध पत्रिका, प्रकाशक – कैवल्य धाम लोनावला, महाराष्ट्र
6. http://hinduebooks.blogspot.com
7. http://www.hindudharmaforums.com
8. http://sanskritdocuments.org
9. http://archive.org

3.9 निबन्धात्मक प्रश्न :

प्रश्न 1. चित्त की वृत्तियों से आप क्या समझते है? और इनका योग में क्या महत्व है स्पष्ट करें।

प्रश्न 2. प्रमाण वृत्ति को विस्तार से स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 3. विपर्यय और विकल्प वृत्ति के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 4. निद्रा व स्मृति वृत्ति के क्लिष्ट एवं अक्लिष्ट स्वरूप का वर्णन करें।

इकाई–4 चित्त वृत्तियों के निरोध के उपाय

4.1 प्रस्तावना

4.2 उद्देश्य

4.3 चित्त वृत्ति निरोध के उपाय

4.3.1 अभ्यास

4.3.2 वैराग्य

4.3.3 ईश्वर प्रणिधान

4.3.4 भावना चतुष्टय

4.3.5 प्राणायाम

4.3.6 विषयवती प्रवृत्ति

4.3.7 ज्योतिष्मती प्रवृत्ति

4.3.8 वीतराग विषयक चित्त

4.3.9 स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बन

4.3.10 यथाभिमत ध्यान

4.4 सारांश

4.5 पारिभाषिक शब्दावली

4.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

4.8 सहायक पाठ्य सामग्री

4.9 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना :

अब तक की ईकाइयों में आपने सबसे पहली इकाई में योग की परिभाषा पढ़ी जिसमें आपने "चित्त वृत्तियों के निरोध को ही योग कहते हैं।" इस परिभाषा को प्रमुखता से पढ़ा इसी परिभाषा को आधार बनाते हुए दूसरी ईकाई में आपने चित्त के विषय पर विस्तृत जानकारी हासिल की। तीसरी इकाई में फिर आपके साथ हमने चित्त की वृत्तियों पर चर्चा की। और अब चतुर्थ इकाई में हम चर्चा करेंगे की इन चित्त की वृत्तियों का निरोध अर्थात् इन्हें कैसे रोका जा सकता है।

तृतीय इकाई में आपने चित्त की पांच वृत्तियों प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति को जाना आपने यह भी जाना की ये चित्त वृत्तियां क्लिष्ट और अक्लिष्ट दोनों प्रकार की होती है। क्लिष्ट वृत्तियाँ क्लेश उत्पन्न करती है। अतः यह स्वभाव से ही निरोध के लायक है। किन्तु अक्लिष्ट वृत्तियों का भी निरोध असम्प्रज्ञात समाधि के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है। चूकि यें अक्लिष्ट वृत्तियाँ धीरे–धीरे क्लिष्ट वृत्तियों के प्रवाह में बहकर क्लिष्ट ही हो जाती है। अतः यह दोनों प्रकार की वृत्तियाँ ही निरोध करने योग्य हैं।

अब प्रश्न उठता है, कि इन चित्त की वृत्तियों का निरोध किस प्रकार किया जाये। योग दर्शन की यही प्रमुख समस्या है। इसी समस्या का निराकरण महर्षि पतंजलि ने योग सूत्र में किया है। महर्षि पतंजलि ने साधकों की योग्यता और क्षमता के अनुसार चित्त वृत्ति निरोध के विभिन्न उपाय बताये हैं। चूकि योग साधक अपनी मानसिक व शारीरिक क्षमता के अनुसार ही योग्य साधना कर सकता है। अतः महर्षि पतंजलि ने साधकों के विकल्प हेतु कई वृत्ति निरोध के उपायों की चर्चा की है। जिस साधक को जो तरीका सुलभ लगता हो वह उसे अपना कर चित्त की वृत्तियों का निरोध कर सकता है। यहाँ पर हम महर्षि पतंजलि द्वारा बताये गये वृत्ति निरोध के दस उपायों पर चर्चा करेगें ये दस उपाय निम्न हैं – (1) अभ्यास (2) वैराग्य (3) ईश्वर प्रणिधान (4) भावना चतुष्टय (5) प्राणायाम (6) विषयवती प्रवृत्ति (7) ज्योतिष्मती प्रवृत्ति (8) वीतराग विषयक चित्त (9) स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बन (10) यथाभिमत् ध्यान। महर्षि पतंजलि द्वारा बताये गये ये सभी दस उपाय योग सूत्र के समाधिपाद में व्यवस्थित है। जिन पर अब हम विस्तृत चर्चा करेंगे।

4.2 उद्देश्य :

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप –

- चित्त वृत्ति निरोध के उपायों को विस्तार से जान सकेंगे।
- चित्त वृत्ति निरोध के उपायों के व्यवहारिक पक्ष से अवगत हो सकेंगे।
- साधकों के लिए उपयुक्त चित्त वृत्ति निरोध के उपायों को अलग–अलग प्रभाव क्रम से जान सकेगें।

4.3 चित्त वृत्ति निरोध के उपाय :

अब तक की ईकाइयों में हमने योग की परिभाषा, चित्त और चित्त वृत्तियों पर विस्तार से चर्चा की। इस पूरी चर्चा के बाद हमारे समक्ष एक सबसे प्रमुख समस्या उभर कर आती है, कि चित्त में उठने वाली वृत्ति तरंगे ही योग मार्ग की प्रमुख बाधक है। यदि इन वृत्तियों को नष्ट कर दिया जाये तो योग को प्राप्त किया जा सकता है। इस मूल समस्या के निराकरण के लिए महर्षि –पतंजलि ने वृत्ति निरोध के उपायों पर विस्तृत जानकारी योग सूत्र के प्रथमपाद (समाधिपाद) में दी है। वहाँ पर उन्होंने विभिन्न क्षमता वाले साधकों के अनुसार

वृत्ति निरोध के उपायों पर चर्चा की है। जिन प्रमुख दस उपायों का वर्णन महर्षि ने योगसूत्र में किया है, उन्हीं को विस्तार से यहाँ पर समझाया जायेगा। उन दस प्रकारों को आप प्रस्तावना में पढ़ आये हैं।

योगदर्शन परम्परा में योग साधकों को तीन श्रेणीयों के अन्तर्गत श्रेणीबद्ध किया गया है। प्रथम प्रकार के साधक उत्तम श्रेणी के होते हैं। दूसरे प्रकार के मध्यम श्रेणी के तथा तीसरे प्रकार के योगी अधम श्रेणी के होते हैं। उत्तम श्रेणी के साधक वे होते हैं, जो पूर्वजन्म से ही योग मार्ग पर बहुत आगे निकल चुके होते हैं, और वर्तमान जन्म में पूर्वजन्म में छोड़ी गयी योग साधना को लक्ष्य तक पहुंचाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। जैसे रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द आदि इसी श्रेणी के योगी है। इन उत्तम श्रेणी के साधकों के लिए अभ्यास और वैराग्य ही चित्त वृत्तियों के निरोध के लिए काफी है। ये योगी मात्र पूर्वजन्म के कर्मो के संग्रहित संस्कारों को भोगने के लिए जीवन–यापन करते हैं। संस्कारों के क्षीण होते ही इन्हें योग के परम् लक्ष्य असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति हो जाती है।

उत्तम श्रेणी के पश्चात् मध्यम श्रेणी के योग साधकों का क्रम आता है, ये वे साधक है, जो वर्तमान जीवन में योग साधना का प्रारम्भ करते हैं। इनके मन में आत्मबोध की जिज्ञासा जाग्रत होती है। जिसको प्राप्त करने के लिए यह निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं। ऐसे योगीयों के लिए क्रिया योग का मार्ग बताया गया है। हालांकि यहाँ पर क्रियायोग के एक ही पहलू ईश्वर प्रणिधान पर चर्चा कि जायेगी। सबसे अन्त में अधम श्रेणी के योग साधक आते है, जिनका चित्त अभी पूर्ण रूप से संस्कारों से मलिन है, किन्तु उनके मन में इस संस्कार रूपी मल को मुक्त करने की प्रबल इच्छा है। अतः योग शास्त्र ऐसे योग साधकों के लिए अष्टांग योग का उपदेश करता है। यहाँ पर शीर्षक विशेष को ध्यान में रखते हुए मात्र प्राणायाम और ध्यान पर ही चर्चा की जायेगी। अष्टांग योग के अन्य अंगो पर अन्यत्र चर्चा होगी।

महर्षि पतंजलि द्वारा वर्णित चित्त वृत्ति निरोध के उपाय उसी प्रकार है, जिस प्रकार पहली कक्षा में पढ़ने वाले बच्चे को पांचवी कक्षा के प्रश्न का उत्तर देने को कहा जाये तो वह उन प्रश्नों को समझ ही नहीं पायेगा। उसी प्रकार अधम श्रेणी के योग साधक उत्तम श्रेणी के साधकों के लिए निहित वृत्ति निरोध के उपायों को व्यवहार में नहीं ला सकते, उन्हें वृत्तियों के निरोध के लिए अपने अनुकूल साधनों का ही प्रयोग करना होगा।

महर्षि पतंजलि द्वारा दी गयी योग की परीभाषा को विद्वान इस प्रकार स्पष्ट करते हैं, कि यदि तामसिक और राजसिक वृत्तियों के निरोध के पश्चात् मात्र सात्विक वृत्ति भी शेष रह जाती है, तो भी योग की प्रथम अवस्था जिसे सम्प्रज्ञात योग का नाम दिया गया प्राप्त हो जाती है। किन्तु योग का परम लक्ष्य यह नहीं है। योग का परम् लक्ष्य असम्प्रज्ञात समाधि है। और असम्प्रज्ञात समाधि में सभी प्रकार की वृत्तियों का निरोध हो जाता है। इस इकाई से पूर्व की इकाई में हमने चित्त की वृत्तियों के दो स्वरूपों क्लिष्ट और अक्लिष्ट पर चर्चा की। ये दोनों ही वृत्ति के स्वरूप निरोध किये जाने योग्य हैं। क्लिष्ट तो क्लेश कारक है, इसलिए निरोध के योग्य है। किन्तु अक्लिष्ट वृत्ति भी क्लिष्ट के प्रवाह में बहकर क्लिष्ट हो जाती है, जिससे यह भी क्लेशों को उत्पन्न करती है। अतः यह भी निरोध के योग्य है।

इस प्रकार सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध ही योग का अन्तिम लक्ष्य है। और इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए ही महर्षि पतंजलि ने निरोध के उपायों का उपदेश दिया है। इन्हीं उपायों को हम क्रम से चर्चा कर विषय का विस्तृत ज्ञान प्राप्त करेंगे। तो आइये चित्त वृत्तियों के निरोध पर विस्तार से चर्चा प्रारम्भ करते हैं।

अभ्यास प्रश्न भाग–1

1. अति लघु उत्तरीय प्रश्न
   (क) योग साधकों की कितनी श्रेणीयां है? नामोल्लेख करें।
   (ख) उत्तम श्रेणी के साधकों के क्या लक्षण हैं ?
   (ग) योग का अंतिम लक्ष्य क्या है?

4.3.1 अभ्यास :

हम यह कह आये है, कि उत्तम श्रेणी के योग साधकों के चित्त को निर्मल करने के उपाय के अन्तर्गत् महर्षि पतंजलि ने अभ्यास और वैराग्य को रखा है, जिसका वर्णन समाधिपाद के 12वें सूत्र में किया गया है।

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।। (योग सूत्र 1/12)

इस सूत्र के भाष्य में महर्षि–व्यास ने चित्त को दो धाराओं में बहने वाली एक नदी की संज्ञा दी है जिसकी एक धारा विषय भोगों का वहन करती है, और दूसरी धारा विवेक को। प्रायः सामान्यवस्था में विवेक को वहन करने वाली धारा क्षीण होती है, और विषयों का वहन करने वाली धारा प्रबल होती है। किन्तु जब योग साधक अभ्यास और वैराग्य का आलम्बन लेता है, तो वैराग्य के द्वारा विषयों का वहन करने वाली धारा को बन्द कर दिया जाता है, और अभ्यास के द्वारा विवेक को वहन करने वाली धारा को प्रबल किया जाता है। अर्थात् अभ्यास और वैराग्य के संयुक्त प्रयास के द्वारा ही चित्त वृत्तियों का निरोध किया जा सकता है तो आइये सबसे पहले अभ्यास पर चर्चा करते हैं। अब सबसे पहले प्रश्न उठता है अभ्यास क्या है? इसका उत्तर महर्षि पतंजलि देते हैं –

तत्रस्थितौ यत्नोऽभ्यासः।। (योगसूत्र 1/13)

अर्थात् स्थिति के निमित्त प्रयत्न करना अभ्यास है। कहने का तात्पर्य है, चित्त का निर्बाध रूप से एकाग्र बना रहना ही चित्त की स्थिति है। और यह निर्बाध एकाग्रता योगागों के अनुष्ठान से प्राप्त होती है। इस एकाग्रता की अवस्था में प्रथमतः राजस और तामस वृत्तियों का लोप हो जाता है, और मात्र सात्विक वृत्ति शेष रह जाती है, जिसे सात्त्विक एकाग्रता कहते हैं। और जब योगागों का अनुष्ठान और प्रगाढ़ हो जाता है, तो यह सात्त्विक एकाग्रता भी लुप्त हो जाती है। फलतः असम्प्रज्ञात योग की प्राप्ति होती है।

योग सिद्धान्त चन्द्रिका नामक ग्रन्थ में अभ्यास को परिभाषित करते हुए उसके लेखक नारायण तीर्थ कहते हैं – उत्साह, साहस एवं धैर्य के साथ अध्यात्म विद्या का अध्ययन महत्सेवा तथा यम, नियमादि का पालन करना अभ्यास है, इस प्रकार बाहरी विषयों को ओर स्वभावतः दौड़ने वाले चित्त पर नियन्त्रण रखने की भावना उत्साह कहलाती है। तथा साध्य असाध्य पर विचार किये बिना ही तत्काल सात्त्विक कार्य में प्रवृत्त होना साहस कहलाता है। व प्रयत्न के सफल होने का पूरा विश्वास चाहे प्रयत्न इस जन्म में न सही अगले जन्म में सफल हो ऐसी भावना का नाम धैर्य है। अभी पूर्व में अभ्यास की परिभाषा में तीन शब्द आये है, जिनका पालन करना अभ्यास कहा गया है। पहला अध्ययन इसका तात्पर्य, ऐसे ग्रन्थों के अध्ययन करने से है जो अध्यात्म विषयों को प्रकाशित करें। दूसरा शब्द महात्सेवा था,

इसका तात्पर्य सद्गुरु तथा संन्यासियों की सेवा करना है। तीसरा शब्द यम–नियमादि था, इसका विस्तृत वर्णन अन्यत्र किया जायेगा।

अभ्यास थोड़े समय तक या रूक–रूक कर अनिच्छा के साथ करने से फलवान् नहीं होता बल्कि अभ्यास तो आचरण में होना चाहिए तथा जन्म–जन्मान्तरों तक किये जाने योग्य है। यह अविरल गति से तथा उत्साह के साथ किया जाता हैं महर्षि पतंजलि अभ्यास कैसा होना चाहिए इसके विषय पर कहते हैं – "वह (अभ्यास) तो दीर्घ कालपर्यन्त, नैरन्तर्य (निरन्तरता) तथा सत्कार सहित किया जाने पर दृढ़ भूमि होता है।" (यो. सू. 1/14)

दीर्घकाल से तात्पर्य लम्बे समय से है, यह लम्बा समय सीमा रहित है, यह कई माह, कई साल या कई जन्मों तक का भी हो सकता है। किसी एक जन्म में किये गये सत्कर्मों के फलस्वरूप अगला जन्म श्रेष्ठतर प्राप्त होगा जिसमें अभ्यास और प्रगाढ़ होता है। अभ्यास में नैरन्तर्य (निरन्तरता) भी होनी चाहिए। अर्थात् अभ्यास लगातार व्यवधान रहित करते रहना चाहिए। जिस प्रकार तेल की धारा लगातार बिना टूटे एक धार में गिरती है। उसी प्रकार अभ्यास में भी निरन्तरता होनी चाहिए। ऐसा न हो की आज अभ्यास किया और फिर कुछ दिनों तक रहने दिया। इस प्रकार का व्यवधान युक्त अभ्यास फलिभूत नहीं होता। अभ्यास को दृढ़ करने के लिए निरन्तरता आवश्यक है। अभ्यास का आचरण सत्कार पूर्वक भी किया जाना आवश्यक है। सत्कार से तात्पर्य तप, ब्रह्मचर्य, विद्या और श्रद्धा से है। शीतोष्णादि ऋतुओं को सहना ही तप है, इन्द्रियों का निग्रह ही ब्रह्मचर्य है, ओंकार का जप और भगवत् नाम का जप विद्या है, तथा गुरुवाव्यों और शास्त्रों पर विश्वास करना श्रद्धा है।

इस प्रकार दीर्घकाल तक, निरन्तरता से और सत्कार पूर्वक अभ्यास का सेवन करने से ही अभ्यास दृढ़भूमि होता है, और इस दृढ़भूमि युक्त अभ्यास से ही चित्त की वृत्तियों का निरोध किया जा सकता है। अभ्यास के दृढ़भूमि हो जाने से लाभ यह होता है, कि समाधि बहुत शीघ्र भंग नहीं होती तथा देर तक बनी रहती है। चंचलता चित्त का आगन्तुक धर्म है, किन्तु उसका नैसर्गिक धर्म तो स्थिरता ही है, और चित्त को उसके नैसर्गिक धर्म की प्राप्ति में अभ्यास एक महत्त्वपूर्ण सहायक है। अर्थात् अभ्यास से चित्त की वृत्तियों का निरोध किया जा सकता है।

इस प्रकार आपने चित्त वृत्तियों के निरोध के लिए अभ्यास के महत्व को जाना और समझा। आइये अब वैराग्य को समझते हैं।

अभ्यास प्रश्न भाग–2

1. रिक्त स्थान की पूर्ति करें।
   (क) उत्तम श्रेणी के साधकों के लिए .....और .....श्रेष्ठ साधन है।
   (घ) स्थिति के निमित्त प्रयास करना ..... है।
   (ग) प्रयत्न के सफल होने का पूरा विश्वास ..... है।
2. एक शब्द में उत्तर दीजिए –
   (क) सद्गुरु तथा संन्यासियों की सेवा करना क्या है?
   (ख) शीतोष्णादि ऋतुओं को सहना क्या है?
   (ग) चित्त का नैसर्गिक धर्म क्या है?

4.3.2 वैराग्य :

वैराग्य शब्द का अर्थ है – विरागस्य भावः अर्थात् राग का विरोधी विराग है, और विराग का भाव वैराग्य है। महर्षि पतंजलि वैराग्य के विषय पर कहते हैं ।

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।। (योग सूत्र 1/15)

अर्थात् "दृष्ट और आनुश्रविक विषयों से चित्त का तृष्णा रहित होना वशीकार संज्ञा नामक वैराग्य है।" इस वशीकार संज्ञा नामक वैराग्य को ही "अपर वैराग्य" कहा गया है।
यहाँ पर दो शब्द आये है, दृष्ट और आनुश्रविक ये विषयों के प्रकार हैं। अर्थात् जो विषय देखे हुए है, उन्हें दृष्ट और जो विषय सुने हुए हैं, उन्हें आनुश्रविक कहा गया है। यहाँ दृष्ट विषय है– स्त्रियाँ, अन्न, पान और ऐश्वर्य इन विषयों को ऐहिक भी कहा जाता है। आनुश्रविक विषय है। स्वर्गादि अमृतपान, आप्सरा भोगादि इन विषयों को पारलौकिक भी कहा जाता है। चुकिं ये विषय मृत्युलोक में दृश्य नहीं है। इनका वर्णन मात्र ग्रन्थों में ही मिलता है। अर्थात् ये विषय भोग मात्र सुने गये हैं।
इन दृष्ट और आनुश्रविक विषयों से चित्त का मुक्त होना वशीकार संज्ञा नामक वैराग्य है। किन्तु वशीकार तक पहुंचने से पूर्व वैराग्य की कुछ अन्य अवस्थायें भी है जो इस प्रकार हैं

प्रथम अवस्था → यतमान संज्ञा

द्वितीय अवस्था → व्यतिरेक संज्ञा

तृतीय अवस्था → एकेन्द्रिय संज्ञा

चतुर्थ अवस्था → वशीकार संज्ञा

यतमान संज्ञा : रागादि मल इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत न कर सके अतः इसके लिए मैत्री करुणा आदि (इनके विषय में 4.3.4 भावना चतुष्टय शीर्षक में विस्तार से पढ़ेंगे) सात्विक भावों को अनुष्ठान करना ही यतमान संज्ञा वैराग्य कहलाता है।
व्यतिरेक संज्ञा : यतमान विराग के पश्चात् मन पर अवशिष्ट दोषों की निवृत्ति के लिए प्रयत्न करना ही व्यतिरेक वैराग्य है।
एकेन्द्रिय संज्ञा : परिपक्व दोष जब इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्त न कर सके परन्तु मात्र मन में तृष्णारूप में विद्यमान रहें तब एकेन्द्रिय वैराग्य होता है।
वशीकार संज्ञा : इस वैराग्य की चर्चा हम पहले कर आये हैं।
उक्त चारों प्रकारा के वैराग्य के समूह को अपर वैराग्य कहा गया है। किन्तु इस अपर वैराग्य से भी श्रेष्ठ वैराग्य है। जिसे "परवैराग्य" कहा जाता है। इस वैराग्य पर महर्षि पतंजलि कहते हैं।

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।। (यो०सू०1/16)

अर्थात् "पुरुष और प्रकृति के भेदज्ञान के उदय होने से जो सत्वगुण प्रकाशित होता है, उसके प्रति भी उपेक्षा का भाव "परवैराग्य" है।" परवैराग्य के उदय होने पर आत्मज्ञानी योगी इस प्रकार सोचने लगता है "जो प्राप्य था, वह प्राप्त हो चुका तथा क्षीण करने योग्य सभी विषय क्षीण किये जा चुके हैं। और संसार के सारे संक्रमण समाप्त हो चुके है।" यही

भाव ज्ञान की पराकाष्ठा है।अपरवैराग्य से प्राप्त विवेकख्याति सत्त्वगुणात्मिका होती है, और जब इस विवेकख्यति के प्रति भी वितृष्णा का भाव पैदा होता है तब परवैराग्य सिद्ध हो जाता है। यही वह स्थिति है जिसे सर्वचित्त वृत्ति निरोध कहा गया है। अर्थात् जब सभी चित्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है।

इस प्रकार आपने समझा की समाधि की तरह ही वैराग्य भी दो प्रकार का होता है अपरवैरागय और परवैराग्य –

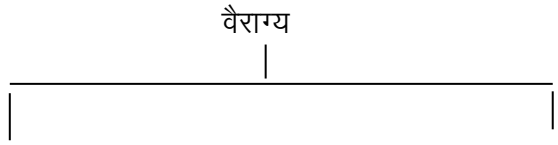

वैराग्य चित्त वृत्तियों के विरोध का सबसे प्रभावि उपाय है, तथा यह क्रम से होने वाली एक अवस्था है। इस अवस्था को प्राप्त करने में अभ्यास बहुत सहायक होता है। अभ्यास की सहायता से ही वैराग्य की अवस्थाओं को प्राप्त करते करते उच्चतर अवस्था को अर्थात् परवैराग्य को प्राप्त किया जा सकता हे। जहाँ अपर वैराग्य के द्वारा राजसिक और तामसिक वृत्तियों का निरोध किया जाता है। वहीं परवैराग्य के द्वारा सात्त्विक वृत्ति का भी निरोध कर कैवल्यता को प्राप्त किया जाता है।

अभ्यास और वैराग्य का आचरण उच्च कोटी के योग साधकों के लिए बताया गया है। इन उच्च कोटी के साधकों में भी जिन साधकों का अभ्यास और वैराग्य के प्रति संवेग जितना तीव्र होगा उनका वृत्तिनिरोध की उतना ही तीव्र होगा और वृत्ति निरोध जितना तीव्र होगा योग के परम् लक्ष्य की प्राप्ति भी उतनी तीव्रता से होगी।

अभ्यास प्रश्न भाग –3

1. सत्य/असत्य बताए।

(क) राग का विरोधी विराग है। (सत्य/असत्य)

(ख) वशीकार ही अपर वैराग्य है। (सत्य/असत्य)

(ग) मन पर अवशिष्ट मल की निवृत्ति के लिए किया गया प्रयत्न ऐकेन्द्रिय संज्ञा वैराग्य हैं।

2. बहुविकल्पीय प्रश्न –

क) दृष्ट और आनुश्रविक विषयों से चित्त का मुक्त होना –

(अ) यतमान (स) एकेन्द्रिय

(ब) व्यतिरेक (द) वशीकार

(ख) पर वैराग्य किस समाधि का हेतु है?

(अ) असम्प्रज्ञात (स) विचारानुगत

(ब) सम्प्रज्ञात (द) आनन्दानुगत

4.3.3 ईश्वर प्रणिधान :

चित्त वृत्तियों के निरोध के लिए अगले उपाय के रूप में महर्षि पतंजलि ईश्वर प्रणिधान का वर्णन करते है।।

ईश्वर प्रणिधानाद्वा (यो०सू० 1/23)

अर्थात् "ईश्वर प्रणिधान से भी समाधि की प्राप्ति होती है।" ईश्वर प्रणिधान से शीघ्र ही चित्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है, जिससे असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति होती है।

ईश्वर प्रणिधान का सम्बन्ध ईश्वर की भक्ति से है। अपने सभी कर्मो को ईश्वर के निमित्त समर्पित कर देना ही ईश्वर प्रणिधान है। उस प्रणिधान रूपी भक्ति से प्रसन्न होकर ईश्वर योग साधक को उसके इच्छित लक्ष्य अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि तक शीघ्र ही पहुचा देता है। ईश्वर का यह अनुग्रह प्रणिधान (सम्पूर्ण समर्पण) के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। पतंजलि के दर्शन में ईश्वर सबसे प्रमुख तत्व के रूप में विद्यमान है। योगदर्शन और सांख्यदर्शन को समान बताने वाले विद्वान यहां पर इन दोनों दर्शनों को अलग पाते हैं। जहाँ सांख्य प्रकृति और पुरुष कि ही बात करता है, वहीं योगदर्शन ईश्वर को इन दोनों के आकर्षण का प्रेरणा श्रोत बताकर सर्वश्रेष्ठ घोषित करता है। योगदर्शन में ईश्वर ही सर्वश्रेष्ठ तत्व होने के कारण वह समाधि की शीघ्र प्राप्ति कराने में सक्षम है। उसका अनुग्रह मात्र से योग के चरम् लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है।

ईश्वर प्रणिधान का वर्णन चित्त वृत्तियों के निरोध के रूप में योग सूत्र में तीन जगह पर हुआ है। पहला 1/23, दूसरा 2/1 और तीसरा 2/32 वें सूत्र में। पहले सूत्र का वर्णन हम ऊपर कर आये हैं, दूसरा सूत्र क्रियायोग से सम्बन्धित है। क्रियायोग के अन्तर्गत तप, स्वाध्याय व ईश्वर प्रणिधान आते है। यहाँ भी चित्त की निर्मलता के उपाय के रूप ईश्वर प्रणिधान का वर्णन किया गया है, तथा तीसरा सूत्र अष्टांग योग के दूसरे अंग नियम से सम्बन्धित है। नियम के अन्तर्गत् –शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान आते है। यहां भी ईश्वर प्रणिधान चित्त को निर्मल करने के उपाय के रूप में प्रयोग किया गया है। (नोट– क्रिया योग व अष्टांग योग का वर्णन इस पाठ्यक्रम की अन्य पाठ्य सामग्री में किया जायेगा।

ईश्वर भक्ति शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण तथा अंतःकरण जैसे सभी बाह्य और आभ्यन्तर करणों के द्वारा सम्पादित सभी कर्मो और उनके फलों को बिना अपेक्षा के भाव के ईश्वर को समर्पित कर देना है। महर्षि पतंजलि ने 1/23 वें सूत्र के पश्चात् ईश्वर को भी परिभाषित किया है। परिभाषा के अनुसार "क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से मुक्त पुरुष विशेष ही ईश्वर है।" अर्थात् जो क्लेश (पंच क्लेश–अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष व अभिनिवेश), कर्म (कृष्ण कर्म, शुक्ल कर्म, कृष्ण–शुक्ल कर्म, अशुक्लाकृष्ण कर्म), विपाक (वर्तमान कर्मफल) व आशय (कर्म संस्कार) से मुक्त पुरुष पुरुषविशेष है, वही ईश्वर है। यहां ईश्वर को पुरुष विशेष की संज्ञा दी गयी है। जबकि सामान्य जीव के भीतर पुरुष निवास करता है, जो क्लेश, कर्म, विपाक व आशय से बद्ध है।

महर्षि पतंजलि ने ईश्वर प्रणिधान हेतु प्रणव अर्थात् ओंकार के जप का विधान किया है, क्योंकि प्रणव ईश्वर का नाम विशेष है, तथा इसके अर्थ की भावना करने से ईश्वर प्रणिधान की सिद्धी होती है और सिद्धी के फलस्वरूप असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति होती है। व्यास भाष्य में ईश्वर प्रणिधान के सम्बन्ध में कहा गया है कि –"शय्या या आसन पर स्थित था फिर मार्ग पर चलते हुए आत्मनिष्ठ संशय आदि वितर्को से रहित योगी जब ईश्वर प्रणिधान करता है। तब वह संसार के बीज अविद्या आदि क्लेशों के क्षय होने का अनुभव करता हुआ परमात्मा रूपी अमृत का आनन्द लेता है।" यहां पर परमात्मा रूपी अमृत

के आनन्द से तात्पर्य असम्प्रज्ञात समाधि से ही है। यह परमात्मा रूपी अमृतानन्द सात्विक, राजसिक व तामसिक तीनों प्रकार की चित्त वृत्तियों के निरोध के पश्चात् प्राप्त होता है।

आप यह शंका व्यक्त कर सकते है, कि जब ईश्वर प्रणिधान से ही चित्त वृत्तियों का निरोध हो सकता है, तो अन्य उपायों की क्या आवश्यकता है। इस शंका के समाधान हेतु विद्वत् जन बताते है, कि ईश्वर प्रणिधान रहित अन्य वृत्ति निरोध के उपायों को सम्पादित करते समय जो विघ्न का सामने आते हैं, उनके कारण समाधि के लाभ में देरी होती है। जिसके कारण समाधि के लाभ में देरी होती है। अर्थात् समाधि देर से प्राप्त होती है। जबकि ईश्वर प्रणिधान सहित अन्य वृत्ति निरोध के उपायों को सम्पादित करते समय विघ्नों का सामना कम करना पड़ता है। जिसके कारण समाधि की प्राप्ति शीघ्र होती है, तथा उसमें स्थायित्व भी होता है। भारत की दार्शनिक परम्परा में ईश्वर का विशेष महत्त्व है। यही कारण है, कि हम योगदर्शन में भी इसके प्रभाव को सबसे अधिक पाते है। योगदर्शन में ईश्वर की उस अव्यक्त सत्ता के प्रति समर्पण को प्रमुखता दि गयी है। इस अव्यक्त सत्ता की यह विशेषता है, कि यह किसी भी रूप में अभिव्यक्त हो सकती है। कभी राम, कभी कृष्ण तो कभी शिव या शक्ति के रूप में। किन्तु स्वयं में यह नाम व गुणों से मुक्त है। बंधनों से मुक्त यह सत्ता ही चित्त के विक्षेपों को शान्त करने में समर्थ है। इसीलिए इस सत्ता के प्रति समर्पण का फल असम्प्रज्ञान समाधि है।

अभ्यास प्रश्न भाग–4

1. लघुउत्तरीय प्रश्न

   (क) ईश्वर की परीभाषा दीजिए।

   (ख) क्रियायोग के अंग कौन–कौन से हैं?

   (ग) ईश्वर प्रणिधान से क्या तात्पर्य है?

2. एक शब्द में उत्तर दें –

   (क) ईश्वर प्रणिधान अष्टांग योग के किस अंग के अन्तर्गत् आता है?

   (ख) ईश्वर का वाचक क्या है?

   (ग) योग दर्शन के अनुसार सर्व श्रेष्ठ तत्व कौन सा है?

4.3.4 भावना चतुष्टय :

भावना चतुष्टय के अन्तर्गत महर्षि पतंजलि ने योग साधक के लिए चार प्रकार की भावनाओं को चार प्रकार के जीव विशेष के प्रति आचरण हेतु बताया है। पतंजलि के अनुसार –

मैत्री करुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्य विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्। (यो०सू० 1/33)

अर्थात् सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा तथा पापात्मा जीवों के प्रति क्रमशः मैत्री, करुणा, मुदिता (प्रसन्नता) और उपेक्षा की भावना करने से चित्त प्रसन्न (निर्मल) होता है। तात्पर्य यह है कि सुखी रहने वाले सभी प्राणीयों के प्रति मित्रता की भावना करनी चाहिए, सभी दुःखी प्राणीयों

के प्रति दया या करुणा का भाव रखनी चाहिए, पुण्य करने वाले सभी प्राणियों के प्रति योग साधक को मुदिता या प्रसन्नता की भावना करनी चाहिए, तथा अपुण्य अर्थात् पाप करने वाले प्राणीयों के प्रति योग साधक को उदासीनता का भाव रखना चाहिए।

चित्त को सम्प्रज्ञातादि समाधि के लायक बनाने से पूर्व कुछ अभ्यास किये जाते है। इन प्रारिम्भक अभ्यासों को चित्त शोधन क्रिया या परिकर्म के नाम से जाना जाता है। इन परिकर्मो को सम्पादित करने से चित्त में प्रसन्नता आती है। जिससे चित्त समाधि जैसी उच्चतर भूमियों में स्थिर हो सके। इन परिकर्मो के अन्तर्गत् उक्त भावनाओं के चार प्रकार भी आते है। ऊपर बताई गयी चार प्रकार की भावनायें योग साधक द्वारा मात्र मनुष्य ही नहीं अपितु समस्त प्राणी जगत के प्रति आचरणीय है, अर्थात् योग साधक को सभी प्राणीयों के प्रति ऐसा ही व्यवहार करना चाहिए। वर्तमान के सन्दर्भ में देखकर यदि इस बात को कहें तो कुछ इस प्रकार कहेगें कि हम सामान्य जनों को सुखी जनों के प्रति ईर्ष्यादि की भावना नहीं करनी चाहिए, दुःखी प्राणी के प्रति उदासीनता की भावना नहीं करनी चाहिए, पुण्यात्मओं के प्रति द्वेष की भावना नहीं करनी चाहिए तथा पापियों के प्रति मैत्री का भाव नहीं रखना चाहिए। इसके साथ ही पापियों के प्रति द्वेष का भी भाव नहीं रखना चाहिए।

यदि भावना चतुष्टय के इस सिद्धान्त का पालन हम सामान्य जीवन में भी करते है, तो इसके विपरीत भाव रखने से हमारे चित्त पर जो संस्कारों का मल चढ़ा है। वह क्षीण होता है, जिससे चित्त में निर्मलता पैदा होती है, तथा चित्त संस्कार मुक्त होकर प्रसन्नता के दिव्य प्रकाश से ओत–प्रोत हो जाता है। प्रसन्नता से पूर्ण इस चित्त में ही। सम्प्रज्ञातादि समाधियों का उदय होता है।

राजस और तामस वृत्तियों के कारण निम्न छः प्रकार के मल चित्त को मलिन करते हैं – राग, ईर्ष्या, परापकार, असूया, द्वेष, और अमर्ष ।

राग : राजस वृत्ति के कारण उत्पन्न यह मल "यह सुख सदैव मुझे प्राप्त होता रहे" चित्त में ऐसा भाव उत्पन्न करता है। जिससे चित्त सुख पाने के लिए निरन्तर लालायित रहता है, और चित्त विक्षिप्त होकर मलिन हो जाता है।

ईर्ष्या : दूसरों के सुख संसाधनों या सम्पत्ति को देखकर चित्त में जो दाह का भाव पैदा होता है। उस ईर्ष्या नामक मल से चित्त मलिन हो जाता है।

परोपकार : किसी का अहित करने की भावना परोपकार नामक चित्त का मल कहलाता है।

असूया : दूसरों के गुणों में भी दोषों को खोजने की प्रवृत्ति असूया नामक चित्त का मल कहलाताहै।

द्वेष : दुःख का अनुभव करने वाला व्यक्ति जब दुःख के प्रति अथवा दुःख देने वाले के प्रति जो क्रोध का भाव रखता है। वही –द्वेष नामक चित्त का मल है।

अमर्ष : किसी को दुःख पहुँचाने की भावना से कठोर वचन बोलना अमर्ष नामक चित्त का मल है।

सामान्यतः इस अमर्ष नामक मल को बदला लेने की भावना के रूप में भी समझ सकते है।

ऊपर वर्णित चित्त के इन छः मलों की निवृत्ति हेतु ही महर्षि पतंजलि ने भावना चतुष्टय का वर्णन किया है। आइये समझते है, कि भावना चतुष्टय के द्वारा इन छः मलों से चित्त को किस प्रकार मुक्त किया जा सकता है। सुखी व्यक्ति को देखकर उसके प्रति मित्रता की भावना ईर्ष्या नामक मल चित्त से निवृत्त हो जाता है। अर्थात् मित्र के सुख को ही अपना सुख मानना चित्त में प्रसन्नता उत्पन्न करता है। जिससे मन में दाह का भाव पैदा ही नहीं होता। वहीं दुःखी लोगों के प्रति करुणा का भाव रखने से परोपकार की भावना पैदा होती है, और यह परोपकार की भावना चित्त के परपकार नामक मल से मुक्त कर देती है। तीसरी भावना है, पुण्यशील व्यक्तियों के प्रति मुदिता (प्रसन्नता) की भावना करना, इस भावना के द्वारा चित्त से असूया नामक मल को नष्ट किया जा सकता है– जैसे जब हम पुण्यशील या अच्छे लोगों को देखें तो उनके गुणों की प्रशंसा करे न कि निंदा। जिससे पुण्यशील व्यक्ति के चित्त में प्रसन्नता के साथ–साथ स्वयं हमारा चित्त भी निर्मलता और प्रसन्नता का अनुभव करेगा। चौथी भावना है, पाप मार्ग में लगे हुए लोगों के प्रति उदासीनता की भावना जिससे चित्त द्वेष और अमर्ष नामक मलों से मुक्त हो जाता है। क्योंकि जब कोई पाप प्रवृति वाला व्यक्ति आपको कष्ट पहुंचाये या कठोर वचन बोले तो उसे उसकी ही पाप वृत्ति में उत्तर न देकर उसके प्रति उदासीनता की भावना का आचरण करना चाहिए। जिससे आपका चित्त तो प्रसन्न होगा ही अपितु कुछ समय पश्चात् वह पापी व्यक्ति भी अपनी पाप वृत्ति को अनुभव कर उससे मुक्त होने का प्रयास करेगा। इस प्रकार आपने चार प्रकार की भावनाओं के द्वारा किस प्रकार चित्त को प्रभावित करने वाले छः मलों को मुक्त किया जा सकता है। यह समझा, आइये सरलता और याद रखने के लिए इस प्रक्रिया को एक सारणी से समझते है–

	भावना चतुष्टय	**मल विशेष की निवृत्ति**
1.	मैत्री	ईर्ष्या
2.	करुणा	परपकार
3.	मुदिता	असूय
4.	उपेक्षा	द्वेष व अमर्ष

(नोट :– राग और द्वेष नामक चित्त मलों को विस्तार से जानने के लिए पातंजल योगसूत्र के 2/3 वें सूत्र का विस्तृत अध्ययन करें। इन चित्त मलों की निवृत्ति के लिए क्रियायोग आदि उपायों का वर्णन किया गया है, जिन्हें आप अलग से पढ़ेगें।)

इन चारों चित्त प्रसादन की भावनाओं पर सूक्ष्म चिन्तन से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं। की ये भावनायें बुद्धि का खेल मात्र है। यह बुद्धि हमारे कर्मों की नियामक ही नहीं अपितु उत्पादक भी है। यह बुद्धि का विशुद्ध स्वरूप है। कहने का तात्पर्य यह है, कि इन भावनाओं के चिन्तन मात्र से चित्त से सारे मल धुल जाते हैं। जिससे चित्त का प्रसादन (निर्मलिकरण) प्रारम्भ हो जाता है। जिससे यह प्रसन्न चित्त एकाग्रता को प्राप्त होने लगता है, और अंततः चित्त सभी वृत्ति से निरोध के लक्ष्य को प्राप्त कर असम्प्रज्ञात समाधि का आनन्द भोगता है।

अभ्यास प्रश्न भाग–5

1. रिक्त स्थान की पूर्ति करें –

(क) भावना चतुष्टय के आचरण से चित्त ..... होता है।

(ख) किसी को दुःख पहुँचाने की भावना से कठोर शब्द बोलना ..... कहलाता है।

(ग) मित्रता की भावना से ..... नामक मल की निवृत्ति होती है।

2. सत्य/असत्य बताइये –

(क) पाप करने वाले प्राणी के प्रति प्रसन्नता की भावना करनी चाहिए। (सत्य/असत्य)

(ख) मुदिता की भावना से असूय नामक मल की निवृत्ति होती है। (सत्य/असत्य)

(ग) बुद्धि हमारे कर्मों की नियामक ही नहीं उत्पादक भी है। (सत्य/असत्य)

4.3.5 प्राणायाम :

महर्षि पतंजलि ने चित्त वृत्ति निरोध के उपायों में प्राणायाम का वर्णन किया है। हालांकि प्राणायाम का वर्णन महर्षि ने अष्टांग योग के अन्तर्गत भी किया है, किन्तु सूत्र संख्या 1/34 में प्राणायाम को विशिष्ट रूप से चित्त प्रसादन के लिए उपदेशित किया गया है। यथा –

प्रच्छर्दन विधारणाभ्यां वा प्राणस्य । (यो०सू० 1/34)

उक्त सूत्र के भाष्य में भाष्यकार व्यास कहते हैं – "उदरस्थ वायु को नासिका से विशिष्ट प्रयत्न के द्वारा निकालना प्रच्छर्दन कहलाता है। (इस क्रिया को रेचक भी कहते हैं) तथा उस बाहर वमन की गयी वायु को वहीं रोकना विधारणा कहलाता है। (इस क्रिया को बाह्य कुम्भक कहते हैं।) इन प्रच्छर्दन और विधारणा प्राणायाम से चित्त प्रसन्न होता है।" इस प्रकार हम देखते हैं, कि प्रच्छर्दन शब्द से रेचक प्राणायाम तथा विधारणा शब्द से पूरक और कुम्भक प्राणायामों को समझना चाहिए। इस प्रकार पूरक कुम्भक और रेचक प्राणायामों की त्रिवेणी से चित्त की प्रसन्नता और एकाग्रता होती है।

महर्षि पतंजलि ने प्राणायाम पर विस्तृत चर्चा योग सूत्र के द्वितीय पाद (साधन पाद) के – 49,50,51,52 वें सूत्र में कि है। जहाँ सर्वप्रथम उन्होंने प्राणायाम को परिभाषित करते हुए कहा हैं–

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः। (यो०सू० 2/49)

अर्थात् "श्वास और प्रश्वास की गति का विच्छेद करना ही प्राणायाम है।" इस परिभाषा को सामान्य भाषा में इस प्रकार कह सकते हैं। श्वास प्रश्वास की स्वभाविक गति को नियन्त्रित करना ही प्राणायाम है। प्राणायाम को परिभाषित करने के पश्चात् महर्षि पतंजलि

ने प्राणायामों के भेदों पर प्रकाश डाला है। पतंजलि के अनुसार प्राणायाम के चार भेद है जिनका वर्णन 2/50 वें सूत्र में आया है। यथा–

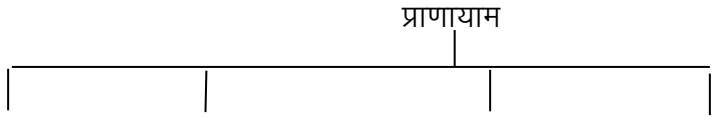

बाह्यवृत्ति आभ्यन्तर वृत्ति स्तम्भ वृत्ति बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी

अब सबसे पहले क्रमशः इन प्राणायामों पर चर्चा करते हैं –

बाह्यवृत्ति : ग्रहण कि गयी वायु का पूर्णत, रेचक करने के पश्चात् उसे बाहर ही रोककर कुम्भक करना बाह्यवृत्ति प्राणायाम कहलाता है।

आभ्यन्तर वृत्ति : बाहर निकाली गयी वायु को दीर्घ पूरक करके फेफड़ों में ही रोकना आभ्यन्तर कुम्भक कहलाता है।

स्तम्भवृत्ति : श्वास अथवा प्रश्वास को जहाँ का तहाँ रोक देना, अर्थात् श्वास प्रश्वास की सामान्य गति को अचानक स्तम्भित कर देना स्तम्भ वृत्ति प्राणायाम कहलाता हैं। व्यास भाष्य में भाष्यकर्ता व्यास इस प्राणायाम के विषय में कहते हैं, कि जिस प्रकार तपे हुए पत्थर पर जल डालने पर जल सब ओर से संकुचित हो जाता है। उसी प्रकार दोनों गतियों (पूरक और रेचक) का एक साथ अभाव या अवरोध स्तम्भ वृत्ति प्राणायाम है।

बाह्याभ्यन्तर विषयक्षेपी : पूर्व के तीनों प्राणायाम का दीर्घ काल तक अभ्यास करने पर जब पूरक और रेचक इतना सूक्ष्म हो जाये की सामान्यतः उनका अनुभव ही न रहे तब यह चौथा प्राणायाम सिद्ध होता है। इस प्राणायाम में श्वास प्रश्वास अति सूक्ष्म हो जाता है। मानों श्वास प्रश्वास है ही नहीं। यही प्राणायाम की अंतिम अवस्था भी है।

महर्षि पतंजलि ने प्रथम तीनों प्राणायामों को देश, काल व संख्या के आधार पर दीर्घ व सूक्ष्म में विभाजित किया है, तो चलिए समझते है, कि यह देश,काल व संख्या क्या है।

देश : यहाँ देश से तात्पर्य पूरक, कुम्भक व रेचक कहां तक किया गया से है, जैसे पूरक में श्वास को खींचकर मूलाधार चक्र तक ले जाना अथवा कुम्भक में श्वास को नाभि चक्र में रोक लेना आदि। यहाँ पर पूरक की स्थिति मूलाधार में थी और कुम्भक की स्थिति नाभि चक्र तक थी। यह श्वास का स्थान ही देश कहलाता है। सामान्य अभ्यास में ऐसा करना कठिन है। किन्तु लम्बे अभ्यास के पश्चात् यह सम्भव हो पाता है। अब आप समझ गये होगें की प्राणायाम में देश से क्या तात्पर्य है।

काल : काल से तात्पर्य है कि पूरक, कुम्भक और रेचक कितने क्षणों तक रहा। यहां समझने वाली बात यह है, कि एक क्षण में कितना समय होता है? इस प्रश्न का उत्तर योग सूत्र के एक अन्य भाष्यकार वाचस्पति मिश्र के भाष्य तत्व वैशारदी में मिलता है। वाचस्पति के अनुसार पलक के गिरने में जितना समय लगता है, उसके चौथाई समय को एक क्षण

कहते हैं। हालांकि क्षण का हिसाब रख पाना थोड़ा मुश्किल है, लेकिन यदि हम वर्तमान की समय प्रणाली की सामान्यतः सबसे छोटी ईकाई सेकण्ड की बात करें तो हम कहेगे कि पूरक, कुम्भक अथवा रेचक में किसी भी एक को करने में जितने सेकेण्ड का समय लगता है, उसे उस अवस्था का काल कहेगें। जैसे पूरक को करने में यदि 10 सेकण्ड का समय लगता है, तो हम कहेगें की पूरक का काल 10 सेकण्ड रहा।

संख्या : संख्या के द्वारा जो प्राणायाम की माप की जाती है। वह वास्तव में काल का ही एक रूप है। योगसूत्र के एक अन्य भाष्यकार विज्ञान भिक्षु के अनुसार "श्वास और प्रश्वास में व्यय समय को मात्रा कहते हैं।" यह मात्रा ही संख्या है। इस पद्धति के अनुसार 12 मात्राओं वाले प्राणायाम को मृदु अर्थात् हल्का प्राणायाम कहते हैं। और 24 मात्राओं के प्राणायाम को मध्य प्राणायाम कहते है। तथा 36 मात्राओं वाले प्राणायाम को तीव्र प्राणायाम कहते हैं। जब प्राणायाम के दौरान श्वास प्रश्वास की गति का विच्छेदन होता है, तब अपान वायु नाभि से ऊपर उठता है और सिर के मध्य भाग पर चोट करता है। अपान वायु द्वारा सिर के मध्य भाग पर की जाने वाली इस चोट को उद्घात कहते हैं। यह उद्घात 12 मात्रा काल में 01 बार होता है।

अब तक आपने प्राणायाम के देश, काल व संख्या परिमाण के बारे में समझा अब बात करते हैं, कि दीर्घ और सूक्ष्म प्राणायाम कब होता है। जब पूरक, कुम्भक व रेचक को देश, काल व संख्या के बढ़ते क्रम में निरन्तर अभ्यास किया जाता है, तब एक ऐसी स्थिति आती है, जब श्वास प्रश्वास का आभास ही नहीं होता अर्थात् श्वास लेने और छोड़ने पर श्वास की गति का अनुभव ही नहीं होता तब समझना चाहिए कि प्राणायाम सूक्ष्म हो गया है। और जब यह अवस्था कई घण्टों तक बनी रहे तब समझना चाहिए की प्राणायाम दीर्घ हो गया है।

इस प्रकार आपने प्राणायाम के देश, काल व संख्या के बारे में जाना तथा आपने यह भी जाना की प्राणायाम कब दीर्घ व सूक्ष्म हो जाता है। प्राणायाम पर प्रकाश डालते हुए महर्षि पतंजलि 2/52 वे सूत्र में कहते हैं –

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् । (यो०सू० 2/52)

अर्थात् "प्राणायाम के सिद्ध होने पर चित्त के प्रकाश पर पड़ा हुआ संस्कारों का पर्दा क्षीण (नष्ट) हो जाता है" और जब यह संस्कारों का पर्दा क्षीण हो जाता है, तो साधक को योग के परम आनन्द असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति होती है। कहने का तात्पर्य यह है, कि प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास से चित्त की वृत्तियों का निरोध सम्भव है।

इस प्रकार अब तक की चर्चा से आप प्राणायाम पर पर्याप्त जानकारी प्राप्त कर चुके होगें। तो आइये अगले चित्त वृत्ति निरोध के विषय पर चर्चा प्रारम्भ करते हैं।

अभ्यास प्रश्न भाग– 6

1. लघु उत्तरीय प्रश्न।

(क) प्राणायाम के प्रकारों का नामोल्लेख करें।

(ख) योगसूत्र में प्राणायाम की विस्तृत चर्चा किस पाद में और किन सूत्रों में की गयी है।

(ग) प्राणायाम की परीभाषा बताइये।

2. एक शब्द में उत्तर दें –

(क) श्वास को ग्रहण कर (पूरक) रोकना कैसा प्राणायाम है?

(ख) श्वास प्रश्वास में व्यय समय को मात्रा कहते है। यह कथन किसके अनुसार है।

(ग) श्वास जहां पर जाकर ठहरता है, उस स्थान को क्या कहते हैं?

4.3.6 विषयवती प्रवृत्ति :

महर्षि पतंजलि ने वृत्ति निरोध के उपायों में अगला उपाय योगसूत्र के 1/35 वें सूत्र में बताया है।

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी। (यो०सू० 1/35)

अर्थात् "गन्धादि पाँचों विषयों का साक्षात्कार करने वाली वृत्तियाँ भी उत्पन्न होने पर चित्त को स्थिरता प्रदान करती है।" कहने का तात्पर्य यह है, कि ये वृत्तियाँ सात्विक होती है, और जब इनकी प्रबलता होती है, तब राजसिक और तामसिक वृत्तियों का निरोध हो जाता है।

अब सबसे पहले आपके मन में यह प्रश्न उठ रहा होगा की यह गन्धादि जिन पांच विषयों की चर्चा हुई है, वह क्या है? तो आइये सबसे पहले इन्हें समझते हैं। आपने पंच महाभूतों के बारे में तो अवश्य ही सुना होगा इन पंच महाभूतों के गुणों को ही यहाँ पर गन्धादि पांच विषय कहा गया है। पंचमहाभूतों के गुणों को आप निम्न सारणी से समझ सकते हैं। इस सारणी में इन गुणों को शरीर के जिस अंग पर धारण कर साक्षात्कार किया जाता है। उसका भी वर्णन किया जा रहा है। इस सारणी का विस्तृत वर्णन सारणी के बाद में किया जायेगा –

क्र.सं.	पंच महाभूत	गुण विशेष	धारणा हेतु अंग
1.	आकाश	शब्द	जिह्वा की जड़ भाग
2.	वायु	स्पर्श	जिह्वा का मध्य भाग
3.	अग्नि	रूप	तालु
4.	जल	रस	जिह्वा का अग्र भाग
5.	पृथ्वी	गंध	नासिका

उक्त सारणी का निर्माण व्यास भाष्य पर आधारित है, तो आइये अब सारणी का विश्लेषण करते हैं । सारणी के अनुसार नासिका के अग्रभाग में धारणा करने वाले साधक को जो दिव्य गंध का साक्षात्कार होता है। वह गन्ध नामक प्रवृत्ति को उत्पन्न करती है। जिह्वा के अग्र भाग पर धारणा करने से साधक को दिव्य रस का साक्षात्कार होता है, जिससे रस प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। तालु में धारणा करने से दिव्य रूप का साक्षात्कार होता है, जिससे

रूप प्रवृत्ति का साक्षात्कार होता है। जिह्वा के मध्य भाग में धारणा करने से दिव्य स्पर्श का साक्षात्कार होता है, जिससे स्पर्श प्रवृत्ति का उदय होता है। तथा जिह्वा के जड़ में धारणा करने से साधक को दिव्य शब्द का साक्षात्कार होता है, जिससे शब्द प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। ये प्रवृत्तियां उत्पन्न होकर चित्त को स्थिर करती तथा संशय को भी दूर करती है।

अब आपके मन में प्रश्न उठ रहा होगा की ये प्रवृत्तियाँ चित्त को स्थिर कैसे कर पाती हैं? इस का उत्तर है, कि गन्धादि जो पांच विषय है। वह दिव्य और अदिव्य दो भागों में विभाजित होते है। जिससे ये कुल मिलाकर दस प्रकार के हो जाते है। इन पांचों विषयों का जो दिव्य रूप है। वह अक्लिष्ट अर्थात् क्लेशों से मुक्त है, जबकि अदिव्य रूप क्लिष्ट अर्थात् क्लेश कारक है। अतः जब साधक किसी अंग विशेष पर धारणा करता है। तो इन गन्धादि विषयों के दिव्य स्वरूप का साक्षात्कार होता है। यह दिव्य स्वरूप दिव्य प्रवृत्तियों को उत्पन्न करते हैं। ये दिव्य प्रवृत्तियाँ मूलतः सत्वगुण प्रधान होती है। जिससे अन्य राजसिक और तामसिक वृत्तियाँ दब जाती है। और चित्त में सत्व का उदय होने से वशीकार संज्ञा नामक वैराग्य उत्पन्न होता है, जो विवेकख्याति प्रज्ञा का बोध कराकर साधक को दिव्य आनन्द की प्राप्ति कराता है।

इन गन्धादि विषयों के साक्षात्कार से उत्पन्न गन्धादि प्रवृत्ति उत्पन्न होने पर उनके विषय में वशीकार संज्ञा वैराग्य उत्पन्न होकर उन तत्वों के प्रति वैराग्य का बोध करा देता है, जिससे इन विषयों के प्रति चित्त का आकर्षण समाप्त हो जाता है। ये जो पांचों विषयवती प्रवृत्तियाँ होती है। यह अस्थायी होती है, अर्थात् यह कुछ समय के लिए रहती है। और उसके पश्चात् पुनः लुप्त हो जाती है। जिससे साधक को यह ज्ञान हो जाता है, कि ये प्रवृत्तियाँ अस्थायी और चंचल है, ऐसा ज्ञान होने पर साधक के चित्त में अपर वैराग्य का उदय होता है। इस अपर वैराग्य के समय सात्विक वृत्ति बनी रहती है। अतः साधक को सम्प्रज्ञात समाधि का लाभ मिल जाता है, उसके पश्चात श्रद्धा, वीर्य, स्मृति (ध्यान) तथा समाधि (सम्प्रज्ञात) इन साधनों के द्वारा साधक योग के परम लक्ष्य असम्प्रज्ञात को प्राप्त कर लेता है, और यही इस विषयवती प्रवृत्ति का लक्ष्य भी है।

अभ्यास प्रश्न भाग– 7

1. बहुविकल्पीय प्रश्न –

(क) आकाश तत्व का गुण है।

(अ) शब्द (स) रूप

(ब) स्पर्श (द) रस

(ख) जिह्वा के मध्य भाग में धारणा करने से किस विषय का साक्षात्कार होता हे।

(अ) दिव्य शब्द (स) दिव्य स्पर्श

(ब) दिव्य रस (द) दिव्य रूप

2. सत्य/असत्य बताइये –

(क) तालु में धारणा से दिव्य शब्द का साक्षात्कार होता है।
(सत्य/असत्य)

(ख) गन्धादि विषयों का अदिव्य रूप अक्लिष्ट भी होता है।
(सत्य/असत्य)

(ग) गन्धादि विषयों के साक्षात्कार से वशीकार वैराग्य उत्पन्न होता है।
(सत्य/असत्य)

4.3.7 ज्योतिष्मती प्रवृत्ति :

चित्त वृत्तियों के निरोध का अगला उपाय महर्षि पतंजलि ने यो.सू. 1/36 वें सूत्र में बताया है। यथा–

विशोका वा ज्योतिष्मती। (यो०सू० 1/36)

अर्थात् "विशोका (शोक रहित) ज्योतिष्मती नामक प्रवृत्ति उत्पन्न होने से चित्त में स्थिरता आती है।"

यहाँ महर्षि पतंजलि जिस विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति की बात कर रहे है। वह क्लेश रहित सात्त्विक प्रकाश की धारणा से सम्बन्धित है। यह विशोका ज्योतिष्मती नामक प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है। –

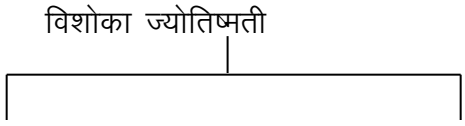

बुद्धि संवित् अस्मिता संवित्

सबसे पहले बुद्धि संवित् पर चर्चा करते हैं –

बुद्धि संवित् विशोका ज्योतिष्मती : इस धारणा में साधक हृदय पुण्डरीक अर्थात् हृदय कमल जिसे अनाहत चक्र भी कहते हैं। पर धारणा करता है, क्योंकि इस हृदय कमल में बुद्धि की सत्ता मानी गयी है। अतः बुद्धि पर कि गयी यह धारणा बुद्धि का साक्षात्कार कराती है। यही बुद्धि संवित् नामक पहली विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति है।
यह बुद्धि सत्व के समान प्रकाशवान होती है, तथा आकाश के समान व्यापक भी होती है। जब चित्त इस बुद्धि में स्थिर हो जाता है। तब वह इस प्रकाशवान बुद्धि के समान प्रकाशित होने लगता है। जिससे चित्त निर्मलता को प्राप्त कर लेता है। यह बुद्धि साक्षात्कार रूपी प्रवृत्ति सूर्य, चन्द्र, ग्रह और मणियों की चमक या कान्ति को भी विकल्प के रूप में प्रयोग

करती है। आपके मन में अवश्य यह प्रश्न उठ रहा होगा कि बुद्धि सूर्य, चन्द्र, ग्रह या मणियों की कान्ति को विकल्प के रूप में कैसे प्रयोग कर सकती होगी? इस प्रश्न का समाधान यह है, कि जब बुद्धि सत्व का साक्षात्कार कर चुकि होती है। तब चित्त सत्व के प्रकाश से प्रकाशित होकर आकाश के समान व्यापक हो जाता है, प्रकाशित हुआ वह चित्त उस व्यापक प्रसार में सूर्य, चन्द्र, ग्रह या किसी मणि के समान चमकता है। यहाँ पर एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है, कि कुछ विद्वान जिनमें योग सूत्र के भाष्यकार वाचस्पति मिश्र प्रमुख है। बुद्धि तत्व का तात्पर्य मन से लगाते है। अर्थात् वह योग सूत्र में जहाँ बुद्धि की बात कही गयी है, वहाँ बुद्धि के स्थान पर मन का प्रयोग करते हैं।

अस्मिता संवित् विशोका ज्योतिष्मती : अस्मिता से तात्पर्य आत्म तत्व के बोध से है, जब योग साधक अस्मिता में धारणा करता है, अर्थात् अपने आत्मतत्व की धारणा करता है। तब उसका चित्त निस्तरंग महान समुद्र के सदृश शांन्त और अनन्त हो जाता है। यहाँ पर चित्त को उपमा अलंकार की सहायता से शांत समुद्र तथा निस्तरंग बताया गया हैं, निस्तरंग समुद्र इसलिए कहा गया है, क्योंकि जब साधक आत्मतत्व (अस्मिता) पर धारणा करता है। तब उसके चित्त से राजस और तामस ही नहीं अपितु सात्त्विक वृत्तियों का लोप हो जाता है। जिससे उसका चित्त वृत्ति विहीन हो जाता है। वृत्ति विहीन हुआ यह चित्त शांत और स्थिर हो जाता है। इसलिए ही चित्त को शान्त स्थिर निस्तरंग समुद्र की उपमा से अलंकृत किया गया है।

इस प्रकार आपने विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के दोनों प्रकारों को समझा विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति मूलतः शोक रहित और प्रकाशवान है। अतः स्वभाव से ही इस प्रवृत्ति में राजस और तामस वृत्तियाँ शून्य होती है। सात्विक वृत्ति भी मात्र सहायक के रूप में साधक के चित्त को स्थिरता प्रदान करने हेतु अवलम्बन का कार्य करती हैं, इसकी सहायता से साधक चित्त को निस्तरंग करने का प्रयास करता है, और जब साधक का चित्त निस्तरंग हो जाता है, तब वह अपने स्वरूप में स्थित होकर अस्मिता के परम आनन्द का अनुभव करता है। इस अवस्था में साधक अस्मितानुगत समाधि का लाभ लेता है। अब साधक द्वारा प्राप्त की गयी यह समाधि धीरे–धीरे अभ्यास से असम्प्रज्ञात तक पहुंच जाती है, और यही योग साधना का परम लक्ष्य है।

तो इस प्रकार आपने विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के विषय पर परिपूर्ण जानकारी हासिल कर ली है। अब अगली निरोध प्रवृत्ति के विषय पर चर्चा प्रारम्भ करते है।

अभ्यास प्रश्न भाग–8

1. रिक्त स्थान की पूर्ति करें –

   (क) विशोका ज्योतिष्मती के ..... प्रकार हैं।

   (ख) बुद्धि संवित् विशोका ज्योतिष्मती में बुद्धि ..... के समान व्यापक हो जाती है।

   (ग) ज्योतिष्मती प्रवृत्ति मूलतः ..... और ..... है।

2. एक शब्द में उत्तर दिजिए –

(क) बुद्धि तत्व का तात्पर्य मन किसने किया है?

(ख) अस्मिता संवित् ज्योतिष्मती में चित्त को किसकी उपमा दि गयी है?

(ग) बुद्धि संवित् ज्योतिष्मती में धारणा कहाँ की जाती है?

4.3.8 वीतराग विषयक चित्त :

चित्त वृत्तियों के निरोध के अगले उपाय के रूप में महर्षि पतंजलि ने "वीतराग चित्त को धारणा का विषय बनाने से योग साधक के चित्त में स्थिरता आती है।" सूत्र इस प्रकार है।

वीतराग विषयं वा चित्तम्।। (यो०सू० 1/37)

सूत्र का भाव यह है, कि ऐसे वीतराग पुरुषों जिन्होंने योग के परम् लक्ष्य को प्राप्त कर लिया हो और जो प्रारम्भिक योग साधक के लिए एक आदर्श के समान है, उन वीतराग पुरुषों के निर्मल चित्त की धारणा यदि योग साधक अपने चित्त में करता है तो उसका चित्त भी उन वीतराग योगियों के चित्त के समान निर्मल हो जाता है।

वीतराग पुरुषों से तात्पर्य है। श्रेष्ठ योगियों से जैसे शुक, व्यास, जड़ भरत, सनकादि ऋषि, नारद आदि जिन्होंने स्वयं वीतराग होने के पश्चात् लोकसंग्रह हेतु सामान्य जनों के उद्धार के लिए समाज में एक समान्य योगी की भांति विचरण करते हैं, जिससे प्रारम्भिक योगी इन योगीयों के चरित्र को अपना आदर्श बनाकर उनके चित्त के प्रकाश के आलोक में अपने चित्त को भी प्रकाशित कर सकता है। महर्षि पतंजलि द्वारा चित्त वृत्तियों के निरोध का यह उपाय नैतिकता के मार्ग का अनुसरण कर नैतिक बनने का एक अतिव्यवहारिक उदाहरण है, जो महान योगी विषयों से पूर्णतः विलग हो चुके हो जिसके कारण उनका अंतःकरण अविद्यादि क्लेशों के संस्कारों से पूर्णतः मुक्त हो ऐसे योगियों के चित्त को धारणा का विषय बनाया जाना चाहिए। क्योंकि प्रारम्भिक योगी को उस निर्मल हुए चित्त का परिणाम ज्ञात होता है, जो की पूर्व के श्रेष्ठ योगी का है। प्रारम्भिक योगी जानता है, कि उस श्रेष्ठ योगी का चित्त निर्मल होकर असम्प्रज्ञात अवस्था को प्राप्त कर चुका है। अतः वह (प्रारम्भिक योगी) भी उस श्रेष्ठ अवस्था को प्राप्त करने के लिए उसी प्रकार अभ्यास करता है। श्रेष्ठ योगी के प्रकाशित चित्त के आलोक में उस प्रारम्भिक योगी के विक्षिप्त चित्त को मार्गदर्शन मिलता है, और वह भी क्रम से उच्चतर अवस्थाओं को प्राप्त करता हुआ योग की श्रेष्ठतम् अवस्था असम्प्रज्ञात को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार आपने महर्षि पतजंलि द्वारा बताये गये वीतराग विषय चित्त के अवलम्बन की अवधारणा को समझा और एक प्रारम्भिक योगी किस प्रकार उसका आलम्बन कर उच्चतर अवस्था को प्राप्त कर लेता है, यह भी समझा। अब हम अगले चित्त वृत्ति निरोध के उपाय पर चर्चा प्रारम्भ करते हैं–

अभ्यास प्रश्न भाग –9

1. सत्य/असत्य बताइये –

(क) वीतराग पुरुषों के चित्त पर धारणा करने से वृत्ति निरोध होता है।
(सत्य/असत्य)

(ख) वीतराग विषय उपाय का वर्णन योगसूत्र के समाधि पाद में हुआ है।
(सत्य/असत्य)

(ग) जिनका अंतःकरण अविद्यादि क्लेशों से मुक्त है, वे योगी वीतराग है।
(सत्य/असत्य)

4.3.9 स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बन :

चित्त वृत्ति निरोध के इस उपाय के अन्तर्गत् महर्षि पतंजलि "स्वप्न व निद्रा के ज्ञान को धारणा का आलम्बन बनाने वाले योग साधक के चित्त के स्थिर होने की बात कही है" सूत्र इस प्रकार है –

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा । (यो०सू० 1/38)

यहां पर जिस निद्रा या स्वप्न को आलम्बन करने की बात कही गयी है। वह निद्रा वृत्ति का अक्लिष्ट स्वरूप है, जिसकी चर्चा हम चित्त की वृत्तियों वाली इकाई में कर आये हैं।

जब कभी हम निद्रा से जागने पर यह कहते हैं, कि मैं सुख पूर्वक सोया तो इसका मतलब है, कि हम निद्रा अवस्था में सुख की अनुभूति हुई यहाँ पर यह प्रश्न उठता है, कि स्वप्न में चित्त तम प्रधान हो जाता है। और निद्रा में ज्ञान का अभाव हो जाता है, तो सुख की अनुभूति केसे हुई? सुख तो सत्व प्रधान है। इस समस्या का समाधान यह है, कि जब कभी हम निद्रा के पश्चात् जागते है, और यह कहते हैं कि 'मैं सुख पूर्वक सोया' तो समझना चाहिए कि निद्रा अवस्था के मध्य में जो स्वप्नावस्था का प्रस्फुरण हुआ था। उसमें सुखकर स्वप्न हुए होंगे। तब यदि योग साधक उन सुखकर स्वप्नों को धारणा का विषय बना लें तो योग साधक का चित्त सत्व प्रधान हो उठता है। इस सत्व प्रधान अवस्था को ही यदि निरन्तर अभ्यास का विषय बनाया जाये तो चित्त स्थिरता और निर्मलता को प्राप्त कर सकता है। उदाहरण के लिए निद्रा की अवस्था में साधक को सात्विक स्वप्न के प्रस्फुरण के रूप में अपने ईष्ट देव के दर्शन हो जिसमें वह उनके दिव्य और निर्मल स्वरूप के दर्शन करता है। वह उनके चतुर्भुजों शंख चक्र, गदा व वरद हस्त के दर्शन कर अविभूत हो उठता है। उसका समस्त शरीर व रोम रोम रोमांचित हो उठता है। वह उस समय उस रोमांच का अनुभव कर रहा होता है, जैसे गीता में अर्जुन को तब हुआ था जब भगवान भी कृष्ण ने विराट रूप के दर्शन अर्जुन को कराये थे।

हालांकि साधक ये सारा दिव्य दर्शन निद्रा में स्वप्न के प्रस्फुरण की अवस्था में कर रहा होता है, किन्तु यदि इसी स्वरूप को धारणा का विषय बनाकर साधक अभ्यास करता है, तो उसका चित्त उस सात्विक स्वरूप के आवेग में सात्विक हो उठता है। जिससे उसे शीघ्र ही योग की क्रमशः उच्चतर अवस्थायें प्राप्त होती हैं, और अंततः वह परम लक्ष्य असम्प्रज्ञात को प्राप्त कर ही लेता है। जहाँ उसकी समस्त चित्त वृत्तियों का निरोध हो चुका होता है।

अभ्यास प्रश्न भाग – 10

1. एक शब्द में उत्तर दिजिए –

(क) स्वप्न में चित्त किस गुण की प्रधानता में होता है।

(ख) स्वप्न निद्रा ज्ञान में किस प्रकार के स्वप्नों का आलम्बन किया जाता है।

(ग) निद्रा में किसका अभाव होता है।

4.3.10 यथाभिमत ध्यान :

महर्षि पतंजलि द्वारा बताया गया चित्त वृत्ति निरोध का यहाँ ये अन्तिम उपाय है। इस उपाय के अनुसार

यथाभिमतध्यानाद्वा । (यो०सू० 1/39)

अर्थात् "साधक के लिए जो भी अभीष्ट हो उस के ध्यान से चित्त स्थिरता के प्राप्त करता है।"

महर्षि द्वारा ध्यान का वर्णन अन्यत्र भी अष्टांग योग के अन्तर्गत किया गया है। जिसका सूत्र इस प्रकार है।

तत्र प्रत्ययैकतनता ध्यानम्। (यो०सू० 3/2)

अर्थात् "धारणा किये गये विषय पर एकतानता ही ध्यान है।"

धारणा किस विषय पर की जाये यह ऊपर वाले सूत्र में कह आये हैं, जो अभीष्ट विषय हो उस पर धारणा कर उसकी एकतानता ध्यान में परिवर्तित हो जाती है।

ध्यान को चित्त एकाग्रता का एक अतिव्यवहारिक उपाय माना जाता है। और वर्तमान में मानसिक संतुलन की कारगर चिकित्सा के लिए भी ध्यान का प्रयोग किया जाता है। हालांकि वह ध्यान उस कोटी का नहीं होता जिसका कि हम यहाँ पर वर्णन करेंगे।

ध्यान की अवस्था समपूर्ण मानवीय अभिव्यक्ति को संयम में केन्द्रित कर देती है। ध्यान की अवस्था जीवन में द्वेत से अद्वैत की ओर जाने की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में जीव के भीतर चेतना के रूप में अभिव्यक्त हो रहा आत्मा तत्व अपने मूल परमात्म तत्व से एकाकार होने का तीव्र प्रयत्न करता है, जिसकी उपलब्धि उसे समाधि के रूप में प्राप्त होती है। ऊपर कह आये है, कि साधक को जो भी अभीष्ट हो वह उसका ध्यान कर सकता है। यहाँ अभीष्ट से तात्पर्य है, जिसके प्रति साधक के मन में सर्वाधिक श्रद्धा हो वह गुरु भी हो सकता है। अथवा कोई देव या देवी का स्वरूप भी अथवा अपने माता पिता भी।

जिस विषय के प्रति साधक की अगाध श्रद्धा होगी उस विषय के प्रति उसका चित्त शीघ्र ही एकाग्र हो जायेगा। और एकाग्र हुआ चित्त सत्व के परम आनन्द का अनुभव करता है। श्रद्धा का विषय चाहे जो हो किन्तु फिर भी योगदर्शन की हठयोग प्रणाली में ध्यान को तीन भागों में विभाजित किया गया है। यथा–

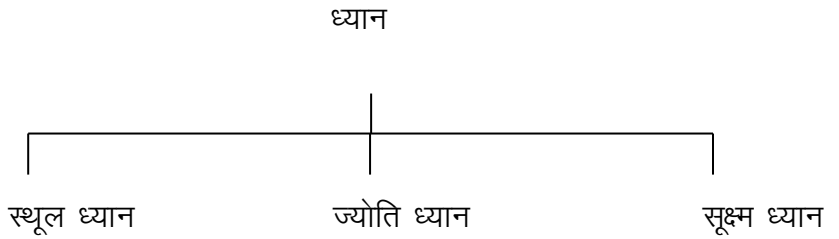

आइये अब इन तीनों ध्यान की प्रक्रियाओं को क्रमशः जानते है, तथा इनके व्यवहारिक पक्ष का अवलोकन करते हैं। (इन तीनों ध्यान के प्रकारों का वर्णन घेरण्ड संहिता में आया है, जो एक हठयोग का बहु प्रचलित ग्रन्थ है। यहाँ पर इन तीनों ध्यान की प्रक्रियाओं को संक्षेप में ही बताया जायेगा विस्तृत जानकारी के लिए घेरण्ड संहिता का अध्ययन करें।)

(क) स्थूल ध्यान : घेरण्ड संहिता में महर्षि घेरण्ड ने 6 वें प्रकरण में ध्यान की चर्चा विस्तृत रूप से की है। जहाँ उन्होंने सबसे पहले स्थूल ध्यान का वर्णन किया है, स्थूल ध्यान हेतु भी वहाँ उन्होंने ध्यान के दो आध्यात्मिक शारीरिक स्थलों का चयन किया है। पहला हृदय प्रदेश और दूसरा सहस्त्रार चक्र। दो ही स्थान पर महर्षि ने गुरु के स्थूल रूप के ध्यान का उपदेश दिया है। तो आइये संक्षिप्त में इन्हें समझते हैं–

(i) हृदय प्रदेश में ईष्ट का ध्यान : जब साधक के लिए ईष्ट देव अभीष्ट विषय के रूप में हो तब उसे अपने ईष्ट के स्थूल स्वरूप का ध्यान अपने हृदय प्रदेश में करना चाहिए। इसकी प्रक्रिया निम्नवत् है – "अपने हृदय पर ध्यान केन्द्रित करके कल्पना किजिए कि वहाँ एक विशाल अमृत का सागर है, जिसके मध्य में एक द्वीप है, जो दिव्य रत्नों से भरा हुआ है, तथा यह द्वीप कई दिव्य वृक्षों से भरा हुआ है, जिस पर तरह–तरह के फल शोभा पा रहे हैं। द्वीप के चारों दिशाओं में पुष्पों के विशाल समूह दिव्य सुगन्ध को चारों ओर प्रसारित कर रहे हैं। इस द्वीप के एकदम मध्य में एक कल्पवृक्ष है, जिसकी विशाल चार शाखायें चारों वेदों का प्रतिनिधित्व कर रही है, वह वृक्ष सुन्दर फल और फूलों से लदा हुआ है। जिस पर कोयल और भ्रमर मधुर गुंजन कर रहे हैं। उस वृक्ष के नीचे ही एक रत्नों से जड़ित चबूरता है। जिस पर आपके अभीष्ट ईष्ट देव विराजमान है।" इस प्रकार गुरु के निर्देशानुसार अपने ईष्ट का ध्यान करें। (घेरण्ड संहिता 6/2–8)

(ii) सहस्त्रार चक्र में ईष्ट का ध्यान : सहस्त्रार पर अपने ईष्ट के स्थूल स्वरूप के ध्यान की प्रक्रिया निम्नवत् है– "सहस्त्रार प्रदेश में एक महापद्म (एक हजार पंखुड़ियों वाला कमल का पुष्प) स्थित है, इस पद्म के मध्य में बारह पंखुड़ियों वाला एक छोटा कमल और है। जिसका रंग श्वेत प्रकाश युक्त है, इस उप कमल के दलों पर बीज मंत्र अंकित हैं। तथा कमल के मध्य में तीन रेखाओं से युक्त त्रिभुज की आकृति है। इस त्रिभुज के मध्य में ओ३म अंकित है। सहस्त्रार कमल के मध्य में दो हंसों के जोड़े के रूप में आपके ईष्ट के चरण विराजमान हैं। आपके ईष्ट की दो भुजायें तथा तीन नेत्र हैं, उन्होंने श्वेत वस्त्र और श्वेत पुष्पों से गुंथी माला धारण की हुई है, तथा उनके वामभाग में रक्त वर्ण युक्त वस्त्रों को धारण कर उनकी शक्ति सुशोभित हो रही है।" (घेरण्ड संहिता 6/9–15) इस प्रकार अपने ईष्ट का ध्यान करें।

यहाँ पर सम्भवतः भगवान शिव और उनकी शक्ति मां पार्वती का वर्णन महर्षि घेरण्ड ने किया है। चूकिं शिव और शक्ति का योग ही योगदर्शन का परम उद्देश्य है। और इसी को योग के रूप में भी परिभाषित किया जाता है।

(ख) ज्योतिध्यान : स्थूल ध्यान के पश्चात् महर्षि घेरण्ड ने ज्योति ध्यान पर चर्चा प्रस्तुत कि है। ज्योति ध्यान के लिए भी महर्षि घेरण्ड ने दो स्थानों का चुनाव किया है। पहला मूलाधार और दूसरा भ्रुमध्य (आज्ञाचक्र)। तो चलिए इन्हें क्रमशः समझते है –

(i) मूलाधार पर ज्योति ध्यान : "मूलाधार में सर्पाकार कुण्डलिनी विराजित है, और यहीं दीपक की लौ के समान जीवात्मा स्थित है। इस स्थान पर तेजोमय परात्पर ब्रह्म का ध्यान करना ही ज्योति ध्यान है।" (घे०सं० 6/16)

(ii) आज्ञा चक्र पर ज्योति ध्यान : "भैहो (आज्ञा चक्र) के मध्य में और मन के ऊर्ध्व भाग में जो प्रणवात्मक ज्योति है। उस ज्वाला युक्त ज्योति का ध्यान ही ज्योति ध्यान है।" (घे०सं० 6/17)

(ग) सूक्ष्म ध्यान : महर्षि घेरण्ड द्वारा वर्णित सूक्ष्म ध्यान कुण्डलिनी जागरण की प्रक्रिया का ही ध्यान है, यह प्रक्रिया निम्नवत् है। "ज्यों हि कुण्डलिनी जाग्रत होती है, वह आत्म तत्व के साथ संयुक्त होकर नेत्र रन्ध्र से निकलते हुए ऊर्ध्व भाग में स्थित राजमार्ग नामक स्थान में विचरण करती है, किन्तु सूक्ष्म और चंचल होने के कारण दृष्ट नहीं होती। अतः साधक शाम्भवी मुद्रा का अभ्यास करता हुआ कुण्डलिनी के स्वरूप का ध्यान करे यही सूक्ष्म ध्यान है।" (घे०सं० 6/18–22)

महर्षि घेरण्ड ने सूक्ष्म ध्यान को सबसे अधिक महत्वपूर्ण व देव दुर्लभ कहा है, उनके अनुसार स्थूल ध्यान से ज्योति ध्यान सौ गुना और ज्योति ध्यान से सूक्ष्म ध्यान लाख गुना श्रेष्ठ है।

इस प्रकार योग साधक अपने अभीष्टतम् लक्ष्य को आधार बनाकर जब ध्यान करता है, तब उसका चित्त सभी वृत्तियों से निवृत्त होकर शान्त और निस्तरंग हो जाता है। यह निस्तरंग चित्त अन्ततः असम्प्रज्ञात समाधि का आनंद प्राप्त करता है।

अभ्यास प्रश्न भाग–10

1. लघुउत्तरीय प्रश्न

   (क) ध्यान की परिभाषा लिखिए।

   (ख) योग सूत्र में ध्यान के कितने प्रकारों का वर्णन किया गया है? नामोल्लेख करें।

   (ग) अभीष्ट विषय से क्या तात्पर्य है?

2. एक शब्द में उत्तर दें –

   (क) स्थूल ध्यान का वर्णन घेरण्ड संहिता के किस प्रकरण में आया है?

   (ख) मूलाधार व आज्ञा चक्र का वर्णन किस प्रकार के ध्यान में आता है?

(ग) कुण्डलिनी जागरण की प्रक्रिया पर ध्यान करना किस प्रकार का ध्यान है?

4.4 सारांश :

चित्त वृत्तियों के निरोध के उपाय से सम्बन्धित इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप वृत्ति निरोध के उपायों के ज्ञान को विस्तार से जान चुके होंगे, तथा इन उपायों के व्यवहारिक पक्ष को भी समझ चुके होंगे। महर्षि पतंजलि ने जिन प्रमुख उपायों की चर्चा योगसूत्र में कि है, उन सभी का प्रायः यहाँ वर्णन किया जा चुका है। हालांकि विद्वान क्रियायोग और अष्टांगयोग को भी वृत्ति निरोध के उपायों के अन्तर्गत् मानते हैं, किन्तु इन दोनों उपायों को पाठ्यक्रम के अन्य भाग में बताया जायेगा। यहाँ बताये गये उपायों में जिस उपाय को विद्वान श्रेष्ठतम् स्वीकार करते है, वह है, अभ्यास और वैराग्य का। इन दोनों उपायों को एक दूसरे का पूरक भी कहा जाता है। अर्थात् एक के किये जाने पर दूसरे को किया जाना स्वाभाविक हो जाता है। किन्तु विस्तार की दृष्टि से यहाँ इन्हें अलग–अलग समझाया गया है। अभ्यास प्रत्येक वृत्ति निरोध के लिए आवश्यक तत्व है। और वैराग्य किसी भी निरोध उपाय के पश्चात् उत्पन्न होने वाली एक स्वाभाविक अवस्था है, जिसकी परिणति असम्प्रज्ञात समाधि में होती है। अभ्यास और वैराग्य से इतर ईश्वर प्रणिधान एक अलग एवं महत्वपूर्ण वृत्ति निरोध का उपाय है। इसे भक्तियोग की विकल्प विशेष संज्ञा से सम्बोधित किया जाता है। इसके बाद का उपाय सामाजिक समरसता से आप्लावित भावना चतुष्टय महर्षि पतंजलि का समाजशास्त्रीय अध्ययन है, जो योग साधक के साथ साथ एक सामान्य जन के लिए भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। वृत्ति निरोध के साधनों में एक उपाय जो शारीरिक और मानिसिक स्तर दोनों पर आधारित है। वह प्राणायाम आधात्मिक उन्नति का भी सोपान हो सकता है। इस बात को महर्षि पतंजलि ने अपने सूत्रों में स्पष्ट किया है। प्राणायाम के इस पहलू को ही हमने यहाँ चर्चा का मुख्य विषय बनाया है। प्राणायाम के बाद के दोनों उपाय प्रवृत्ति विशेष होने के कारण पूर्णतः मानसिक आयाम पर आश्रित है। विषयवती व ज्योतिष्मती दोनों प्रवृत्तियाँ सात्विक वृत्ति होने से सम्प्रज्ञात के लाभ का हेतु बनती है। इन प्रवृत्तियों के पश्चात् के उपाय में श्रेष्ठ योगीयों के चित्त के प्रकाश के आलोक से साधक अपने चित्त को भी आलोकित कर सके इस तथ्य पर विचार किया गया है। जो स्वभाव से आदर्श को अपनाने वाली बात लगती है। इसके बाद जिस उपाय पर चर्चा की गयी है, उसे चित्त वृत्तियों की अवधारण वाले भाग में समझाया गया है। यहाँ स्वप्न व निद्रा के सात्विक पक्ष की धारणा का फल चित्त निर्मलता बताया गया है। और अंत के उपाय को हम समाधि के सबसे निकटतम साधनों में पाते है, जब साधक अपनी क्षमतानुसार अपने ईष्ट देव के प्रति आदर, श्रद्धा, समर्पण के भाव से पूरित उसके स्वरूप को तदाकार करता है और अंततः तदाकार करता है। और अंततः तदाकार के भाव से पूरित होकर स्वयं भी वही होने की अवस्था को प्राप्त कर लेता है। तब वह वेदान्त के अनुसार "अहं ब्रह्मास्मि' का वास्तविक दृष्टा हो जाता है। और साधक का यही भाव द्योतक है, कि अब उसका चित्त पूर्णतः वृत्तियों से मुक्त हो चुका है और यही योगदर्शन के इन वृत्ति निरोध के उपायों का लक्ष्य भी है।

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप इन उपायों के व्यवहारिक पक्ष से अवगत होने के साथ–साथ उनके क्रियान्वयन की प्रक्रिया को भी भलिभांति जान गये होगें और यही हमारा लक्ष्य भी था। अब इस चर्चा को यहाँ समाप्त करते है और आशा करते है कि आप विषय

को भलि प्रकार से समझ गये होगें और उक्त विषय पर इस जानकारी से अतिरिक्त जानकारी का संकलन भी अवश्य करेगें।

4.5 पारिभाषिक शब्दावली :

1.	अनुष्ठान	–	धार्मिक कार्य
2.	ऐहिक	–	सांसारिक
3.	अवशिष्ट	–	बचा हुआ
4.	अव्यक्त	–	जो बताया न जा सके
5.	परिकर्म	–	पूर्व कर्म या सहायक कार्य
6.	निस्तरंग	–	बिना किसी हलचल के या तरंगहीन
7.	नैसर्गिक	–	स्वभाविक

4.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर :

(उत्तर) अभ्यास प्रश्न भाग–1

1. (क) योग साधकों की तीन श्रेणीयाँ है।
   (1) उत्तम (2) मध्यम (3) अधम
   (ख) उत्तम श्रेणी के साधक पूर्वजन्म से ही योग मार्ग पर बहुत आगे निकल चुके होते हैं। और वर्तमान में पूर्वजन्म में छोड़ी गयी योग साधना को लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए प्रयत्न करते हैं।
   (ग) सम्पूर्ण चित्त वृत्तियों का निरोध ही योग का अंतिम लक्ष्य है।

(उत्तर) अभ्यास प्रश्न भाग–2

1. (क) अभ्यास, वैराग्य (ख) अभ्यास (ग) धैर्य
2. (क) महत्सेवा (ख) तप (ग) स्थिरता

(उत्तर) अभ्यास प्रश्न भाग–3

1. (क) सत्य (ख) सत्य (ग) असत्य
2. (क) वशीकार (ख) असम्प्रज्ञात

(उत्तर) अभ्यास प्रश्न भाग–4

1. (क) क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से मुक्त पुरुष विशेष ही ईश्वर है।
   (ख) क्रिया योग के अंग – तप, स्वाध्याय व ईश्वर प्रणिधान हैं।
   (ग) ईश्वर प्रणिधान से तात्पर्य भक्तियोग है।
2. (क) नियम (ख) प्रणव (ग) ईश्वर।

(उत्तर) अभ्यास प्रश्न भाग–5

1. (क) प्रसन्न (ख) अमर्ष (ग) ईर्ष्या
2. (क) असत्य (ख) सत्य (ग) सत्य

(उत्तर) अभ्यास प्रश्न भाग–6

1. (क) प्राणायाम के चार प्रकार है –
   (i) बाह्य वृत्ति प्राणायाम
   (ii) आभ्यन्तर वृत्ति प्राणायाम
   (iii) स्तम्भ वृत्ति प्राणायाम
   (iv) बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी प्राणायाम

   (ख) श्वास प्रश्वास की गति का विच्छेद करना ही प्राणायाम है।

2. (क) अभ्यान्तर वृत्ति
   (ख) विज्ञान भिक्षु
   (ग) देश

(उत्तर) अभ्यास प्रश्न भाग–7

1. (क) शब्द (ख) दिव्य स्पर्श

2. (क) असत्य (ख) असत्य (ग) सत्य

(उत्तर) अभ्यास प्रश्न भाग–8

1. (क) दो (ख) आकाश (ग) शोक रहित और प्रकाशवान।

2. (क) वाचस्पति मिश्र (ख) निस्तरंग समुद्र (ग) हृदय कमल पर

(उत्तर) अभ्यास प्रश्न भाग–9

1. (क) सत्य (ख) सत्य (ग) सत्य

(उत्तर) अभ्यास प्रश्न भाग –10

1. (क) तम (ख) सात्विक स्थान (ग) ज्ञान

(उत्तर) अभ्यास प्रश्न भाग –11

1. (क) धारणा किये गये विषय पर एकतानता ही ध्यान है।

   (ख) ध्यान के तीन प्रकारों का वर्णन किया गया है।

   (1)स्थूल (2) ज्योति (3) सूक्ष्म

   (ग) जिस विषय के प्रति साधक के मन में सर्वाधिक श्रद्धा हो वह विषय आभीष्ट विषय होता है।

2. (क) छठे प्रकरण में

   (ख) ज्योति ध्यान

   (ग) सूक्ष्म ध्यान

4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. श्री वास्तव, डॉ॰ सुरेशचन्द्र,(2008) पातंजलयोग दर्शनम्, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी

2. मिश्र, डॉ॰ जगदीशचन्द्र, (2008) भारतीय दर्शन, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी

3. दासगुप्त, सुरेन्द्रनाथ (2008) भारतीय दर्शन का इतिहास भाग–1 अनु॰ कलानाथ शास्त्री व सुधीर कुमार, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

4. तीर्थ, स्वामी ओमानंद, (सम्वत्–2054), पातंजल योग प्रदीप, गीता प्रेस, गोरखपुर

4.8 सहायक/उपयोगी पाठय सामग्री :

1. योगभ्यास का मूलाधार, लेखक – स्वामी शिवानंद, प्रकाशक – दिव्य जीवन संघ प्रकाशन

2. योगदर्शन, लेखक– परमहंस निरंजनानंद, प्रकाशक – श्री पंचदशनाम परमहंस अलखबाड़ा, बिहार

3. कल्याण का योगांक, प्रकाशक – गीताप्रेस गोरखपुर

4. विवेकानंद साहित्य, भाग 3 व 4, प्रकाशक – अद्वैत आश्रम, कोलकत्ता

5. योग मीमांसा, त्रैमासिक शोध पत्रिका, प्रकाशक – कैवल्य धाम लोनावला, महाराष्ट्र

6. http://hinduebooks.blogspot.com

7. http://www.hindudharmaforums.com

8. http://sanskritdocuments.org

9. http://archive.org

4.9 निबन्धात्मक प्रश्न :

प्रश्न 1. चित्त वृत्ति निरोध के उपायों से आप क्या समझते हैं स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 2. अभ्यास एवं वैराग्य का विस्तार से वर्णन कीजिए।

प्रश्न 3. ईश्वर प्रणिधान किस प्रकार चित्त वृत्ति निरोध में सहायक है स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 4. भावना चतुष्टय एवं प्राणायाम का भेदों सहित वर्णन कीजिए।

प्रश्न 5. विषयवती एवं ज्योतिष्मती प्रवृत्ति का साधक के चित्त पर क्या प्रभाव पड़ता है स्पष्ट करें।

प्रश्न 6. वीतराग विषय चित्त तथा स्वप्ननिद्राज्ञानावलम्बन चित्त वृत्तियों का निरोध करने में किस प्रकार सहायक हैं। स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 7. यथाभिमत ध्यान क्या है? विस्तार से व्याख्या कीजिए।

इकाई 5 योग अन्तराय विक्षेप सहभुव

5.1 प्रस्तावना

5.2 उद्देश्य

5.3 विक्षेप एक परिचय एवं सविस्तार वर्णन

5.4 सहविक्षेप/विक्षेप सहभुव

5.5 सारांश

5.6 शब्दावली

5.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

5.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

5.9 निबन्धात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

इससे पूर्व आपने योग विषयक विभिन्न ज्ञान अर्जित किया, इस इकाई में आप चित्त में उत्पन्न हुये विभिन्न भावनात्मक, शारीरिक एवं अन्य उपद्रवों के विषय में जानेंगे।

इस इकाई में आप जानेंगे कि किस प्रकार शारीरिक भावनात्मक व अन्य उपद्रव शरीर व मन को असन्तुलन की अवस्था में लाकर साधना बाधित करते हैं।

5.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में आप–

- विक्षेप अथवा अन्तराय कितने प्रकार के व कौन–कौन से हैं? जानेंगे
- शारीरिक अन्तराय के विषय में जानेंगे।
- मानसिक व्यवधानों के विषय में जानेंगे।
- आप जानेंगे कि साधक को उच्च अवस्था प्राप्त करने में कौन–कौन–सी बाधाएँ उत्पन्न होती है?
- इन व्यवधानों के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों के मत जानेंगे।

5.3 विक्षेप

महर्षि पतंजलि ने योग मार्ग में आने वाली बाधाओं की मुख्य संख्या नौ बताई है, जो इस प्रकार है–

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरति भ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थित्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।(पा.यो.सू. 1.30)

व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व, अनवस्थित्व ये चित्त के नौ विक्षेप अर्थात् विघ्न हैं। व्यासभाष्य के अनुसार चर्चा निम्न प्रकार है–

व्याधि– धातु, रस तथा इन्द्रियों की विषमता।

स्त्यान– चित्त की अकर्मण्यता।

संशय– उभयदिक्स्पर्शी विज्ञान, जैसे 'यह ऐसा है या ऐसा नहीं है।'

प्रमाद– समाधि के साधनसमूह की भावना न करना।

आलस्य– शरीर तथा चित्त की गुरुतावश अप्रवृत्ति।

अविरति– विषय सन्निकर्ष के लिये अथवा विषयों के भोग की लालसा की भावना करना।

भ्रान्तिदर्शन– विपर्यय ज्ञान।

अलब्धभूमिकत्व– समाधि भूमि का न मिलना।

अनवस्थितता– उपलब्ध भूमि पर चित्त का न ठहरना।

आगे हम विचार से उपरोक्त विक्षेपों अथवा अन्तरायों पर चर्चा करेंगे–

रुग्ण शरीर किसी भी कार्य के लिये उपयोगी नहीं होता। अतः रुग्णता को दूर करना अत्यन्त आवश्यक है। 'उपद्रवांस्तथा रोगान् हितजीर्णमिताशनात्'(शान्तिपर्व 174.8) अर्थात् कायिक उपद्रवों तथा रोगों को हित, जीर्ण होने के बाद कृत तथा परिमित आहार के द्वारा दूर करना चाहिये। यहाँ कायिक उपद्रव अर्थात् मूल रोग के उत्पन्न होने पर जो उत्पन्न होते हैं, वे उपद्रव हैं। साधारण भाषा में इन्हें complications तथा squelae कह सकते हैं। चरक और सुश्रुत एवं भावप्रकाश ने भी कहा है कि रोगारम्भक दोष के प्रकोप से उत्पन्न होने वाला विकार उपद्रव है। व्याधि के नाश के लिये उपद्रवों को शान्त करना ही प्रथम करणीय उपाय है।

योग के अनुसार रोग के कारणों की व्याख्या की जाये तो स्वामी निरंजनानन्द की व्याख्या अत्यन्त सटीक जान पड़ती है– स्वामी जी के अनुसार शारीरिक असन्तुलन और रोग के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं–

1. जैविक अभिकर्ता, जिसके अन्तर्गत आते हैं–

(क) विषाणु, जीवाणु, संक्रमण आदि।

(ख) परजीवी (आन्तरिक और बाह्य)।

(ग) सर्प, कीट आदि।

2. जलवायु एवं पर्यावरण से सम्बन्धित कारक–

(क) अत्यधिक गर्मी, ऊँचाई आदि।

(ख) वायु, जल, ध्वनि, मृदा आदि प्रदूषण।

(ग) खाद्य पदार्थों का संदूषण, कृत्रिम खाद्य पदार्थ आदि।

3. अभिघात अर्थात् पुराना स्थितिज अभिघात सहित जैसे बैठने, उठने का सही ढंग न होना।

4. व्यसन एवं औषध का अत्यधिक सेवन।

5. पोषणज असन्तुलन।

6. बढ़ती उम्र की प्रक्रिया के कारण भी रोग अथवा व्याधि आ घेरती है।

7. अनुवांशिक घटक

ये सात मुख्य बिन्दु अथवा कारण हैं जो शरीर को व्याधिग्रस्त कर सकते हैं एवं असन्तुलन उत्पन्न करते हैं। असन्तुलन के इन शारीरिक कारणों को दूर करने के लिये योग में हठयौगिक ग्रन्थों में अनेक उपाय बताये गये हैं। सूक्ष्म कीटाणुओं एवं विषाणुओं जैसे जैविक अभिकर्ताओं द्वारा उत्पन्न रोगों के लिये यौगिक षट्कर्म करने चाहिये। जिसमें नेति, नौलि, त्राटक, कपालभाति, वस्ति एवं धौति क्रिया आते हैं। धौति क्रिया द्वारा पूरी आहारनाल की सफाई होती है, वस्ति क्रिया वायु विकार को दूर करता है, नेति आँख, नाक, गले के रोगों में रामबाण है। त्राटक मस्तक एवं नेत्र रोगों के लिये एवं कपालभाति क्रिया पूरे कपालक्षेत्र के दोषों का निवारण करती है।

स्वस्थ रहने के लिये आहार संयोजन अत्यन्त आवश्यक है। सन्तुलित आहार स्वस्थ जीवन की धुरी है। अतः आहार का सन्तुलित होना अच्छे स्वास्थ्य के लिये आवश्यक है। योग के दृष्टिकोण से देखा जाये तो पाचन का सम्बन्ध मणिपुर चक्र से है और यह सम्बन्ध पारस्परिक भी है मणिपुर के सन्तुलित रहने पर पाचन ठीक होगा एवं पाचन के ठीक होने पर मणिपुर ठीक रहेगा, हम ऐसा भी कह सकते हैं।

अभिघात अथवा पुराने स्थितिज अभिघात के लिये योग व्यक्ति को अपनी शारीरिक स्थिति के प्रति सजग रहने एवं आसन, प्राणायाम करने की बात करता है। आवश्यकता से अधिक औषध प्रयोग भी शरीर को नुकसान पहुँचाता है एवं धीरे–धीरे शरीर को कमजोर बनाता है। अतः सामान्य समझदारी एवं संयम का परिचय अत्यन्त आवश्यक है। आनुवांशिक विशेषताएँ एवं त्रुटियाँ एक ऐसा क्षेत्र है जिस पर विजय प्राप्त करना आसान कार्य नहीं है। योग के क्षेत्र में निरन्तर अभ्यास और वैराग्य से यह संस्कार कट सकता है। गुरुकृपा और साधना ही इसका उत्तर बन सकता है।

मानसिक असन्तुलन–

असन्तुलन और रोग के मानसिक कारण निम्नवत् हैं–

1. आन्तरिक द्वन्द्व, इनकी उत्पत्ति भय, चिन्ता, परेशानी, तनाव से होती है जो मनोग्रन्थि का रूप बनकर चित्त में जम जाते हैं।
2. भावनात्मक प्रतिक्रियाऐं– जैसे अति प्रसन्नता, अति दुःख, क्रोध, घृणा, ईर्ष्या अथवा परिस्थिति जन्य मनोभाव।
3. अहङ्कार से सम्बन्धित समस्याऐं, जैसे जीवन की विभिन्न परिस्थितियों के प्रति गलत धारणा रखना, वर्तमान परिस्थितियों को स्वीकार न कर पाना।
4. मनोकायिक समस्याऐं– इच्छाओं एवं वासनाओं का दमन अथवा अतिभोग की स्थिति से उत्पन्न शारीरिक या मानसिक रोग उत्पत्ति।
5. मनोविकृति जैसे उन्माद, मतिभ्रम, अवसाद, संभ्रान्ति आदि।
6. निम्न बौद्धिक स्तर, अनिर्णय क्षमता, भ्रान्ति आदि।
7. अति भावनात्मक या बौद्धिक दृष्टिकोण।

मानसिक तनाव सामंजस्य न बिठा पाने के कारण उत्पन्न होता है। जब हम परिस्थितियों के प्रति स्वयं को ढाल नहीं पाते या हम चाहते हैं कि सब हमारे अनुसार हों और ऐसा नहीं हो पाता तो तनाव उत्पन्न होता है। सामान्यतः प्रतिक्रिया की जाती है और यदि मनुष्य केवल क्रिया–प्रतिक्रिया में ही उलझ जाये तो वास्तविकता का ज्ञान नहीं हो पाता है और यही तनाव का मुख्य कारण होता है। सर्वप्रथम व्यक्ति प्रतिक्रिया करता है उसके उपरान्त सोचता है कि उसने क्या किया अर्थात् विश्लेषण करता है। यहाँ पर योग के अनुसार प्रत्याहार के सहारे से स्वयं को प्रतिक्रिया की क्रिया से रोक सकते हैं क्योंकि प्रतिक्रिया ही संस्कार का कारण बनती है। यदि भावनात्मक प्रतिक्रिया होती है तो भावनात्मक संस्कार बनते हैं और भावनात्मक असन्तुलन उत्पन्न होता है। यदि वैचारिक प्रतिक्रिया होती है तो मानसिक असन्तुलन उत्पन्न होता है।

मानसिक असन्तुलन अहम् भावना की प्रधानता के कारण होते हैं मानसिक आयाम में अहम् वृत्ति अति सक्रिय रहती है। योग के अनुसार अहङ्कार से ग्रस्त तथा सुख–दुःख, सफलता–असफलता से जुड़ाव रहने के कारण 90प्रतिशत से अधिक समस्याऐं उत्पन्न होती हैं। वर्तमान की अस्वीकृति, परिस्थितियों के प्रति एवं स्वयं के प्रति गलत विचारों का निर्माण, क्रोध, ईर्ष्या, घृणा, उदासीनता की प्रतिक्रियाऐं, द्वन्द्व, भय, चिन्ता, विकर्षण आदि के रूप में प्रतिक्रियाओं की वापसी के कारण भी वे उत्पन्न होती हैं।

प्रत्याहार इन सभी मनोग्रन्थियों से बाहर निकालने में सक्षम उपाय सिद्ध होता है, अतः साधक को इसका अभ्यास निरन्तर करते रहना चाहिये।

प्राणिक असन्तुलन–

कारण निम्नवत् हैं–

1. सम्पूर्ण प्राणिक तन्त्र का असन्तुलन–

(क) ऊर्जा का स्तर अतिसक्रिय हो या

(ख) ऊर्जा का स्तर अति निम्न हो।

2. इड़ा और पिंगला के प्रवाह का असन्तुलन। इस असन्तुलन से निम्न समस्याऐं उत्पन्न होती हैं–

(क) तापक्रम में परिवर्तन (गर्म या ठण्डा)

(ख) मन/शरीर में असंगता।

(ग) मानसिक/शारीरिक विकास में मन्द गति।

(घ) अन्तर्मुखता/ बहिर्मुखता।

(ङ) एकाग्रता, स्मृति एवं निद्रा की समस्याऐं।

3. प्राणिक प्रवाह में अवरोध– इस कारण अन्तस्रावी असन्तुलन, तन्त्रिका–पेशीय अभिघात, मिरगी आदि रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

4. सुषुम्ना अवरोध से चेतना का विकास बाधित होता है।

इन सभी प्राणिक अवरोधों को समझने के लिये सतत प्रयास और समझ की आवश्यकता होती है क्योंकि शारीरिक अथवा मानसिक परिवर्तनों के ये कारण हो भी सकते हैं और नहीं भी हो सकते हैं। कारणों का पता निरन्तर गहन दृष्टि अथवा सूक्ष्म अनुभवों को पहचानने की क्षमता से ही उत्पन्न होते हैं।

उपरोक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि शारीरिक, मानसिक और प्राणिक असन्तुलन जीवन को निश्चित रूप से बाधित और विकास से रोक देते हैं जो किसी भी दृष्टि से ठीक नहीं होते हैं। अतः यहाँ बात समझ बनाये रखने की है। यदि साधक सामान्य समझ बनाये रखे तो अधिकांश मानसिक या अन्य बाधाओं से आसानी से बचा रहकर अबाधित अपनी साधना आगे बढ़ा सकता है।

अब हम स्त्यान पर चर्चा करते हैं–

स्त्यान– यह चित्त की अकर्मण्यता की स्थिति है और यदि आप मानसिक रोग के कारणों को ध्यानपूर्वक समझेंगे तो यह स्थिति समझ सकेंगे। साधक इच्छा होने पर भी किसी कार्य को करने में समर्थ नहीं हो पाता। यह स्थिति मानसिक बल के कमजोर होने की स्थिति की परिचायक है। इसके लिये साधक को छोटे–छोटे संकल्प लेकर उन्हें पूर्ण करने का अभ्यास करना चाहिये।

संशय– योग साधना के दौरान, साधक अक्सर इस मानसिक स्थिति से गुजरता है। संशय स्वयं पर हो सकता है, संशय साधना पद्धति पर हो सकता है, यहाँ तक सम्भव है कि संशय गुरुकृपा पर भी हो जाए। स्वयं पर संशय उन परिस्थितियों में हो सकता

है जब आन्तरिक परिस्थितियों में सामंजस्य न स्थापित कर पा रहा हो। यह स्थिति आसानी से नियन्त्रित हो सकती है तब, जब कि साधक द्रष्टा बनकर देखने का प्रयास करे। कई बार शारीरिक व मानसिक रोगों की अवस्था में भी स्वसंशय की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। हठयोग, विशेषकर षट्कर्मो की साधना में दबे हुए रोग उभर कर सामने आते हैं। इस अवस्था में धैर्य, साहस एवं उत्साह, योग्य गुरु के निर्देशन में यह अवस्था अधिक दिनों तक नहीं रहती है। कई बार लम्बी साधना करने के बाद भी जब साधक यह देखता है कि उसकी साधना सफल नहीं हो पा रही है तो वह साधना पद्धति पर ही संशय करने लगता है तथा कई बार वह अपना साधना पथ ही बदल देता है। यह स्थिति ठीक वैसी है जैसे एक आतुर व्यक्ति, अधैर्यशील होकर कई जगहों पर खोदता है परन्तु जल की एक बूँद भी नहीं पाता है। यहाँ पर एक कहानी के माध्यम से हम इस बात को और अच्छी तरह समझ सकते है। दस वर्ष की गायत्री साधना के पश्चात् भी वांछित सफलता न मिल पाने के कारण एक साधक किसी के कहने पर भैरव साधना में लीन हो गया। एक माह की ही साधना करने पर श्री भैरव प्रकट हो गये, परन्तु साधक के सम्मुख नहीं आए। कारण पूछने पर ज्ञात हुआ कि पिछली साधना से अर्जित बल से, तेज से भैरव सम्मुख नहीं आ पा रहे थे। साधक खिन्नावस्था में अपनी अधोगति पर पछताता है। अतः साधना लगातार संशय रहित होकर पूर्व मनोयोग से करते रहनी चाहिये। संशय साधना में बाधक है इसे मन में नहीं आने देना ही श्रेयस्कर है।

प्रमाद की अवस्था में जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है कि साधक समाधि के साधनों का अनुष्ठान नहीं कर पाता है। समाधि के साधन से अभिप्राय धारणा, ध्यान का साधन है। धारणा अर्थात् 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' पा.यो.सू. 3.1 अर्थात् किसी देश विशेष में चित्त को बाँध देना या लगा देना धारणा है। यहाँ पर देश से तात्पर्य बाह्य एवं आभ्यान्तर धारणा के विषय से है। यह देश बाह्य होने पर सूर्य चन्द्र, नक्षत्र, ईष्ट, गुरुमूर्ति का ध्यान एवं आभ्यान्तर होने पर चिदाकाश, चक्र, नाड़ी संस्थान हो सकता है।

ध्यान 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' पा.यो.सू. 3.2 इससे तात्पर्य यह है कि धारणा के विषय पर लगातार लगे रहने पर ध्यान की स्थिति उत्पन्न होती है। तैलधारावत् सजगता ही ध्यान में परिवर्तित होती है।

साधक धारणा, ध्यान की साधना का अनुष्ठान यदि कभी–कभी यन्त्रवत् भी कर ले तो इस प्रमाद की स्थिति से आसानी से निकला जा सकता है।

आलस्य वह स्थिति है जिसमें साधक का शरीर व मन दोनों विभिन्न कारणों से, विशेष रूप से कफ कुपित होने पर भारी हो जाते हैं और साधक योग साधना में प्रवृत्त नहीं हो पाता। प्रमाद और आलस्य परस्पर साझी की तरह कार्य करते हैं। अतः नियमितता इसका एक उपाय है और भोजन में साधारण परिवर्तन करके भी आलस्य की स्थिति से उबरा जा सकता है।

अविरति अर्थात् सांसारिक विषयवस्तुओं में राग या आसक्ति की भावना। राग में जकड़े होने के कारण हमारी चेतना निम्न तल पर ही रह जाती है तथा उसके उत्थान की सम्भावना अत्यन्त क्षीण हो जाती है क्योंकि वह द्वेष का कारण भी है जिससे आध्यात्मिक प्रगति की सम्भावना न्यून रह जाती है। राग व द्वेष एक सिक्के के दो पहलू हैं। गीता में स्पष्ट रूप से विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष की अधोगति का वर्णन किया गया है, यथा–

ध्यायतो विषयान्पुंस..... ।

.....प्रणश्यति।।(श्रीमद्भगवद्गीता 2.62–63)

विषयों का ध्यान करने वाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है। आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है और कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होती है। क्रोध से अत्यन्त मूढ़ भाव उत्पन्न हो जाता है। मूढ़ भाव से स्मृति में भ्रम हो जाता है। स्मृति में भ्रम हो जाने से बुद्धि अर्थात् ज्ञान शक्ति का नाश हो जाता है और बुद्धि का नाश हो जाने से यह पुरुष अपनी स्थिति से गिर जाता है।

यह स्थिति सामान्य से लेकर बुद्धिमान पुरुष तक देखी जा सकती है। योग के अनुसार अभ्यास और वैराग्य के द्वारा अविरति का भाव दूर किया जा सकता है। अभ्यास अष्टांग योग का और संसार से वैराग्य की भावना ही योग का दृष्टिकोण है।

भ्रान्तिदर्शन के विषय में आचार्य उदयवीर शास्त्री का मत है कि योग विषयक यथार्थता को अशुद्ध समझना, गुरु द्वारा बताये गये मार्ग को ठीक व उचित न समझना; अथवा योग की प्रारम्भिक सफलताओं में जो विविध दृश्य दिखाई देते हैं उनको भ्रम से पूरी सफलता समझ लेना। यहाँ पर विविध दृश्यों से तात्पर्य Hallucination अर्थात् इन्द्रियजनित मिथ्याज्ञान से है जिसमें विभिन्न आवाजों का सुनाई देना, अकल्पनीय दृश्य एवं इसी प्रकार के अनेक मति□भ्रम करने वाले विचार उत्पन्न होते हैं।

साधना में ये विचार यह भ्रम उत्पन्न करते हैं कि साधना अपने लक्ष्य तक पहुँच गई है। कई बार यह स्थिति अन्तःस्रावी गड़बड़ियों के कारण भी हो सकती है।

भ्रान्तिदर्शन मिथ्याज्ञान है जो कि वास्तविकता से परे है। यह स्थिति योगसाधना में एक बड़ी बाधा है प्राण साधना के द्वारा इस स्थिति से उबरा जा सकता है एवं साक्षी भाव की साधना इसका एक उपाय हो सकती है।

अलब्धभूमिकत्व, योगानुष्ठान करते हुये योग की किसी भूमि का प्राप्त न होना। मधुमती, मधुप्रतीका, प्रज्ञाज्योति, अतिक्रान्तभावनीय ये चार योग भूमि योग की अवस्था कही जाती हैं। क्रम पूर्वक होने वाले योग की सफलता के ये स्तर हैं। योग की सफलता के किसी स्तर को प्राप्त न होने पर अनुष्ठाता निराश होकर योगमार्ग को छोड़ बैठता है।

अनवस्थितत्व, योग की सफलता के किसी स्तर को प्राप्त कर लेने पर चित्त का पूर्णरूप से अवस्थित न होना। किसी समाधि भूमि की सफलता पर जब अनुष्ठाता को यह अनुभव होता है कि इस अवस्था में भी चित्तवृत्तियों का निरोध नहीं हुआ है, यह उभरती रहती है और व्यथित करती है; तब उसकी ऐसी भावना जाग्रत होने लगती है कि योग आदि सब मिथ्या है। योग विषयक सफलता मिल जाने पर भी जब वृत्तियाँ दुःखी कर रही हैं, तो इससे बनता बनाता कुछ नहीं। वह आगे यत्न करना छोड़ बैठता है।

ये नौ अन्तराय हैं जो योग के विभिन्न स्तरों पर योग साधक के सम्मुख आते रहते हैं जो चित्त को विक्षिप्त कर उसे मार्ग से च्युत कर देते हैं। ये चित्त के विक्षेप, अन्तराय या विघ्न बाधाऐं कहलाते हैं।

अभ्यास प्रश्न–

(अ) रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए–

1) विक्षेप ..... प्रकार के बताये गये हैं।
2) स्त्यान ..... की अवस्था है।
3) अविरति ..... में राग की अवस्था है।
4) षट्कर्मों में ..... कर्म शरीर की शुद्धि करता है।
5) मानसिक असन्तुलन ..... भावना की प्रधानता के कारण होते हैं।

(ब) सही / गलत

1) प्रत्याहार सभी मनोग्रन्थियों को खोलने का माध्यम है।
2) पाचन का कार्य आज्ञा चक्र से सम्बन्धित है।
3) त्राटक कण्ठ सम्बन्धी विकार में सहायक है।
4) अन्तःस्रावी असन्तुलन प्राणिक असन्तुलन का उदाहरण है।
5) सुषुम्ना अवरोध से चेतना का विकास बाधित होता है।

5.4 सह–विक्षेप या विक्षेप सहभुव

एक साधक अथवा योगी को विघ्न बाधाओं से हमेशा सतर्क रहना चाहिये व समय–समय पर स्व–निरीक्षण करते रहना चाहिये। जरा भी त्रुटि होने पर विक्षेप आ घेरते हैं एवं उनके साथ और भी अनेक साथी विघ्न उठ खड़े होते हैं। महर्षि ने इन्हें सहविक्षेप कहा है यथा–

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः।

(पा.यो.सू. 1.31)

दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व, श्वास, प्रश्वास ये सब पूर्वोक्त चित्तविक्षेपों के साथ–साथ उभरते रहते हैं। पूर्व सूत्र में बताये गये व्याधि, स्त्यान आदि नौ अन्तरायों के– ये दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व, श्वास, प्रश्वास पाँच सहचर हैं। साधना अथवा जीवन के विभिन्न स्तरों पर उभरकर ये बाधाऐं उत्पन्न करते रहते हैं। इनका विस्तृत विवरण आगे किया जा रहा है–

दुःख– अपने प्रतिकूल अनुभव का नाम ही दुःख है। साधारण मनुष्य के लिये सांसारिक विषय सुख भोग दुःख की श्रेणी में नहीं आते हैं, परन्तु योगी जानते हैं कि इस क्षणभंगुर संसार में सुख दुःख को साथ लेकर चलता है। सुख केवल आभास है वास्तविक नहीं है।

महर्षि पतंजलि ने दुःख को परिभाषित करते हुये साधनपाद में कहा है–

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिन।

(पा.यो.सू. 2.15)

परिणाम दुःख, ताप दुःख और संस्कार दुःख– ऐसे तीन प्रकार के दुःख सब में विद्यमान रहने के कारण और तीनों गुणों की वृत्तियों में परस्पर विरोध होने के कारण विवेकी के लिये सब के सब दुःखरूप ही हैं।

(A) परिणाम दुःख– सम्पूर्ण सांसारिक विषय सुख अन्त में दुःख ही हैं। इन सब सुखों का परिणाम दुःख है। विषय सुख के अनुभव से उस विषय के प्रति राग उत्पन्न हो जाता है। जिस विषय से व्यक्ति को सुख प्राप्त होता है, उस विषय के प्रति व्यक्ति को राग उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। राग पंचक्लेशों में से एक प्रमुख क्लेश है। सुख का अनुभव रागयुक्त होता है और रागयुक्त सुख का अनुभव राजस् होने से पाप–पुण्य कर्माशय का कारण है। जब रागयुक्त विषय सुख से पाप उत्पन्न होता है तथा पाप से दुःख की उत्पत्ति होती है, तो जितने भी विषय सुख हैं, वे अन्त में दुःख को ही उत्पन्न करने वाले होते हैं, ऐसा हम कह सकते हैं। अतः सुखों का परिणाम भी दुःख ही होता है।

भोग से कभी तृप्ति नहीं होती। भोग तो तृष्णा को बढ़ाने वाला होता है तथा तृष्णा से अन्ततोगत्वा दुःख उत्पन्न होता है। संसार के सभी विषय भोग, भोग लिये जाने पर भी आग में घी के समान और अधिक भोग की इच्छा उत्पन्न करते हैं। इस भोग तृष्णा से ही दुःख होता है। तृष्णा कभी शान्त नहीं होती है जैसा कि योगवासिष्ठ में कहा गया है–

जीर्यन्ते जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः।

क्षीयते जीर्यते सर्वं तृष्णैका हि न जीर्यते।।(योगवासिष्ठ 6.2.93.26)

(B) ताप दुःख– विषय सुख के समय साधनों की कमी से चित्त में जो दुःख होता है, वह ताप दुःख है। सभी प्रकार के भोगरूप सुख विनाशशील हैं; उनसे वियोग होना निश्चित है, अतः भोगकाल में उनके विनाश की सम्भावना से भय के कारण ताप दुःख बना रहता है। यह परिणाम दुःख के ही समान है। परिणाम दुःख में रागजन्य कर्माशय होते हैं और ताप दुःख में द्वेषजन्य कर्माशय होते हैं। मनुष्य सुख साधनों के लिये मन, वचन एवं कर्म से यत्न करता है जिसके कारण लोभ तथा मोह से वशीभूत होकर न जाने कितने ही धर्म व अधर्मयुक्त कर्म कर बैठता है। भविष्य में होने वाले दुःख की सम्भावना में डरकर वर्तमान के दुःख को भी नहीं भोग पाता है।

तापदुःख और परिणाम दुःख दोनों एक से प्रतीत होते हैं, किन्तु भोगी को परिणाम दुःख का ज्ञान नहीं होता है, उसे तो भोगकाल में ताप दुःख का ही ज्ञान हो पाता है। परिणाम दुःख का ज्ञान योगी जनों को ही होता है।

(C) संस्कार दुःख– विभिन्न भोगों को भोग कर मनुष्य को सुख का अनुभव होता है, यह अनुभव ही संस्कार बनता है। जब उन भोग सामग्रियों से उसका वियोग हो जाता है, तब वे संस्कार पहले के सुख भोग की स्मृति द्वारा महान् दुःख के हेतु अर्थात् कारण हो जाते हैं। अनुभव से संस्कार तथा संस्कारों से स्मृति उत्पन्न होती है। जैसे अनुभव होंगे संस्कार भी वैसे ही होंगे। सुख–दुःख अनुभव के द्वारा सुख–दुःख संस्कार; सुख–दुःख संस्कार के द्वारा वैसी ही स्मृति; इस स्मृति से उनमें राग; राग के कारण पुनः पाने की इच्छा; चेष्टा ही अच्छे–बुरे कर्म करवाती है; इनसे पुण्य–पाप की उत्पत्ति और जिनके भोगने के लिये पुनः जन्म निश्चित हो जाता है और यह चक्र पुनः–पुनः इसी प्रकार चलता रहता है। सुख–दुःख के अनुभव से उत्पन्न संस्कार, दुःख को ही उत्पन्न करते हैं इन्हें ही संस्कार–दुःख कहा जाता है। भोगी को ये तीनों ही दुःख स्पष्ट रूप से नहीं दिखाई देते, वह सुख की लालसा में दुःख ही भोगता रहता है परन्तु योगी इस रहस्य को जानकर तृष्णा का पूर्ण त्याग करता है। भोगी के ज्ञात त्रिविध दुःखों में (1) आधिभौतिक (2) आधिदैविक (3) आध्यात्मिक दुःख कहे जाते हैं। आध्यात्मिक दुःख शारीरिक तथा मानसिक भेद से दो प्रकार के कहे जाते हैं। शारीरिक दुःख (1) नैसर्गिक तथा (2) त्रिदोष (वात, पित्त एवं कफ) जन्य होते हैं।

आधिभौतिक दुःख बाह्य विषयों द्वारा दिये गये कहे जा सकते हैं जैसे सर्पदंश से प्राप्त दुःख, आदि आधिदैविक दुःख भी बाह्य हैं परन्तु ये बाह्य अपूर्व उच्चशक्तियों द्वारा दिये गये दुःख हैं, जैसे आँधी, तूफान, भूकम्प, दुर्भिक्ष, ग्रह नक्षत्रों आदि कारणों से उत्पन्न होने वाले दुःख आधिदैविक दुःख कहे जाते हैं।

अब हम आगे दौर्मनस्य को समझेंगे–

दौर्मनस्य– इच्छा की पूर्ति न होने पर अथवा उसमें कोई बाधा आ जाने पर मन में जो क्षोभ उत्पन्न होता है, उसे दौर्मनस्य कहते हैं। इस विघ्न के उत्पन्न होने पर अभ्यासी की योग में प्रवृत्ति अत्यन्त कठिन हो जाती है, परन्तु एकाग्रचित्त साधक इससे बाहर निकल आते हैं।

अङ्गमेजयत्व– शरीर के अङ्गों का कम्पित– हिलना, डुलना अङ्गमेजयत्व है। यह कम्पन वात कुपित होने के कारण भी हो सकता है अथवा आसनों की सिद्धि न हो पाने में कारण भी। यह योगानुष्ठान में बाधक है। अतः अभ्यङ्ग द्वारा, उचित आहार एवं आसनाभ्यास द्वारा अङ्गमेजयत्व को ठीक करना चाहिये।

श्वास– नासिकारन्ध्र द्वारा बाहर से वायु का अन्दर प्रवेश होना 'श्वास' कहा जाता है। साधक की इच्छा के विरुद्ध जब श्वास बाहर से भीतर आ जाये, तो यह अभ्यासी के लिये अनुकूल नहीं है। समाधि में यह 'श्वास' की क्रिया भी बाधक होती है।

प्रश्वास– देह के अन्दर से बाहर की ओर वायु का निकलना 'प्रश्वास' है। यह भी साधक के इच्छा के विपरीत हो तो बाधक कहलाता है।

यद्यपि श्वास–प्रश्वास की गति स्वाभाविक होती है परन्तु कभी–कभी रोग विशेष के कारण यह तीव्र या मन्द हो जाती है जो कि योग साधना में बाधक होती है,

प्राणायाम आदि के बीच में यदि ये बाधाएँ आती हैं तो साधक नहीं बढ़ पाता है। अतः उचित आहार–विहार, औषध आदि से इनको ठीक कर लेना चाहिये।

ये दुःख आदि बाधाएँ प्रायः उसी समय बाधा बनती हैं, जब साधक विक्षिप्त चित्त की अवस्था में रहता है, अर्थात् वह मुख्य नौ बाधाओं या अन्तरायों से जूझ रहा होता है। इसी कारण इन्हें 'विक्षेप सहभुव' कहा गया है।

आगे महर्षि 32वें सूत्र में इन सहविक्षेपों से बचने के लिये एक तत्व के अभ्यास का उपाय बताते हैं। यह 'एकतत्व' 'ईश्वर' को कहा गया है।

अभ्यास प्रश्न

(स) रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए–

1) दुःख..... प्रकार के बताये गये हैं।
2) सहविक्षेप ..... प्रकार के बताये गये हैं।
3) श्वास और प्रश्वास भी ..... में बाधक कहे गये हैं।
4) भोगी के लिये ..... दुःख ही दुःख की श्रेणी में आते हैं।
5) परिणाम दुःख में .....कर्माशय होते हैं।

5.5 सारांश

विक्षेप व सहविक्षेप केवल साधारण जनों को भ्रमित नहीं करते बल्कि योगीजनों के जीवन में भी इनका प्रभाव रहता है। अन्तर इतना है कि योगी समझ रखते हुये उन्हें साक्षी भाव से आने और जाने देता है कष्टों को पकड़ के नहीं रखता और न ही कारणों का निर्माण करता है। यदि हमको संसार में सुख और शान्ति का जीवन व्यतीत करना है तो सदैव उन मनोविकारों को नियन्त्रण में रखना है जो हमारे मानसिक सन्तुलन को नष्ट करते हैं, हमें एकांगी बनाते हैं और हमें पतन की ओर ले जाते हैं। सुख और दुःख संसार में अवश्यम्भावी हैं। प्रकृति त्रिगुणात्मक है; वृत्तियाँ संसार चक्र में डालेंगी ही। अतः समझ को बनाये रखना ही एकमात्र उपाय है। अभ्यास और वैराग्य एवं चित्तशुद्धि के उपायों का सहारा लेकर आगे बढ़ना ही श्रेयस्कर मार्ग है।

5.6 शब्दावली

अभ्यंग	तैल मालिश

5.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर–

विक्षेप

(अ)

1–9 2. चित्त की अकर्मण्यता 3. संसार 4.धौति 5. अहं

(ब)

1– सही 2– गलत 3–गलत 4–सही 5–सहविक्षेप

(स)

1–तीन 2–पाँच 3–समाधि 4–ताप 5–रागजन्य

5.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. पातंजल योगप्रदीप	स्वामी ओमानन्द तीर्थ, गीता प्रेस गोरखपुर
2. योगांक(10वां वर्ष)	गीता प्रेस, गोरखपुर
3. योगदर्शन	आचार्य उदयवीर शास्त्री (आर्य साहित्य भवन)
4. पातंजल योगदर्शनम्	आचार्य राजवीर शास्त्री (आर्ष साहित्य प्रचार)
5. पातंजल योगदर्शन	श्रीमत् हरिहरानन्द आरण्य (मोतीलाल बनारसीदास)
6. योग मनोविज्ञान	श्री शान्ति प्रकाश आत्रेय (द इण्टरनेशनल स्टेण्डर्ड वाराणसी)
7. पातंजल योगदर्शन	डॉ. अश्वनी कुमार यादव (मनीष प्रकाश, वाराणसी)
8. सांख्यदर्शन व योगदर्शन	पं. श्रीराम शर्मा आचार्य (वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, हरिद्वार)
9. योगदर्शन	स्वामी निरञ्जनानन्द सरस्वती (योग पब्लिकेशन ट्रस्ट, मुङ्गेर, बिहार)
10. मुक्ति के चार सोपान	स्वामी सत्यानन्द सरस्वती (योग पब्लिकेशन ट्रस्ट, मुङ्गेर, बिहार)

5.9 निबंधात्मक प्रश्न

(1) विक्षेप से तात्पर्य स्पष्ट करते हुये प्रकारों का सूक्ष्म परिचय दें।

(2) व्याधि से आशय एवं प्रकारों की व्याख्या कीजिये।

(3) स्त्यान एवं संशय में अन्तर स्पष्ट करते हुए योगमार्ग में इनके बाधा होने का कारण बताइये।

(4) प्रमाद एवं आलस्य की स्पष्ट व्याख्या कीजिये।

(5) सहविक्षेप का तात्पर्य एवं सविस्तार व्याख्या कीजिये।

इकाई 6 चित्तप्रसादन के उपाय

6.1 प्रस्तावना

6.2 उद्देश्य

6.3 चित्त एक परिचय

6.3.1 चित्तस्वरूप

6.3.2 चित्तभूमि

6.4 चित्तशुद्धि के उपाय

6.5 सारांश

6.6 शब्दावली

6.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

6.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

6.9 निबन्धात्मक प्रश्न

6.1 प्रस्तावना

पूर्व में आपने योगविषयक विभिन्न तथ्यों को जाना व समझा। इस अंक में आप चित्त एवं शुद्धि के उपाय की जानकारी प्राप्त करेंगे। आप जानेंगे कि चित्त की विषयवस्तु क्या है और कैसे चित्त को नियन्त्रित एवं शान्त किया जा सकता है।

6.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में जानेंगे कि–

- चित्त का स्वरूप कैसा है?
- आप जानेंगे कि चित्त की भूमि कितनी व किस प्रकार की हैं।
- चित्त को समझना क्यों आवश्यक है? आप यह जानेंगे।
- चित्तशुद्धि के विभिन्न उपायों के विषय में जानेंगे।

6.3 चित्त एक परिचय

6.3.1 चित्त स्वरूप– चित्त शब्द की व्युत्पत्ति चित् धातु से हुई है जिसका अर्थ चेतन अथवा सचेत होने से है। अस्तु चित्त का तात्पर्य व्यक्ति चेतना से है जिसके अन्तर्गत चेतना के चेतन, अवचेतन एवं अचेतन स्तर सम्मिलित हैं। व्यक्ति चेतना के तीनों तलों की समग्रता की अभिव्यक्ति को ही 'चित्त' कहते हैं। महात्मा वसिष्ठ ने चित्त की कल्पना एक शान्त जलाशय से की है एवं उसमें उठने वाली तरंगें वृत्तियाँ हैं। चित्त वास्तव में शान्त है। चित्त के विभिन्न स्तरों अथवा आयामों में ही सब क्रियाकलाप चलते रहते हैं। चित्त का स्वरूप जानने के लिए चित्त की भूमियाँ आवश्यक हैं–

6.3.2 चित्तभूमि– चित्त की पाँच भूमियाँ हैं जो इस प्रकार हैं–

(क) मूढ़ अवस्था– तम प्रधान, सत्, रज गौण होते हैं।

(ख) क्षिप्त अवस्था– रज प्रधान अवस्था है।

(ग) विक्षिप्त अवस्था– सत्वप्रधान, रज् तम गौण हैं।

(घ) एकाग्र अवस्था– सत्वप्रधान एवं रज, तम अत्यन्त क्षीण होते हैं।

(ङ) निरुद्ध अवस्था– गुणातीत स्व में स्थित चित्त की अवस्था है।

6.4 चित्त शुद्धि के उपाय

चित्त शुद्धि के उपायों की परम आवश्यकता जानकर महर्षि ने समाधि पाद में 33 वें से लेकर 39वें सूत्र तक चित्त शुद्धि के उपायों का वर्णन किया है। जो कि आप आगे विस्तार पूर्वक पढ़ेंगे।

प्रथम उपाय के रूप में महर्षि कहते हैं–

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणाम् सुखदुखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।।
(पा.यो.सू. 1.33)

अर्थात् सुखी व्यक्ति से मैत्री भाव, दुखी से करुणा, दुष्टात्मा से उपेक्षा एवं पुण्यात्मा से प्रसन्नता का भाव चित्त की वृत्तियों को शान्त करता है।

महर्षि द्वारा की गई उपर्युक्त मनोभावों की पहुँच चित्त की गहराइयों तक है। चेतन, अवचेतन व अचेतन के तलों तक इस उपाय की पहुँच है। इन्द्रियजनित चेष्टाएं केवल बाह्य वातावरण की प्रतिक्रियाएं नहीं होतीं वरन् वे अधिकांशतः आन्तरिक जगत् की अभिव्यक्तियाँ होती हैं। यदि सुखी व्यक्ति को देखकर मन में जलन का भाव आये तो यह भाव केवल तात्कालिक हो ऐसा नहीं होता या इस प्रतिक्रिया का प्रभाव ही तात्कालिक होता है यह मानना भी गहरी भूल है। यह नकारात्मक भाव नकारात्मक संस्कार बनाता है व भीतर की नकारात्मकता को और अधिक पुष्ट करता है। ईर्ष्या,

घृणा, प्रतिस्पर्धा की भावना मन में गन्दगी उत्पन्न करती है। जब हम किसी को सुखी और सम्पन्न देखते हैं तो हमारे मन में सकारात्मक की अपेक्षा नकारात्मक भाव जल्दी आते हैं। यह ईर्ष्या, जलन का भाव अचेतन की शान्त परतों में हलचल व गड़बड़ी उत्पन्न कर देता है। इसके परिणामस्वरूप मन की एकाग्रता नष्ट हो जाती है। यह गड़बड़ी तब भी उत्पन्न होती है जब हम किसी दुश्मन को अभावग्रस्त व दुखी देखते हैं। हमें करुणा से भर जाना चाहिये, दुखी आत्मा को देखकर। पर हमारी करुणा तब समाप्त हो जाती है जब हमारा दुश्मन दुखी होता है हमारे मन के किसी कोने में हमें तसल्ली और प्रसन्नता का अनुभव होता है। यह भी एक प्रकार की मन की अशुद्धि है। दुष्ट व्यक्ति के बुरे कर्मों की प्रशंसा और पुण्यात्मा के अच्छे कर्मों को मात्र दिखावा समझना या आलोचना करना भी मन में हलचल व एकाग्रता का नाश करने वाला दुष्ट भाव है।

महर्षि ने इन व्यवधानों पर विजय पाने का मार्ग बताया है। मार्ग अत्यन्त मर्मस्पर्शी व मनोवैज्ञानिक है। इसमें चार विपरीत सद्गुणों को विकसित करने का उपाय बताया गया है। इससे साधक के मन में शान्ति का उदय होता है व साधक सन्मार्ग पर निर्बाध रूप से गमन कर सकता है। वर्तमान में मनोविज्ञान की कई शाखाओं द्वारा इस विधि को अपनाया गया है। विपरीत शुद्ध विचारों का लगातार अभ्यास साधक व सामान्यजन दोनों के अवचेतन मन को शुद्ध, बाधारहित और स्थिर करता है।

आचार्य उदयवीर शास्त्री के अनुसार, संसार में सुखी, दुखी, पुण्यात्मा और पापी आदि सभी प्रकार के व्यक्ति होते हैं। ऐसे व्यक्तियों के प्रति साधारणजन का अपने विचारों के अनुसार राग, द्वेष आदि उत्पन्न होना स्वाभाविक है। किसी व्यक्ति को सुखी देखकर दूसरे अनुकूल व्यक्ति का उससे राग हो जाता है, प्रतिकूल व्यक्ति को द्वेष व ईर्ष्या आदि। किसी पुण्यात्मा के प्रतिष्ठित जीवन को देखकर अन्य जन के चित्त में ईर्ष्या आदि का भाव उत्पन्न हो जाता है। उसकी प्रतिष्ठा व आदर को देखकर दूसरे अनेक जन मन ही मन जलन का भाव रखते हैं और सोचते हैं कि हमारा इतना आदर क्यों नहीं होता। यह ईर्ष्या का भाव है। इससे प्रेरित होकर ऐसे व्यक्ति पुण्यात्मा में अनेक मिथ्यादोषों का उद्भावन कर उसे कलंकित करने का प्रयास करते रहते हैं। इस प्रकार परनिन्दा की भावना असूया है। दुखी को देखकर प्रायः साधारणजन उससे दूर भागते हैं, उसे दुत्कारते व तिरस्कृत करते हैं। ऐसी भावना व्यक्ति के चित्त को व्यथित एवं मलिन बनाये रखती है। यह समाज की साधारण व्यावहारिक स्थिति है।

योगमार्ग पर चलने वाला साधक ऐसी परिस्थिति से अपने आपको सदा बचाये रखने का प्रयास करता है। साधक के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसका चित्त ईर्ष्या, असूया आदि मलों से सर्वथा रहित हो, यह स्थिति योग में प्रवृत्ति के लिये अनुकूल होती है। निर्मल–चित्त साधक योग में सफलता प्राप्त करने का अधिकारी होता है। सुखीजनों को देखकर उनके प्रति मित्रता की भावना बनानी चाहिये। मित्र के प्रति कभी ईर्ष्या आदि का भाव उत्पन्न नहीं होता है। दुखी जनों के प्रति सदा करुणा–दया का भाव, उनके प्रति सहानुभूति का भाव रखे। उनका दुख किस प्रकार कम हो सकता है इसका मार्ग खोजने का प्रयास करे। उनके लिये सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देने का कार्य करना ही व्यक्ति का धर्म होना चाहिये। ऐसा करने से मन में विक्षेप उत्पन्न नहीं होगा। दोनों के चित्त में शान्ति और सान्त्वना बनी रहेगी। इसी प्रकार पुण्यात्मा के प्रति हर्ष का अनुभव करना चाहिये। पुण्यात्मा योग मार्ग का पथिक होता है अत साधक

को अपने सहमार्गी के प्रति हर्ष का अनुभव होना ही श्रेयस्कर है। संसार में सन्मार्ग और सद्विचार के साथी मिलते रहें, तो इससे अधिक उत्साह व हर्ष बना रहता है, यह हर्ष का विषय है न कि आलोचना का। पापात्मा के प्रति साधक का उपेक्षाभाव उपयुक्त है। ऐसे व्यक्तियों को सन्मार्ग पर लाने के प्रयास प्राय विपरीत फल देने वाले होते हैं। पापी पुरुष अपने हितैषियों को भी उनकी वास्तविकता को न समझते हुये, हानि पहुँचाने और उनके कार्यों में बाधा डालने के लिये प्रयत्नशील बने रहते हैं। इसलिये ऐसे व्यक्तियों के प्रति उपेक्षा, उदासीनता का भाव श्रेयस्कर होता है। साधक इस प्रकार विभिन्न व्यक्तियों के प्रति अपनी उक्त भावना को जागृत रखकर चित्त को निर्मल–स्वच्छ–प्रसन्न बनाये रखने में सफल रहता है; जो संप्रज्ञात योग की स्थिति को प्राप्त करने के लिये सर्वथा उपयुक्त मनोदशा है।

द्वितीय विधि में महर्षि प्राणों के संयम द्वारा बाधाओं के निर्मूलन की बात करते हैं। यथा–

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य। (पा.यो.सू. 1.34)

अर्थात् रेचक, कुम्भक द्वारा भी मन को नियन्त्रित किया जा सकता है।

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती इस सन्दर्भ में कहते हैं कि ईश्वर के प्रति समर्पण स्वभावतः सामान्यजनों के लिये सम्भव नहीं हो पाता है, व्यक्ति भले ही कितना ही आस्तिक क्यों न हो, सम्पूर्ण समर्पण कठिन है। इसके लिए महर्षि दूसरा उपाय बताते हैं कि प्राणों द्वारा मन पर नियन्त्रण सम्भव है। हठप्रदीपिका में भी स्वामी स्वात्माराम जी इस बात को स्पष्ट रूप से कहते हैं कि 'चले वातं चलं चित्तं, निश्चले निश्चलं भवेत्' अर्थात् वायु के चलायमान होने पर चित्त भी चलायमान होता है व वायु के स्थिर होने पर चित्त भी स्थिर हो जाता है। इसी की व्याख्या करते हुये आचार्य उदयवीर शास्त्री जी कहते हैं, प्राण अर्थात् वायु, जो श्वास–प्रश्वास के रूप में बाहर से अन्दर शरीर में और शरीर के अन्दर से बाहर की ओर नासाछिद्रों द्वारा फेंका जाता है; यह प्रच्छर्दन कहलाता है। वायु को बाहर या भीतर फेंकना, वहीं उसे रोक देना 'विधारण' है। वायु को भीतर से बाहर फेंकना 'रेचक' है तथा बाहर से भीतर पेंकना 'पूरक' कहा जाता है। इन दोनों क्रियाओं के अनन्तर जो प्राण को वहीं रोक लेना है वह कुम्भक है।

पूरक– श्वास को भीतर लेना

रेचक– श्वास को बाहर छोड़ना

कुम्भक– श्वास को रोकना

जब बाहर रोका जाये तो बाह्य कुम्भक और भीतर रोका जाये तो अन्तःकुम्भक या आन्तर–कुम्भक कहा जाता है। इस प्रकार एक प्राणायाम में तीन प्रक्रियाऐं सम्मिलित हैं। पूरक, रेचक और कुम्भक। सूत्र में प्रच्छर्दन और विधारण दो शब्द प्रयुक्त हुये हैं। प्रच्छर्दन के अन्तर्गत पूरक और रेचक सम्मिलित हैं। कुम्भक, पूरक और रेचक के अनन्तर का है जो 'विधारण' के अन्तर्गत है। इस प्रकार महर्षि द्वारा सूत्र में जो बताया है उसका क्रियात्मक पक्ष प्रस्तुत किया गया है। प्रतिदिन प्राणायाम का अभ्यास शरीर और मन दोनों के लिये लाभकारी होता है। अभ्यास के लिये महर्षि पतंजलि दीर्घकाल तक, निरन्तर एवं सत्कारपूर्वक, निष्ठापूर्वक करने के लिये कहते हैं।(पा.यो.सू. 1.14)

प्राणायाम का वर्णन महर्षि द्वितीय पाद में विस्तार पूर्वक करते हैं व इसके चार प्रकारों का वर्णन वहाँ प्राप्त होता है। आसनों के बाद महर्षि प्राणायाम का वर्णन करते हैं। आसनों के अभ्यास के द्वारा व्यक्ति शरीर और मन की सीमाओं का अतिक्रमण

करता है तथा तीनों कोशों– अन्नमय, मनोमय एवं प्राणमय के प्रति गहरी सजगता से प्राणमय कोश की सजगता और अधिक तीव्र तथा विकसित हो जाती है। प्राणायाम के प्रभाव प्राणमय कोश की शुद्धि करते हैं एवं कुण्डलिनी जागरण में सहायता प्रदान करते हैं।

प्राणायाम के शाब्दिक अर्थ पर जायें तो पाते हैं कि प्राणायाम वह क्रिया है जिससे हम प्राणों का विस्तारीकरण करते हैं। प्राणायाम राजयोग की एक महत्त्वपूर्ण क्रिया है। स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती प्राणायाम से पूर्व प्राण निग्रह पर बल देते हैं। प्राणायाम से पूर्व प्राणनिग्रह किया जाता है प्राणनिग्रह से तात्पर्य प्राणों के नियन्त्रण से है। प्राणशक्ति सम्पूर्ण सृष्टि, समस्त सजीव–निर्जीव व्यक्त स्वरूपों का सार है। यह वह सार या शक्ति है जो पदार्थ तथा अन्य तत्त्वों के अस्तित्व का निर्धारण करती है। मूलभूत प्राण को महाप्राण कहा गया है एवं प्राण के सन्दर्भ में महाप्राण प्राण का अतीन्द्रिय पहलू है। महाप्राण व्यक्त नहीं किया जाता है अर्थात् वह अव्यक्त है। जब महाप्राण का संयोग प्रकृति के गुणों से होता है तो उसे प्राण संज्ञा दी जाती है। महाप्राण और प्रकृति के मिलन से स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों का सृजन सम्भव हो पाता है तो इस प्राण से इड़ा और पिंगला की उत्पत्ति होती है जो क्रमश सूक्ष्म प्राणिक अनुभूति तथा स्थूल प्राणिक अनुभूति के आयाम हैं। इड़ा को चित्त शक्ति से भी सम्बोधित किया जाता है। पिंगला प्राण शक्ति है, यह शक्ति पदार्थ या स्थूल आयामों का नियन्त्रण और नियमन करती है। इस व्यक्ति प्राणिक शक्ति से और पाँच अभिव्यक्तियाँ होती हैं। उनमें से प्रथम है शारीरिक– प्राण या ऊर्ध्वगामी शक्ति। द्वितीय है– अपान या निम्नगामी शक्ति। तृतीय है– समान। इसकी गति पार्श्विक होती है और यह सम्पूर्ण शरीर में समान रूप से प्राणों को वितरित करती है। इसका कार्य सन्तुलन स्थापित करना होता है। समान के पश्चात् चौथा प्राण का प्रकार उदान प्राण है। यह शक्ति है, इसकी गति वृत्ताकार है। पाँचवीं शक्ति व्यानप्राण शक्ति है। यह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। यह सर्वव्यापी शक्ति है।

पंचप्राण	शरीर में स्थान	सम्बन्धित शारीरिक अंग एवं कार्य
1.प्राण	वक्षीय क्षेत्र	फेफड़े, हृदय, ग्रासनली, श्वास प्रणाल से सम्बन्धित कार्य
2.अपान	श्रोणि प्रदेश	गुर्दे, मूत्राशय, बड़ी आँत, मूत्रीय एवं उत्सर्जक अंग से सम्बन्धित कार्य
3.समान	उदर क्षेत्र	उदर, जिगर, अग्न्याशय, प्लीहा, छोटी आँत
4.उदान	मुख प्रदेश	ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय के क्रियाकलापों के लिये उत्तरदायी है। शरीर में हाथ, पैर, गले, सिर में स्थित है।
5.व्यान	सर्वव्यापी	प्राणिक ईंधन के समान आकस्मिक अवस्थाओं में क्रियाकलाप जारी रखने में सहायता करता है।

प्राणायाम के द्वारा हम इन सभी शक्तिक्षेत्रों की ऊर्जा को व्यवस्थित करते हैं। किसी भी प्रकार के प्राणिक व्यवधान को दूर करते हैं। प्राणायाम का प्रारम्भिक अभ्यास श्वसन के प्रति सजगता, उसके दीर्घ होने से सम्बन्धित होता है। नासिक मार्ग की शुद्धता प्राणायाम की प्रथम आवश्यकता है। षट्कर्मों के द्वारा हम प्राणायाम के लिये नासिका मार्ग को तैयार करते हैं। फेफड़ों की क्षमता को धीरे–धीरे बढ़ाना चाहिये। प्राणायाम के

दौरान अनुपात का विशेष महत्त्व होता है। सामान्यतः प्रारम्भ में 1 : 1 का अनुपात पूरक और रेचक के लिये रखा जाता है व उच्च प्राणायाम के अभ्यास में पूरक, कुम्भक रेचक का अभ्यास 1 : 4 : 2 के अनुपात में किया जाता है।

ऐसा माना जाता है कि जो व्यक्ति प्राणायाम में पूर्णता प्राप्त कर लेते हैं वे 1 मिनट में 1 श्वास लेते हैं। यहाँ श्वास से तात्पर्य पूरक और रेचक के एक चक्र से है। प्रतिदिन विधिपूर्वक समयानुसार प्राणायाम करते रहने से चंचल चित्त शान्त होकर स्थिरता प्राप्त करने लगता है। प्रश्नोपनिषद् में प्राण को ही प्रजापति, ऋग्वेद की ऋचाऐं, यजुर्वेद और सामवेद के मन्त्र, ब्राह्मण ग्रन्थों का सार कहा गया है(प्रश्नोपनिषद् 2.6, 7, 8)। अतः प्राणायाम इसी सारभूत प्राण की ही साधना है।

आचार्य राजवीर शास्त्री के अनुसार, प्राणायाम की सिद्धि तब तक सम्भव नहीं है जब तक यम–नियमों का सेवन नहीं किया जाता और आसन–सिद्धि नहीं होती है। क्योंकि यम–नियमों का पालन न करने से दिनभर मिथ्याभाषण, हिंसा, चोरी, लोभ, मोहादि दोषों में ग्रस्त रहते हैं और प्रातः सायं योगाभ्यास करने का प्रायस करते हैं, उन्हें योगाभ्यास में सफलता नहीं मिलती और इसलिये वे अपने दोषों पर ध्यान न देकर योग की निन्दा करने लगते हैं। अतः प्राणायाम की सिद्धि के लिये पूर्ववर्त्ती योगांगों का अनुष्ठान करना परम आवश्यक है। अगले सूत्र में महर्षि धारणा के अभ्यास से चित्त को एकाग्र करने का प्रयोग बताते हुये कहते हैं–

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनस स्थातिनिबन्धनी।(पा.यो.सू. 1.35)

अर्थात् इन्द्रियों के अनुभवों के अवलोकन द्वारा भी मन को स्थिर किया जा सकता है।

व्यासभाष्यानुसार, नासिका के अग्रभाग पर धारणा=चित्त को स्थिर करने वाले योग–साधक पुरुष को जो दिव्यगन्ध की अनुभूति होती है, वह गन्धप्रवृत्ति है। जिह्वा के अग्रभाग पर चित्त को स्थिर करने से जो दिव्यरस की अनुभूति होती है, वह रसप्रवृत्ति है। तालु में चित्त को स्थिर करने से जो दिव्यरस की अनुभूति होती है, वह रुपप्रवृत्ति है। जिह्वा के मध्य में चित्त को स्थिर करने से जो दिव्य स्पर्श की अनुभूति होती है, वह शब्दप्रवृत्ति है। ये पाँच प्रकार की प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होकर चित्त को स्थिरता की दशा में बाँधती हैं। एकाग्र करने योग्य बनाती हैं, संशय का निराकरण करती हैं और समाधिजन्य प्रज्ञा की प्राप्ति में द्वार(कारण) बनती हैं। इससे चन्द्र, सूर्य, ग्रह, मणि, प्रदीप, रश्मि आदि में (चित्त को स्थिर करने से) उत्पन्न, दिव्य प्रवृत्ति भी विषयवती अर्थात् विषयसम्बद्ध ही जाननी चाहिये। यद्यपि उन–उन शास्त्रों से, विषयानुसार बने दूसरे शास्त्रों से, अनुमानादि प्रमाणों से और आचार्यों के उपदेशों से जो–जो अर्थतत्व=पदार्थों का स्वरूप जाना जाता है, वह यथार्थ ही होता है, क्योंकि उनमें पदार्थों के यथार्थ स्वरूप के प्रतिपादन का सामर्थ्य है फिर भी जब तक किसी पदार्थ का एक भाग भी अपने मन से प्रत्यक्षानुभव नहीं होता, तब तक सब ज्ञान परोक्ष अनुभव की तरह ही होता है और मोक्षादि सूक्ष्म या गहन विषयों में दृढ़ बुद्धि को उत्पन्न नहीं करता है। इसलिये शास्त्र, अनुमान और आचार्य के उपदेशों से ज्ञात पदार्थों को सार्थक बनाने के लिये अवश्य किसी अर्थ विशेष अर्थात् विषय विशेष का मन से प्रत्यक्ष अर्थात् ज्ञान या अनुभूति करना चाहिये। शास्त्र वर्णित ज्ञात पदार्थों के किसी भाग के स्वयं प्रत्यक्ष करने पर मोक्षपर्यन्त सभी सूक्ष्मविषय विश्वसनीय हो जाते हैं और ऐसा होने पर

अर्थात् वैराग्य के सिद्ध होने पर श्रद्धा, वीर्य, स्मृति और समाधि निर्बाधरूप से सिद्ध हो जायेंगे, ऐसा दृढ़ विश्वास हो जाता है।

अभ्यास करते–करते साधक को दिव्य विषयों का साक्षात् हो जाता है, उन दिव्य विषयों का अनुभव करने वाली वृत्ति का नाम विषयवती प्रवृत्ति है। ऐसी प्रवृत्ति उत्पन्न होने से साधक का योगमार्ग में विश्वास और उत्साह बढ़ जाता है, इस कारण यह आत्मचिन्तन के अभ्यास में मन को स्थिर करने में हेतु बन जाती है।

इसी बात को सरलतम शब्दों में यदि कहें तो 'इन्द्रियों के अनुभवों के अवलोकन द्वारा बाधाओं का निर्मूलन' कहना अधिक ठीक रहेगा।

जो लोग ईश्वरप्रणिधान, महाबन्ध अथवा प्राणायाम आदि को उच्च साधना नहीं कर सकते, उनके लिये मन को स्थिर करने के लिये उपर्युक्त सूत्र में महर्षि ने उपाय सुझाया है। उपर्युक्त सूत्र पर टिप्पणी करते हुये स्वामी सत्यानन्द कहते हैं, यह सच है कि समुचित मार्गदर्शन के अभाव में, अक्षमता के कारण अथवा उपयुक्त पोषण के अभाव के कारण अनेक लोग प्राणायाम नहीं कर पाते। इस सूत्र में बताया गया है कि इन्द्रियों के अनुभवों को यदि मन की आँखों से देखा जाये तो मन शान्ति और स्थिर तो होता ही है; नेत्रों, कानों, नासिका, जिह्वा और त्वचा द्वारा होने वाले इन्द्रियानुभवों को भी मन के द्वारा देखा जा सकता है। इन इन्द्रिय व्यापारों के साथ मनश्चेतना को संयुक्त करने के फलस्वरूप मन थमने लगता है। इसे अन्य शब्दों में ध्वनि चेतना और मनश्चेतना को संयुक्त कर देना चाहिये। अर्थात् मन्त्र और संकीर्तन की ध्वनि पर मन को टिकाना चाहिये। हो सकता है प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति के लिये यह रुचिकर न हो, परन्तु यह भी सच है कि जैसे–जैसे ध्वनि के प्रति सजग होता है, उसने मन में गहरी शान्ति और स्थिरता आती है। यह नादयोग का सिद्धान्त है।

स्वामी सत्यानन्द जी के अनुसार व्याख्या इस प्रकार है कि ज्योति त्राटक के फलस्वरूप भी मन जल्दी एकाग्रचित्त होता है। इसी प्रकार स्पर्श और स्वाद के अनुभवों पर भी मन को एकाग्र किया जा सकता है। स्पर्शानुभव की चेतना उस समय होती है जब गुरु शिष्य के सिर पर हाथ रखते हैं और स्वादानुभूति खेचरी मुद्रा द्वारा होती है। नासिकाग्र दृष्टि द्वारा एक सूक्ष्म गन्ध का अनुभव होता है। जिसका उपयोग मन को नियत्रित करने के लिये किया जाता है। इसी प्रकार आगे व्याख्या में कहा गया है कि जीभ के अग्रभाग पर एकाग्रता द्वारा स्वाद चेतना को विकसित किया जा सकता है। खेचरी मुद्रा में ताली पर एकाग्रता द्वारा रंगों के अन्तर्दर्शन को विकसित किया जा सकता है। जिह्वा के मध्य बिन्दु पर एकाग्रता द्वारा सूक्ष्म स्पर्श का अनुभव होता है और उसके मूल भाग पर एकाग्रता द्वारा ध्वनि सुनने की क्षमता विकसित होती है। इन आत्मिक अनुभवों द्वारा मन पर नियन्त्रण सधता है और जैसे–जैसे ये प्रक्रियाऐं विकसित होती हैं, मन इन अनुभवों का अतिक्रमण कर गहन शान्ति और स्थिरता का अनुभव करता है जिसे पूर्ण मानसिक नियत्रण की अनुभूति कह सकते हैं। धारणा और प्रत्याहार में विभिन्न इन्द्रियों के व्यापार सम्मिलित होते हैं।

इस प्रकार ये प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हुई चित्त की स्थिति को बाँधती है, संशय का नाश करती है, समाधि प्रज्ञा की उत्पत्ति में द्वार रूप होती है। चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, मणि, प्रदीप, रत्न, प्रभा आदि में चित्त के संयम से जो इनका साक्षात्कार होता है, वह भी विषयवती प्रवृत्ति है। ऐसा श्री ओमानन्द तीर्थ इन विधियों को समाधि से जोड़ कर कहते हैं।

वितर्कानुगत संप्रज्ञात– उपर्युक्त स्थानों पर यदि स्थूल ग्राह्य विषयों का अर्थात् किसी विशेष गन्ध, रस, रूप, स्पर्श अथवा शब्द का ध्यान किया जाय तो जब पूरी एकाग्रता होने पर उसका साक्षात्कार होने लगे, तब वह वितर्कानुगत संप्रज्ञात समाधि होगी।

विचारानुगत संप्रज्ञात– यदि वहाँ न रुककर एकाग्रता को और अधिक बढ़ाया जाये अथवा इनके सूक्ष्म विषय तन्मात्राओं तक का साक्षात्कार होने लगे तो वह विचारानुगत संप्रज्ञात समाधि कहलायेगी।

आनन्दानुगत संप्रज्ञात– यदि उसमें भी राग को छोड़कर ध्यान को अन्तर्मुख किया जाय तो अहंकार का साक्षात्कार होने लगेगा। यह अहंकार गन्ध आदि विषय जैसी कोई ग्राह्य वस्तु नहीं है, न इसका इस प्रकार– जैसा साक्षात्कार होता है। इसमें एक विचित्र आनन्द के साथ बाहर के सारे व्यवहारों से भूली– जैसी अवस्था होती है; किन्तु यह भूलापन स्वप्न अथवा सुषुप्ति जैसा नहीं होता है। इसमें अहं–वृत्ति से अहंकार का साक्षात्कार होता है। यही अहंकार है और इस समाधि का नाम आनन्दानुगत संप्रज्ञात–समाधि होगा।

अस्मितानुगत–संप्रज्ञात– यदि आनन्दानुगत आसक्ति और लगाव को छोड़कर ध्यान को और अन्दर की ओर बढ़ाया जाये तो अस्मिता का साक्षात्कार होने लगता है। इस साक्षात्कार में भी चित्त का किसी ग्राह्य विषय–जैसा साक्षात्कार नहीं होता। इसकी प्रथम अवस्था का ही वर्णन किया जा सकता है। अर्थात् यह अवस्था अवर्णनीय है इसकी अन्तिम अवस्था का वर्णन शब्दों में नहीं किया जा सकता है। इस अवस्था में अहंकार द्वारा आत्मतत्व को अहं–भाव प्रतीति कराने वाली 'अहं वृत्ति' नहीं रहती है। कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ममता, देश, दिशा, काल आदि से भिन्न आत्म तत्व की प्रतीति होती है। बीच–बीच में ध्यान के शिथिल होने पर जब कोई अहंकार वाली वृत्ति आकर अपने क्रियाकलाप प्रारम्भ करती है तो योगियों के अनुभवों से ज्ञात होता है कि इस दशा में उन्हें बड़ा आश्चर्य होता है। योगियों के अनुभवों से ज्ञात होता है कि अस्मितानुगत संप्रज्ञात अवस्था भी तत्व प्राप्ति की अवस्था नहीं है। इसकी उत्तम अवस्था विवेकख्याति की अवस्था है। विवेकख्याति के विषय में महर्षि ने समाधि पाद में कहा है कि विवेकख्याति की तैलधारावत् सजगता द्वारा अविद्या को हटाया जा सकता है(पा.यो.सू. 2.26)। विवेकख्याति सभूमि स्वरूप होती है। प्रथम अवस्था में जानने योग्य सभी कुछ जानने का भाव विद्यमान रहता है। अर्थात् जितना गुणमय दृश्य है वह सब परिणाम, ताप और संस्कारदुखों तथा गुणवृत्तिविरोध से दुखरूप ही है। इसलिये 'हेय' है। अब कुछ जानने योग्य नहीं रहा।

द्वितीय अवस्था संयोग के वियोग की अवस्था है। अर्थात् जो कुछ दूर करना था दूर कर दिया, अर्थात् द्रष्टा और दृश्य का संयोग जो हेयहेतु है वह दूर कर दिया। अब कोई संयोग नहीं रहा, कुछ दूर करने लायक नहीं रहा।

तृतीय अवस्था साक्षात्कार की अवस्था है। जो कुछ साक्षात् करना था वह साक्षात् कर लिया। अर्थात् निरोध समाधि द्वारा 'हान' को साक्षात् कर लिया। अब कुछ भी जानने योग्य नहीं रह गया।

चतुर्थ अवस्था कार्य सम्पादन की अवस्था है। इस अवस्था में साधक 'अविप्लवा विवेक–ख्याति' का सम्पादन कर चुका होता है और कुछ अन्य शेष नहीं रहता है।

पंचम अवस्था में चित्त ने अपने भोग अपवर्ग दिलाने का अधिकार पूरा कर लिया, अब कोई अधिकार शेष नहीं रहा है।

षष्ठ अवस्था– चित्त में स्थित सभी गुण अपने कार्य करने अर्थात् भोग व अपवर्ग; अपने कारण में लीन हो रहे हैं।

सप्तम अवस्था– शुद्ध परमात्मा में अवस्थित होने की अवस्था है।

निरन्तर दीर्घकाल तक सत्कारपूर्वक अभ्यास करते हुये और क्रम से भूमियों को विजय करते हुये धैर्य के साथ उन्नति करते हुये ही साधक संप्रज्ञात से असंप्रज्ञात और फिर निर्बीज अवस्था तक पहुँच सकता है।

अगले उपाय के रूप में महर्षि कहते हैं–

विशोका वा ज्योतिष्मती।(पा.यो.सू. 1.36)

अर्थात् शोकरहित ज्योतिष्मयी प्रवृत्ति भी मन को स्थिर करने वाली होती है।

अभ्यास करते–करते योगमय साधक का चित्त इतना स्थिर हो जाता है कि उसे शोकरहित प्रकाशमय ज्योति दर्शन सुलभ हो जाता है, इस ज्योति के निरन्तर अभ्यास से भी साधक का चित्त उच्च भूमि वाला हो जाता है। अर्थात् अकम्प स्थिति वाला हो जाता है। इससे पूर्व के सूत्र में जिस प्रकार दिव्य गन्ध आदि मन को स्थिर करने का माध्यम बताया गया है वैसे ही महर्षि ने 1.36 वें सूत्र में दिव्य ज्योति के दर्शनों से चित्त स्थिर होता है ऐसा कहा है। आचार्य उदयवीर शास्त्री के अनुसार 'उस दिव्य आलोक के दर्शन में साधक इतना उत्फुल्ल हो जाता है कि उस समय शोक–दुख आदि का लेशमात्र भी अनुभव नहीं होता।' और उसी कारण इस दशा को 'विशोका' नाम दिया गया है।

आचार्य के अनुसार यह अवस्था उस समय की है, जब चित्त अर्थात् बुद्धितत्व नितान्त सात्विक होता है, रजस्, तमस् का लेश भी वहाँ नहीं रहता। आत्मा के निवास स्थान हृदय देश में उसका साक्षात्कार होना सम्मुख रहता है। सात्विक बुद्धि के सहयोग से आत्मसाक्षात्कार की यह अवस्था संप्रज्ञात समाधि का अन्तिम स्तर समझना चाहिये। जब तक यह वृत्ति बनी रहती है, तब तक समाधि की यह अवस्था भी बनी रहती है और यह अनुभव साधक को प्रोत्साहित करता है कि वह लगातार अभ्यास करता जाये व एक दिन निर्विकल्पक समाधि अथवा निर्बीजावस्था तक पहुँच जाये।

श्रीमत् ओमानन्द तीर्थ एवं श्रीमत् स्वामी हरिहरानन्द आरण्य ने हृदय स्थान में दिव्य ज्योति के ध्यान की व्याख्या की है। एवं आचार्य उदयवीर शास्त्री की व्याख्या के अनुसार ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के लिये सुषुम्णा नाड़ी के विभिन्न केन्द्रों में ध्यान करने को श्रेयस्कर माना गया है। आचार्य जी के अनुसार चक्र एवं उनके स्थान निम्न प्रकार वर्णित हैं।

चक्रनाम	**स्थान**
1. सहस्रार चक्र	ब्रह्मरन्ध्र, तालु और कपाल सन्धि के लगभग मध्य
2. आज्ञा चक्र	भृकुटि के पीछे की ओर
3. विशुद्धि चक्र	कण्ठ के पीछे सुषुम्णा नाड़ी में
4. अनाहत चक्र	हृदय की सीध में पीछे की ओर
5. मणिपुर चक्र	नाभिमूल की सीध में पीछे की ओर
6. स्वाधिष्ठान चक्र	मूलाधार से कुछ ऊपर की ओर
7. मूलाधार चक्र	पेडू की सीध में पीछे की ओर

	त्रिक का केन्द्रस्थान

वस्तुत योगसाधना महर्षि द्वारा उपदिष्ट 'अष्टांगयोग' ही सर्वश्रेष्ठ योग साधना है। ज्योतिष्मती भाव समाधि के लिये नितान्त सात्विक मन अनिवार्य है एवं इस हेतु सर्वश्रेष्ठ पथ अष्टांगयोग का ही पथ है।

मन को स्थिर करने का चौथा उपाय महर्षि द्वारा जो बताया गया है वह इस प्रकार है–

वीतरागविषयं वा चित्तम्।।(पा.यो.सू. 1.37)

अर्थात् वीतराग महापुरुषों पर एकाग्रता द्वारा मन पर नियन्त्रण स्थापित किया जा सकता है।

वीतरागी पुरुष वे कहलाते हैं जिसका किसी भी व्यक्ति अथवा विषय से कोई लगाव नहीं होता। वह लगाव रहित अथवा रागरहित अवस्था कही जा सकती है। ऐसे रागरहित अथवा विरागी पुरुष का ध्यान करके मन स्वतः शान्त होने लगता है। मन में कोई भी वासनामय संस्कार नहीं आते हैं। इतिहास प्रसिद्ध जो विरक्त योगी महात्मा हर्ष, शोक, राग–द्वेष आदि से रहित समदर्शी शान्तचित्त हो चुके हैं; उनके चरित्रों का चिन्तन चित्त की चंचलता को दूर कर उसे एकाग्र करने में सहायक होता है। उनके चिन्तन से साधक की यह भावना जागृत होती है कि मैं भी वैसी ही शान्तचित्त अवस्था को प्राप्त होऊँगा। ऐसे योगी अथवा महापुरुष वस्तुत अपनी समस्त अभिलाषाएँ, आकांक्षाऐं त्याग चुके होते हैं, जिसके कारण उनके चित्त से अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष आदि क्लेशों के संस्कार पूर्णतया मिट चुके होते हैं एवं ऐसे पुरुष का ध्यान करने से मन स्वतः नियन्त्रित एवं शान्त एकाग्रचित्त हो जाता है।

श्रीमान ओमानन्द तीर्थ ने इस सूत्र का अन्य अर्थ निकालते हुए कहा है कि साधक यदि क्रमश विषयरागरहित अवस्था प्राप्त करके पूर्ण वैराग्य की भूमि पर पहुँच जाये तो भी मन की स्थिति को बाँधने में समर्थ हो जाता है। चित्त की एकाग्रता का अन्य उपाय बताते हुये महर्षि कहते हैं–

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा।(पा.यो.सू. 1.38)

अर्थात् स्वप्न और निद्रा के ज्ञान का अवलम्बन करने वाला चित्त भी स्थिर हो जाता है।

वास्तव में चित्त मन की स्थिति को बाँधने वाला होता है 'चित्तं मनस स्थितिनिबन्धनम्।' जाग्रत अवस्था में चित्त में रजोगुण प्रधान होता है। इस कारण वृत्तियाँ बाहर की ओर अर्थात् संसार की ओर लगी होती हैं। स्वप्न में रजोगुण बना तो रहता है परन्तु निद्रा अवस्था प्रधानरूप से तमोगुण की अवस्था है अतः रजोगुण, तमोगुण के द्वारा दब जाता है और इसी कारण वृत्तियाँ अन्तर्मुख हो जाती हैं। निद्रा में तमोगुण के कारण अभाव की प्रतीति मात्र रहती है। जैसा कि सूत्र 1.10 में महर्षि कहते हैं 'अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा।' स्वप्न और निद्राज्ञान आलम्बन से तात्पर्य महर्षि का यह है कि जिस प्रकार स्वप्न में तमोगुण के कारण वृत्तियाँ अन्तर्मुख हो जाती हैं, इसी प्रकार ध्यान की अवस्था में तम के स्थान पर सत्व गुण से वृत्तियों को अन्तर्मुख करना चाहिये और जिस प्रकार निद्रा तमोगुण की अधिकता से वृत्तियों के अभाव की प्रतीति रहती है, उसी प्रकार सत्वगुण की अधिकता से एकाग्रता और शान्ति उत्पन्न करनी चाहिये। इस अभ्यास से वस्तु की वास्तविकता का ज्ञान होगा और साधक आगे के सोपानों पर आसानी से चढ़ सकेगा।

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती इस सूत्र की व्याख्या करते हुये कहते हैं कि 'चेतना पूर्वक निद्रा और स्वप्न दर्शन की क्षमता के विकास द्वारा मन को नियन्त्रण में लाया जा सकता है। चेतना पूर्वक निद्रा अन्तर्मौन की अन्तिम अवस्था है। इसी प्रकार पूरे होश में स्वप्न देखने की भी एक युक्ति है। परन्तु वह युक्ति सभी के द्वारा सम्पन्न नहीं हो सकती अभ्यास की परम आवश्यकता है। इसे बहुत कम लोग ही सीख पाते हैं व जीवन में उपयोग कर पाते हैं। यह युक्ति उन लोगों के लिये लाभदायक हो सकती है जो भौतिकता से ऊपर उठ चुके हैं और ब्रह्म स्तर की चेतना में विचरण करते हैं। चेतन निद्रा अथवा चेतना स्वप्न दर्शन की अवस्था में चेतना इस स्तर तक विकसित होती है कि व्यक्ति हर क्षण यह जानता है कि वह सो अथवा स्वप्न देख रहा है।

हम सभी अक्सर अचेतन अवस्था में स्वप्न देखते हैं, हम स्वप्न में रहते हुये भी नहीं रहते। हम स्वप्न का अनुभव तो करते हैं परन्तु साक्षी भाव में नहीं रह पाते। यह हमारे नियन्त्रण में नहीं रहता है, परन्तु इस युक्ति के अभ्यास द्वारा साधक इन पर चेतना युक्त नियन्त्रण स्थापित कर पाता है। चेतनापूर्वक हम अपनी चेतन, अवचेतन तथा अचेतन विचारप्रक्रिया को भी नियन्त्रित कर सकते हैं। इस युक्ति से न केवल चेतन कार्य तथा बुद्धि अपितु अवचेतन के कार्य भी नियन्त्रित किये जा सकते हैं।

अगले उपाय में महर्षि पतंजलि ने मनुष्य के मनों को जानते हुये रुचिपूर्वक ध्यान का उपाय बताया है–

यथाभिमतध्यानाद्वा।(पा.यो.सू. 1.39)

अर्थात् जिसको जो अभिमत हो(अथवा इच्छित हो) उसके ध्यान से (भी मन स्थिर हो जाता है)।

इस सूत्र में महर्षि साधक को पूर्ण स्वतन्त्रता दे रहे हैं। महर्षि वास्तव में मर्मज्ञ हैं वे जानते हैं कि मन बलपूर्वक नहीं अपितु युक्तिपूर्वक ही वश में किया जा सकता है। मनुष्यों की भिन्न–भिन्न रुचियाँ हो सकती है वह पूर्व में बताये गये उपायों को भी अपना सकता है वह ओम् का ध्यान करे, प्राणों पर ध्यान, शोकरहित ज्योति ध्यान, वीतरागी पुरुष का ध्यान अथवा स्वप्नज्ञान का आलम्बन करके अथवा किसी अन्य तरीके से भी मन को नियन्त्रित एवं शान्त कर सकता है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि उपाय शास्त्रसम्मत ही होना चाहिये। यहाँ मनमाना व्यवहार करने की बात नहीं कही गई है, यह ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है।

चित्त जब स्थिर हो जाता है तो महर्षि कहते हैं कि ऐसा साधक जिस किसी पर भी ध्यान करता है उसे उसके रहस्य की जानकारी हो जाती है।(पा.यो.सू. 1.40)

अभ्यास प्रश्न–

(अ) रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए–

1. विक्षिप्तावस्था चित्त की ..... प्रधान अवस्था है।
2. कुम्भक श्वास को ..... की क्रिया है।
3. महर्षि ने प्राणायाम के .....प्रकार बताए हैं।
4. प्राणायाम के अभ्यास से पूर्व.....की क्रिया आवश्यक है।
5. उदान प्राण शरीर में .....स्थान से सम्बन्धित है।

(ब) सही / गलत

1. चित्त की पाँच अवस्थाएँ हैं।
2. दुखी व्यक्ति से उपेक्षा की भावना सही उपाय है
3. व्यान प्राण आकस्मिक अवस्थाओं में क्रियाकलाप जारी रखता है।
4. वितर्कानुगत समाधि स्थूल ग्राह्य विषयों से सम्बन्धित है।

6.5 सारांश

ऋषि पतंजलि मर्मज्ञ हैं इसी कारण वे चित्त के गहन तलों तक पहुँच कर वहाँ तक जाने का रास्ता सुझा रहे हैं। महर्षि ने जिस सटीकता और सरलता से चित्त को समझकर उसके नियन्त्रण के उपाय बताये हैं वह दूसरा उदाहरण ढूंढना दुष्कर है। आपने अभी तक पढ़ा और जाना कि चित्त शुद्धि साधक के अभ्यास और सतत् प्रयास का ही सुफल है। इसके लिये धैर्य और निरन्तरता अत्यन्त आवश्यक है। जैसा कि महर्षि कहते हैं 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः'1.12 और 1.14 वें सूत्र में तो स्पष्ट ही है कि बहुत काल तक निरन्तर और आदरपूर्वक अभ्यास ही वास्तविक स्थिति तक ले जाने का रास्ता है।

6.6 शब्दावली

हठप्रदीपिका– हठयोग का प्रमुख ग्रन्थ है, जिसके ग्रन्थकार स्वामी स्वात्माराम हैं।
यम– अष्टांगयोग का प्रथम सोपान है जिसके अन्तर्गत सामाजिक नियम आते हैं यथा, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य आदि।
नियम– अष्टांग योग के अन्तर्गत स्वयं को साधने का प्रयत्न, इसके अन्तर्गत शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान आते हैं।
धारणा– निरन्तर एक स्थान पर चित्त लगाये रखना।
हेय– दुख।
हेतु दुख का कारण।
हान– समाधि या मोक्ष अथवा कैवल्यावस्था।
सुषुम्ना– त्रिनाड़ियों में प्रमुख नाड़ी है जिसमें आध्यात्मिक पथ एवं चक्र अवस्थित होते हैं।

6.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर–

(अ)

1) सत्व
2) रोकना
3) 4
4) प्राण निग्रह
5) मुख

(ब)

1) सही
2) गलत
3) सही
4) सही

6.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.पातंजल योगप्रदीप	स्वामी ओमानन्द तीर्थ, गीता प्रेस गोरखपुर
2.योगांक(10वां वर्ष)	गीता प्रेस, गोरखपुर
3.योगदर्शन	आचार्य उदयवीर शास्त्री (आर्य साहित्य भवन)
4.पातंजल योगदर्शनम्	आचार्य राजवीर शास्त्री (आर्ष साहित्य प्रचार)
5.पातंजल योगदर्शन	श्रीमत् हरिहरानन्द आरण्य (मोतीलाल बनारसीदास)
6.योग मनोविज्ञान	श्री शान्ति प्रकाश आत्रेय (द इण्टरनेशनल स्टेण्डर्ड वाराणसी)
7.पातंजल योगदर्शन	डॉ. अश्वनी कुमार यादव (मनीष प्रकाश, वाराणसी)
8.सांख्यदर्शन व योगदर्शन	पं. श्रीराम शर्मा आचार्य (वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, हरिद्वार)
9.योगदर्शन	स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती (योग पब्लिकेशन ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार)
10.मुक्ति के चार सोपान	स्वामी सत्यानन्द सरस्वती (योग पब्लिकेशन ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार)

6.9 निबन्धात्मक प्रश्न

(1) चित्त का सूक्ष्म परिचय देते हुये उसकी भूमियों की चर्चा कीजिये।
(2) चित्त शुद्धि की आवश्यकता पर प्रकाश डालिये।
(3)चित्तशुद्धि के उपायों की सूक्ष्म चर्चा करते हुये किसी एक उपाय की सविस्तार चर्चा कीजिये।
(4) प्राणायाम किस प्रकार शुद्धि करता है? समझाइये।

इकाई 7 क्रियायोग

7.1 प्रस्तावना

7.2 उद्देश्य

7.3 क्रियायोग

7.4 क्रियायोग के भाग

7.4.1 तप

7.4.2 स्वाध्याय

7.4.3 ईश्वरप्रणिधान

7.5 सारांश

7.6 शब्दावली

7.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

7.8 निबन्धात्मक प्रश्न

7.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

7.1 प्रस्तावना

पूर्व के अध्याय में आपने योग विषयक जानकारी प्राप्त की। आपने योग के अर्थ, परिभाषा, उद्देश्य आदि के विषय में जाना।

प्रस्तुत इकाई में योग मार्ग के सभी विघ्न–बाधाओं तथा क्लेशों को दूर करने वाले मार्ग 'क्रियायोग' के विषय में आप जानेंगे

7.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में आप–

- क्रियायोग का आशय जानेंगे।
- क्रियायोग का क्या उद्देश्य है– यह जानेंगे।
- क्रियायोग का साधक व साधारण व्यक्तियों के लिए क्या महत्त्व है– यह जानेंगे।
- तप का आशय व इसके विभिन्न प्रकारों के विषय में ज्ञान प्राप्त करेंगे।
- स्वाध्याय का आशय व उसके महत्त्व के विषय में जानेंगे।
- ईश्वर प्रणिधान वास्तव में क्या है, यह जानेंगे।

7.3 क्रियायोग

महर्षि पतंजलि ने मध्यम कोटि के साधकों की चित्तशुद्धि के लिए क्रियायोग का उपदेश दिया है। यहाँ पर पाठकों के मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि साधक से क्या तात्पर्य है। बी.के.एस. आयंगर के अनुसार ''साधक वह है जो अपने मन व बुद्धि को लगाकर क्षमतापूर्वक, समर्पण भाव से व एकचित्त होकर साधना करता है।'' साधना एक सतत् अभ्यास है जिसमें साधक अपनी अशुद्धियों को दूर करता है।

महर्षि पतंजलि ने अशुद्धियों को दूर करने के लिए कहा है– ''तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः''(2.1) अर्थात् तपस्या, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान– यह क्रियायोग है।

महर्षि व्यास कहते हैं कि ''अतपस्वी को योग सिद्ध नहीं होता। अनादि कालीन कर्म और क्लेश की वासना के द्वारा विचित्र और विषयजालयुक्त जो अशुद्धि है, वह तपस्या के बिना सम्यक् भिन्न अर्थात् विरल या छिन्न नहीं होता है।

इसलिये साधनों में तप का उल्लेख किया गया है। चित्त को निर्मल करने वाला यह तप ही योगियों द्वारा सेव्य है, ऐसा आचार्य मानते हैं। प्रणवादि पवित्र मन्त्रों का जप अथवा मोक्ष शास्त्र का अध्ययन स्वाध्याय है। ईश्वर प्रणिधान, परम गुरु ईश्वर को समस्त कर्मों का अर्पण अथवा कर्मफल आकाङ्क्षा का त्याग है।

लक्ष्य– क्रियायोग क्यों किया जाये इस प्रश्न का उत्तर महर्षि ने देते हुए कहा है–

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च।(पा.यो.सू.2.2) क्रियायोग का अभ्यास क्लेशों को तनु करने के लिए एवं समाधि भूमि प्राप्त करने के लिये कहा जा रहा है। क्लेश– अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश हैं।

अविद्या अर्थात् अनित्य को नित्य मानना, अशुचि को शुचि अर्थात् पवित्र मानना, अनात्म को आत्म अर्थात् अपना मानना, दुःख को सुख समझना है। यह संसार अनित्य, शरीर गन्दगी से भरा हुआ है, यह संसार दुःखमय है हर सुख का अन्त दुःख से परिपूर्ण है, यह इन्द्रिय, शरीर और चित्त जड़ है, अनात्म है, उपर्युक्त सभी की विपरीत भावना कर संसार को नित्य, पवित्र, सुखमय व आत्म समझना ही अविद्या है। अविद्या ही अन्य क्लेशों का मूल है।

अस्मिता अर्थात् 'मैं की भावना' अहम् भावना ही अस्मिता क्लेश है यह मेरा शरीर है, मेरी वस्तु आदि को समझना अस्मिता नामक क्लेश है। यह घोर कष्ट को देने वाली शक्ति है। राग, सदैव सुखी रहने की इच्छा व द्वेष दुःख से बचने का भाव है। दोनों परस्पर मिले हुये हैं। अभिनिवेश मृत्यु भय है।

उपर्युक्त सभी भाव समाधि से दूर ले जाने वाले हैं। समाधि अर्थात् सभी वृत्तियों का नाश, क्लेशों के नाश की अवस्था। क्रियायोग से समस्त क्लेशों का नाश सम्भव है जिससे सहज ही समाधि अवस्था प्राप्त लो जायेगी।

7.4 क्रियायोग के प्रकार

क्रियायोग के तीन प्रकार महर्षि पतंजलि ने बताये है।

- तप
- स्वाध्याय
- ईश्वर प्रणिधान

7.4.1 तप–

तप का तात्पर्य बेहतर अवस्था की प्राप्ति के लिए परिवर्तन या रूपान्तरण की एक प्रक्रिया के अनुगमन से है। सामान्य अर्थ में, तप पदार्थ के शुद्ध सारतत्व को प्राप्त करने की एक प्रक्रिया है। उदाहरण हेतु जिस प्रकार सोने को बार–बार गर्म कर छोटी हथोड़ी से पीटा जाता है जिसके परिणाम स्वरूप शुद्ध सोना प्राप्त हो सके। उसी प्रकार योग में तप एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति की अशुद्धियों को जला कर भस्म किया जाता है ताकि उसका असली सारतत्व प्रकट हो सके।

महर्षि पतंजलि के अनुसार ''तप से अशुद्धियों का क्षय होता है तथा शरीर और इन्द्रियों की शुद्धि होती है।''

''कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।'' (पा.यो.सू. 2.43)

जिस प्रकार अश्व–विद्या में कुशल सारथि चंचल घोड़ों को साधता है उसी प्रकार शरीर, प्राण, इन्द्रियों और मन को उचित रीति और अभ्यास से वशीकार करने को तप कहते हैं, जिससे सर्दी–गर्मी, भूख–प्यास, सुख–दुःख, हर्ष–शोक. मान–अपमान आदि सम्पूर्ण द्वन्द्वों की अवस्था में बिना किसी कठिनाई के स्वस्थ शरीर और निर्मल अन्तःकरण के साथ मनुष्य योगमार्ग में प्रवृत्त रह सके।

तप तीन प्रकार का होता है– शारीरिक, वाचिक व मानसिक। फल को न चाहने वाले निष्काम भाव से योगी पुरुषों द्वारा परम श्रद्धा से किया हुआ तप सात्विक होता है। इसके विपरीत जो तप सत्कार, मान और पूजा के लिए अथवा केवल पाखण्ड से किया जाता है वह अनिश्चित और क्षणिक फलवाला होता है।

अपने वर्ण, आश्रम, परिस्थिति और यौग्यता के अनुसार स्वधर्म का पालन करना और उसके पालन में जो शारीरिक या मानसिक अधिक से अधिक कष्ट प्राप्त हो, उसे सहर्ष सहन करना इसका नाम तप है। व्रत, उपवास आदि भी तप की ही श्रेणी में आते हैं। निष्काम भाव से इस तप का पालन करने से मनुष्य का अन्तःकरण अनायास ही शुद्ध हो जाता है।

'तपो द्वन्द्वसहनम्' अर्थात् सब प्रकार के द्वन्द्वों को सहन करना तप है। ये द्वन्द्व शारीरिक, मानसिक और वाचिक किसी भी श्रेणी के हो सकते हैं। तप के न होने पर साधक तो क्या सामान्य जन भी कुछ प्राप्त नहीं कर सकते। तप हर क्षेत्र में परम आवश्यक है। योग साधना में सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास, आलस्य, अहंकार, जड़ता आदि द्वन्द्वों को सहन करना और कर्तव्यमार्ग पर आगे बढ़ते रहना ही तप है।

आध्यात्मिक जगत् में तप के महत्त्व को बताते हुए तैत्तिरीयोपनिषद् की भृगुवल्ली में कहा गया है ''तपसा ब्रह्म विजिज्ञासत्व। तपो ब्रह्मेति'' अर्थात् तप द्वारा ही ब्रह्म को जाना जा सकता है। तप ही ब्रह्म है। गीता में भी वर्णन मिलता है यथा–

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।

अगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।। गीता 2.14

अर्थात् सर्दी गर्मी और सुख–दुःख को देने वाले इन्द्रिय और विषयों के संयोग तो उत्पत्ति, विनाशशील और अनित्य हैं, इसलिये इनको सहन करना उचित है। सहिष्णुता महाफल प्रदान करती है। सर्दी–गर्मी, सुख–दुःख इन सबका सम्बन्ध नित्य का नहीं है, ये सदैव नहीं रहेंगे, अर्थात् अल्पकालिक हैं। जब तक संयोग है तभी तक दुःख है या यूँ कहें दुःख या सुख की प्रतीति होती है। संयोग, वियोग अस्थिर और अनित्य हैं। कोई भी सदा नहीं रहेगा। अतः इन क्षणिक संयोगो, वियोगो के लिए प्रतिक्रिया करना उचित प्रतीत नहीं होता, इन प्रतिक्रियाओं का त्याग ही तप है। कहा गया है कि ''नातपस्विनोः योग सिद्धति'' अर्थात् तप के बिना योग सिद्ध नहीं होता है।

संसार में जो भी कार्य दुःसाध्य है, अति दुष्कर है, कठिन जान पड़ता है, ऐसे दुःसाध्य कार्यों को एकमात्र तप के द्वारा ही अनायास सिद्ध किया जा सकता है।

यथा

यद् दुष्करं दुराराध्यं दुर्जयं दुरतिक्रमम्।
तत्सर्वं तपसा साध्या तपो हि दुरतिक्रमम्।।

तप के सम्बन्ध में कूर्मपुराण में कहा गया हैकृ 'तपस्या से उत्पन्न योगाग्नि शीघ्र ही निखिल पाप समूहों को दग्ध कर देती है। उन पापों के दग्ध हो जाने पर प्रतिबन्धक रहित तारक ज्ञान का उदय हो जाता है। स्वामी विज्ञानान्द सरस्वती कूर्मपुराण के इस उदाहरण को आधार बनाकर आगे कहते हैं कि जिस प्रकार बन्धन रज्जु को काटकर श्येन (बाज) पक्षी आकाश में उड़ जाता है, ठीक उसी प्रकार जिस योगी पुरुष का बन्धन टूट जाता है उसका संसार बन्धन सदा के लिये छूट जाता है। इस प्रकार संसार बन्धन से मुक्त हुआ पुरुष पुनः बन्धन में नहीं बन्धता है। यह उसी प्रकार है जिस प्रकार डण्ठल से पृथक् हुआ फल पुनः डण्ठल से नहीं जुड़ सकता है। अतः शास्त्र के कथनानुसार मोक्ष साधनाओं में से तप को श्रेष्ठतम साधना माना गया है।

तप के प्रकार– गीता में 17वें अध्याय में तप के तीन भेद किये गये हैं–

1. शारीरिक
2. वाचिक
3. मानसिक

इसके पश्चात् इन तीन के भी तीन और भेद किये हैं– 1. सात्विक, 2. राजसिक और 3. तामसिक।

1. शारीरिक तप–

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।। श्रीमद्भगवद्गीता 17.14

अर्थात् देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनों का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा यह शरीर सम्बन्धी तप है।

महर्षि पतंजलि ने सूत्र 2.46 में आसन, 2.49 में प्राणायाम की बात की है। वह भी शारीरिक तप के अन्तर्गत वर्णित किया जा सकता है। आसन आदि के अन्तर्गत आहार संयम की बात भी आ जाती है। यथा– गीता 6.16

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नवः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।।

हे अर्जुन! यह योग न तो बहुत खाने वाले का, न बिल्कुल न खाने वाले का, न बहुत शयन करने वाले का और न सदा जागने वाले का ही सिद्ध होता है।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नवबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ श्रीमद्भगवद्गीता 6.17

दुःखों का नाश करने वाला योग तो यथायोग्य आहार–विहार करने वाले का, कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करने वाले का और यथायोग्य सोने तथा जागने वाले का ही सिद्ध होता है। यहाँ दुःखों से तात्पर्य केवल सांसारिक दुःखों से नहीं वरन् उन सभी प्रकार के दुःखों से है जो कि अविद्या जनित हैं। अविद्या अर्थात् वास्तविक दुःख को सुख समझना, पाप को पुण्य समझना, अवास्तविक को वास्तविक समझना। त्रिताप भी तो दुःख ही हैं।

2. वाचिक तप–

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यासनं चौव वाङ्मयं तप उच्यते।। श्रीमद्भगवद्गीता 17.15

मन को उद्विग्न न करने वाले, प्रिय तथा हितकारक वचनों और स्वाध्याय के अभ्यास को वाचिक तप कहते हैं।

कटु वचन, झूठ, हिंसक वाक्य, निन्दा–चुगली आदि वचन दूसरे के मन को तो उद्वेलित करते ही हैं परन्तु इन वाक्यों का सबसे अधिक प्रभाव बोलने वाले के मन व प्राण पर पड़ता है। उद्वेलित करने वाले वचनों से जो तरंगें उत्पन्न होती हैं वे वातावरण में हलचल उत्पन्न करके पुनः कहीं अधिक वेग से लौटती हैं व उत्पन्न कर्ता के मन व प्राण को क्षीण व कमजोर कर देती है। लगातार इसी प्रकार की तरंगें प्रवाहित करने वाले लोग सुखी नहीं देखे गये हैं। वे स्वयम् के साथ–साथ सम्पूर्ण वातावरण को दूषित कर देते हैं व समाज से तो तिरस्कार झेलते ही हैं स्वयम् में आत्मग्लानि एवं कुण्ठित जीवन यापन करने पर मजबूर हो जाते हैं। अतः इन तरंगों को उत्पन्न न करने का मानसिक संकल्प, साहस व दृढ़ इच्छाशक्ति ही तप है।

प्रिय तथा हितकारी वचन स्वयम् व दूसरों को साम्यावस्था में बनाये रखने के लिये बोलने चाहियें। यहाँ यह ध्यान रखने व समझने की बात है कि प्रिय वचन से तात्पर्य चापलूसी करना नहीं है। ''सत्यं ब्रुयात् प्रियं ब्रुयात्न ब्रुयात् सत्यमप्रियम्'' का सिद्धान्त यहाँ ध्यान रखने योग्य है।

स्वाध्याय अर्थात् श्रेष्ठ पुस्तकों का अध्ययन यदि इसके आध्यात्मिक अर्थ की ओर संकेत करें तो 'स्वाध्याय' का तात्पर्य 'स्वयम् का अध्ययन' करना है। इसके सम्बन्ध में आप स्वाध्याय शीर्षक में विस्तारपूर्वक जानेंगे।

3. मानस तप–

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।। श्रीमद्भागवद्गीता 17.16

मन की प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करने का स्वभाव, मन का निग्रह और अन्तःकरण के भावों की भलीभाँति पवित्रता– इस प्रकार यह मन सम्बन्धी तप कहा जाता है।

मानसिक तप की यह स्थिति निश्चित ही पूर्वोक्त वर्णित शारीरिक, वाचिक तपों के उपरान्त अधिक आसान हो जाती है। वास्तव में शारीरिक, वाचिक और मानसिक तप एक साथ ही किये जाते हैं। ऐसा नहीं है कि पहले केवल साधक शारीरिक स्तर पर ही तप हेतु प्रस्तुत हो, वस्तुतः लगभग साथ–साथ ही ये अवस्थायें सम्पादित होती रहती हैं।

मन की प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवत् चिन्तन आदि अवस्थायें केवल सोचनेभर नहीं आती वरन् सतत् प्रयास से प्राप्त होती हैं और यही प्रयास तप कहलाता है।

4. सात्विक तप–
श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्विकं परिचक्षते।। श्रीमद्भगवद्गीता 17.17

मनुष्य का फल की आशा से रहित परम श्रद्धा तथा योगयुक्त होकर इन तीनों प्रकार के तपों को करना सात्विक तप कहलाता है।

शारीरिक तप, वाचिक तप और मानस तप को फल की आशा से रहित परम श्रद्धा तथा एक साधक की भाँति करानौ ही सात्विक तप कहलाता है।

5. राजसिक तप–
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्।। श्रीमद्भगवद्गीता 17.18

सत्कार, मान, पूजा व पाखण्ड पूर्वक किया गया तप चंचल और अस्थिर राजस तप कहलाता है।

6. तामसिक तप–
मूढ ग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्।। श्रीमद्भगवद्गीता 17.19

जो तप मूढ़तापूर्वक हत से, मन, वाणी और शरीर की पीड़ा के सहित अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के लिये किया जाता है, वह तप तामस कहा जाता है।

तप वास्तव में शरीर, मन, वाणी, विचारों का सही सामंजस्य है जो कि तत्व को जानने में सीड़ी का कार्य करता है। क्रियायोग का अध्ययन करते हुये अव आप आगे स्वाध्याय के विषय में विस्तार पूर्वक ज्ञान प्राप्त करेंगे।

7.4.2 स्वाध्याय

वेद, उपनिषद्, पुराण आदि तथा विवेकज्ञान प्रदान करने वाले सांख्य, योग, आध्यात्मिक शास्त्रों का नियम पूर्वक अध्ययन तथा अन्य सभी वे साधन जो कि विवेक ज्ञान

में सहायक हैं जैसे अन्य धर्मग्रन्थ, श्रेष्ठ पुस्तकें आदि का अध्ययन, मनन स्वाध्याय कहलाता है।

स्वाध्याय के सम्बन्ध में पं. श्रीरामशर्मा आचार्य का कथन है कि ''श्रेष्ठ पुस्तकें जीवन्त देव प्रतिमाएँ हैं। जिनके अध्ययन से तुरन्त उल्लास और प्रकाश मिलता है।''

श्रीमान् शान्ति प्रकाश आत्रेय के अनुसार 'स्वाध्याय निष्ठा जब साधक को प्राप्त हो जाती है तब उसके इच्छानुसार देवता, ऋषियों तथा सिद्धों के दर्शन होते हैं तथा वे उसको कार्य सम्पादन में सहायता प्रदान करते हैं।

आचार्य उदयवीर शास्त्री जी के अनुसार, इस पद के दो भाग हैं– 'स्व' और 'अध्ययन'। स्व पद के चार अर्थ हैं– आत्मा, आत्मीय अथवा आत्मसम्बन्धी, ज्ञाति (बन्धु–बान्धव) और धन।

अध्ययन अथवा अध्याय कहते हैं– चिन्तन, मन अथवा पूर्वोक्त अध्ययन।

आत्मविषयक चिन्तन व मनन करना, तत्सम्बन्धी ग्रन्थों का अध्ययन तथा 'प्रणव' आदि का जप करना 'स्वाध्याय' है। द्वितीय अर्थ में आत्मसम्बन्धी विषयों का चिन्तन मनन करना। आत्मा का स्वरूप क्या है? कहाँ से आता है? इत्यादि विवेचन से आत्मविषयक जानकारी के लिये प्रयत्नशील रहना। तृतीय अर्थों में जाति बन्धुबान्धव आदि की वास्तविकता को समझकर मोहवश उधर उत्कृष्ट न होते हुये विरक्त की भावना को जाग्रत रखना स्वाध्याय है।

चतुर्थ अर्थ में धन–सम्पत्ति आदि की ओर अधिक आकृष्ट न होना, लोभी न बनना। धन की नश्वरता को समझते हुये केवल सामान्य निर्वहन योग्य धन कमाना व उपयोग करना अधिक संग्रह न करना, मठाधीश आदि बनने की इच्छा न रखना ही चौथे प्रकार का अर्थ है।

स्वाध्याय स्वयं का अध्ययन है जिसमें हम सहायता पुस्तकों, ग्रन्थो आदि की लेते हैं। स्वयं को समझना, गुण–अवगुण बनाये रखना व आत्मतत्व की प्राप्ति ही स्वाध्याय का उद्देश्य है।

आगे आप ईश्वर प्रणिधान विषयक ज्ञान प्राप्त करेंगे।

7.4.3 ईश्वरप्रणिधान–

अपने समस्त कर्मों के फल को परम गुरु परमात्मा को समर्पित करना व कर्मफल का पूर्ण रूपेण त्याग कर देना ईश्वर–प्रणिधान है। अनन्य भक्ति भाव से ईश्वर का मनन चिन्तन करनाय अपने आपको पूर्णरूपेण ईश्वर को समर्पित कर देना ही ईश्वरप्रणिधान है। जब साधक अपने कर्मफल का त्याग करता है तो निश्चित रूप से वह जो भी कार्य करता है वह स्वार्थ रहित, पक्षपात रहित कार्य करता है। उसका चित्त निर्मल हो जाता है और वह साधनापथ पर निर्बाध गति से आगे बढ़ता जाता है। उसके मन में राग–द्वेष जैसी भावनाएँ जगह नहीं बनाती हैं जिससे साधक की भूमि दृढ़ हो जाती है। श्रीमत् शान्ति प्रकाश आत्रेय जी के अनुसार ईश्वरप्रणिधान ईश्वर को एक विशेष प्रकार की भक्ति है, जिसमें भक्त शरीर, मन, इन्द्रिय, प्राण आदि तथा उनके समस्त कर्मों को उनके फलों सहित अपने समस्त जीवन को ईश्वर को समर्पित कर देता है।

शय्याऽसनस्थोऽथ पथि प्रणन्वा स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः।
संसारबीजक्षयमीक्षमाणः स्यन्नित्ययुक्तोऽमृतभोगभागी।।(योग व्यासभाष्य 2.32)

अर्थात् जो योगी शय्या तथा आसन पर बैठे हुये, रास्ते में चलते हुये अथवा एकान्त में रहता हुआ हिंसादि वितर्क जाल को समाप्त करके ईश्वर प्रणिधान करता है, वह निरन्तर अविद्या आदि को जो कि संसार के कारण हैं नष्ट होने का अनुभव करता हुआ तथा नित्य ईश्वर में युक्त होता हुआ जीवन–मुक्ति के नित्य सुख को प्राप्त करता है।

श्रीमद्भगवद्गीता के 3.27 व 2.47 में ईश्वर प्रणिधान की ही व्याख्या हुई है। स्वयं भगवान् कहते हैं कि 'सभी कर्म मुझको समर्पित कर दो।' साधक के ऐसा करने पर कर्म शुभाशुभ की श्रेणी से पार चले जाते हैं एवं साधक ईश्वरत्व की ओर उन्मुख हो जाता है। ईश्वरप्रणिधान से शीघ्र समाधि की सिद्धि होती है। ईश्वरप्रणिधान भक्ति विशेष है और इस भक्तिविशेष के कारण मार्ग कंटकविहीन हो जाता है और शीघ्र ही समाधि की प्राप्ति हो जाती है। योग के अन्य अंगों का पालन विघ्नों के कारण बहुत काल में समाधि सिद्धि प्रदान कराता है। ईश्वरप्रणिधान उन विघ्नों को नष्ट कर शीघ्र ही समाधि प्रदान करता है। अतः यह रास्ता अति महत्त्वपूर्ण है।

योगदर्शन में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया जाता है। योगदर्शन का आधार सांख्य है जहाँ कि ईश्वर की सत्ता का कहीं वर्णन नहीं है। परन्तु योगदर्शन एक व्यावहारिक ग्रन्थ है। यह मानव मन को भलीभाँति समझकर गढ़ा गया है व इसे एक महत्त्वपूर्ण मार्ग बताया गया है। योगदर्शन का मुख्य उद्देश्य चित्तवृत्तियों का शोधन करना है। निर्बीज समाधि जो कि आध्यात्मिक जीवन का परमलक्ष्य है ईश्वरप्रणिधान से प्राप्त की जा सकती है(पा.यो.सू.1.23)।

महर्षि पतंजलि ने ईश्वर को पुरुष विशेष की संज्ञा दी है। अन्य दर्शनों में जहाँ ईश्वर को विश्व का सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता, संहारकर्ता कहा गया है वहीं योगदर्शन में ईश्वर को विशेष पुरुष कहा गया है। ऐसा पुरुष जो दुःख कर्मविपाक से अछूता है। महर्षि पतंजलि के अनुसार–

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। (पा.यो.सू. 1.24)

अर्थात् ईश्वर वह पुरुषविशेष है जिस पर दुःख, कर्म, उसके लवलेश तथा फल आदि किसी का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। यहाँ ईश्वर को व्यक्तिवादी नहीं वरन् उसे उच्च आध्यात्मिक चेतना कहा गया है। वह ईश्वर परमपवित्र, कर्म व उसके प्रभाव से अछूता है उनका कोई भी प्रभाव ईश्वर पर नहीं पड़ता है। इसीलिये वह विशेष है।

समस्त जीवात्माओं का क्लेश अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेष(पा. यो.सू. 2.3), कर्म(पा.यो.सू.4.7), विपाक अर्थात् कर्मों के फल(पा.यो.सू.2.13) तथा आशय अर्थात् कर्मों के संस्कार (पा.यो.सू. 2.12) से अनादि काल से सम्बन्ध है किन्तु ईश्वर का इनसे न तो कभी सम्बन्ध था, न है, न कभी भविष्य में होने की सम्भावना ही है। वह अविद्या, अज्ञान से रहित है इस कारण सम्बन्ध नहीं है।

ईश्वर का वाचक ओंकार (ॐ) है। महर्षि कहते हैं 'तस्य वाचकः प्रणवः'(पा.यो.सू. 1. 27)। प्रणव का निरन्तर जप अर्थात् ईश्वर का निरन्तर चिन्तन करना ही ईश्वर प्रणिधान है। चित्त को सभी ओर से हटाकर एकमात्र ईश्वर पर लगाना चाहिये यह समाधि को प्रदान

करने वाला है। इस प्रणव के जप से योग साधकों को मोक्ष की प्राप्ति होती है। ईश्वरप्रणिधान से सभी अशुद्धियों का नाश हो जाता है(पा.यो.सू. 1.29, 30, 31)।

इन अशुद्धियों में अन्तराय व सहविक्षेप कहे गये हैं– व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व तथा अनवस्थित्व ये चित्त के नौ अन्तराय या विक्षेप हैं। इन नौ प्रकार के विक्षेपों से चित्त में शरीर में अत्यवस्था उत्पन्न होती है। शरीर व मन का सामंजस्य बिगड़ जाता है एवं जब शरीर व मन व्यवस्थित नहीं रह पाते तव इस अवस्था में शारीरिक व मानसिक व्याधियाँ उत्पन्न होकर योगमार्ग में विघ्न–बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं व साधक साधना छोड़ बैठता है यही विघ्न है। सहविक्षेप दुःख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व, श्वास तथा प्रश्वास हैं। इन सहविक्षेपों तथा उपरोक्त नौ विक्षेपों के मिल जाने पर घोर विपत्ति साधक पर आ जाती है। वह ठीक प्रकार सोच–समझ नहीं पाता एवं साधना छोड़ बैठता है अथवा घोर आलस्य में समय व्यतीत करता रहता है।

विक्षिप्त चित्त वालों की ये उपर्युक्त अवस्थाएँ निरन्तर अभ्यास से शान्त हो जाती हैं। एकतत्व पर अर्थात् ईश्वर पर निरन्तर(पा.यो.सू. 1.32) ध्यान लगाने से ये विक्षेप दूर हो जाते हैं।

अभ्यास प्रश्न–

1. सत्य एवं असत्य की पहचान कीजिए।

(क) समाधि अविद्या जनित है।

(ख) अस्मिता राग को उत्पन्न करती है।

(ग) तप केवल शरीर को कठोर बनाने की क्रिया है।

(घ) तप के सात्विक, राजसिक व तामसिक प्रकार योग सूत्र में वर्णित हैं।

(च) स्वाध्याय में स्व के चार अर्थ वर्णित हैं।

(छ) स्व के अर्थों में आत्मा, आत्मीय, ज्ञाति और धन हैं।

(ज) ईश्वर प्रणिधान योगसूत्र (पा.यो.सू. 2.1) में वर्णित है।

7.5 सारांश

तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान इन तीनों को क्रिययोग की संज्ञा दी गई है। क्रियायोग का विवेचन उन साधकों के लिये हैं जो सीधे समाधि का अभ्यास नहीं कर सकते हैं। जिनका चित्त अभी समाहित नहीं है। चित्त चंचल है। विक्षिप्त चित्त वाला व्यक्ति जिसमें एकाग्रता की कमी है, जिसे पंचक्लेश घेरे हुये हैं, उसके लिये विवेकख्याति की अवस्था प्रदान करने वाला क्रियायोग का मार्ग है। इससे क्लेश क्षीण होकर अभ्यास और वैराग्य के द्वारा विवेकख्याति की उच्च अवस्था प्राप्त की जा सकती है। योग लक्ष्य की प्राप्ति में क्रियायोग का पथ निश्चित ही लक्ष्य प्राप्ति का मार्ग है।

7.6 शब्दावली–

मध्यमकोटि के साधक– जिनका चित्त संयमित नहीं है। रजस् व सत्वप्रधान है।

क्लेश– चित्त को अस्थिर करने वाले तत्व–अविद्या अस्मिता राग द्वेष अभिनिवेश।

सम्यक्– सही, उचित, सामंजस्य

7.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

(क) गलत

(ख) सही

(ग) गलत

(घ) गलत

(च) सही

(छ) सही

(ज) सही

7.8 सन्दर्भ–ग्रन्थ सूची–

(1) पातंजल योगप्रदीप स्वामी ओमानन्द तीर्थ गीताप्रेस गोरखपुर।

(2) योगदर्शनम्(2004) आचार्य उदयवीर शास्त्री विजयकुरमार गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली।

(3) योगदर्शन पं. श्रीराम शर्मा आचार्य।

7.9 निबन्धात्मक प्रश्न–

(1) क्रियायोग का लक्ष्य स्पष्ट करते हुये तप की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिये।

(2) क्रियायोग का संक्षिप्त परिचय देकर स्वाध्याय के महत्त्व की चर्चा कीजिये।

(3) ईश्वरप्रणिधान की विस्तार पूर्वक व्याख्या कीजिये।

(4) टिप्पणी– स्वाध्याय, क्लेश, समाधि, तप के प्रकार, ईश्वरप्रणिधान

इकाई 8 पंच क्लेश

8.1 प्रस्तावना

8.2 उद्देश्य

8.3 अविद्या

8.3.1 अविद्या के क्षेत्र

8.4 अस्मिता

8.5 राग व द्वेष क्लेश

8.6 अभिनिवेश

8.7 सारांश

8.8 शब्दावली

8.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

8.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

8.11 निबंधात्मक प्रश्न

8.1 प्रस्तावना

पूर्व के योग विषयक चर्चाओं में आपने योग के सम्बन्ध में जान होगा कि योग क्या है, इसकी उपयोगिता, महत्ता एवं आज के जीवन में कैसे इसे ढाला जाये इस सम्बन्ध में ज्ञान अर्जन किया।

इस इकाई में आप दुख के मूल कारण 'क्लेश' के विषय में ज्ञान अर्जन करेंगे और जानेंगे कि यह किन–किन रूपों में जीवन को प्रभावित करता है।

8.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में आप

- क्लेश शब्द का तात्पर्य जान सकेंगे।
- समाधि हेतु क्लेश तनु करना परम आवश्यक है, यह जान सकेंगे।
- क्लेशों के प्रकार जान सकेंगे।

- अविद्या का अर्थ और क्षेत्र जानेंगे।
- अस्मिता के विषय में जानेंगे।
- राग व द्वेष के विषय में जानेंगे।
- अभिनिवेश क्लेश के विषय में ज्ञान अर्जन करेंगे।

8.3 अविद्या

अविद्या अर्थात् जो सत्य विद्या नहीं है। अविद्या आज के वर्तमान युग में विद्यमान है। देखा जाये तो अविद्या इस सृष्टि के आरम्भ से ही विद्यमान रही है। परन्तु प्राचीन काल में अविद्या का स्वरूप व इसके शमन का पूर्ण ज्ञान था। परन्तु आधुनिक युग के परिप्रेक्ष्य में अविद्या अपने पूर्ण स्वरूप में विद्यमान है और इसके निरोध के स्वरूप में बहुत क्षीण ज्ञान ज्ञात है

अविद्या सभी क्लेशों अर्थात् सभी प्रकार के मानसिक रोगों की जननी है। महर्षि पतंजलि के अनुसार– **'अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशा क्लेशा'** (यो.सू. 2.3) अर्थात् महर्षि पतंजलि जो कि महान् कृति योगसूत्र के प्रणेता हैं, कहते हैं कि क्लेश पाँच प्रकार के होते हैं– अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, और अभिनिवेश। अविद्या– जो कि प्रमुख क्लेश है, से अन्य सारे क्लेशों की उत्पत्ति होती है। अगर अविद्या ही न रहे तो अन्य क्लेश भी उत्पन्न नहीं होंगे।

महर्षि आगे अविद्या की परिभाषा बताते हुए साधन पाद के पाँचवें सूत्र में कहते हैं कि 'अनित्याशुचिदुखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या' अर्थात् अनित्य को नित्य समझ लेना, जो पवित्र नहीं है उसे पवित्र समझ लेना, जो दुख देने वाली वस्तु है या जो दुख उत्पन्न करें उसे सुख देने वाली समझ लेना तथा जो अनात्म है अर्थात् जो अपना नहीं है उसे अपना अर्थात् आत्म समझ लेना ही अविद्या है।

इस सूक्ष्म सूत्र में ही अविद्या का विस्तार पूर्वक वर्णन हो गया है तथा अविद्या की परिभाषा स्पष्ट रूप से वर्णित हो गई है। अनित्य अर्थात् जो नित्य नहीं है, शाश्वत नहीं है। उदाहरणत यह सृष्टि, यह संसार, सगे–सम्बन्धी, जो सांसारिक वस्तुएँ हैं, यह सभी अनित्य हैं, इन्हें एक न एक दिन नष्ट होना ही है। परन्तु दुर्भाग्य से हम अविद्या के इतने वशीभूत हो गए हैं कि हम इन्हीं सब सांसारिक वस्तुओं को नित्य समझ इन्हीं को अपना जीवन मान लेते हैं।

कबीर ने भी सांसारिक नश्वरता के बारे में अपने दोहे में कहा है कि–

पानी केरा बुदबुदा अस मानुष की जाति।

देखत ही छिप जाएगा ज्यों तारा परभातिअ

अर्थात् मनुष्य का जीवन तो एक पानी के बुलबुले के समान है जो कि नष्ट होना ही है, यह सदा नहीं रहता। जिस प्रकार रात्रि समाप्त होने के बाद तारे का कोई अस्तित्व नहीं रहता उसी प्रकार मनुष्य जीवन भी सदैव नहीं रहता।

उसी प्रकार जिस वस्तु को हम शुद्ध समझते हैं जैसे हमारा शरीर, वह भी शुद्ध नहीं है। यह शरीर नित्य नकारात्मकता से दूषित होता रहता है। मन भी शरीर का ही अंग है। इसलिए मन की असङ्गतता हमें अशुद्ध करती है। भले ही शरीर के ऊपर त्वचा की परत चढ़ी हो फिर भी शरीर के आन्तरिक अंग जो कि हाड़, मांस, मज्जा, मेद आदि अपवित्र धातुओं से बना हुआ है।

दुख देने वाली सांसारिक वस्तुओं में मनुष्य का सुख पाने की लालसा ही अविद्या है। सांसारिक वस्तुएँ केवल मनुष्य को प्रतिदिन के कार्यों में सहायता प्रदान करने के लिए हैं। परन्तु मनुष्य का सांसारिक वस्तुओं व क्षणिक सुख देने वाली वस्तुओं को आधार मानकर जीवन यापन करना ही अविद्या है।

अनात्म को आत्म समझना अर्थात् इस शरीर व इस शरीर से जुड़े सभी सगे–सम्बन्धियों को अपना प्रिय मान उनसे मोह व राग के भाव में बध जाना ही अविद्या है। इसके विपरीत हमारी आत्मा जो हमारी आत्म व प्रिय है व जो सत्य है, उसके बारे में हम कोई ज्ञान नहीं रखना चाहते, यही अविद्या का स्वरूप है कि जो सत्य है वह छिप जाता है और जो असत्य है वह उभर कर चक्षुओं को घेर लेता है।

8.3.1 अविद्या के क्षेत्र

अविद्या के विभिन्न क्षेत्र भी हैं जो कि अविद्या कितनी तीव्र स्तर पर व्याप्त है यह बताते हैं। महर्षि पतंजलि कहते हैं कि

'अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्' (पा.यो.सू. 2.4)

अर्थात् अविद्याजनित अन्य क्लेशों की चार अवस्थाएँ हैं– प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार।

प्रसुप्त अवस्था क्लेश की प्रथमावस्था है। जिस समय चित्त में रहते हुए भी क्लेश अपना कार्य अर्थात् हमारे मन में विक्षेप उत्पन्न नहीं कर पाते हैं, उस अवस्था को प्रसुप्त कहा जाता है। उदाहरण स्वरूप जैसे बाल्यावस्था में एक शिशु के मन में काम–भावना सोई हुई अवस्था में रहती है उसी प्रकार मन में विद्यमान क्लेश प्रसुप्त अवस्था में सोए हुए रहते हैं– यही क्लेश का पहला चरण है।

दूसरे चरण में क्लेश तनु अर्थात् हीन शक्ति वाली अवस्था में विद्यमान रहता है। जब क्लेशों की कार्य करने की शक्ति को योगसाधनों द्वारा कम अर्थात् ह्रास कर दिया जाता है, यही अवस्था क्लेश की तनु अवस्था है। उदाहरणतः अगर मनुष्य के मन में राग उत्पन्न होता है तो इस राग को योग के विभिन्न साधनों जैसे तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान आदि के द्वारा कम किया जा सकता है।

तीसरे चरण में क्लेश विच्छिन्न अवस्था में विद्यमान रहता है। जब कोई क्लेश किसी दूसरे क्लेश की चरमावस्था में पहुँचने से दब जाता है, तब यह अवस्था विच्छिन्न अवस्था कहलाती है। उदाहरण स्वरूप– अगर राग अपने पूर्ण रूप में व्याप्त हो गया है तब द्वेष, जो कि राग से ही उत्पन्न हुआ है, दब जाता है और इसी प्रकार जब द्वेष अपनी चरमावस्था में उभरकर परिलक्षित होता है तो राग दब जाता है। यही अवस्था विच्छिन्न अवस्था कहलाती है।

चौथी अवस्था में एक क्लेश अपनी समस्त शक्तियों के साथ परिलक्षित होता है। यह अवस्था उदार अवस्था कहलाती है। अर्थात् जब पंचक्लेशों में कोई एक क्लेश अपनी सम्पूर्ण अवस्था में उभर कर सामने आता है और चित्त पर छा जाता है, यही अवस्था उदार अवस्था कहलाती है। उदाहरणत जब राग चित्त पर आच्छादित होता है तब केवल राग ही अपनी चरमावस्था में रहेगा और कोई क्लेश नहीं। यही क्लेश की पूर्णावस्था है।

इस प्रकार क्लेशों के क्षेत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। किसी भी क्लेश के उभरने से पहले ही इसकी रोकथाम आवश्यक है। अगर क्लेश उभर के परिलक्षित भी हो जाए, तब भी वह योग के विभिन्न साधनों द्वारा दग्धबीज किया जा सकता है। महर्षि पतंजलि आगे अन्य क्लेशों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश अविद्या से उत्पन्न अन्य क्लेश हैं।

8.4 अस्मिता

सर्वप्रथम अस्मिता, जो कि मनुष्य का अहम् भाव है, का महर्षि पतंजलि विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए कहते हैं कि–

दृग्दर्शनशक्तयोरेकात्मते वास्मिता ।(प.यो.सू. 2.6)

अर्थात् दृक् शक्ति और दर्शन शक्ति, इन दोनों को एक मान लेना अस्मिता है। यहाँ पर यह समझ लेना आवश्यक होगा कि दृक् शक्ति और दर्शन शक्ति का वास्तविक अर्थ क्या है? दृक् शक्ति अर्थात् जो देख रहा है अर्थात् पुरुष और दर्शन शक्ति बुद्धि को समझना चाहिए। दृक् और दर्शन शक्तियाँ दोनों ही अलग व अपनी–अपनी विशेष पृथक सत्ता रखती है। पुरुष चेतन है और दर्शन शक्ति जड़ है। अविद्या के कारण दोनों का यह पृथकीकरण धूमिल हो जाता है और दोनों संयुक्त दिखाई देने लगते हैं। यह मेरा शरीर है, यह मेरा पुत्र, पिता आदि का संज्ञान होना अविद्या के ही कारण होता है। अविद्या जनित बुद्धि ही अस्मिता है।

पुरुष के बुद्धि से तादात्म्य को अस्मिता कहते हैं। अस्मिता वह चेतना है जो पुरुष को उसके आवरण से, जो कि प्रकृति द्वारा प्रदत्त त्रिगुणात्मक शरीर है, आबद्ध रखता है अर्थात् जोड़े रखता है।

शान्ति प्रकाश आत्रेय के अनुसार पुरुष अविद्या के कारण चित्त में आत्मबुद्धि कर लेता है। यह दोनों का एक प्रतीत होना ही अस्मिता है। पुरुष प्रतिबिम्बित चित्त को ही अस्मिता कहते हैं तथा अभिन्नता की प्रतीति अस्मिता क्लेश है। सांख्य में इसे मोह कहा गया है। यह मोह ही है जो निरन्तर अभ्यास से दूर होता है, नहीं तो व्यक्ति मोह को नहीं समझ पाता और अष्टऐश्वर्यों में ही स्वयम् को भूला रहता है। अस्मिता ही भोगरूप क्लेश प्रदान करती है, किन्तु विवेकज्ञान के द्वारा यह भेदज्ञान जाना जा सकता है। अस्मिता क्लेश के रहने पर ही भेदज्ञान नहीं हो पाता है एवं विवेकज्ञान के आने से यह भेद पता चल जाता है कि प्रकृति और पुरुष दो भिन्न सत्ताएँ हैं। विवेक रूप अस्मिता ही क्लेश देने वाली है।

वास्तव में अहंकार ही अस्मिता है। 'मैं सुखी हूँ', 'मैं बलवान् हूँ', 'मैं दुखी हूँ', 'मैं ब्राह्मण हूँ', 'मैं हूँ' आदि सभी अहंकार के ही आकार हैं। अहंकार की यह ग्रन्थि विवेक के उदय होने पर स्वतः ही खुल जाती है।

अस्मिता के सम्बन्ध में कठोपनिषद् स्पष्ट घोषणा करता है– दृक् शक्ति और दर्शन शक्ति दो अलग–अलग शक्तियाँ हैं। पुराणों में भी अस्मिता के सम्बन्ध में कथाएँ मिलती हैं। एक कथा में इन्द्र एवं विरोचन के सम्बन्ध में प्रमाण मिलते हैं। इन्द्र देवताओं के तथा विरोचन राक्षसों के राजा थे। इन्द्र और विरोचन शिक्षा ग्रहण करने के लिए प्रजापति के पास गये। प्रजापति ने उन्हें शिक्षा के रूप में दो महावाक्य 'अहं ब्रह्मास्मि' और 'तत्त्वमसि' कहे। राक्षसों के राजा विरोचन ने अहम् शब्द का अर्थ अपना शरीर समझा और अस्मिता के कारण अन्त में विनाश को प्राप्त हुआ। देवराज इन्द्र ने महावाक्यों पर गहन चिन्तन–मनन किया व अर्थ का सही अर्थ जान लेने पर सुख को प्राप्त हुए।

अस्मिता के सम्बन्ध में स्वामी सत्यानन्द सरस्वती द्वारा दी गई यह उपमा बिल्कुल सटीक बैठती है। वे कहते हैं कि अस्मिता वैसी ही है जैसे एक भिखारी के छद्मभेष में राजकुमार स्वयं को उस भूमिका में ढाल लेता है। जब मनुष्य के भीतर निहित उच्च चेतना, शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों के माध्यम से स्वयं को अभिव्यक्त करती है तो उसे अस्मिता कहते हैं।

अस्मिता की विभिन्न अवस्थाएँ होती हैं। एक आदि मानव में जिसकी बुद्धि का पर्याप्त विकास नहीं हुआ है, अस्मिता उसके अपने शरीर के साथ तादात्म्य में निहित रहती है। वह अपने शरीर तथा उसके अंगों को ही सब कुछ समझता है व यही उसके लिये अन्तिम सत्य होता है। ठीक इसके विपरीत एक बुद्धिजीवी के मन के कार्यों में, सोचने, समझने, निर्णयक्षमता आदि में अस्मिता अपने विभिन्न स्तरों में कार्य करती है। बुद्धिजीवी का तादात्म्य अपने मन के उच्चतर कार्यों से होता है।

स्वामी जी के अनुसार 'अस्मिता उस चेतना को कहते हैं जो पुरुष को उसके वाहन के साथ तदाकार करती है।' उदाहरण के लिये जब हम कहते हैं बस आ रही है तो उसका सीधा अर्थ यह होता है कि बस को उसका चालक चलाकर ला रहा है। बुद्धि और इन्द्रियों को वाहन कहा जाता है। आत्मा और पुरुष तो मात्र ज्ञाता और दृष्टा होते हैं। देखने, सुनने और चिन्तन की शक्ति केवल पुरुष की होती है। परन्तु यह शक्ति बुद्धि और इन्द्रियों को सौंप दी जाती है। इस प्रक्रिया को 'अस्मिता' कहा जाता है। देखने, सुनने और चिन्तन करने की शक्ति तो केवल पुरुष की होती है। परन्तु यह शक्ति इन्द्रियों और बुद्धि को हस्तान्तरित कर दी जाती है और हमें लगता है कि आँखें देखती, मन सोचता तथा कान सुनते हैं। इसका कारण अस्मिता है।

इसी तथ्य को स्वामी हरिहरानन्द आरण्य अनात्म में आत्मख्याति दर्शन करने की संज्ञा देते हुए कहते हैं कि अव्यक्त में आत्मख्याति, जैसे 'मैं शून्य हूँ' ऐसा ज्ञान, महत् में आत्मख्याति, जैसे आत्मा को सर्वव्यापी आनन्दमय ऐसा मानना; अहंकार में आत्मख्याति आदि। पुरुष के लक्ष्यों का विज्ञान न होने के कारण बुद्धि से उनका पृथकत्व न जान कर मोह या अविद्यावश लोग बुद्धि में ही आत्मबुद्धि करते हैं, अर्थात् बुद्धि या अभिमानयुक्त अहम् बुद्धि एवं शुद्ध ज्ञाता पुरुष ये दोनों एक हैं, ऐसा समझते हैं।

8.5 राग व द्वेष क्लेश

राग व द्वेष के सम्बन्ध में महर्षि पतंजलि कहते हैं–

सुखानुशयी रागः। (प.यो.सू. 2.7)

अर्थात् सुख की प्रतीति के पीछे रहने वाला क्लेश राग है एवं–

दुखानुशयी द्वेषः।(पा.यो.सू. 2.8)

अर्थात् दुख की प्रतीति के पीछे रहने वाला क्लेश द्वेष है।

सुख भोगने के अनन्तर जो चित्त में उसके भोगने की आकांक्षा बनी रहती है, उसे ही 'राग' कहा जाता है। अस्मिता क्लेश के द्वारा देह सहित एकादश इन्द्रियों (पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ एवं मन) में आत्मा की प्रतीति (अनुभूति) होने से जिन वस्तुओं एवं विषयों के द्वारा सुख की अनुभूति (प्रतीति) होती है और चेतन जीव को उन भोगों के स्मरण एवं साधनों से उन पदार्थों या निमित्तों से आसक्ति या अनुरक्ति हो जाती है तथा सुख साधनों की प्राप्ति में आकांक्षा, तृष्णा अथवा लोभ उत्पन्न हो जाता है; साथ ही उसके संस्कार चित्त में स्थित हो जाते हैं, उन्हें ही राग कहा जाता है। (पा.यो.सू., पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, पृ. 43) इसी सन्दर्भ में आचार्य उदयवीर शास्त्री व्याख्या करते हुए कहते हैं कि जब व्यक्ति सांसारिक विषयों में सुख एवं अनुकूलता का अनुभव कर उनसे परिचित शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध विषयों में महामोह ही है। अस्मिता का कार्य राग हुआ जो अविद्या के कारण होता है। सभी भोग राग ही हैं जो दिखने में तो सुख प्रतीत होते हैं परन्तु हैं दुख ही। इनमें सार नहीं है। ये सभी राग दुख को ही देने वाले हैं। वास्तव में बन्धन का कारण यह लगाव, यह राग ही है। इसी से दुखों की उत्पत्ति होती है। संसार का राग ही दुख का कारण है। जैसा कि योगवासिष्ठ में कहा गया है–

''संसार प्रेम(लगाव) बहुत दुख का देने वाला है। सांप की तरह डसता, तलवार की तरह काटता, भाले की तरह बेधता है, रस्सी की तरह लपेट लेता है, आग्नि के समान जलाता है, रात्रि के समान अन्धकार प्रदान करता है। इसमें निशंक गिरने वालों को पत्थर के समान दबा देता है तथा विवश कर देता है, बुद्धि का हरण कर लेता है, स्थिरता खो देता है, मोह रूपी अन्धकूप में डाल देता है, तृष्णा मनुष्य को जर्जर कर देती है। कोई ऐसा दुख नहीं है जो संसार में राग रखने वाले को प्राप्त न होता है।'' (योगवासिष्ठ 2.12.14)

इससे स्पष्ट है कि जिन विषयों में सुख समझा जाता है, वे केवल दुख के ही देने वाले होते हैं। हम उन दुख प्रदान करने वाले विषयों को भूल से सुखद समझ लेते हैं। यही विपर्यय है। हमें जिन वस्तुओं या विषयों से राग होता है, उन विषयों के प्राप्ति में विघ्न वाली वस्तुओं से द्वेष पैदा होता है। शरीर, मन, इन्द्रियों में ममत्व होने से उनमें राग हो जाता है, अगर उन्हें वस्तु विशेष से दुख प्राप्त हो तो उन वस्तुओं से द्वेष हो जाता है। यह राग ही द्वेष को जन्म देने वाला है।

द्वेष के सम्बन्ध में व्याख्या करते हुये स्वामी सत्यानन्द सरस्वती कहते हैं कि पीड़ा से पलायन की भावना द्वेष है। राग का विरोधी द्वेष है। राग और द्वेष दोनों ही बन्धनकारक हैं। ये मन की दशाएँ हैं जिनका निर्माण आकर्षण और विकर्षण द्वारा होता है। राग और द्वेष में जकड़े होने के कारण हमारी चेतना निम्न तल पर ही रहती है तथा उसके उत्थान की सम्भावना अत्यन्त निम्न रहती है। आध्यात्मिक प्रगति भी न्यूनतम ही रह जाती है। राग और द्वेष एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। वे हमारे आन्तरिक राग की द्वि–आयामी अभिव्यक्ति कहे जा सकते हैं। किसी वस्तु की चाहत का अर्थ है किसी अन्य से पलायन या अरुचि। इस तरह से देखें तो राग–द्वेष पृथक नहीं अपितु हमारे मन के दो पक्ष कहे जा सकते हैं।

आचार्य उदयवीर शास्त्री इसी भावना के सम्बन्ध में व्याख्या करते हुए कहते हैं कि ''प्रतिकूलताओं के प्रति विरोधी भावना का नाम ही द्वेष है।'' जब व्यक्ति विषयों में लिप्त रहता हुआ किन्हीं प्रतिकूल परिस्थितियों का अनुभव करता है, अथवा वे प्रतिकूल परिस्थितियाँ उसे भोगनी पड़ती हैं, तो उनके प्रति एक विरोधी भावना जाग्रत हो जाती हैं कि यह स्थिति फिर कभी भोगनी न पड़े। इस प्रकार अनुकूलताओं में बाधास्वरूप जो प्रतिकूलता सामने आती हैं, उस बाधा को न आने देने अथवा नष्ट करने की जो भावना उत्पन्न होती है, उसका नाम 'द्वेष' क्लेश है। उसी भावना को व्यास भाष्य में 'मन्यु' व 'क्रोध' कहा गया है।

इसी तथ्य को दुख भोग के पश्चात् रहने वाली घृणा की वासना का नाम दिया जा सकता है। जिन वस्तुओं या साधनों से पूर्व में दुख प्राप्त हुआ है, उस दुख के अवसर पर उन वस्तुओं या साधनों के प्रति घृणा तथा क्रोध उत्पन्न होता है और उसके संस्कार चित्त में पड़ जाते हैं, उन संस्कारों को द्वेष कहते हैं। जिस विषय के द्वारा पूर्व में दुख प्राप्त हुआ है और अब उसकी स्मृति जागृत है, उस विषय के प्रति क्रोध को द्वेष भावना कहते हैं। यह दुख की स्मृति से होता है। इस प्रकार के दुख की फिर उस विषय विशेष से सम्भावना होती है। यह राग में विघ्न पड़ने से होता है। राग के कारण ही द्वेष होता है। यही नहीं, राग और द्वेष दोनों ही का कारण अस्मिता है, जो कि अविद्या के कारण होती है, इसलिये द्वेष का भी मूल कारण अविद्या ही है। विवेक ज्ञान के द्वारा ही द्वेष से छुटकारा प्राप्त हो सकता है। पहली अवस्था में तो दुख का अनुभव होता है। उस अनुभव के समाप्त होने पर उसके संस्कार चित्त में रहते हैं, जिन्हें कि वह पूर्व अनुभव छोड़ जाता है। जब उससे सम्बन्धित विषय की उपस्थिति होती है तब संस्कार जाग्रत होकर उस पूर्व अनुभव की स्मृति को उत्पन्न करते हैं। जिसके परिणाम स्वरूप क्रोध उत्पन्न होता है। इसी भावना अथवा वस्तु स्थिति को द्वेष की संज्ञा दी गई है। अनुभव संस्कार को, संस्कार स्मृति को और स्मृति द्वेष को उत्पन्न करती है।

अनुभव → संस्कार उत्पत्ति → स्मृति → द्वेष

राग की अपेक्षा द्वेष भावना से छूटना अधिक दुष्कर होता है। आध्यात्मिक साधकों में भी राग और द्वेष पाए जाते हैं। परन्तु द्वेष की बन्धनकारक शक्ति अपेक्षाकृत अधिक होती है। इस प्रकार आध्यात्मिक प्रगति में द्वेष सबसे बड़ी बाधा है। कदाचित् साधक इससे मुक्ति पा सके तो साधना सफल होने में तनिक भी विलम्ब न होगा।

साधक एवं सामान्य जन दोनों को ही द्वेष भावना से बचने का हर सम्भव प्रयास करना चाहिए।

8.6 अभिनिवेश

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेश।(पा.यो.सू. 2.9)

अर्थात् जो परम्परागत स्वभाव से चला आ रहा है एवं जो मूढ़ों की भाँति विवेकशील पुरुषों में भी विद्यमान देखा जाता है, वह (मरणभयरूप क्लेश) 'अभिनिवेश' है।

महर्षि व्यास की व्याख्यानुसार नित्य ही सभी प्राणियों की यह आत्माभिलाषा रहती है कि 'मेरा अभाव न हो, मैं जीवित रहूँ।' पहले जिसने मरण का अनुभव नहीं किया, वह इस प्रकार की इच्छा नहीं कर सकता। इसी से पूर्वजन्म का अनुभव प्रतीत होता है। यह अभिनिवेश क्लेश स्वरसवाही है। यह जातमात्र कृमि में भी देखा जाता है। प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम द्वारा असम्पादित उच्छेदज्ञानस्वरूप मरणभय से पूर्वजन्मानुभूत मरणदुख का अनुमान होता है।

जिस प्रकार अत्यन्त मूढ़ में यह क्लेश देखा जाता है, उसी प्रकार विद्वान् में अर्थात् पूर्वापरकोटि के ज्ञाता व्यक्ति में भी देखा जाता है क्योंकि कुशल और अकुशल इन दोनों में ही मरणदुःखानुभव के कारण यह वासना समान–रूप से रहती है।

राग सुखानुशयी है, द्वेष दुखानुशयी है और अभिनिवेश सुख–दुख–विवेकहीन या मूढ़भाव का अनुशयी होता है। शरीर–इन्द्रिय की सहज क्रिया से उस प्रकार का मूढ़भाव होता है। उसी से शरीरादियों में अहन्ता का भाव सदा जागरित रहता है; उस अभिनिविष्ट भाव की हानि होने पर या घटने का उपक्रम होने पर जो भय होता है, वही अभिनिवेश क्लेश है।

पातंजल योग प्रदीप के प्रणेता श्री स्वामी ओमानन्द तीर्थ स्वरसवाही की व्याख्या करते हुये कहते हैं– स्वरस नामक वासना द्वारा; वाही नाम प्रवृत्त है अर्थात् मरणभय के संस्कार जो जन्म–जन्मान्तरों से प्राणिमात्र चित्त में स्वभाव से ही चले आ रहे हैं। स्वामी जी के अनुसार विदुष शब्द यहाँ केवल ज्ञानियों के लिये प्रयुक्त हुआ है। तत्त्वदर्शियों के लिये नहीं। विदुष शब्द केवल शब्द जानने वाले विद्वान् जनों के लिये प्रयुक्त हुआ है। अर्थात् वह पुरुष जिसने कोरे शास्त्रों को पढ़ा है और क्रियात्मकरूप से योग द्वारा अनुभव तथा यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं किया है। अभिनिवेश से तात्पर्य 'मा न भूयं भूयासमिति' अर्थात् ऐसा न हो कि मैं न होऊँ, किन्तु मैं बना रहूँ।' शरीर और विषयों से मेरा सम्बन्ध बना रहे, सम्बन्ध न टूटे।

तत्त्वदर्शी तो जानते हैं कि आत्मा कभी मरती नहीं–

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतौ नायं हन्ति न हन्यते।।(श्रीमद्भगवद्गीता 2.19)

अर्थात् जो इस आत्मा को मरने वाला समझता है तथा जो इसको मरा (मरने वाला) समझता है, वे दोनों ही तत्व को नहीं जानते हैं। यह आत्मा न मारता है, न मारा जाता है। कठोपनिषद् में इस तथ्य को इस प्रकार कहा गया है–

न जायते म्रियते वा विपश्चित्
नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्य शाश्वतोऽयं पुराणो,
न हन्यते हन्यमाने शरीरे।। (कठोपनिषत् 2.2.18)

अर्थात् नित्य ज्ञानस्वरूप यह आत्मा न तो जन्म लेता है और न मरता ही है। यह न स्वयं कभी किसी से हुआ है और न इससे कोई भी हुआ है। अत यह कार्य–कारण से भी परे है। यह आत्मा अजन्मा है, नित्य है, सदा एक समान रहने वाला है तथा क्षय–वृद्धि से रहित है। शरीर के नाश किये जाने पर भी इसे मारा नहीं जा सकता। यही तथ्य गीता 2.20 में कही गई है। श्रीमद्भगवद्गीता में आत्मा के अमरत्व के कई उदाहरण हैं, यथा–

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुष पार्थ कं घातयति हन्ति कम्।।

श्रीमद्भगवद्गीता 2.21

हे अर्जुन! जो पुरुष इस आत्मा को नाशरहित, नित्य अजन्मा और अव्यय जानता है, वह पुरुष कैसे किसको मरवाता है और कैसे किसको मारता है?

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णानि नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।

श्रीमद्भगवद्गीता 2.22

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण करता है, वैसे ही आत्मा पुराने शरीरों को त्यागकर नये शरीरों को धारण करता है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।।

श्रीमद्भगवद्गीता 2.23

इस आत्मा का शस्त्रों से छेदन नहीं किया जा सकता, अग्नि इसे जला नहीं सकती, यह गलती नहीं है और न इसे वायु सुखा सकती है।

इसी प्रकार गीता 2.24–25 में कहा गया है, इस आत्मा का छेदन, जलन, गलन एवं सुखाया जाना सम्भव नहीं है। यह आत्मा निःसन्देह नित्य, सर्वव्यापक, अचल, कूटस्थ और सनातन है। यह आत्मा व्यक्त अर्थात् इन्द्रियों का अविषय और यह आत्मा अचिन्त्य अर्थात् मन का अविषय और अविकारी है। इससे इस आत्मा को ऐसा जानकर तुझे शोक करना उचित नहीं है।

फिर भी राग–द्वेष के कारण शरीर में आत्माध्यास हो जाता है और मूर्ख से लेकर विद्वान तक अपने वास्तविक आत्मस्वरूप को भूलकर भौतिक शरीर की रक्षा में लगे रहते हैं और उसके नाश से घबराते हैं। इस मृत्युभय से जो संस्कार चित्त में छप

जाते हैं, इन्हीं को अभिनिवेश क्लेश कहते हैं। यह क्लेश ही सभी प्रकार की कामनाओं का कारण है और यही कामनाएँ आत्मा को जन्म–जन्म तक भटकाती है रहती है। यही बात महर्षि ने सूत्र 2.12 में इस प्रकार कही है।

क्लेशमूल कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीय। अर्थात् वर्तमान और आगामी जन्मों में क्लेशों के मूल कारण, संस्कारों के भण्डार का अनुभव होता है।

सब दुःखों (क्लेशों) का बीजरूप होने से जो पाँचों क्लेश त्यागने योग्य हैं, उन पाँचों क्लेशों और उन क्लेशों की प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार–रूप चार अवस्थाओं का पूर्वसूत्रों में निरूपण किया गया है आगे सूत्र में महर्षि ने क्लेशों को कम करने अर्थात् उनको शान्त करने का उपाय बताया है–

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः।(पा.यो.सू. 2.10)

अर्थात् सूक्ष्म अवस्था में क्लेश उल्टी क्रिया द्वारा कम किये जा सकते हैं। प्रतिप्रसव अर्थात् अपने कारण में लीन होना ही प्रतिप्रसव क्रिया है।

आगे महर्षि उपाय के रूप में 'ध्यानहेतास्तद्वृत्तयः' कहते हैं। अर्थात् ध्यान द्वारा क्लेशों की वृत्तियों को कम किया जा सकता है।

इस प्रकार महर्षि ने क्लेश और उनके उपायों की चर्चा की है।

अभ्यास प्रश्न

1. सही/गलत बताएँ–

(1) अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः क्लेशाः (पा.यो.सू. 2.3)
(2) उदार अवस्था अर्थात् क्षीण अवस्था है।
(3) राजकुमार भिखारी के छद्म भेष में स्वयं को भिखारी ही समझने लगता है यह उदाहरण राग का है।
(4) सुख का अनुशायी क्लेश राग है।
(5) संसार प्रेम दुख देने वाला है, सांप की तरह डसता, तलवार की काटता है, यह उदाहरण योगवासिष्ठ से लिया गया है।
(6) अभिनिवेश क्लेश मृत्युभय है।
(7) राग और द्वेष का आपस में कोई सम्बन्ध नहीं है।

2. सही विकल्प चुनिये–

(1) अविद्या है–

(क) क्लेश, (ख) वृत्ति, (ग) दुख (घ) मुक्ति

(2) अनात्म को आत्म मानना है–

(क) वृत्ति (ख) क्लेश (ग) अविद्या (घ) दुख

(3) अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छन्नोदाराणाम् सूत्र है–

(क) 2.4 (ख) 2.5 (ग) 1.5 (घ) 2.3

(4) सांख्य ने मोह माना है–

(क) अविद्या को (ख) राग को (ग) द्वेष को (घ) अभिनिवेश को

(5) अस्मिता है–

(क)दर्शन शक्ति (ख) दृग् शक्ति (ग) दुख दायक (घ) सुखदायक

(6) क्रम सही है–

(क) अनुभव– संस्कार उत्पत्ति– स्मृति– द्वेष

(ख) संस्कार– अनुभव– स्मृति–द्वेष

(ग) द्वेष– अनुभव– संस्कार– स्मृति

(घ) स्मृति–अनुभव–संस्कार–स्मृति

(7) नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावक उदाहरण है–

(क) श्रीमद्भगवद्गीता (ख) मनु स्मृति

(ग) वसिष्ठ संहिता (घ) शिव संहिता

8.7 सारांश

महर्षि पतंजलि योग के आदि वक्ता, दूरदर्शी एवं मर्मज्ञ ऋषि हैं। उन्होंने मन की गहन परतों का अध्ययन सम्पूर्णता के साथ किया व उसका परिणाम हम स्पष्टतः पूर्व सूत्रों में देख चुके हैं। महर्षि ने मानव मन को जाना है उसकी कमियों को जाना है उनके कारणों की खोज की व उपाय बताया। तनाव मानव मन की सबसे बड़ी अव्यवस्थित अवस्था है। सत्य का अज्ञान, अहंकार, राग, द्वेष तथा मृत्युभय मूलभूत मानसिक तनाव है। पूर्वोक्त सूत्र विभिन्न दुखों के कारणों पर प्रभाव डालते हैं। यथार्थ का अज्ञान अन्य अनेक तनावों का मूल कारण है। कुछ तनाव प्रसुप्त, कुछ हल्के तथा कुछ महान कष्टकारी होते हैं। ऋषि पतंजलि कहते हैं कि अपने वास्तविक स्वभाव को न पहचानने से ही हम अव्यक्त और व्यक्त तनावों से घिर कर दुख को प्राप्त होते हैं। जब तक व्यक्ति अपने असली स्वभाव को नहीं पहचान लेता, तब तक तनाव और विभिन्न तनाव जनित कष्ट दूर नहीं हो सकते हैं। समस्त तनावों का मूल कारण अज्ञान है। अज्ञान को परिभाषित करते हुए महर्षि कहते हैं; विनाशी को अविनाशी, अपवित्र को पवित्र, दुख को सुख तथा अनात्म को आत्म अर्थात् अपना मान लेना ही अज्ञान है भ्रम में डालने वाला है। शरीर और मन से एकरूपता ही अहंकार है(यो.सू.2.6)। हम स्वयं को शरीर

और मन से जोड़ लेते हैं जिससे हम स्वार्थपूर्ति के व्यापार में लग जाते हैं। अहंकार ही सांसारिक वस्तुओं से राग–द्वेष उत्पन्न करता है एवं राग–द्वेष से मृत्युभय उत्पन्न होता है जो कि विद्वान् से विद्वान् व्यक्ति में भी विद्यमान रहता है।

अज्ञान की यह शृङ्खला विद्वान् व्यक्ति को भी भ्रमित कर देती है अत जब तक दृग् शक्ति और दर्शन शक्ति अलग–अलग हैं, यह ज्ञान नहीं हो जाता अज्ञान जनित दुख समाप्त नहीं हो सकता है। मानव का एकमात्र ध्येय मुक्ति और परम आनन्द को प्राप्त करना है। अज्ञान की यह रस्सी ज्ञान के प्रकाश में ही दिख सकती है अर्थात् पीड़ा का कारण ज्ञान से ही मिट सकता है। महर्षि ने ध्यान के प्रकाश से अज्ञान के अन्धकार को दूर करने का मार्ग प्रशस्त किया है। इस प्रकार अपने दुख के मूल कारण क्लेश के विषय में विस्तार पूर्वक पढ़ा व ज्ञान प्राप्त किया।

8.8 शब्दावली

क्लेश– कष्ट, दुख, तनाव
प्रसुप्त– सोया हुआ, छिपा हुआ, हीन शक्तियुक्त
दृक् शक्ति– जो देख रहा है अर्थात् पुरुष
दर्शन शक्ति– बुद्धि या प्रकृति
अहं ब्रह्मास्मि– वेदान्त दर्शन का महावाक्य जिसका अर्थ है 'मैं ही ब्रह्म हूँ'
तत्त्वमसि– वह परम तत्त्व मैं ही हूँ। यह अद्वैत वेदान्त का महावाक्य है।
ज्ञाता– जो ज्ञान का धारक है।
दृष्टा– जो देख रहा है, अर्थात् पुरुष
पंच ज्ञानेन्द्रियॉ– दृश्येन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय, स्वादेन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय
पंच कर्मेन्द्रियॉ– वाक, पाद, पाणि, पायु, उपस्थ
तृष्णा– तीव्र राग
विपर्यय– झूठा ज्ञान, असत्य को सत्य समझना
तत्वदर्शी– तत्व अर्थात् सत्य को जानने वाला। सत्य अर्थात् आत्मज्ञान
आत्माध्यास– अपना समझ लेना। अज्ञानवश व्यक्ति शरीर में आत्माध्यास कर लेता है।

8.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सही/गलत

(1) सही (2) गलत (3) गलत (4) सही (5) सही (6) सही (7) गलत

2. सही विकल्प चुनिये–

(1) (क) क्लेश (2) (ग) अविद्या (3) (क) 2.4 (4) (क) अस्मिता (5) (ख) दृक् शक्ति (6) (घ) एकादश इन्द्रियों के प्रति (7) (क)

8.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.पातंजल योगप्रदीप स्वामी ओमानन्द तीर्थ, गीता प्रेस गोरखपुर।

2.योगांक(10वां वर्ष) गीता प्रेस, गोरखपुर।

3.योगदर्शन आचार्य उदयवीर शास्त्री (आर्य साहित्य भवन)

4.पातंजल योगदर्शनम् आचार्य राजवीर शास्त्री (आर्ष साहित्य प्रचार)

5.पातंजल योगदर्शन श्रीमत् हरिहरानन्द आरण्य (मोतीलाल बनारसीदास)

6.योग मनोविज्ञान श्री शान्ति प्रकाश आत्रेय (द इण्टरनेशनल स्टेण्डर्ड वाराणसी)

7.पातंजल योगदर्शन डॉ. अश्वनी कुमार यादव (मनीष प्रकाश, वाराणसी)

8.सांख्यदर्शन व योगदर्शन पं. श्रीराम शर्मा आचार्य (वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, हरिद्वार)

9.योगदर्शन स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती (योग पब्लिकेशन ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार)

10.मुक्ति के चार सोपान स्वामी सत्यानन्द सरस्वती (योग पब्लिकेशन ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार)

8.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. महर्षि पतंजलि के अनुसार पंचक्लेश के मूल कारण की उदाहरण सहित व्याख्या कीजिये।
2. क्लेश क्या है? विस्तार पूर्वक व्याख्या कीजिये।
3. अस्मिता के कारण को बताइये व व्याख्या कीजिये।
4. 'राग व द्वेष परस्पर जुड़े हैं।' इस कथन की व्याख्या कीजिये।
5. 'स्वरसवाही विदुषोऽपि' इस कथन की व्याख्या कीजिये।

इकाई –9 अष्टांग योग का स्वरूप

9.1 प्रस्तावना
9.2 उद्देश्य
9.3 अष्टांग योग का स्वरूप
9.4 यम
- 9.4.1 अहिसा
- 9.4.2 सत्य
- 9.4.3 अस्तेय
- 9.4.4 ब्रह्मचर्य
- 9.4.5 अपरिग्रह

9.5 नियम
- 9.5.1 शौच
- 9.5.2 सन्तोष
- 9.5.3 तप
- 9.5.4 स्वाध्याय
- 9.5.5 ईश्वर प्रणिधान

9.6 आसन
9.7 प्राणायाम
9.8 प्रत्याहार
9.9 धारणा
9.10 ध्यान
9.11 समाधि
9.12 अष्टांग योग का महत्व एवं अन्य विद्वानों की व्याख्या
9.13 सारांश
9.14 पारिभाषिक शब्दावली
9.15 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर
9.16 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
9.17 सहायक उपयोगी पाठ्य सामाग्री
9.18 निबंधात्मक प्रश्न

9.1 प्रस्तावना

महर्षि पतंजलि द्वारा प्रतिपादित अष्टांग योग का उपयोग मुख्यतः चित्त की वृत्तियों को अर्थात् मन को नियन्त्रित करने के लिए किया जाता है। अष्टांग योग के अभ्यास से मनुष्य न केवल शारीरिक चेष्टाओं, किन्तु मन की नाना प्रकार की वृत्तियों पर भी अपना नियन्त्रण कर लेने में समर्थ हो जाता है। योग दर्शन के व्याख्याकारों ने योग साधक को तीन श्रेणियों उत्तम, मध्यम और निम्न में विभाजित किया है। उत्तम कोटि के साधक के लिए राजयोग, मध्यम कोटि के क्रियायोग एवं निम्न कोटि के लिए अष्टांग योग बताया है। महर्षि पतंजलि ने तीनों तरह के साधकों के लिए अलग–अलग तरह की साधनाएँ बतायी हैं। विक्षिप्त चित्त कोटि के साधकों के लिए अष्टांग योग महर्षि पतंजलि ने बताया है। विक्षिप्त चित्त वाले निम्न अधिकारी जिनका चित्त सांसारिक वासनाओं तथा राग–द्वेष आदि से कलुषित है, उनके लिए अभ्यास और वैराग्य का होना कठिन है, उनका चित्त भी शुद्ध होकर अभ्यास और वैराग्य का संपादन कर सके, इस अभिप्राय से योग के आठ अंगों की चर्चा महर्षि पतंजलि करते हैं।

विवेकख्याति की प्राप्ति हेतु अष्टांग योग का वर्णन महर्षि पतंजलि ने साधन पाद के अंतर्गत किया है। अष्टांग योग को राजयोग साधना भी कहते हैं। अष्टांग योग के अभ्यास द्वारा अशुद्धियाँ तब तक कम होती जाती हैं जब तक कि आध्यात्मिक ज्ञान का प्रकाश उपलब्ध नहीं होता है। अष्टांग योग के अभ्यास से मन और बुद्धि से मल, विक्षेप और आवरण हटते जाते हैं, वैसे–वैसे आध्यात्मिक आलोक की उपलब्धि प्राप्त होती जाती है। आध्यात्मिक उन्नति की सबसे बड़ी बाधा अविद्या है। अविद्या से अस्मिता, अस्मिता से राग, राग से द्वेष और द्वेष से अभिनिवेश, अभिनिवेश से सकाम कर्म, उनकी वासनाओं से जन्म, आयु, भोग एवं उनमें सकाम कर्मों के पाप–पुण्य के आधार पर सुख–दुःख आदि प्राप्त होते हैं। उन समस्त विकारों की निवृत्ति हेतु महर्षि पतंजलि ने अष्टांग योग को प्रमुख साधन माना है। अष्टांग योग के विभिन्न अंगों का अभ्यास योग साधक को साधना करने के लिए आवश्यक है। इससे शरीर, मन की अशुद्धियाँ दूर होती हैं और क्रमशः अभ्यास से आध्यात्मिक उपलब्धियों की प्राप्ति होने लगती है।

9.2 उद्देश्य

इस ईकाई के अध्ययन के पश्चात आपको यह ज्ञात हो जायेगा कि'

- अष्टांग योग के कौन–कौन से अंग हैं ?
- अष्टांग योग का महत्व क्या है ?
- अष्टांग योग के अभ्यास का क्या परिणाम है ?
- अष्टांग योग के संदर्भ में अन्य व्याख्याकारों का मत क्या है ?

9.3 अष्टांग योग का स्वरूप

विद्वानों ने अष्टांग योग में वर्णित साधनों को बहिरंग और अंतरंग साधनों के रूप में विभाजित किया है। यह सभी आठ अंग अन्योन्याश्रित तथा समान महत्व के हैं। प्रथम पाँच अंग यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार बहिरंग साधन अथवा बहिरंग योग कहलाते हैं। अन्य तीन धारणा, ध्यान तथा समाधि को अंतरंग साधन या अंतरंग योग कहते

हैं। बहिरंग साधन का तात्पर्य उन अभ्यासों से है जिनका लक्ष्य शरीर, समाज तथा अन्य विषयों के संदर्भ में होता है। अंतरंग साधनों का उद्देश्य एवं लक्ष्य आत्मचिन्तन होता है। बहिरंग साधनों का लक्ष्य वस्तुनिष्ठ होता है परन्तु अंतरंग साधनों का लक्ष्य आत्मनिष्ठ होता है। महर्षि पतंजलि अष्टांग का वर्णन इस प्रकार से करते हैं–

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।। पांतजल योग सूत्र 2/29

अर्थात यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि योग के आठ अंग हैं।

योग के विभिन्न अंगों के महत्व को क्रमानुसार हम यहाँ समझ सकते हैं–

1. यम – सर्वप्रथम व्यवहारिक जीवन को 'यम' के द्वारा सत्वगुण युक्त पवित्र बनाना पड़ता है, क्योंकि जिससे सकाम कर्म जन्म, मृत्यु, भोगों की प्राप्ति होती है, वे सब इससे समाप्त (नष्ट) हो जाते हैं।

2. नियम – नियम द्वारा शरीर, इन्द्रियाँ, अंतःकरण के रजस एवं तमस मल–विक्षेप आदि विनष्ट होकर अर्थात समाप्त होकर सत्वगुण सम्पन्न पूर्ण परिष्कृत हो जाते हैं।

3. आसन – आसन के अभ्यास द्वारा शरीर की रजोगुणी रूपी चंचलता, अस्थिरता, तमरूपी आलस्य आदि विकार समाप्त होकर सात्विक दिव्यता प्राप्त होती है।

4. प्राणायाम – प्राणायाम के द्वारा मन का निरोध शीघ्रातिशीघ्र होता है और साथ ही शरीर और मन निरोगी होता है।

5. प्रत्याहार – प्रत्याहार द्वारा एकादश इन्द्रियों की आलस्य–प्रमाद रूपी अज्ञानता समाप्त हो जाती है।

6. धारणा – धारणा द्वारा चित्त में स्थित मूढ़ता एवं क्षिप्त रूपी अज्ञानता को समाप्त किया जाता है तथा सात्विक रूप वृत्ति को किसी एक विषय में केन्द्रित कर दिव्यता की प्राप्ति की जाती है।

7. ध्यान – ध्यान द्वारा चित्त में स्थित रजस, तमस रूप गुणों के वेगों–विकारों का शमन सम्यक् रूप से हो जाता है।

8. समाधि – समाधि की स्थिति में ध्येय से रजोगुण को और ध्यान से तमोगुण के अवशेष को समाप्त कर दिया जाता है। इस प्रकार पवित्र सात्विक चित्त इन भावों से रहित होकर एकमात्र ध्येय के आकार के समान हो जाता है।

उपरोक्त अष्टांग योग के अगों को महर्षि पतंजलि के अनुसार वर्णित क्रम में निम्न प्रकार समझ सकते हैं –

9.4 यम

यम पातंजल अष्टागं योग का प्रथम अंग है। महर्षि पतंजलि के अनुसार –
''आहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः'' ।। पांतजल योग सूत्र 2/30
अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रहम्चर्य और अपरिग्रह – ये पांच यम बताये है।

यम के इन अंगों का अर्थ और व्यावहारिक महत्व इस प्रकार है–

9.4.1 अहिसा

मनसा, वाचा, कर्मणा किसी भी प्राणी को कभी भी– किसी प्रकार का दुःख न देना अहिंसा है। इसके अभ्यास से एक व्यापक प्रेम तथा भाई–चारे की भावना का विकास होता है, जो चित्त की शुद्ध करता है। घृणा की भावना का बहिष्कार भी अहिंसा का ही अंग है। महात्मा गांधी ने सत्य और अहिंसा को ही अपने दर्शन का आधार बनाया । उनके सर्वोदय तथा सत्याग्रह के मार्ग में सत्य और अहिंसा महत्वपूर्ण है। इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि मात्र अहिंसा के माध्यम से ही चित्त की शुद्धता और भावनाओं को परिष्कृत किया जा सकता है।

9.4..2 सत्य

यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि सत्य पर ही अन्य यम तथा नियमों का पालन निर्भर है। महात्मा गांधी ने सत्य को विशेष बल और सत्य को ही अपनी कार्य–पद्धति का आधार बनाया । उनके अनुसार सत्याग्रही व्यक्ति का समाज सत्याग्रह के माध्यम से सर्वोदय के पथ पर अग्रसर हो सकता है। सत्य के माध्यम से हम अपनी वाणी को संयमित और पवित्र बना सकते हैं।

9.4.3 अस्तेय

अस्तेय का तात्पर्य है दूसरे के धन, वस्तु या विचारों का अपने हित मे प्रयोग की प्रवृति से विरत होना। अस्तेय से व्यक्तिगत चित्तशुद्धि के अतिरिक्त व्यापक सामाजिक तनाव भी कम होता है। अर्थात् दूसरों के वैभव–ऐश्वर्य को देखकर हमारे अंदर ईर्ष्या, द्वेष अथवा लोभ का भाव न आना। अस्तेय के माध्यम से हम इस प्रकार की मानसिक दुर्भावनाओं से दूर रहते हैं।

9.4.4 ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य स्वधर्म से विरत न होने का बोधक है। यह केवल मात्र मैथुनकर्म से विरत होना नहीं है। परन्तु मैथुन कर्म से विरत रहना बह्यचर्य का एक महत्वपूर्ण अंग अवश्य है। क्योंकि यह साधक के मन व शरीर की शुद्धि के साथ–साथ उसे सामाजिक तथा शारीरिक दृष्टि से सबल रखता है, ताकि साधना के पथ पर वह कुशलता से अग्रसर हो सके।

9.4.5 अपरिग्रह

अपने स्वार्थ के लिए ममतापूर्व धन, सम्पत्ति और भोग सामग्री का संचय करना 'परिग्रह' है इसके अभाव का नाम 'अपरिग्रह' है। अपरिग्रह अर्थात् आवश्यकता अनुसार ही भौतिक साधनों का संचय व उपयोग करना। समाज की प्रगति के लिए एक बात यह भी आवश्यक है कि सभी मनुष्यों को कार्य करके उचित रीति से जीवन निर्वाह कर सकने का मौका दिया जाय। मनुष्य अपनी सम्पत्ति पर अधिकार रखकर उसका उपयोग करता रहे, इसमें कोई एतराज की बात नहीं पर उसे यह भी ख्याल रखना चाहिए कि दूसरे व्यक्तियों को भी सामाजिक सम्पत्ति में उचित भाग मिल सके और वे भी निर्वाह कर सकें।

इस प्रकार पांच प्रकार के यमों का पालन करने के रूप में योग दर्शन ने उन कर्तव्यों की शिक्षा दी है जिसके बिना समाज का अस्तित्व तथा सुस्थिरता कायम नहीं रह सकती और

आध्यात्मिक उन्नति तो क्या मनुष्य साधारण रूप से जीवन निर्वाह कर सकने, शान्तिपूर्वक खा सकने तथा सो सकने में असमर्थ हो जायेगा। ये पांचों कर्तव्य या व्रत ऐसे है जो प्रत्येक सभ्य व्यक्तियों के लिए पालन करने आवश्यक है।

उपरोक्त वर्णन से आप समझ गये होगें कि यम का क्या अर्थ एवं महत्व है। यम के पश्चात महर्षि पतंजलि द्वारा वर्णित नियम को हम इस प्रकार समझ सकते हैं–

9.5 नियम

नियम पातंजल अष्टागं योग का द्वितीय अंग है। महर्षि पतन्जलि के अनुसार –

''शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः''।। पांतजल योग सूत्र 2/32

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान–ये पांच नियम बताये हैं। नियम के इन अंगों का अर्थ और व्यावहारिक महत्व इस प्रकार है–

9.5.1 शौच

शौच का तात्पर्य है जीवन के शारीरिक या मानसिक क्रिया–कलाप के प्रत्येक क्षेत्र में शुद्धता का अभ्यास। शरीर, वस्त्र और आवास आदि के मल को दूर करना बाह्य शुद्धि है। वर्णाश्रम और योग्यतानुसार प्रमाणपूर्वक अन्न, धन आदि पवित्र व्यवहार करना भी ब्राह्य शुद्धि ही है। जप, तप और शुद्ध विचारों द्वारा तथा मैत्री आदि की भावना से अन्तःकरण के राग द्वेषादि मलों का नाश करना आभ्यन्तर शौच है।

9.5.2 सन्तोष

शौच के बाद सन्तोष दूसरा नियम है। कर्तव्य–कर्म का पालन करते हुए उसका जो परिणाम हो तथा प्रारब्ध के अनुसार स्वयं जो कुछ प्राप्त हो तथा जिस परिस्थिति में रहना पड़े, उसी से सन्तुष्ट रहना और अन्य किसी प्रकार की कामना न करना 'संतोष' है। संतोष के माध्यम से व्यक्ति के जीवन में शांति और सुख का आगमन होता है।

9.5.3 तप

इसका शाब्दिक अर्थ है–तपाना, जलाना, चमकाना, कष्ट सहनाा अथवा उष्णता से जलना। इसलिए इसका अर्थ है, जीवन में एक निश्चित ध्येय की प्राप्ति के लिए किन्ही भी स्थितियों में सतत एवं अथक प्रयत्न। इसमें पवित्रता, आत्मसंयम और कठिन तपस्या समाविष्ट है। महयोगी तप से शरीर, मन और चरित्र की शक्ति का विकास करते हैं। वह साहस, ज्ञान, स्थिरता, और सादगी प्राप्त करता है। तप दिव्यात्मा से अंतिम मिलन की प्राप्ति का और इस उद्देश्य के मार्ग में बाधक बननेवाली सभी कामनाओं को जलाने का जागृत प्रयत्न है। तप के बिना जीवन प्रेमहीन हृदय के समान है। तप के बिना चित्त परमात्मा तक पहुँच नहीं सकता है।

9.5.4 स्वाध्याय

स्व का अर्थ है स्वयं और अध्याय का अर्थ है अध्ययन करना। व्यक्ति के अन्दर जो उत्तम है उसे प्रकट करना शिक्षण है। इसलिए स्वाध्याय आत्मअध्ययन है। यह अपनी जीवन दशा का उचित मूल्यांकन एवं जीवन का सही दिशा निर्धारण है। स्वस्थ, प्रसन्न एवं शान्त जीवन बनाने के लिए पवित्र स्थान में दिव्य (धार्मिक) ग्रंथों का नियमित अध्ययन आवश्यक है। संसार के धार्मिक ग्रंथों का यह अध्ययन साधक को ध्यान केन्द्रित करने में और जीवन की कठिन समस्याओं, जब वे उपस्थित होगी, के सुलझाने में समर्थ बनाता है। यह अज्ञान को

मिटाकर ज्ञान को सुलभ कराता है। उन्नत विचार जो स्वाध्याय से निकलते है वे व्यक्ति के दृष्टिकोण को परिवर्तित करते हैं जिससे वे व्यक्ति के जीवन और अस्तित्व के अंग हो सकें।

9.5.5 ईश्वर प्रणिधान

ईश्वर प्रणिधान का तात्पर्य है कि ईश्वर के पूर्ण भक्ति भावपूर्वक आत्म समर्पण सहित उपासना। इसका सही–सही अभ्यास वस्तुतः अविद्याादि पंचक्लेषों का मूलोच्छेदन करते हुए मानसिक शांति एवं व्यक्तित्व संगठन का ठोस आधार बनाता है।

9.6 आसन

आसनों का पूर्ण वर्णन हठयोग से ग्रन्थों में ही उपलब्ध होता है। हठयोग प्रदीपिका में आसन का योगाभ्यास में प्रथम स्थान है। हठयोग में आसनों के अनेक भेद बतलायें गये हैं, परन्तु योगसुत्रकार महर्षि पतंजलि के अनुसार–

''स्थिरसुखमासनम्'' ।। पांतजल योग सूत्र 2/46

अर्थात् स्थिर होकर सुखपूर्वक बैठनै का नाम आसन है। अपनी आवश्यकता के अनुसार जिस भी विधि से स्थिरभाव सुखपूर्वक बैठ सके, वही आसन है। आसनों का अभ्यास शारीरिक एवं मानसिक विकास तथा, व्याधि–निवारण, हेतु बताया गया है। इसी कारण से आधुनिक समाज में आसनों का अभ्यास दैनिक जीवन के तनाव को कम करने के किया जाता है।

9.7 प्राणायाम

प्राणायाम का अर्थ है–प्राण का विस्तार करना। स्थूल रूप में यह जीवनी शक्ति प्राण से संबंधित है। योगसुत्रकार महर्षि पतंजलि के अनुसार–

''तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासंयोर्गति विच्छेदः प्राणायामः''।। पांतजल योग सूत्र 2/49

अर्थात् उस आसन की सिद्धी होने के बाद श्वास और प्रश्वास की गति का स्थिर हो जाना प्राणायाम कहलाता है। प्राणायाम के तीन अंग हैं, पूरक–श्वास को अंदर खींचना, कुंभक–श्वास को रोकना तथा रेचक–श्वास को बाहर छोड़ना। फिर भी इसका प्रयोग विशिष्ट ढंग से क्रमबद्ध शरीर–क्रियात्मक विकास तथा मनोदैहिक विश्रांति के लिए करते हैं। विभिन्न प्रायौगिक अध्ययनों में प्राणायाम से अंतःस्रावी ग्रंथियों तथा चयापचयात्मक क्रियाओं में विकास, हृदय तथा फेफड़ों की क्रिया में सुधार के लक्षण देखे गये हैं। महर्षि पतंजलि के अनुसार प्राणायाम केवल श्वसनिक व्यायाम ही नहीं अपितु एक विशिष्ट प्रकार की विधि है, जिससे शारीरिक तथा मानसिक स्वस्थता का अनुभव होता है। प्राणायाम चित्त की एकाग्रता एवं स्थिर दृढ़ता प्रदान करने वाली विज्ञानसम्मत यौगिक विद्या है।

9.8 प्रत्याहार

वस्तुतः पतंजलि के अष्टांगयोग में प्रत्याहार अन्तरंग तथा बहिरंग अवस्थाओं में सेतु रूप है। महर्षि पतंजलि के अनुसार –

''स्वविषयासंप्रयेागे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः''।। पांतजल योग सूत्र 2/54

अर्थात् अपने विषयों के सम्बन्ध से रहित होने पर इंद्रियों का जो चित्त के स्वरूप में तदाकार हो जाता है, वह प्रत्याहार है। प्रत्याहार स्वनियन्त्रण की प्रक्रिया है, जिसका अर्थ अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों से पृथक रखना है। प्रत्याहार मनोनिरोध एवं इन्द्रिय–व्यापार से मन को अलग करने की प्रक्रिया है। वस्तुतः प्रत्याहार द्वारा योगी अपने मन को स्वयं में केन्द्रित कर इसे इन्द्रियों द्वारा प्राप्त तरंगों से पृथक कर लेता है। व्यावहारिक रूप से प्रत्याहार जीवन के अवांछनीय प्रवाह से स्वयं को समेटने व आत्मान्मुख करने का अभ्यास है। प्रत्याहार सिद्ध होने पर साधक अपनी इन्द्रियों, विचारों एवं भावनाओं पर नियंत्रण प्राप्त कर लेता है।

9.9 धारणा

धारणा पतन्जलि के अष्टांग योग में छठे, अंग के रूप में वर्णित है। पतंजलि ने धारणा को अन्तरंगयोग मानते हुए संयम का अंग माना है। महर्षि पतंजलि के अनुसार –

''देशबन्धश्चित्तस्य धारणा'' ।। पांतजल योग सूत्र 3/1

अर्थात् किसी एक देश में चित्त को स्थिर करना धारणा है। वस्तुतः यह एक प्रकार का मानसिक व्यायाम है, जो साधक को आगे ध्यान तथा समाधि के अभ्यास में समर्थ बनाता है। धारणा में भी वही साधक पूर्ण सफल होता है, जो बहिरंग योगाभ्यास के साथ–साथ प्रत्याहार का सफल अभ्यास कर रहा है। धारणा से मन की एकाग्रता व स्थिरता में वृद्धि होती है, जो कि व्यक्तित्व विकास हेतु अनिवार्य घटक है। इस तरह धारणा व्यक्तित्व के संगठन को सुदृढ़ बनाने में सहायक है।

9.10 ध्यान

धारणा के पश्चात् ध्यान की प्रक्रिया है। महर्षि पतंजलि के अनुसार –

''तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।'' ।। पांतजल योग सूत्र 3/2

अर्थात् उसी में वृति का एकाग्र होना ध्यान है। जहां चित्त को लगाया जाय उसी में वृति का लगातार एकाग्र होना ध्यान है। जब धारणाभ्यासी देश–विशेष में मन को लगाते हुए मन को ध्येय विषय पर स्थिर कर लेता है तो उसे ध्यान कहते हैं। यह समाधि–सिद्धि के पूर्व की अवस्था है। अर्थात जिस अवस्था में केवल ध्येय मात्र की ही वृति का प्रवाह बने तथा ध्याता व ध्येय के बीच में कोई भी दूसरी वृत्ति न उठे वही ध्यान है। वस्तुतः इसका अभ्यास मानवीय चेतना के सभी स्तरों को प्रकाशित करता है तथा चेतना को परिष्कृत करता है। यह चेतन मन को जाग्रत करने की प्रक्रिया है तथा अचेतन मन की दबी हुई ग्रंथियों का निराकरण कर चेतना की उच्च अवस्था तक पहॅचाने की विधि है। इस तरह ध्यान के द्वारा समूचा मन सशक्त तथा संगठित होता है।

9.11 समाधि

समाधि अष्टांगयोग का आठवां तथा अन्तिम लक्ष्य है। प्रायः योग की सभी विचारधाराओं में समाधि को अन्तिम लक्ष्य स्वीकार किया गया है। यह मन की समस्त वृत्तियों के निरोध या विनाश की अवस्था है। महर्षि पतंजलि के अनुसार –

''तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः'' ।। पांतजल योग सूत्र 3/3

अर्थात् जब ध्यान में केवल ध्येय मात्र की ही प्रतीत होती है और चित्त का निज स्वरूप शून्य हो जाता है, तब वही (ध्यान ही) समाधि हो जाता है। अर्थात् ध्यान करते करते जब चित्त ध्येयकार में परिणत हो जाता है, उसके अपने स्वरूप का अभाव सा हो जाता है। और उसको ध्येय से भिन्न उपलब्धि नहीं होती; उस समय उस ध्यान का नाम ही समाधि हो जाता है।

धारणाभ्यास में बाह्यकर्षण कम हो जाते है और ध्यान की अवस्था में निजस्वरूप का आभास की आवृति कम होते होते समाधि अवस्था में पहुँचने तक चेतना पूर्णरूप से अहं तथा अन्य विकारों से रहित हो जाती है और चेतना के क्षेत्र में ध्येय मात्र शेष रह जाता है। इस स्थिति में किसी तरह की तनाव, द्वन्द्व आदि की ग्रंथियां नहीं रहते। यह मानसिक स्वास्थ्य संतुलन एवं कार्यक्षमता की चरम अवस्था है और भारतीय चिंतन में जीवन का परम एवं चरम ध्येय भी है।

9.12 अष्टांग योग का महत्व एवं अन्य विद्वानों की व्याख्या

अष्टांग योग के अभ्यास से शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति होकर क्रम से पंचविभाग वाली अविद्या नष्ट होती है। अविद्या के नाश हो जाने से तज्जन्य अंतःकरण की अपवित्रता का क्षय होता है और आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है। जैसे–जैसे साधक योगांगों का आदरपूर्वक अनुष्ठान करता है, वैसे–वैसे ही उसके चित्त की मलिनता का क्षय होता है और मलिनता क्षय के परिणाम में उसके चित्त में ज्ञान की उत्कृष्टता होती जाती है।

महर्षि पतंजलि ने यही बात अपने योगदर्शन में कही है–

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।। पांतजल योग सूत्र 2/28

अर्थात योग के अंगों का अनुष्ठान करने से अशुद्धि का क्षय होने पर ज्ञान का प्रकाश विवेकख्याति पर्यन्त हो जाता है।

अष्टांग योग के महत्व के सन्दर्भ में अन्य विद्वानों की व्याख्या इस प्रकार है–

महर्षि व्यास के अनुसार –

योगाङ्गानि अष्टावभिधायिष्यमाणानि; तेषामनुष्ठानात् पंचपर्वणो विपर्ययस्याशुद्धिरूपस्य क्षयः नाशः।। तत्क्षये सम्यक्ज्ञानस्याभिव्यक्तिः।। व्यासभाष्य 2/28

अर्थात योग के आठ अंगों के अनुष्ठान करने से, निरन्तर अभ्यास करने से अशुद्धि रूप पांचों क्लेश रूपी मिथ्या ज्ञान का नाश हो जाता है और उस मिथ्या ज्ञान रूपी अशुद्धि के क्षीण हो जाने पर तत्वज्ञान की अभिव्यक्ति होती है।

आचार्य श्रीराम शर्मा के अनुसार –योगांगों का सम्यक रूप से अनुष्ठान करने अर्थात अभ्यास द्वारा आचरण में लाने से चित्त के क्लेश (मल) रूपी विकार नष्ट हो जाते हैं और ज्ञान का प्रकाश प्रकट हो जाता है अर्थात चित्त निर्मल हो जाता है। उस समय योगी/साधक के ज्ञान का आलोक विवेकख्याति तक पूर्ण रूप से प्रसृत हो जाता है अर्थात वह विवेकख्याति (ज्ञान का आलोक) उसे (साधक को) आत्मा का स्वरूप, बुद्धि, अहंकार एवं इन्द्रियों से सदैव पृथक प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर होता है।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार

योग के विभिन्न अंगों का अनुष्ठान करते–करते जब अपवित्रता का नाश हो जाता है तब ज्ञान प्रदीप्त हो उठता है, उसकी अंतिम सीमा है विवेकख्याति।

स्वामी ओमानंद तीर्थ के अनुसार–

योग के आठ अंगों के अनुश्ठान से क्लेष रूपी अषुद्धि दूर होती है और सम्यक ज्ञान का प्रकाष बढ़ता है। इन अंगों का अनुश्ठान जितना–जितना बढ़ता जाता है उतनी ही क्लेष की निवृत्ति और ज्ञान के प्रकाष की अधिकता होती जाती है। यह ज्ञान के प्रकाष की वृद्धि 137ववकेख्याति पर्यनत पहुँच जाती है।

स्वामी हरिहरानंद आरण्य के अनुसार–

क्लेश समूह या अविद्यादि पांच प्रकार के अज्ञान प्रबल रहने से भी श्रुतानुमानजनित विवेकज्ञान होता है। परन्तु योग साधन द्वारा उन सब अज्ञान संस्कारों की जितनी क्षीणता होती रहती है उतनी ही विवेकज्ञान की प्रस्फुटता होती है। तदुपरान्त समाधि लाभपूर्वक सम्प्रज्ञात समापत्ति में सिद्ध होने पर विवेक की भी पूर्ण ख्याति होती है।

महर्षि दयानन्द के अनुसार

योग के आठ अंगों के अनुष्ठान से अविद्यादि दोषों का क्षय और ज्ञान के प्रकाश की वृद्धि होने से जीव यथावत मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

आचार्य राजवीर शास्त्री के अनुसार

योग के आठ अंगों के अनुष्ठान करने से चित्त के दोष क्षीण होने लगते हैं और उत्तरोत्तर ज्ञान की वृद्धि होने लगती है। यह ज्ञान वृद्धि विवेकख्याति तक होती रहती है।

अभ्यास प्रश्न

1. अष्टांग योग के कुल कितने अंग हैं–
   क. 18 ख. 28 ग. 8 घ. 88
2. अष्टांग योग का उद्देश्य है–
   क. विवेक प्राप्ति ख. विवेक शुद्धि ग. विवेक ख्याति घ. विवेक बुद्धि
3. अष्टांग योग के अंतरंग साधन हैं–
   क. यम–नियम ख. आसन–प्राणायाम ग. षटकर्म–ध्यान घ. धारणा–ध्यान
4. अष्टांग योग के बहिरंग साधन हैं–
   क. समाधि–संयम ख. आसन–प्राणायाम ग. षटकर्म–ध्यान घ. धारणा–ध्यान
5. प्रत्याहार का अर्थ है–
   क. इन्द्रियों का अन्तर्मुखी होना
   ख. आहार को त्यागना
   ग. इन्द्रियों का बहिर्मुखी होना
   घ. सभी को आहार देना

9.13 सारांश

अष्टांग योग के ये अंग ऐसे उपाय हैं जिनसे शारीरिक तथा मानसिक विकास होता है। वास्तव में अष्टांग योग का प्रत्येक अंग पृथक रूप से योग के अभ्यास में एक–एक सीढ़ी की तरह हैं जो कि जीवन के लिए एक उपयोगी व श्रेष्ठ साधन है। इस अध्याय में हमने अष्टांग योग के महत्व और उसके स्वरुप का अध्ययन किया। योग की पूर्ण साधना के लिए इन आठों अंगों का क्रमशः अभ्यास आवश्यक है। क्रमशः एक–एक अंग पर पूर्ण अधिकार हो जाने पर ही अग्रिम योगांगों में प्रवृत्ति होती हैं। इन अष्टागों में से प्रथम दो (यम–नियम) प्रधानतः आचार–सम्बन्धी अभ्यास है, उसके बाद के दो अंग (आसन–प्राणायाम) शरीर को

भौतिक रूप से योगाभ्यास योग्य बनाने के उपाय हैं। पांचवा अंग प्रत्याहार प्रधानतः इन्द्रियानिग्रह का उपाय है और उसके बाद की प्रक्रियाएँ (धारण, ध्यान तथा समाधि) पूर्ण रूप से मानसिक तथा आध्यात्मिक नियमन की साधनाएँ है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार को बहिरंग योग कहा जाता है और इसके विपरीत धारणा, ध्यान एवं समाधि को अन्तरंग येाग कहा जाता है। ये तीनों संयुक्त रूप से 'संयम' कहलाते हैं। प्रत्याहार अन्तरंग तथा बहिरंग योग के बीच की एक महत्वपूर्ण कडी है। बिना प्रत्याहार के अन्तरंग योग में प्रवृति नहीं हो सकती। अष्टांग योग के ये सभी साधन परस्पर अन्योन्याश्रित होते हैं जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि सभी अंगों का महत्व एवं उपयोग पारस्परिक निर्भर है। अतः अष्टांग योग योगसाधना हेतु महत्वपूर्ण एवं व्यावहारिक विधि है।

9.14 पारिभाषिक शब्दावली

क्लेश– ऐसी समस्याऐं जिसके कारण जीवन के समस्त दुख उत्पन्न होते हैं।
अन्तरंग साधन – ऐसे साधन जिनका प्रभाव सीधा मानसिक, भावनात्मक एवं आत्मिक होता है।
बहिरंग साधन – ऐसे साधन जिनका प्रभाव सीधा व्यवहारिक एवं शारीरिक होता है।
विवेकख्याति – विवेकख्याति की प्राप्ति होने पर आत्मा का स्वरुप, बुद्धि, अहंकार और इन्द्रियों से सर्वथा भिन्न प्रत्यक्ष ज्ञात होता है।
संस्कार– स्वंय के द्वारा किये गये कार्यों (वर्तमान एवं भूत) से संचित अनुभव।
श्रुतानुमानजनित – सुने हुए एवं अनुमान से ज्ञात ज्ञान।
आत्मनिष्ठ – पूर्णतः व्यक्तिगत् विषय केवल स्वंय से सम्बन्धित।
वस्तुनिष्ठ – समूह से सम्बन्धित एवं सभी के लिए एक समान प्रभाव वाला।
अन्तःकरण – इन्द्रिय, मन और आत्मा से सम्बन्धित।
ध्येय – ध्यान का विषय ही ध्येय है।

9.15 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर

उत्तर– 1. ग, 2. ग, 3. घ, 4. ख, 5. क।

9.16 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- आचार्य, पं. श्रीराम शर्मा, सांख्य दर्शन एंव योग दर्शन, वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, वेद विभाग, शान्तिकुन्ज, हरिद्वार, 2000.
- आचार्य राजवीर शास्त्री, पांतजल योगदर्शन– भाष्यम्, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, 455, खारी बावली, दिल्ली–6.
- आरण्य स्वामी हरिहरानन्द, पांतजल योगदर्शनम्, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली,2000.
- कुमारी पवन, विज्ञानभिक्षु प्रणीत योगसारसंग्रह, ईस्टर्न बुक लिकर्स, दिल्ली,1981.
- चन्द्र त्रिलोक, पांतजलयोग और श्री अरविन्दयोग, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली,1992.
- तीर्थ श्रीस्वामी ओमानन्द, पांतजलयोगप्रदीप, गीता प्रेस, गोरखपुर,2005.
- विवेकानन्द स्वामी, विवेकानन्द साहित्य, खण्ड–1, स्वामी स्वानन्द, अद्वैत आश्रम, मायावती, पिथैरागढ़–पुनमुद्रित, 2000.

- सरस्वती स्वामी दिव्यानन्द, वेदों में योग विद्या, यौगिक शोध सस्थांन, योगधाम, आर्यनगर, हरिद्वार,1999.

9.17 सहायक उपयोगी पाठ्य सामाग्री

- सरस्वती स्वामी सत्यानन्द, मुक्ति के चार सोपान, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार.
- तीर्थ श्रीस्वामी ओमानन्द, पांतजलयोगप्रदीप, गीता प्रेस, गोरखपुर.
- गोयन्दका हरिकृष्णदास, पातंजल योग दर्शन, (साधारण हिन्दी–व्याख्या सहित), गीता प्रेस, गोरखपुर.
- .विवेकानन्द स्वामी, विवेकानन्द साहित्य, खण्ड–1, स्वामी स्वानन्द, अद्वैत आश्रम, मायावती, पिथैरागढ.
- आरण्य स्वामी हरिहरानन्द, पांतजल योगदर्शनम्, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली.
- आचार्य, पं. श्रीराम शर्मा, सांख्य दर्शन एंव योग दर्शन, वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, वेद विभाग, शान्तिकुन्ज, हरिद्वार.
- पण्डया डॉ. प्रणव, अर्न्तजगत की यात्रा का ज्ञान विज्ञान, वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, शान्तिकुन्ज, हरिद्वार
- श्रीवास्तव सुरेशचन्द्र, पांतजलयोगदर्शन, चौखभ्मा सुभारती प्रकाशन, वाराणसी.
- आचार्य उदयवीर शास्त्री, योगदर्शनम् – विद्योदयभाष्यम्, विजय कुमार गोविन्दराम हासानन्द, 4408, नई सड़क, दिल्ली–6.

9.18 निबंधात्मक प्रश्न

1. अष्टांग योग से आप क्या समझते हैं ?
2. महर्षि पतंजलि के अनुसार अष्टांग योग की विस्तृत व्याख्या कीजीए।
3. अष्टांग योग का महत्व स्पष्ट कीजीए।
4. अंतरंग एवं बहिरंग साधन से आप क्या समझते हैं ?

इकाई–10 यम एवं नियम

10.1 प्रस्तावना

10.2 उद्देश्य

10.3 यम का स्वरूप

- 10.3.1 अहिंसा
- 10.3.2 सत्य
- 10.3.3 अस्तेय
- 10.3.4 ब्रह्मचर्य
- 10.3.5 अपरिग्रह
- 10.3.6 महाव्रत का स्वरूप

10.4 नियम का स्वरूप

- 10.4.1 शौच
- 10.4.2 संतोष
- 10.4.3 तप
- 10.4.4 स्वाध्याय
- 10.4.5 ईश्वर प्रणिधान

10.5 प्रतिपक्ष भावना एवं वितर्क

10.6 सारांश

10.7 पारिभाषिक शब्दावली

10.8 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर

10.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

10.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामिग्री

10.11 निबंधात्मक प्रश्न

10.1 प्रस्तावना

यम–नियम अष्टांग योग के सबसे महत्वपूर्ण अंग है। महर्षि पतंजलि ने योग के आठ अंगों में सबसे प्रथम स्थान पर इसे ही रखा है। इसे योग का प्रथम सोपान माना जाता है। यम–नियम राजयोग साधना के प्रारम्भिक और महत्वपूर्ण अंग हैं। इनका पालन किए बिना राजयोग की साधना अंसभव है।

योग दर्शन में अष्टांग योग के अंतर्गत इसका वर्णन बहुत विस्तार से हुआ है। अष्टांग योग का महत्व यम–नियमों के कारण ही हैं। यम–नियम का पालन योग में आवश्यक है तथा समाज व्यवस्था को सुदृढ़ रखने में भी इसका महत्वपूर्ण स्थान है। इसलिए स्वामी विवेकानन्द ने इन्हें चरित्र निर्माण की आधारशिला कहा है एवं स्वामी शिवानन्द ने योग की आधारशिला कहा है। अष्टांग योग में वर्णित यम–नियम अत्यंत महत्वपूर्ण प्रक्रिया है, इसलिए इन्हें पहले व दूसरें अंग के रूप में रखा गया है। साधन का मूल तत्व अथवा सार यम – नियम में ही मिलता है।

यम का पालन करने के रूप में येाग–दर्शन ने उन कर्तव्यों की शिक्षा दी है जिनके बिना समाज का अस्तित्व तथा सुस्थिरता कायम नहीं रह सकती और आध्यात्मिक उन्नति तो क्या मनुष्य साधारण रूप से जीवन निर्वाह नहीं कर सकते। यम ऐसे व्रत (कर्त्तव्य) है जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए पालन करने योग्य है यह सामाजिक सन्तुलन से सम्बन्धित हैं। नियमों का सम्बन्ध व्यक्तिगत जीवन से है। इसमें जिन ब्रतों (कर्त्तव्य) का पालन करने पर जोर दिया गया है वे सब ऐसे हैं जिनसे मनुष्य का जीवन वास्तव में सुखी और सन्तुष्ट बन सकता है। यम–नियम से संबंधित पातंजल योग सूत्र की विभिन्न टीकाएं एवं भाष्य जिन व्याख्याकारों ने की हैं उनमें से कुछ का वर्णन प्रस्तुत इकाई में किया गया है। महर्षि पतन्जलि ने अपने योग सूत्रों में यम–नियम के अंगों के स्वरुप का वर्णन नहीं किया है केवल उनके परिणामों का ही वर्णन है। हम यहाँ अन्य व्याख्याकारों के अनुसार यम–नियम के अंगों के स्वरुप को एवं महर्षि पतन्जलि के अनुसार इनसे प्राप्त होने वाले परिणामों को समझने का प्रयास करेगें।

10.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के सम्यक अध्ययन के बाद आप समझ सकेगे कि–

- यम के अंग क्या हैं ?
- महाव्रत का स्वरूप क्या है ?
- नियम के अंग क्या हैं ?
- वितर्क और प्रतिपक्ष भावना क्या है ?
- यम एवं नियम के फल क्या हैं ?
- अन्य व्याख्याकारों का यम–नियम के संदर्भ में क्या मत है ?

10.3 यम का स्वरूप

यम शब्द की उत्पत्ति यम उपरमे तथा यम बन्धने धातु से हुई है। उपरम का अर्थ है अभाव तथा बन्धन का अर्थ है किसी व्रत, नियम या अनुशासन में बंधना अर्थात स्वाभाविक हिंसा,

मिथ्या, मैथुन तथा परिग्रह का अभाव रूप अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह का अनुशासन यम है। यम शब्द का एक अर्थ नियमन भी है। व्यापक रूप में इसका अर्थ ऐसा आत्मानुशासन है जिसके द्वारा मानव में अहं भाव और उसकी उत्तेजनाओं को विजित करके तथा शान्त करके उसे पूर्ण रूप से मिटा दिया जाए। वस्तुतः यम मानव के मौलिक कर्त्तव्य हैं जिनके आधार पर समाज टिका हुआ है। महर्षि पतन्जलि के अनुसार यम हम पूर्व के अध्याय में भी पढ़ चुके हैं जो इस प्रकार हैं –

''आहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः'' ।। पांतजल योग सूत्र 2/30

अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रहम्चर्य और अपरिग्रह – ये पांच यम है। यम से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–

विज्ञानभिक्ष के अनुसार –अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरग्रिह–ये संक्षेप में मनुष्यों को शुद्धि प्रदान करने वाले यम कहे गये हैं।
स्वामी हरिहरानंद के अनुसार –सत्यादि द्वारा लोभ, द्वेषादि स्वर्थपरतापूरक वृत्तियां क्षीण होती रहती हैं, इसलिए अन्य सब यम तथा नियमों का अनुष्ठान हमारे व्यवहार को निर्मल करता है।

यम को निम्नलिखित परिभाषाओं से आप और स्पष्टतः समझ सकते हैं–

यम्यते निम्यते चित्तम अनेन इति यमः।

अर्थात् जिससे चित्त का नियंत्रण किया जाए, वह यम है।

उपनिषद के अनुसार– उपनिषद में यम की परिभाषा निम्न प्रकार दी गयी है–

सर्व वहनोति ज्ञानेन्द्रियग्राम संयमः।

यमोऽयमिति संप्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः।।

अर्थात यह सब ब्रह्म है, इस ज्ञान से इन्द्रियों का संयम करना ही यम कहलाता है। इसी का बारंबार अभ्यास करना चाहिए।

देहेन्द्रियेषु वैराग्यं यम इति उच्यते बुधैः। –त्रिशिखिब्राह्मोपनिषद 2/28

अर्थात इन्द्रियों और देह में वैराग्य की भावना ही यम है, ऐसा बुद्धिमान लोग कहते हैं।

योगसुधा के अनुसार–

हिंसादिभ्यो निषिद्ध कर्मभ्यो योगिनः। यमयन्ति विर्क्तयन्ती यमाः।। योगसुधा 2/3

अर्थात जो हिंसादि कर्मों से हटाने वाले हैं, वे यम कहलाते हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि यम मानव के सामाजिक कर्त्तव्य हैं जिससे समाज व्यवस्था भली–भांति चलती रहती है। यम से संबंधित अंगों का विस्तृत वर्णन इस प्रकार है–

10.3.1 अहिंसा–

अहिंसा का सामान्य अर्थ हिंसा न करना है अर्थात किसी प्राणी को मन, वचन, कर्म से पीड़ा न पहुंचाना। अहिंसा से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–

व्यास भाष्य के अनुसार – अहिंसा सर्वथा (होना ही चाहिए, विकल्परहित) सर्वदा (हमेशा सर्वभूत सभी प्रणियों के प्रति), अविद्रोह की भावना से परे है।

आयुर्वेद ग्रन्थ के अनुसार – ''हिंसा तम का द्योतक है। यह अभिघात (चोट मारना) और प्रतिरोध को उत्पन्न करने वाला होता है। अतः इसे पापकर्म बताकर त्यागने का निर्देष है। – अष्टांग हृदय– 1/1/5

शाडिल्योपनिषद के अनुसार –

मनसा, वाचा कर्मणा कभी भी किसी प्राणी को कष्ट न देना अहिंसा है। 1/1/5

तत्वार्थ सूत्र के अनुसार – यह जैन दर्शन का ग्रन्थ है इसके अनुसार ''प्रमाद के योग से जीवमात्र के प्राणो का घात करना हिंसा कहलाता है। जैन दर्शन में दो प्रकार की हिंसा का उल्लेख है–

1)द्रव हिंसा – इसमें किसी जीव की शरीर से हत्या करना है।
2) भाव हिंसा – मन से किसी को पीड़ा पहुंचाना भी हिंसा है।

इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि मात्र अहिंसा के माध्यम से ही चित्त की शुद्धता और भावनाओं को परिष्कृत किया जा सकता है।

अहिंसा का परिणाम –

महर्षि पतंजलि अहिंसा का परिणाम बताते हुए स्पष्ट करते हैं कि–

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्धौ बैरत्यागः।। पातंजल योग सूत्र 2/35

अर्थात् अहिंसा की दृढ़ स्थिति हो जाने पर उस योगी के निकट सब प्राणी बैर का त्याग कर देते हैं।

स्पष्ट है कि अहिंसा फल ऐसा होता है कि जिससे सभी प्राणी प्रेम करने लगते हैं। जो इस व्रत का पालन करते है। उसके पास सभी हिंसक प्राणी अपना बैर त्याग देते हैं।

10.3.2 सत्य –

सत्य को यथार्थ वचन द्वारा समझा जाता है। सत्य से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–

स्वामी हरिहरानन्द के अनुसार, वाक्य को तद्नुरुप करने की चेष्टा ही सत्यसाधन है।

मनुस्मृति में कहा गया हैः–

सत्यं ब्रूयात प्रिंय ब्रुयान्न ब्रुयात सत्यमप्रियं।

प्रियं न नानृतं ब्रुयात एशं धर्म सनातनः।।

अर्थात् सत्य बोलो, प्रिय बोलो। अप्रिय सत्य नहीं बोलो एवं प्रिय असत्य भी नहीं बोलो, यही सनातन धर्म है।

सत्य के संबंध में वशिष्ठ संहिता में बतलाया गया हैः–

सत्यं भूतहितं प्रोक्तं यथा न्यायाभिभाषणं।

प्रियं च सत्यमित्युक्तं सत्यमेतद् प्रबीमितों।।

अर्थात् न्यायपूर्वक सत्य का कथन प्राणियों के लिए हितकारी बतलाया गया है। जो सत्य प्रिय होता है। वही सत्य कहलाता है।

स्वामी विवेकानन्द ने सत्य व्यवहार के लाभ के बारे में कहा है कि सत्यवान जो भी कहता है वह घटित हो जाता है। यदि किसी को श्राप देता है या परोपकारी कल्याणकारी वचन कहता है, वह फलित होता है। सत्य का आचरण हजार हाथियों जितनी शक्ति देता है।

सत्य का परिणाम–

सत्य के सिद्ध होने पर साधक की वाणी अमोघ हो जाती है, मुख से निकला हुआ प्रत्येक वचन सत्य हो जाता है। महर्षि पतंजलि सत्य का परिणाम बताते हुए स्पष्ट करते हैं कि–

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। पातंजल योग सूत्र 2/36

अर्थात् ृसत्य के पूर्णतया प्रतिष्ठित हो जाने पर क्रियाफल के आश्रय का भाव आ जाता है।

भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान– तीनों कालों में सत्यनिष्ठ योगी द्वारा ऐसी भावना धारण करने से कि असत्य वचन का प्रतिपादन नहीं करुँगा, तब उसका अन्तस् इतना निर्मल हो जाता है कि उसकी वाणी से वही बात निःसृत होती है, जो क्रियारुप में परिणत हो जाती है।

10.3.3 अस्तेय

स्तेय का सामान्य अर्थ चोरी करना है अतः अस्तेय का अर्थ चोरी न करना है। इसका प्रभाव व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन पर पड़ता है।

जो धर्मतः अप्राप्य होता है उस प्रकार के द्रव्य का ग्रहण स्तेय कहलाता है। पृथ्वी में कहीं पर भी गुप्त स्थल में स्थित सभी तरह के शोधित रत्न, वस्तु पदार्थ आदि उसके लिए प्रकट हो जाते है। किसी भी पदार्थ वस्तु पदार्थ के प्रति राग (आसक्ति) का होना भी स्तेय (चोरी) कहलाता है। इस तरह सभी तरह की चोरी की भावना स्तेय के अतंर्गत आता है तथा उसे न करना अस्तेय है। इसके माध्यम से व्यक्ति के व्यवहार की प्रमाणिकता सिद्ध होती है। अस्तेय से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है– व्यास भाष्य के अनुसार –

स्तेयमषास्त्रपूर्वक द्रव्याणां परतः स्वीकरणं, तत्प्रतिशेधः पुनरस्पृहारुपमस्तेयामिति।''

स्तेय का अर्थ है, अशास्त्र पूर्वक दूसरे की वस्तु लेना, अस्तेय उसका निषेध रुप है, जो अस्पृहा रुप है।

स्वामी हरिहरानन्द के अनुसार – ''जो अदत्त या धर्मतः अप्राप्य होता है उस प्रकार के द्रव्य का ग्रहण स्तेय कहलाता है।''

आचार्य श्रीराम के अनुसार – किसी भी पदार्थ वस्तु पदार्थ के प्रति राग (आसक्ति) का होना भी स्तेय (चोरी) कहलाता है, तथा उसे न करना अस्तेय है।
इस तरह सभी तरह की चोरी की भावना स्तेय के अतंर्गत आता है तथा उसे न करना अस्तेय है।

अस्तेय का परिणाम –

अस्तेय के सिद्ध होने पर धन सम्पति आदि स्वतः प्राप्त हो जाते हैं। साधक को सब दिशाओं में रहने वाली रत्नादि की समृद्धि प्राप्त होती है। महर्षि पतंजलि अस्तेय का परिणाम बताते हुए स्पष्ट करते हैं कि–

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्। पातंजल योग सूत्र 2/37

अर्थात् चोरी न करने की दृढ़ स्थिति हो जाने पर सभी तरह के रत्न प्रकट हो जाते हैं।

अस्तेय का अभ्यास करने से पृथ्वी में कहीं पर भी गुप्त स्थ्ल में स्थित सभी तरह के वांछित रत्न, वस्तु–पदार्थ आदि अभ्यासकर्ता के लिए प्रकट हो जाते है।

10.3.4 ब्रह्मचर्य–

ब्रह्मचर्य शब्द 'ब्रह्म+चर्या' से बना है जिसका सामान्य अर्थ है ब्रह्म में रमण करना। चूँकि आत्मसत्ता परमात्मसत्ता का एक अंश है। अतः सामान्यतः आत्मसत्ता में रमण करना ही ब्रह्मचर्य है।

शारीरिक दृष्टि से ब्रह्मचर्य को तप कहा जा सकता है। क्योकि तप का अर्थ मल का निष्कासन करना है और ब्रह्मचर्य का अर्थ इंन्द्रिय संयम होता है। इसी ब्रह्मचर्य नामक तप से आत्मिक, भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति होती है। योग साधक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करके आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त करने का प्रयास करते है। ब्रह्मचर्य से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–

म्हर्षि व्यास के अनुसार –

ब्रह्मचर्य गुसेन्द्रियस्येंपस्थस्य संयमः।

अर्थात गुप्तेन्द्रिय और उपस्थ (मूत्रेन्दिय) को संयम करना ब्रह्मचर्य है।

शाडिल्योपनिषद के अनुसार –

ब्रह्मचर्य नाम सर्वावस्थासु मनोवाक काय कर्मभिः सर्वत्र मैथुनत्यागः।

अर्थात सभी में अवस्था, सभी जगह, शरीर मन और वाणी द्वारा मैथुन का त्याग ब्रह्मचर्य कहलाता है।

स्वामी हरिहरानन्द के अनुसार –

ब्रह्मचर्य द्वारा सारहानि रुद्ध हो जाने के कारण वीर्यलाभ होता हैं जबकि अब्रह्मचर्य से शरीर के स्नायु आदि सबकी हानि होती है।

ब्रह्मचर्य का परिणाम –

ब्रह्मचर्य से ही आध्यात्मिक उन्नति तो सम्भव है ही, साथ ही सारी उपलब्धियॉ प्राप्त हो जाती है। स्वामी विवेकानन्द ने इसलिए कहा है कि ''योगी का ब्रह्मचर्यवान होना अनिवार्य है।'' क्योकि इसके बिना आध्यात्मिक शक्ति नहीं आ सकती। महर्षि पतंजलि ब्रह्मचर्य का परिणाम बताते हुए स्पष्ट करते हैं कि–

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। पांतजल योग सूत्र 2/38

अर्थात् ब्रह्मचर्य से वीर्य लाभ होता है।

स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य बल द्वारा ही योग साधक अपने योग्य अनुकूल मार्ग को बिना किसी अवरोध के प्राप्त कर लेता है।

10.3.5 अपरिग्रह–

परिग्रह का अर्थ जमा करना है। अपरिग्रह अर्थात संचय प्रवृत्ति का त्याग करना है। आपातकाल में भी इच्छानुसार द्रव्यों का संग्रह न करना अपरिग्रह कहलाता है। अपरिग्रह से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–

महर्षि व्यास के अनुसार – अर्जन, रक्षण, क्षय, संग और हिंसा इन पांच प्रकार के दोषों को देखकर विषयों को ग्रहण न करना अपरिग्रह है।

स्वामी हरिहरानन्द के अनुसार – शरीर के भोग्य विषय में परिग्रह द्वारा तुच्छता ज्ञान होने से शरीर भी परिग्रह है, ऐसा ज्ञान पड़ता है।

अपरिग्रह का परिणाम –

इस अपरिग्रह के अभ्यास से मन शुद्ध हो जाता है। और इससे जो फल प्राप्त होते है, उनमें पूर्वजन्म की स्मृति का ज्ञान होना प्रथम है। महर्षि पतंजलि अपरिग्रह का परिणाम बताते हुए स्पष्ट करते हैं कि–

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्ता संबोधः। पांतजल योग सूत्र 2/39

अर्थात् अपरिग्रह की स्थिति हो जानं पर पूर्व जन्म कैसे हुए थे ? इसका ज्ञान होता है।

स्पष्ट है कि अपरिग्रह से भूत, भविष्य जन्म का ज्ञान हो जाता है। अतः अपरिग्रह आवश्यक है। 'योग साधक के लिए परिग्रह, अविद्या (चित्त में मोह अहंकार) आदि महान क्लेष कहे गये है। इनका सम्यक रुप से परित्याग करना ही अपरिग्रह कहलाता है।

10.3.6 महाव्रत का स्वरूप–

पाँच यमों का अनुष्ठान (अनुष्ठान) जब सार्वभौमिक अर्थात सब के साथ, सब जगह और सब समय समभाव से कियाजाता है, तब ये सब महाव्रत हो जाते हैं। महर्षि पतंजलि महाव्रत के स्वरूप को स्पष्ट इस प्रकार से करते हैं–

जातिदेशकालसमयानवच्छिनाः सार्वभौमा महाव्रतम्।। पांतजल योग सूत्र 2/31

अर्थात् उक्त वर्णित यम जाति, देश, काल और समय की सीमा से रहित, सार्वभौम होने पर उपर्युक्त यम महाव्रत हो जाते हैं। जब अहिंसादि पांचों यमों का अनुष्ठान सार्वभौमिक सब के साथ, सब जगह और सब समय समभाव से किया जाता है, तब ये सब महाव्रत हो जाते हैं।

उदाहरणस्वरूप हम समझ सकते हैं कि जैसे कोई व्यक्ति यह संकल्प ले कि वह मछली के अतिरिक्त अन्य किसी भी जीव की हत्या नहीं करेगा तो यह जाति–अविच्छिन्न अहिंसा हुई। इसी प्रकार कोई यह व्रत ले कि मैं अमुक–अमुक तीर्थों में हिंसा नहीं करूँगा, तब यह देश अवछिन्न अहिंसा हुई। यदि कोई यह नियम पालन करे कि मैं अमावस्या–पूर्णिमा को हिंसा नहीं करूँगा, तब इसे कालावच्छिन्न अहिंसा कहेंगे और यदि कोई यह संकल्प करे कि मैं युद्ध के समय के अतिरिक्त अन्य किसी समय किसी भी कारण से हिंसा न करूँगा, तब यह समयावच्छिन्न अहिंसा कहलाती है। इसी प्रकार सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह के भी भेद समझने चाहिए। इस प्रकार से यम का पालन व्रत तो कहलाता है किंतु ये सार्वभौमिक न होने से महाव्रत नहीं हो सकते। उपर्युक्त भेदों का प्रतिबन्ध न लगाकर जब समस्त भूतों–प्राणिजनों के साथ सभी देशों में सदैव इनका पालन किया जाये, किसी भी कारण से इनमें शिथिलता न आने पाये तभी ये सार्वभौमिक होने से महाव्रत कहे जाते हैं।

10.4 महर्षि पतंजलि के अनुसार नियम का स्वरूप

अष्टांग योग का दूसरा महत्वपूर्ण अंग नियम है। नियम का अभिप्राय कुछ नियमित अनुष्ठानों द्वारा मन को अनुशासन में लाना है। नियम व्यक्तिगत जीवन में सुधार के लिए हैं। नियम का अर्थ नियमन करना भी है। अपनी ऊर्जा को एक निश्चित क्षेत्र में लगाना मन के बिखराव को रोकना ही नियम है। इसका उद्देश्य सात्विक शक्ति एवं पवित्रता को प्राप्त कर एकाग्रता की तैयारी करना है। सामाजिक दृष्टि में जो आचरण हम करते है अर्थात स्वयं से व दूसरों के साथ जो व्यवहार के लिए स्वंय द्वारा अपनायी जाने वाली प्रक्रियाएँ नियम कहलाती हैं। अर्थात स्वयं के परिष्कार के लिए अपनाये जाने वाली प्रक्रिया नियम कहलाती है। महर्षि पतंजलि के अनुसार नियम भी हम पूर्व के अध्याय में भी पढ़ चुके हैं जो इस प्रकार हैं –

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।। पांतजल योग सूत्र 2/32

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान–ये पांच नियम बताये हैं। नियम से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–

विज्ञानभिक्षु ने तप स्वाध्याय, संतोष, पवित्रता तथा ईश्वरपूजन को योग की सिद्धियों को प्रदान करने वाले नियम कहा है।

आचार्य श्रीराम शर्मा के अनुसार – नियमों का संबंध व्यक्तिगत जीवन से है, उनमें जिन व्रतों का पालन करने पर जोर दिया गया है। वे सब ऐसे है जिनसे मनुष्य जीवन वास्तव में सुखी एवं संतुष्ट बन सकता है।

नियम को निम्नलिखित परिभाषाओं से आप और स्पष्टतः समझ सकते हैं–

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद के अनुसार–

अनुरक्ति परमतत्वे सततं नियमः स्मृतः। 2/29

अर्थात निरन्तर परम शक्ति में अनुरक्ति का नाम नियम है।

तेजोबिन्दूपनिषद के अनुसार,–

सजातीय प्रवाहश्च विजातीयतिरस्कृति।

नियमो ही परमानन्दो नियमात्क्रियते बुधैः।। 2/18

अर्थात घट आदि की विजातीय वृत्तियों का निरोध करते हुए, अखण्ड चिन्मात्र की सजातीय वृत्तियों का प्रवाह जो परम आनन्ददायक होते हैं, को नियम कहते हैं।

अतः हम कह सकते हैं कि नियम एक प्रकार से व्यक्तिगत आत्मानुशासन है जिसे अपनाने से योग साधक अपनी ऊर्जा के बिखराव को रोक कर किसी विशिष्ट दिशा में लगाता हैं। नियम से संबंधित अंगों का वर्णन इस प्रकार है–

10.4.1 शौच–

शौच का सामान्य अर्थ शुद्धिकरण है। शुद्धिकरण शारीरिक, मानसिक और अंतःकरण का होता है। जब शरीर, मन और अंतःकरण का शुद्धिकरण होता है तो यह पावनता कभी नष्ट नहीं होती है, इसलिए ईश्वर को पतित पावन कहते है। इसी शुद्धिकरण और पवित्रता हेतु महर्षि पतंजलि ने शौच का वर्णन किया है। शौच से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–

महर्षि व्यास के अनुसार –
चित्त के मलिनताओ को दूर करना आभ्यांतर शौच कहलाता है।

कबीर के अनुसार –

कबीरा मन निर्मल भया जैसे गंगा नीर।
पाछे पाछे हरि फिरे कहत कबीर कबीर।।

अर्थात कबीर कहते है कि जब मन गंगा जल की भांति पवित्र हो जाता है तो भगवान स्वयं हमें ढुढंता है।

तुलसीदास –

निर्मल मन जन सो मोहि भावा।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा।।

अर्थात मन पवित्र होने पर ही परमात्मा को प्रिय होते है। कपट छल रहने पर उन्हें अप्रिय लगते है।
संत रैदास –

मन चंगा तो कठौती में गंगा।।

अर्थात मन पवित्र है तो घर पर ही गंगा है।
स्पष्ट है कि योग साधना में मन की पवित्रता का बहुत महत्व है।

शौच का परिणाम–

जब योगी बाह्य शुद्धि का पालन करते है तो योगी की अपने निज के शरीर में अशुद्धि बुद्धि होने से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। अर्थात उस समय स्वयं के शरीर से घृणा होती

है। देहभाव से हम ऊंचे उठ जाते है और आत्मभाव में जीते है। शौच की स्थिरता से साधक को अपने शरीर से घृणा तथा दूसरों से अलिप्तता का भाव उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त आभ्यन्तरशौच से सत्व की शुद्धि, प्रसन्नता, एकाग्रता, इन्द्रियों पर विजय तथा आत्म साक्षात्कार की योग्यता प्राप्त होती है। महर्षि पतंजलि शौच का परिणाम बताते हुए स्पष्ट करते हैं कि–

शौचात्स्वागंजुगुप्सा परैरसंसर्गः'।। पांतजल योग सूत्र 2/40

अर्थात शौच का पालन करने से अपने अंगों में वैराग्य दसरों से ससंर्ग न करने की इच्छा उत्पन्न होती है।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार –
जब यर्थाथ बाह्य और आभ्यान्तर दोनों प्रकार के शौच सिद्ध हो जाते है। तब शरीर के प्रति उदासीनता आ जाती है।
स्पष्ट है कि उपर्युक्त बाह्य शौचफल के अतिरिक्त महर्षि पतंजलि अन्य फल भी बताते है। अर्थात शरीर शुद्धि के फल के पश्चात् मन की शुद्धि का फल बताते है।

सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च।। पांतजल योग सूत्र 2/41

अर्थात् इसके अतिरिक्त की अन्तःकरण की शुद्धि, मन की प्रसन्नता, चित्त की एकाग्रता, इन्द्रियों का वश में होना तथा आत्म साक्षात्कार की योग्यता भी प्राप्त होती है। इस शौच के अभ्यास द्वारा सत्व पदार्थ का अधिकार होता है मन एकाग्र एवं प्रफुल्ल हो जाता है। सत्व शुद्धि, एकाग्रता, इन्द्रियजय होने पर आत्मदर्शन भी हो जाता है क्योंकि मन पवित्र होने पर ही यह प्राप्त किया जा सकता है।

10.4.2 संतोष–

शौच के बाद सन्तोष दूसरा नियम है। कर्तव्य–कर्म का पालन करते हुए उसका जो परिणाम हो तथा प्रारब्ध के अनुसार स्वयं जो कुछ प्राप्त हो तथा जिस परिस्थिति में रहना पड़े, उसी से सन्तुष्ट रहना और अन्य किसी प्रकार की कामना न करना 'संतोष' है।
संतोष एक मानसिकम गुण है जिसमें सुख प्रप्त होता है। अर्थात गुण के रुप हम संतोष को समझ सकते है। संतोष से ही जीवन को सुख शांति प्राप्त होती है। यह आधार स्रोत है। यह सौभाग्य व पुरुषार्थ दोनों से मिल सकता है। भौतिक आकांक्षाओं की पूर्ति की ललक व उसे प्राप्त करने के पश्चात् भोग करना तृष्णा है और तृष्णा के पश्चात् असंतोष होता है, तृष्णा का अंत नहीं होता हैं यह संतोष करने पर ही समाप्ति हो सकती है। संतोष से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–
महर्षि व्यास के अनुसार – संतोष, सन्निहित साधन (केवल प्राणधारण योग्य उपलब्ध साधन) से अधिक साधन के ग्रहण में इच्छाशून्यता है।
स्वामी हरिहरानन्द के अनुसार – किसी इष्ट पदार्थ के प्राप्त होने से जों तुष्ट निश्चिंत भाव होता है। उसकी भावना करके संतोष को आयत्व करना पड़ता है।

संतोष का परिणाम –

महर्षि पतंजलि संतोष का परिणाम बताते हुए स्पष्ट करते हैं कि

संतोषादनुत्तमसुखलाभ।। पांतजल योग सूत्र 2/41

संतोष से, अनुत्तम सुखलाभः अर्थात् जिससे श्रेष्ठ अन्य कोई सुख नहीं है, ऐसा सर्वश्रेष्ठ सुख का लाभ प्राप्त होता है। संतोष एक ऐसा सुख है जो स्वयं के पास कुछ भी न होने पर भी प्राप्त किया जा सकता है। संतोष के माध्यम से व्यक्ति के जीवन में शांति और सुख का आगमन होता है।

10.4.3 तप–

त्प का शाब्दिक अर्थ है–प्रज्जवलित करना, जलाना, चमकाना, कष्ट सहना अथवा उष्णता से जलना। इसलिए इसका अर्थ है, जीवन में एक निश्चित ध्येय की प्राप्ति के लिए किन्ही भी स्थितियों में सतत अथक प्रयत्न। इसमें पवित्रता, आत्मसंयम और कठिन तपस्या समाविष्ट है। तप का अर्थ है स्वयं को गलाना जिसमे शरीर, प्राण, इन्द्रियों और मन को उचित रीती और अभ्यास से वशीकृत किया जाता है। तप से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–

महर्षि व्यास के अनुासर –

तपो द्वन्द्वसहनम्।।

तप द्वन्द्व सहन करने की क्रिया है।

गीता के अनुसार :–

देवद्विज गुरुप्राज्ञ पूजनं शौचमार्जनम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शरीर तप उच्चते।। 17/14

श्री कृष्ण ने अजुन को गीता में तप की परिभाषा बताते हुये कहा है कि – '' देव , ब्राह्मण, गुरु और बुद्धिमान ज्ञानी इन सबका पूजन, शौच, पवित्रता, ब्रहमचर्य और अहिंसा यह सब शरीर संबंधी शरीर द्वारा किये जाने वाले तप हैं। गीता में 3 प्रकार के – सात्विक, राजसिक, तामसिक,।

तप का परिणाम–

तप से हमें शरीर व इन्द्रियों की सिद्धि प्राप्त होती है क्योंकि तप के द्वारा हमारा सम्पूर्णतः परिष्कार हो जाता है। अतः तप योग साधक के लिए आवश्यक है। महर्षि पतंजलि ने इस तप का परिणाम इस प्रकार बताया है–

कायेन्द्रिसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपयः।। पांतजल योग सूत्र 2/43

तप के प्रभाव से जब अशुद्धि का क्षय (नाश) हो जाता है। जब शरीर एवं इन्द्रियों की सिद्धि हो जाती है।

स्वामी विवेकानन्द तप के प्रभाव को बताते हुये कहते हैं कि तपस्या का फल दूरदर्शन, दूरश्रवण इत्यादि के रुप से प्रकाशित होता है। तप दिव्यात्मा से अंतिम मिलन की प्राप्ति का और इस उद्देश्य के मार्ग में बाधक बननेवाली सभी कामनाओं को जलाने का जागृत प्रयत्न है। उचित उद्देश्य जीवन को प्रकाशमान, पवित्र तथा दिव्य बनाता है। इस प्रकार के उद्देश्य के बिना कर्म और प्रार्थना का कोई मूल्य नहीं है। तप के बिना जीवन प्रेमहीन हृदय के समान है। तप के बिना चित्त परमात्मा तक पहुँच नहीं सकता है।

10.4.4 स्वाध्याय–

यह नियम का चौथ अंग है। जो कि स्वयं के परिष्कार व आत्मोत्थान के लिए आवश्यक अंग है। स्वयं अपने जीवन का समीक्षात्मक अध्ययन ही स्वाध्याय कहलाता है। स्व का अर्थ है स्वयं और अध्याय का अर्थ अध्ययन का शिक्षण है। व्यक्ति के अन्दर जो उत्तम है उसे प्रकट करना शिक्षण है। इसलिए स्वाध्याय आत्मअध्ययन है। इससे ज्ञान विज्ञान की प्राप्ति होती है। स्वाध्याय से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–

गीता में कहा गया है – '

नहि ज्ञानेन सदृशंपवित्र मिहविद्यते।। 4/38

अर्थात ज्ञान के सदृश पवित्र संसार में कुछ नहीं है।

तैत्तरियोपनिषद –

स्वाध्यायात्मा प्रमदः।।

स्वाध्याय में प्रमाद मत करो।

स्वाध्याय का परिणाम–

स्वाध्याय के फल रुप में महर्षि पतंजलि ने इष्ट और देवता की उपलब्धि का वर्णन किया है उन्होने स्वाध्याय का परिणाम इस प्रकार बताया है–

स्वाध्यायादिष्ट देवता संप्रयोगः।। पांतजल योग सूत्र 2/44

स्वाध्याय से अपने इष्ट देवता का सम्यक् साक्षात्कार हो जाता है।

देव, ऋषि तथा सिद्धगण स्वाध्यायशील योग साधक को दृष्टिगोचर होते है, और उनके द्वारा योगी का कार्य भी सिद्ध होता है। निःसन्देह रुप से इस संसार में ज्ञान के समान पवित्रतादाता कुछ भी नहीं है।

10.4.5 ईश्वर प्रणिधान

प्रणिधान का अर्थ है– धारणकरना स्थापित करना। ईश्वर प्रणिधान अर्थात् ईश्वर को धारण करना। ईश्वर को स्थापित करना। व्यास भाष्य में इसके संदर्भ में लिखा है – ईश्वर प्रणिधान परम गुरु ईश्वर को सर्वकर्म का अर्पण है। ईश्वर प्रणिधान में ईश्वर की प्रतिमा हृदय में अंतःकरण में स्थापित करनी होती है। और उसे प्रत्येक क्षण का साथी बनाना पड़ता है। ईश्वर श्रेष्ठ गुणों का समुच्चय होता है। इसके द्वारा हम श्रेष्ठताओं का वरण करते हैं, आदर्शों को अपनाते हैं। यह हमारे व्यवहार को परिष्कृत–परिमार्जित करता है। समता, दया, करूणा आदि सदगुणों का जागरण इस तकनीक के माध्यम से होता है। ईश्वर प्रणिधान से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–

विज्ञान भिक्षु के अनुसार – शिव के प्रति स्तुति, स्मरण तथा पूजन–अर्चन, वाणी, मन तथा शरीर के द्वारा की गई यह भक्ति ईश्वर का पूजन कहलाती है।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार – इन्होनं प्रणिधान का अर्थ समर्पण बताया है तथा कहा कि ईश्वर समर्पण भाव में सब कुछ समर्पित कर दिया जाता है। इसके पश्चात् ही समाधि की पूर्णता होती है।

ईश्वर प्रणिधान का तात्पर्य है कि पूर्ण भक्ति भावपूर्वक आत्म समर्पण सहित उपासना जिससे उपासक के अभीष्ट की सिद्धि करता है। यहां यह भी स्पष्ट है कि जब साधक सर्वात्मना संसार से विरक्त होकर अपनी समस्त भावनाएं ईश्वर में समर्पित कर देता है, तब

चंचल वृत्तियों के उठने की संभावना क्षीण हो जाती है, यही प्रभु प्रसाद है। अपने भक्त की भावनाओं को जानकर ईश्वर उसका अभीष्ट पूर्ण कर देता है। मन, वचन, कर्म से ईश्वर की भक्ति, नाम रुप, लीला, गुण, प्रभाव आदि का श्रवण, कीर्तन, मनन, चिन्तन आदि के द्वारा श्रेष्ठवृत्तियों विचारों को ईश्वर के प्रति समर्पित कर देना ही ईश्वर प्रणिधान है।

ईश्वर प्रणिधान का परिणाम–

ईश्वर प्रणिधान में जप, ध्यान, पूजा, अर्चना के किया कृत्य ही नहीं आतें, उसका वास्तविक स्वरुप सर्वव्यापी है। कर्मफल में निष्पक्ष न्यायाधीश जैसी स्थिति के परमेश्वर के अनुशासन को ठीक तरह से पालन करना आवश्यक है। सन्मार्ग पर एकाकी चलते हुए भी अपने साथ परमसत्ता की उपस्थिति अनुभव करना ही ईश्वर प्रणिधान है। यह नियम का सबसे महत्वपूर्ण अंग है, जिसका फल समाधि बताया गया है। महर्षि पतंजलि ने ईश्वर प्रणिधान का परिणाम इस प्रकार बताया है–

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ।। पांतजल योग सूत्र 2/45

अर्थात् ईश्वर प्रणिधान से समाधि की सिद्धी होती है।

स्वामी हरिहरानन्द के अनुसार ईश्वर प्रणिधान समाधि का साक्षात् सहायक होता है। क्योंकि वह समाधि के अनुकूल भावना स्वरुप है। ईश्वर प्रणिधान नियम का अंतिम अंग है लेकिन यह सबसे महत्वपूर्ण है क्योंकि अन्य की अपेक्षा इसके द्वारा समाधि सिद्ध हो सकती है। क्योंकि सभी किया ईश्वर के साक्ष्य में संपन्न होने पर वह श्रेष्ठ रुप से कियान्वित होती रहेगी और इस प्रकार अंतिम स्थिति समाधि हो सकती है।

10.5 प्रतिपक्ष भावना एवं वितर्क

जब मन वासनाओं के वशीभूत हो व्यवधान उपस्थित करे तो उस समय साधक को वासनाओं के विपरीत (प्रतिपक्षी) सद्गुणों का चिन्तन करना चाहिए। यम–नियम के पालन में आने वाली बाधाओं के निवारण के लिए महर्षि पतंजलि ने प्रतिपक्ष भावना का वर्णन किया है जो इस प्रकार है–

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्।। पांतजल योग सूत्र 2/33

अर्थात् जब वितर्क (यम एवं नियमों के विरोधी भाव) यम–नियम के पालन में अवरोध पैदा करें तब उनके प्रतिपक्षी विचारों का प्रत्येक क्षण चिन्तन करते रहना चाहिए।

यम–नियम के पालन में कभी–कभी ऐसे अवसर आ जाते हैं जब मन की ऐसी पुरानी आदतें पुनः जाग्रत होने लगती हैं जो विभिन्न वासनाओं और लालसाओं का कारण होती हैं। ऐसे अवसर पर व्यक्ति (साधक) का मन अत्यन्त चंचल और व्यथित होने लगता है। ऐसी अवस्था में प्रतिपक्ष भावना द्वारा ही वांछित लाभ हो सकता है। मान लीजिए किसी समय व्यक्ति का मन घृणा से भर जाता है तो उसे प्रेम के गुणों तथा उससे होने वाले लाभों का चिंतन करना चाहिए। क्योंकि प्रेम और घृणा एक–दूसरे के प्रतिपक्षी हैं। इस प्रकार जब भी साधक निम्न वासनाओं में फँसे, उसे प्रतिपक्ष भावना द्वारा इनसे छुटकारा पाने का प्रयास करना चाहिए।

मान लीजिए एक व्यक्ति ईमानदारी का जीवन जीना चाहता है परन्तु वह देखता है कि बेईमान लोग दिन दूनी, रात चौगुनी तरक्की कर रहे हैं। यह सब देखकर उसके भी

मन में ऐसा ही बेइमानीपूर्वक जीवनयापन करने का विचार आ जाये तो आश्चर्य नहीं। हम इसे ही वितर्क कहते हैं जो तर्क का श्याम पक्ष कहलाता है। जब यह विचार दृढ़ होने लगे कि ईमानदारी से कुछ मिलना–जुलना नहीं है, समाज में ईमानदार का कौड़ी मोल नहीं है तो साधक को बेईमानी के विपरीत गुण, ईमानदारी के पक्ष में मनन–चिंतन प्रारंभ कर देना चाहिए। उसे यह स्वीकार करने का प्रयास करना चाहिए कि केवल ईमानदारी की राह पर चलकर ही वह आध्यात्मिक पक्ष पर कामयाबी हासिल कर सकता है। बस यही प्रतिपक्ष भावना कहलाती है।

इन बाधाओं की प्रकृति पर तीव्रता के अनुसार प्रतिपक्ष भावना का चिंतन करना चाहिए जिसे महर्षि पतंजलि ने अपने योगसूत्र में इस प्रकार वर्णित किया है–

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्।। पांतजल योग सूत्र 2/34

अर्थात् हिंसा आदि भाव वितर्क कहलाते हैं। स्वयं या दूसरों द्वारा कराये या अनुमोदन किये गयें; इनके कारण लोभ, क्रोध और मोह होते हैं। ये भी मृदु, मध्यम अथवा तीव्र होते हैं। ये दुःख और अज्ञान रुप अनन्त फल देने वाले हैं। ऐसा विचार ही प्रतिपक्ष की भावना कहलाता है।

कभी–कभी ऐसा भी देखा जाता है कि व्यक्ति स्वयं हिंसा नहीं करता। परन्तु यह संभव है कि वह अन्य दूसरों के माध्यम से हिंसा कराता हो, उसे सहन करता हो अथवा उसका समर्थन भी करता हो। योग के अन्तर्गत सभी कृत (स्वयं किये हुए), कारित (दूसरों से करवाये हुए) और अनुमोदित (समर्थन देना) रूपों का त्याग अनिवार्य है। यह सभी अन्य वितर्कों जैसे– झूठ, बेईमानी, चोरी इत्यादि पर लागू होते हैं। जैसे ही प्रतिपक्ष चिंतन प्रारम्भ होता है मन निम्न वासनाओं को न्यून करने में सफल होने लगता है। नकारात्मक चिंतन धनात्मक होने लगता है। यम–नियम का पालन सहज होने लगता है।

अभ्यास प्रश्न–

1. यम मुख्य रुप से जीवन के किस पक्ष से सम्बन्धित हैं–
   क. सामाजिक पक्ष
   ख. व्यक्तिगत पक्ष
   ग. सामाजिक एवं व्यक्तिगत पक्ष
   घ. लौकिक पक्ष
2. नियम मुख्य रुप से जीवन के किस पक्ष से सम्बन्धित हैं–
   क. लौकिक पक्ष
   ख. व्यक्तिगत पक्ष
   ग. अलौकिक पक्ष
   घ. सामाजिक पक्ष
3. प्रतिपक्ष भावना से आप क्या समझते हैं–
   क. सद्गुणों के विपरीत दुर्गुणों का चिन्तन करना
   ख. सद्गुणों एवं दुर्गुणों का चिन्तन करना
   ग. वासनाओं के विपरीत सद्गुणों का चिन्तन करना
   घ. केवल दुर्गुणों का चिन्तन करना

4. अहिंसा के पालन करने से महर्षि पतंजलि के अनुसार प्राप्त फल है–
   क. सब प्राणी प्रेम का त्याग कर देते हैं
   ख. सब प्राणी मांस–मदिरा का त्याग कर देते हैं
   ग. सब प्राणी बैर का त्याग कर देते हैं
   घ. सब प्राणी धनी हो जाते हैं
5. स्वाध्याय के पालन करने से महर्षि पतंजलि के अनुसार प्राप्त फल है–
   क. इष्ट देवता का सम्यक् साक्षात्कार हो जाता है
   ख. दैत्य का साक्षात्कार हो जाता है
   ग. इन्द्र देवता का सम्यक् साक्षात्कार हो जाता है
   घ. नींद में स्वप्न अच्छे आते हें

10.6 सारांश

यमों का सम्बन्ध केवल व्यक्तियों से नहीं है, परन्तु सारे मनुष्य समाज से है, इसलिए सारे मनुष्य इसका पालन करने में समष्टि रूप परतन्त्र है। कोई मनुष्य चाहे वह किसी जाति, देश काल अवस्था, वर्णाश्रम , मत–मतान्तर का क्यों न हो, यदि उसे मनुष्य समाज मे रहना है तो उसके लिए यम सर्वदा माननीय और पालनीय है। संसार में इस समय फैली हुई भयंकर अशान्ति से नाश का केवल मात्र उपाय यमों का यर्थात रूप से पालन करना है। इनके पालन सेही संसार की व्यवस्था ठीक रह सकती हैं। यम' वे नियम है जो मानव समाज के अस्तित्व और विकास की दृष्टि से आवश्यक और उपयोगी है। इसलिए केवल योग–साधना के निमित्त ही नहीं बल्कि सभी मनुष्यों द्वारा सभी अवस्थाओं में उनका पालन किया जाना कल्यानकारी है। पहला नियम 'शौच' (बाहरी और भीतरी स्वच्छता) का इसलिए परमावश्यक है कि यह मुख्यतः स्वास्थ्य का आधार है और अस्वस्थ मनुष्य अपने लिए, अपने परिवार के लिए समाज के लिए भार रूप सिद्ध होता है। भोग की प्रवृत्ति मनुष्य में स्वाभाविक रूप से पाई जाती है और यह जीवन रक्षा के लिए आवश्यक भी है। यदि हमारे भीतर संतोष की भावना न हो तो हम पर्याप्त से भी, अधिक पाकर प्रसन्न नहीं हो सकते। वास्तव में सुख प्राप्त करने का उपाय अपनी आवश्यताओं को घटाना और कम से कम में तृप्त हो जाना है। सन्तोष का नियम ही सुख का उपाय है। जीवन में कठिनाइयों और संधर्षो का आना अनिवार्य है अपना अस्तित्व स्थिर रखने और सम्मानपूर्वक जीवन बिताने के लिए दृढ़ता और सहिष्णुता की आवश्यकता है। यह गुण 'तप' से ही प्राप्त होते हैं। सांसारिक जीवन की सफलता के लिए अन्य बातों की तरह ज्ञान भी अनिवार्य रूप से आवश्यक है। उसका सरल और उपयोगी मार्ग संसार के सद्ग्रन्थों में एकत्रित ज्ञान को नियमित 'स्वाध्याय' द्वारा प्राप्त करना ही है। अनुभव भी ज्ञान–प्राप्ति का एक श्रेष्ठ मार्ग माना गया है, पर वर्तमान समय में जीवन ऐसा बहुमुखी हो गया है कि सब प्रकार का अनुभव और ज्ञान प्राप्त कर सकना असम्भव है, इसलिए हमको अन्य महापुरूषो और विद्धानों के अनुभव से भी लाभ उठाना चाहिए और उसे आत्मोन्नति के लिए उपयोग में लाना चाहिए।

इस दृष्टि से देखने पर योग दर्शन में वर्णित यम, नियम जीवन के ऐसे स्वर्ण सूत्र है। जिनका पालन करना हमारा सर्वप्रथम कर्त्तव्य है और जिनके द्वारा ही हम 'मानव' बनने के

अधिकारी हो सकते है। योग–दर्शनकार ने स्वंय ही इनकी बड़ी प्रशंशा की है और इनके यथोचित पालन करने से बड़ी–बड़ी सिद्धियों की प्राप्ति संभव बतलाई है।

10.7 पारिभाषिक शब्दावली

विकल्प रहित – जिसका कोई विकल्प न हो अर्थात् जिसका पालन अनिवार्य रुप से करना हो, वह विकल्प रहित है।

अभिघात – किसी को मन, वचन और कर्म से चोट पहुँचाना।

सनातन घर्म– वह धर्म जो सृष्टि के प्रारम्भ से है।

हितकारी– सभी के लिए समान रुप से उपयोगी।

आसक्ति– किसी के भी प्रति आकर्षण का भाव आना।

परिष्कार– शुद्धिकरण, पवित्रीकरण करना।

प्रतिष्ठित– स्थापित करना।

दूरदर्शन– भविष्य के सम्बन्ध में पहले से ही ज्ञान हो जाना।

दूरश्रवण– जो सामान्य कानों से न सुनाई देता हो उसे सुनने की क्षमता प्राप्त हो जाना।

प्रमाद– किसी कार्य को करने में लापरवाही बरतना ही प्रमाद है।

10.8 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर

उत्तर– 1. क, 2. ख, 3. ग, 4. ग, 5. क।

10.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- आचार्य, पं. श्रीराम शर्मा, सांख्य दर्शन एंव योग दर्शन, वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, वेद विभाग, शान्तिकुन्ज, हरिद्वार, 2000.
- आचार्य, पं. श्रीराम शर्मा, 108 उपनिषद्, ज्ञानखण्ड, ब्रहमविधा खण्ड, साधना खण्ड, वेद माता गायत्री ट्रस्ट, शांतिकुन्ज, हरिद्वार,1992.
- आरण्य स्वामी हरिहरानन्द, पांतजल योगदर्शनम्, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली,2000.
- कुमारी पवन, विज्ञानभिक्षु प्रणीत योगसारसंग्रह, ईस्टर्न बुक लिकंर्स, दिल्ली,1981.
- चन्द्र त्रिलोक, पांतजलयोग और श्री अरविन्दयोग, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली,1992.
- तीर्थ श्रीस्वामी ओमानन्द, पांतजलयोगप्रदीप, गीता प्रेस, गोरखपुर,2005.
- विवेकानन्द स्वामी, विवेकानन्द साहित्य, खण्ड–1, स्वामी स्वानन्द, अद्वैत आश्रम, मायावती, पिथैरागढ़–पुनमुद्रित, 2000.
- सरस्वती स्वामी दिव्यानन्द, वेदों में योग विद्या, यौगिक शोध सस्थांन, योगधाम, आर्यनगर, हरिद्वार,1999.
- गोयन्दका जयदयाल, श्रीमद्भगवद्गीता तत्व–विवेचन, हिन्दी टीका, गीताप्रेस गोरखपुर,2005.

10.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामाग्री

- सरस्वती स्वामी सत्यानन्द, मुक्ति के चार सोपान, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार,1994.
- तीर्थ श्रीस्वामी ओमानन्द, पांतजलयोगप्रदीप, गीता प्रेस, गोरखपुर.
- सरस्वती स्वामी सत्यानन्द, मुक्ति के चार सोपान, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार.
- गोयन्दका हरिकृष्णदास, पातंजल योग दर्शन, (साधारण हिन्दी–व्याख्या सहित), गीता प्रेस, गोरखपुर.
- पण्डया डॉ. प्रणव, अर्न्तजगत की यात्रा का ज्ञान विज्ञान, वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, शान्तिकुन्ज, हरिद्वार.
- शास्त्री दुण्ढिराज, योगसूत्रम्, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी.
- द्विवेदी, प्रतिभा, योगप्रतिभा, राधा पब्लिकेंशन्स, नई दिल्ली.
- श्रीवास्तव सुरेशचन्द्र, पांतजलयोगदर्शन, चौखम्भा सुभारती प्रकाशन, वाराणसी.
- आचार्य, पं. श्रीराम शर्मा, यम–नियम, श्री वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, शान्तिकुंज, हरिद्वार.
- आचार्य, पं. श्रीराम शर्मा, पतंजलि योग की तत्व साधना, श्री वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, शान्तिकुंज, हरिद्वार.

10.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. यम के विभिन्न अंगों का सविस्तार वर्णन करें।
2. नियम के विभिन्न अंगों का सविस्तार वर्णन करें।
3. वितर्क एवं प्रतिपक्ष भावना से आप क्या समझते हैं?
4. महाव्रत को महर्षि पतंजलि के अनुसार स्पष्ट करें।
5. यम एवं नियम के महत्व को स्पष्ट करें।

इकाई–11 आसन एवं प्राणायाम

11.1 प्रस्तावना

11.2 उद्देश्य

11.3 आसन का स्वरूप

- 11.3.1 आसन का अर्थ
- 11.3.2 आसन की सिद्धी
- 11.3.3 आसन का परिणाम
- 11.3.4 आसन का महत्व

11.4 प्राणायाम का स्वरूप

- 11.4.1 प्राणायाम का अर्थ
- 11.4.2. प्राणायाम के भेद
- 11.4.3 प्राणायाम का परिणाम
- 11.4.4 प्राणायाम का महत्व

11.5 सारांश

11.6 परिभाषिक शब्दावली

11.7 अभ्यास हेतु प्रश्न एवं उनके उत्तर

11.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

11.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामिग्री

11.10 निबन्धात्मक प्रश्न

11.1 प्रस्तावना

अष्टांग येाग में तीसरा व चौथा अंग क्रमशः आसन एवं प्राणायाम है। इनकी आवश्यकता योग साधना के लिए महत्वपूर्ण है।योग का तीसरा अंग आसन है। आसन के अभ्यास से स्थिरता, स्वास्थ्य तथा शरीर में हलकापन आता है। आसनों का पहला उद्देदश्य हमें शारीरिक और मानसिक कष्टों से मुक्ति दिलाना है। आसन शरीर के जोड़ों को लचीला भी बनाते हैं। वे शरीर की मॉसपेशियों में खिंचाव उत्पन्न कर उन्हें स्वस्थ बनाते हैं तथा शरीर से विषाक्त तत्वों को बारह निकाल में सहायता करते हैं। आसन तंत्रिका–तंत्र के कार्यकलापों में सामंजस्य उत्पन्न करते हैं और शरीर के आंतरीक अंगों की कार्यक्षमता को बढ़ाते हैं। इस प्रकार धीरे–धीरे शरीर स्वस्थ बन जाता है।

आसन के वर्णन के पश्चात् महर्षि पतंजलि प्राणायाम का वर्णन करते हैं। प्राणायाम योग का एक प्रमुख अंग है। हठयोग एवं अष्टांग योग दोनों में इसे स्थान दिया गया है। प्राणायाम नियंत्रित श्वास क्रियाओं से संबंधित है। स्थूल रूप में यह जीवनधारक शक्ति अर्थात प्राण से संबंधित है। प्राणायाम करने से शरीर के विभिन्न अंगों पर प्रभाव पड़ता है। 'हठप्रदीपिका' में उल्लेखित है कि प्राणायाम करने से शरीर में शक्ति तथा स्फूर्ति आती है। प्राणायाम स्वास्थ्य संवर्द्धन हेतु अति उत्तम माना जाता है। प्राणायाम के माध्यम से विजातीय तत्त्व बाहर निकलते हैं तथा शरीर के अंदर रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है। प्रस्तुत इकाई में हम आसन एवं प्राणायाम के संदर्भ में अध्ययन करेंगें।

11.2 उद्देश्य

- महर्षि पतंजलि के अनुसार आसन का स्वरुप क्या हैं ?
- महर्षि पतंजलि के अनुसार आसन के अभ्यास का क्या प्रभाव है ?
- महर्षि पतंजलि के अनुसार प्राणायाम का स्वरुप क्या हैं ?
- महर्षि पतंजलि के अनुसार प्राणायाम के अभ्यास का क्या प्रभाव है ?
- अन्य व्याख्याकारों का आसन–प्राणायाम के संदर्भ में क्या मत है ?

11.3 आसन का स्वरूप

स्थिर और सुखकर शारीरिक स्थिति मानसिक संतुलन लाती है और मन की चंचलता को रोकती है। आसनो की प्रारंभिक स्थिति में अनेक प्रकारान्तरों के द्वारा अपने शरीर को अन्तिम स्थिति के अभ्यास के लिए तैयार किया जाता है। महर्षि घेरण्ड, घेरण्ड संहिता में आसनों के सन्दर्भ में बताते हैं कि इस संसार में जितने जीव–जंतु हैं, उनके शरीर की जो सामान्य स्थिति है, उस भंगिमा का अनुसरण करना आसन कहलाता है। भगवान् शिव ने चौरासी लाख आसनों का वर्णन किया है। उनमें से चौरासी विशिष्ट आसन हैं ओर चौरासी आसनों में से बत्तीस आसन मृत्यु लोक के लिए आवश्यक माने गये हैं। महर्षि पतंजलि ने आसन शरीर को स्थिर और सुखदायी रखने की तकनीक के रूप में बताया है।

11.3.1 आसन का अर्थ–

आसन शब्द संस्कृत भाषा के 'अस' धातु से बना है जिसके दो अर्थ हैं– पहला है 'बैठने का स्थान' तथा दूसरा 'शारीरिक अवस्था'।

1. बैठने का स्थान

2. शारीरिक अवस्था

बैठने का स्थान का अर्थ है जिस पर बैठते हैं जैसे–मृगछाल, कुश, चटाई, दरी आदि का आसन। आसन के दूसरे अर्थ से तात्पर्य है शरीर, मन तथा आत्मा की सुखद संयुक्त अवस्था या शरीर, मन तथा आत्मा एक साथ व स्थिर हो जाती है और उससे जो सुख की अनुभूति होती है वह स्थिति आसन कहलाती है। आसन अर्थात् जब हम किसी स्थिर आसन में बैठेंगे तभी योग साधनाएं कर सकते है। महर्षि पतंजलि ने अपने योग सूत्रों में किसी विशेष आसन का वर्णन नहीं किया है केवल आसन की परिभाषा बताई है जो इस प्रकार है–

स्थिरंसुखमासनम्।। पातंजल योग सूत्र 2/46

जो स्थिर और सुखदायी हो वह, आसन है।

हमें किसी भी प्रकार की साधना करने के लिए आसन के अभ्यास की आवश्यकता हेाती हैं । आसन मे स्थिरता व सुख होने पर ही हम प्राणायाम आदि क्रिया सम्पन्न कर सकते हैं। अतः स्वाभाविक व प्राथमिक आवश्यकता साधना के लिए ''आसन'' की होती है। आसन से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–

तेजबिंदु उपनिषद् में आसनों को इस प्रकार परिभाषित किया गया है–

सुखनैव भवेत् यस्मिन् जस्त्रं ब्रह्मचिंतनम्।

जिस स्थिति में बैठकर सुखपूर्वक निरंतर परमब्रह्म का चिंतन किया जा सके, उसे ही आसन समझना चाहिए।

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने आसनों को इस प्रकार बताया है–

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।

सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।।

श्रीमद्भगवद्गीता 6/13

कमर से गले तक का भाग, सिर और गले को सीधे अचल धारण करके तथा दिशाओं को न देख केवल अपनी नासिका के अग्र भाग को देखते हुए स्थिर होकर बैठना आसन है।

व्यास भाष्य के अनुसार– पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिकासन, दण्डासन, सोपाश्रय, पर्यङ्क, क्रौन्चनिषदन, हस्तिनिषदन, उष्ट्रनिषदन, समसंस्थान– ये सब स्थिरसुख अर्थात् यथासुख होने से आसन कहे जाते हैं।

विज्ञानभिक्षु के अनुसार – जितनी भी जीव जातियां है, उनके बैठने के जो आकार विशेष हैं, वे सब आसन कहलाते हैं।

स्वामी विवेकानंद के अनुसार – आसन के स्थिर होने का तात्पर्य है, शरीर के अस्तित्व का बिल्कुल भान तक न होना।

आसनों के सबंध में आचार्य श्री राम शर्मा कहते हैं कि ''आसनों का गुप्त आध्यात्मिक महत्व है, इन क्रियाओं से सूर्य चक्र, मणिपुर चक्र, अनाह्त चक्र आदि सूक्ष्म

ग्रंथियों का जागरण होता है और कई मानसिक शक्तियों का असाधारण रूप से विकास होने लगता है।'' इससे स्पष्ट है कि शारीरिक लाभ तो स्वाभाविक है, लेकिन आध्यात्मिक, मानसिक लाभ भी साथ–साथ मिलते हैं।

11.3.2 आसन की सिद्धी–

महर्षि पतंजलि ने आसन की सिद्धी के सन्दर्भ में स्पष्ट करते हुए कहा है कि –

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ।। योग सूत्र 2/47

प्रयत्न की शिथिलता से तथा अनंत परमात्मा में मन लगाने से सिद्ध होता है। आसन की सिद्धी से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–

व्यास भाष्य के अनुसार – प्रयत्नोपरम् से आसन सिद्धि होती है।

स्वामी हरिहरानंद के अनुसार – आसन सिद्धि अर्थात् शरीर की सम्यक् स्थिरता तथा सुखावस्था प्रयत्नशैथिल्य और अनंत समापत्ति द्वारा होती है।

स्वामी विवेकानंद के अनुसार – अनंत के चिंतन द्वारा आसन स्थिर हो सकता है।

स्पष्ट है कि आसन तभी सिद्ध कहलाता है जब स्थिरता व प्रयत्न की शिथिलता अर्थात् अभाव होगा क्योंकि प्रयत्न करने पर स्थिर सुख का लाभ प्राप्त नही हो सकता है न हीं स्थिरता के भाव प्राप्त हो सकते है। अतः जैसे–जैसे हम शरीर को स्थिर रखने का प्रयास करेंगे वैसे–वैसे हम शरीर भाव से ऊँचे उठेंगे। यह अनंत के चिंतन द्वारा ही संभव है।

11.3.3 आसन का परिणाम–

जब आसन के अभ्यास से स्थिरता का भाव आ जाएगा वो हमें किसी भी प्रकार का दुःख द्वन्द्व आदि हमें विचलित नही कर पायेंगे। इसे ही महर्षि पतंजलि ने आसन के फल के रूप में स्पष्ट करते हुए कहा है कि

ततो द्वन्द्वानभिघातः ।। पातंतज योग सूत्र 2/48

उस आसन की सिद्धि से जाड़ा–गर्मी आदि द्वन्द्वों का आघात नहीं लगता। आसन के फल से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–

व्यास भाष्य– आसन जय के कारण शीत–उष्ण आदि द्वन्द्वों द्वारा (साधक) अभिभूत नहीं होता।

स्वामी हरिहरानंद– ''आसनस्थैर्य के कारण शरीर में शून्यता आ जाती है''

स्पष्ट है कि जब हम आसन सिद्ध कर लेंगे तो हमें शुभ–अशुभ सुख–दुख, गर्मी–ठण्डी आदि भाव नही सतायेंगे। हम बोधशून्य हो जाते हैं। क्योंकि पीड़ा एक चंचलता ही है और आसन सिद्धि तो चंचलता की समाप्ति होने पर ही हो सकती है अतः हममें यह चंचलता रूपी पीड़ा का भान नही होता है हम कसी भी स्थिति मे सुख व शांत होते हैं।

11.3.4 आसन का महत्व–

आसनों का मुख्य उद्देश्य शारीरिक तथा मानसिक कष्टों से मुक्ति दिलाना है। आसन से शरीर के जोड़ लचीले बनते हैं। इनसे शरीर की माँसपेशियों में खिंचाव उत्पन्न होता है

जिससे वह स्वस्थ होती हैं तथा शरीर के विषाक्त पदार्थों को बाहर निकालने की क्रिया संपन्न होती है। आसन से शरीर के आंतरिक अंगों की मालिश होती है जिससे उनकी कार्यक्षमता बढ़ती है। आसन शरीर के मर्म स्थानों में रहने वाली 'हव्य वहा' व 'कव्य वहा' विद्युत शक्ति को क्रियाशील रखते हैं। आसनों का सीधा प्रभाव शरीर की नस–नाड़ियों के अतिरिक्त सुक्ष्म कशेरुकाओं पर भी पड़ता है। आसनों के अभ्यास से आकुंचन और प्रकुंचन द्वारा शरीर के विकार हट जाते हैं। आसन से शारीरिक संतुलन के साथ–साथ भावनात्मक संतुलन की प्राप्ति होती है।

11.4 प्राणायाम का स्वरूप

प्राणायाम योग का एक प्रमुख अंग है। हठयोग एवं अष्टांग योग दोनों में इसे स्थान दिया गया है। महर्षि पतंजलि ने अष्टांग योग में चौथे स्थान पर प्राणायाम रखा है। प्राणायाम नियंत्रित श्वसनिक क्रियाओं से संबंधित है। स्थूल रूप में यह जीवनधारक शक्ति अर्थात प्राण से संबंधित है। प्राण का अर्थ श्वांस, श्वसन, जीवन, ओजस्विता, ऊर्जा या शक्ति है। 'आयाम' का अर्थ फैलाव, विस्तार, प्रसार, लंबाई, चौड़ाई, विनियमन बढ़ाना, अवरोध या नियंत्रण है। इस प्रकार प्राणायाम का अर्थ श्वास का दीर्घीकरण और फिर उसका नियंत्रण है।

11.4.1 प्राणायाम का अर्थ–

प्राणायाम शब्द संस्कृत व्याकरण के दो शब्दों 'प्राण' और 'आयाम' से मिलकर बना है। संस्कृत में प्राण शब्द की व्युत्पत्ति 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'अन्' धातु से हुई है। 'अन' धातु जीवनीशक्ति का वाचक है। इस प्रकार 'प्राण' शब्द का अर्थ चेतना शक्ति होता है। 'आयाम' शब्द का अर्थ है– नियमन करना। इस प्रकार बाह्य श्वांस के नियमन द्वारा प्राण को वश में करने की जो विधि है, उसे प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम अत्यंत महत्वपूर्ण प्रक्रिया है जो अष्टांग योग में वर्णित है। प्राणायाम का अर्थ प्राण का विस्तार करना। स्वामी विवेकानंद ने इसे प्राण का सयंमन करना कहा है। महर्षि पतंजलि प्राणायाम को एक सहज स्वाभाविक प्रक्रिया मानते हैं। प्राणायाम की परिभाषा उन्होंने निम्न प्रकार दी है–

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।। पांतजल योग सूत्र 2/49

अर्थात उस आसन के स्थिर हो जाने पर श्वास और प्रश्वास की गति का रुक जाना प्राणायाम है। प्राणायाम से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–

महर्षि व्यास– आसन जय होने पर श्वास या बाह्य वायु का आचमन तथा प्रश्वास या वायु का निःसारण, इन दोनों गतियों का जो विच्छेद है अर्थात उभय भाव है, वही प्राणायाम है।

योगी याज्ञवल्क्य के अनुसार–

प्राणापान समायोगः प्राणायाम इतीरितः।

प्राणायाम इति प्रोक्तो रेचक पूरक कुम्भकैः।। 6/2

अर्थात प्राण और अपान वायु के मिलाने को प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम कहने से रेचक, पूरक और कुंभक की क्रिया समझी जाती है।

जाबाल दर्शनोपनिषद के अनुसार–

प्राणायाम इति प्रोक्तो रेचकपूरककुम्भकैः।। 6/1/2

अर्थात रेचक, पूरक एवं कुम्भक क्रियाओं के द्वारा जो प्राण संयमित किया जाता है, वही प्राणायाम है।

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद के अनुसार–

निरोधः सर्ववृत्तीनां प्राणायामः।। 2/30

अर्थात सभी प्रकार के वृत्तियों के निरोध को प्राणायाम कहा गया है।

स्वामी ओमानन्द तीर्थ के अनुसार – बाहर की वायु का नासिका द्वारा अंदर प्रवेश करना श्वास कहलाता है। कोष्ठ स्थित वायु का नासिका द्वारा बाहर निकलना प्रश्वास कहलाता है। श्वास प्रश्वास की गतियों का प्रवाह रेचक, पूरक और कुम्भक द्वारा बाह्याभ्यान्तर दोनों स्थानों पर रोकना प्राणायाम कहलाता है।

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य के अनुसार – प्राणायाम सांस खींचने, उसे अंदर रोके रखने और बाहर निकालने की एक विशेष क्रिया पद्धति है। इस विधान के अनुसार, प्राण को शरीर में संचित किया जाता है।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार – प्राणायाम क्या है ? शरीर स्थित जीवनीशक्ति को वश में लाना। प्राण पर अधिकार प्राप्त करने के लिए हम पहले श्वास–प्रश्वास को संयत करना शुरू करते हैं क्योंकि यही प्राणजय का सबसे सख्त मार्ग है।

स्वामी शिवानन्द के अनुसार– प्राणायाम वह माध्यम है जिसके द्वारा योगी अपने छोटे से शरीर में समस्त ब्रह्माण्ड के जीवन को अनुभव करने का प्रयास करता है तथा सृष्टि की समस्त शक्तियाँ प्राप्त कर पूर्णता का प्रयत्न करता है।

अतः प्राणायाम अर्थात प्राण का आयाम जोड़ने की प्राण तत्व संवर्धन की एक ऐसी प्रक्रिया जिसमें जीवात्मा का क्षुद्र प्राण ब्रह्म चेतना के महाप्राण से जुड़कर उसी के तुल्य बन जाए।

11.4.2. प्राणायाम के भेद–

महर्षि पतंजलि ने प्राणायाम के मुख्यतः तीन भेद बताए हैं–

बाह्याभ्यनन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।। पांतजल योग सूत्र 2/50

अर्थात (यह प्राणायाम) बाह्य वृत्ति, आभ्यान्तर वृत्ति और स्तम्भ वृत्ति वाला (तीन प्रकार का) होता है। देश, काल और संख्या के द्वारा देखा जाता हुआ विशाल एवं हल्का होता है। उपरोक्त तथ्यों को हम निम्नलिखित बिन्दुओं से स्पष्ट कर सकते हैं–

1. बाह्य वृत्ति (रेचक)– प्राणवायु को नासिका द्वारा बाहर निकालकर बाहर ही जितने समय तक सरलतापूर्वक रोका जा सके, उतने समय तक रोके रहना 'बाह्य वृत्ति' प्राणायाम है।

2. आभ्यान्तरवृत्ति (पूरक)– प्राणवायु को अंदर खींचकर अर्थात श्वास लेकर जितने समय आसानी से रूक सके, रोके रहना आभ्यान्तर वृत्ति है, इसका अपर नाम 'पूरक' कहा गया है।

3. स्तम्भ वृत्ति (कुम्भक)– श्वास प्रश्वास दोनों गतियों के अभाव से प्राण को जहाँ–तहाँ रोक देना कुम्भक प्राणायाम है। प्राणवायु सहजतापूर्वक बाहर निष्कासित हुआ हो अर्थात जहाँ भी हो वहीं उसकी गति को सहजता से रोक देना स्तम्भवृत्ति प्राणायाम है।

प्राणायाम के इन तीनों लक्षणों को योगी देश, काल एवं संख्या के द्वारा अवलोकन करता रहता है कि वह किस स्थिति तक पहुँच चुका है। देश, काल व संख्या के अनुसार, ये तीनों प्राणायामों में से प्रत्येक प्राणायाम तीन प्रकार का होता है–

1. देश परिदृष्ट– देश में देखता हुआ अर्थात देश से नापा हुआ है अर्थात प्राणवायु कहाँ तक जाती है। जैसे– (1) रेचक में नासिका तक प्राण निकालना, (2) पूरक में मूलाधार तक श्वास को ले जाना, (3) कुम्भक में नाभिचक्र आदि में एकदम रोक देना।

2. काल परिदृष्ट– समय से देखा हुआ अर्थात समय की विशेष मात्राओं में श्वास का निकालना, अन्दर ले जाना और रोकना। जैसे– दो सेकण्ड में रेचक, एक सेकण्ड में पूरक और चार सेकण्ड में कुम्भक। इसे हठयोग के ग्रंथों में भी माना गया है। हठयोग के ग्रंथों म पूरक, कुम्भक और रेचक का अनुपात 1:4:2 बताया गया हैं।

3. संख्या परिदृष्टः– संख्या से उपलक्षित। जैसे– इतनी संख्या में पहला, इतनी संख्या में दूसरा और इतनी संख्या में तीसरा प्राणायाम। इस प्रकार अभ्यास किया हुआ प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म अर्थात लम्बा और हल्का होता है।

इन तीन प्राणायामों के अतिरिक्त महर्षि पतंजलि ने एक चौथे प्रकार का प्राणायाम भी बताया है–

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः।। पांतजल योग सूत्र 2/51

अर्थात अंदर बाहर के विषय को फेंकने वाला चौथा प्राणायाम है।

बाह्य आभ्यान्तर प्राणायाम पूर्वक अर्थात इनका पूर्ण अभ्यास होने पर प्राणायाम की अवस्था विशेष पर विजय करने से क्रम से दोनों पूर्वोक्त प्राणायामों की गति का निरोध हो जाता है, तो यह प्राणायाम होता है।

यह चतुर्थ प्राणायाम पूर्व वर्णित तीनों प्राणायामों से सर्वथा भिन्न है। सूत्रकार ने यहॉ यही तथ्य प्रदर्शित करने के लिए सूत्र में 'चतुर्थ पद' का प्रयोग किया है। बाह्य एवं अन्तः के विषयों के चिंतन का परित्याग कर देने से अर्थात इस अवधि में प्राण बाहर निष्कासित हो रहे हों अथवा अंदर गमन कर रहे हों अथवा गतिशील हों या स्थिर हों, इस तरह की जानकारी को स्वतः परित्याग करके और मन को अपने इष्ट के ध्यान में विलीन कर देने से देश, काल एवं संख्या के ज्ञान के अभाव में, स्वयमेव प्राणों की गति जिस किसी क्षेत्र में रूक जाती है, वही यह चतुर्थ प्राणायाम है। यह सहज ही आसानी से होने वाला

राजयोग का प्राणायाम है। इस प्राणायाम में मन की चंचलता शांत होने के कारण स्वयं ही प्राणों की गति रूक जाती है। यही इस प्राणायाम की विशेषता है।

इसके अतिरिक्त हठयोग के ग्रंथों में प्राणायाम के आठ प्रकार लिते हैं। हठयोग में प्राणायाम को 'कुम्भक' कहा गया है। ये आठ प्रकार के प्राणायाम या कुम्भक हैं–

हठप्रदीपिका के अनुसार–

सूर्यभेदनमुज्जायी, सीत्कारी शीतली तथा।

भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा, प्लाविनी त्यष्टकुम्भकाः।। 2/44

अर्थात सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा तथा प्लाविनी ये आठ प्रकार के कुम्भक हैं

घेरण्ड संहिता के अनुसार–

सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा।

भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा, केवली चाष्टकुम्भकाः।। 4/66

अर्थात केवली, सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा तथा केवली ये आठ कुम्भक हैं।

11.4.3 प्राणायाम का परिणाम –

प्राणायाम मन पर नियंत्रण, मानसिक स्थिरता, शांति तथा एकाग्रता विकसित करने की पद्धति है। इसके अभ्यास से ध्यान के अभ्यास में आसानी होती है। प्राणायाम से शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक शक्ति का विकास करना संभव होता है। इसके साथ ही प्राणायाम का अभ्यास द्वारा षट्चक्रों के जागरण में सुविधा होती है तथा प्राणायाम अनेक प्रकार के रोगों के निवारण में सहायक होता है। महर्षि पतंजलि ने प्राणायाम के दो फल बताये हैं जो इस प्रकार हैं–

प्रकाश के आवरण का नाश–

प्राणायाम से भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के लाभ मिलते हैं। प्राणायाम से पाचन शक्ति, वीर्य शक्ति, प्रत्यक्ष ज्ञान और स्मरण शक्ति बढ़ती है। इससे मन शरीर के बंधन से मुक्त होता है, बुद्धि प्रखर होती है, आत्मा को प्रकाश मिलता है। महर्षि पतंजलि प्राणायाम के फल को स्पष्ट करते हुये बताते हैं कि–

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।। पांतजल योग सूत्र 2/52

अर्थात उस प्राणायाम के अभ्यास से प्रकाश का आवरण क्षीण हो जाता है। प्राणायाम के फल से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने इस सूत्र के सन्दर्भ में जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–

महर्षि व्यास के अनुसार–

प्राणायामानभ्यस्यतोऽस्य योगिनः क्षीयते विवेकज्ञानावरणीयं कर्म।। योगभाष्य 2/52

अर्थात प्राणायाम अभ्यासकारी योगी के विवेकज्ञान का आवरणभूत कर्म क्षीण होता है।

पंचशिखाचार्य के अनुसार –

तपो न परं प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्थे।

अर्थात प्राणायाम से बढ़कर कोई तप नहीं है, उससे मन धुल जाते हैं और ज्ञान का प्रकाश होता है।

महर्षि घेरण्ड के अनुसार –

नाड़ी शुद्धिश्च ततः पश्चात्प्राणायामं या साधयेत्। घेरण्ड संहिता 5/2

नाड़ियों की शुद्धि के लिए प्राणायाम करना चाहिए।

हठप्रदीपिका के अनुसार –

प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत्। हठप्रदीपिका 2/16

उचित रीति से प्राणायाम का अभ्यास करने से सभी रोगों का नाश होता है। हठप्रदीपिका में आगे कहा गया है–

ब्रह्मादयोऽपि त्रिदशाः पवनाभ्यासतत्पराः।

अभूवन्नन्तकभयात् तस्मात् पवनमभ्यसेत्।। हठप्रदीपिका 2/39

बह्मा आदि देवता भी काल के भय से प्राणायाम के अभ्यास में लगे रहते हैं इसलिए सबको प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए।

आचार्य श्रीराम शर्मा के अनुसार –

क्लेशादि संचित कर्मों का पर्दा प्राणायाम के अभ्यास द्वारा शनैः–शनैः दुर्बल होते–होते क्षीणता को प्राप्त हो जाता है तब योगी का विवेकज्ञान रूपी प्रकाश सूर्य के सदृश्य प्रकाशित हो जाता है। अतः योगी साधक को प्राणायाम का नियमित अभ्यास आत्मिक उत्थान हेतु सतत करते रहना चाहिए।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार –

चित्त में स्वभावतः समस्त ज्ञान भरा है। वह सत्व पदार्थ द्वारा निर्मित है, पर रज और तम पदार्थों से ढंका हुआ है। प्राणायाम के द्वारा चित्त का यह आवरण हट जाता है।यह आवरण हट जाने से, हम मन को एकाग्र करने में समर्थ होते हैं।

धारणा की योग्यता–

महर्षि पतंजलि प्राणायाम के दूसरे फल को स्पष्ट करते हुये बताते हैं कि–

धारणासु च योग्यता मनसः।। पांतजल योग सूत्र 2/53

अर्थात समस्त धारणाओं में मन की योग्यता होती है। प्राणायाम के फल से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने इस सूत्र के सन्दर्भ में जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–

महर्षि व्यास के अनुसार – प्राणायाम के अभ्यास से ही धारणा करने की योग्यता बढ़ती जाती है। इसमें 'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य' सूत्र भी प्रमाण है।

आचार्य श्रीराम शर्मा के अनुसार – प्राणायाम के दीर्घकालीन नियमित अभ्यास से ही मन में धारणा की योग्यता आ जाती है। प्राणायाम में सतत आध्यात्मिक देश की भावना करनी पड़ती है। इस प्रकार से करते रहने से चित्त को उन देशों में प्रतिष्ठित करने की योग्यता प्राप्त हो जाती है।

11.4.4 प्राणायाम का महत्व–

प्राण के नियंत्रण से मन भी नियंत्रित होता है क्योंकि प्राण शरीर व मन के बीच की कड़ी है। प्राणायाम से चित्त की शुद्धि होती है और चित्त शुद्ध होने से अनेक तर्कों, जिज्ञासुओं का समाधान स्वयमेव हो जाता है। इन्द्रियों का स्वामी मन है और मन पर अंकुश प्राण का रहता है। इसलिए जितेन्द्रिय बनने वाले को प्राण की साधना करनी चाहिए। इस प्रकार प्राणायाम वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से हम प्राणों का नियमन, नियंत्रण, विस्तार एवं शोधन करते हैं। चित्त शुद्ध होता है और चित्त शुद्ध होने पर ज्ञान प्रकट होता है जो योग साधना का प्रमुख उद्देश्य है। प्राणायाम के प्राण का विस्तार एवं नियमन होता है और प्राण मानवीय जीवन में विशेष महत्व रखता है। प्राण की महत्ता सर्वविदित है और प्राणायाम प्राण नियंत्रण की प्रक्रिया है। अतः प्राणायाम का योग में महत्वपूर्ण स्थान है।

अभ्यास प्रश्न–

1. महर्षि पतंजलि के अनुसार आसन है–
   क. सुख पूर्वक स्थिर होना
   ख. सुख पूर्वक होना
   ग. स्थिर होना
   घ. एकाग्र होना
2. महर्षि पतंजलि के अनुसार आसन का फल है –
   क. आघात से मुक्ति
   ख. दुख से मुक्ति
   ग. द्वन्दों के आघात से मुक्ति
   घ. सुख से मुक्ति
3. महर्षि पतंजलि के अनुसार आसन अष्टांग योग का अंग है –
   क. चौथा
   ख. तीसरा
   ग. पाचंवा
   घ. दूसरा
4. महर्षि पतंजलि के अनुसार प्राणायाम अष्टांग योग का अंग है –
   क. चौथा
   ख. तीसरा
   ग. पाचंवा
   घ. दूसरा
5. महर्षि पतंजलि के अनुसार धारणा की योग्यता प्राप्त होती है–
   क. आसन के अभ्यास से
   ख. प्राणायाम के अभ्यास से

ग. ध्यान के अभ्यास से
घ. यम के अभ्यास से

11.5 सारांश

आसन और प्राणायाम के अभ्यास से योग साधक शरीर और मन को स्थिर और एकाग्र करता है। यह योगसाधना हेतु प्रारंभिक अंग है जिसका प्रभाव सीधे–सीधे हमारे स्थूल शरीर और मनःक्षेत्र पर पडता है। आसन –प्राणायाम के अभ्यास से शरीर स्वस्थ तथा मन शान्त होता है, जिससे कि धारणा ध्यान आदि हेतु मन की योग्यता होती है। धारणा में मन एकाग्र होता है यह एकाग्रता प्राणायाम के द्वारा प्राप्त की जा सकती है क्योंकि धीरे–धीरे प्राणायाम का अभ्यास इतना हो जाता है कि स्वयं पर पूरी तरह से नियंत्रण का अभ्यास हो जाता है। क्योंकि ''प्राणायाम में सतत आध्यात्मिक देश की भावना करनी पड़ती है। इस प्रकार से अभ्यास करते रहने से चित्त की (धारणा योग्य) इन देशों में प्रतिष्ठित करने की योग्यता प्राप्त हो जाती है।

11.6 परिभाषिक शब्दावली

अस्थैर्य– स्थिरता का न होना।

द्वन्द– किसी निर्णय के सम्बन्ध में असमंजस की स्थिति।

परिदृष्ट– भली–भांति देखा जाता हुआ।

आक्षेप– त्याग कर देना।

संस्कार– स्वंय के द्वारा किये गये कार्यों (वर्तमान एवं भूत) से संचित अनुभव।

अविद्याजनित– अज्ञान के कारण उत्पन्न ।

11.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

उत्तर– 1. क, 2. ग, 3. ख, 4. क, 5. ख।

11.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- आचार्य, पं. श्रीराम शर्मा, सांख्य दर्शन एंव योग दर्शन, वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, वेद विभाग, शान्तिकुन्ज, हरिद्वार, 2000.
- आचार्य, पं. श्रीराम शर्मा, 108 उपनिषद्, ज्ञानखण्ड, ब्रहमविधा खण्ड, साधना खण्ड, वेद माता गायत्री ट्रस्ट, शांतिकुन्ज, हरिद्वार,1992.
- आरण्य स्वामी हरिहरानन्द, पांतजल योगदर्शनम्, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली,2000.
- कुमारी पवन, विज्ञानभिक्षु प्रणीत योगसारसंग्रह, ईस्टर्न बुक लिकर्स, दिल्ली,1981.
- तीर्थ श्रीस्वामी ओमानन्द, पांतजलयोगप्रदीप, गीता प्रेस, गोरखपुर,2005.
- नन्दलाल दशोरा, पातंजल योग सूत्र, रणधीर प्रकाशन, हरिद्वार,2006.

- विवेकानन्द स्वामी, विवेकानन्द साहित्य, खण्ड–1, स्वामी स्वानन्द, अद्वैत आश्रम, मायावती, पिथैरागढ़–पुनमुद्रित, 2000.
- सरस्वती स्वामी दिव्यानन्द, वेदों में योग विद्या, यौगिक शोध सस्थांन, योगधाम, आर्यनगर, हरिद्वार,1999.
- गोयन्दका जयदयाल, श्रीमद्भगवद्गीता तत्व–विवेचन, हिन्दी टीका, गीताप्रेस गोरखपुर,2005.
- सरस्वती स्वामी सत्यानन्द, घेरण्ड संहिता, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार प्रथम संस्करण,1994.
- दिगम्बर स्वामी, झा ड़ां पीतरम्बर, हठप्रदीपिका, स्वात्माराम कृत , कैवल्यधाम श्रीमन्माधव योगमन्दिर समिति, लोनावाला–410403.
- आचार्य, पं. श्रीराम शर्मा, चिकित्सा उपचार के विविध आयाम, वा .4 वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, वेद विभाग, शान्तिकुन्ज, हरिद्वार,

11.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामाग्री

- तीर्थ श्रीस्वामी ओमानन्द, पांतजलयोगप्रदीप, गीता प्रेस, गोरखपुर.
- सरस्वती स्वामी सत्यानन्द, मुक्ति के चार सोपान, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार.
- गोयन्दका हरिकृष्णदास, पातंजल योग दर्शन, (साधारण हिन्दी–व्याख्या सहित), गीता प्रेस, गोरखपुर.
- पण्डया डॉ. प्रणव, अर्न्तजगत की यात्रा का ज्ञान विज्ञान, वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, शान्तिकुन्ज, हरिद्वार.
- शास्त्री दुण्ढिराज, योगसूत्रम्, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी.
- चन्द्र त्रिलोक, पांतजलयोग और श्री अरविन्दयोग, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली,1992.
- द्विवेदी, प्रतिभा, योगप्रतिभा, राधा पब्लिकेंशन्स, नई दिल्ली.
- श्रीवास्तव सुरेशचन्द्र, पांतजलयोगदर्शन, चौखभ्मा सुभारती प्रकाशन, वाराणसी.
- आचार्य राजवीर शास्त्री, पांतजल योगदर्शन– भाष्यम्, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, 455, खारी बावली, दिल्ली–6.
- आचार्य, पं. श्रीराम शर्मा, यम–नियम, श्री वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, शान्तिकुंज, हरिद्वार.
- आचार्य, पं. श्रीराम शर्मा, पतंजलि योग की तत्व साधना, श्री वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, शान्तिकुंज, हरिद्वार.

11.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. महर्षि पतंजलि के अनुसार आसन के सन्दर्भ में विस्तृत व्याख्या करें।
2. महर्षि पतंजलि के अनुसार प्राणायाम के सन्दर्भ में विस्तृत व्याख्या करें।
3. आसन के महत्व को स्पष्ट करें।
4. प्राणायाम के महत्व को स्पष्ट करें।

इकाई –12 प्रत्याहार ,धारणा एवं ध्यान

12.1 प्रस्तावना

12.2 उद्देश्य

12.3 प्रत्याहार का स्वरूप

12.3.1 प्रत्याहार का परिणाम एवं महत्व

12.4 धारणा का स्वरूप

12.4.1 धारणा का अर्थ एवं परिभाषा

12.4.2 धारणा के प्रकार

12.4.3 धारणा का परिणाम एवं महत्व

12.5 ध्यान का स्वरूप

12.5.1 अर्थ एवं परिभाषा

12.5.2 ध्यान की विभिन्न तकनीकें

12.5.3 ध्यान का महत्व

12.6 सारांश

12.7 परिभाषिक शब्दावली

12.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

12.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

12.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामाग्री

12.11 निबंधात्मक प्रश्न

12.1 प्रस्तावना

प्रत्याहार एवं धारणा द्वारा मन की एकाग्रता और स्थिरता में वृद्धि होती है और यह साधक के अंतःकरण को पवित्र और उच्चस्तरीय संवेदनाओं के ग्रहणयोग्य बनाते हैं, जिससे कि योग साधना में रत साधक उच्च सोपानों की प्राप्ति हेतु स्वयं को योग्य बनाते हैं। धारणा के पश्चात् ध्यान की प्रक्रिया आती है। जब धारणाभ्यासी देश–विशेष में मन को लगाते हुए मन को ध्येय के विषय पर स्थिर कर लेता है तो उसे ध्यान कहते हैं। यह समाधि–सिद्धि के पूर्व की अवस्था है। कुछ उपनिषदों में ध्यान के स्वरूप का वर्णन किया गया है। जैसे–मैत्र्यो तथा स्कन्द उपनिषद् में ध्यान को मन की निर्विषय अवस्था बतलाया गया है– 'ध्यानं निर्विषयं मनः'। ध्यान के पश्चात् समाधि की अवस्था प्राप्त होती है। समाधि की अवस्था में साधक अपने स्वरूप से शून्य हो जाता है अर्थात् ध्याता, ध्यान के विषय (ध्येय) में स्वयं को तदाकार कर लेता है। प्रस्तुत अध्याय में आप प्रत्याहार, धारणा एवं ध्यान के संदर्भ में अध्ययन करेंगे।

12.2 उद्देश्य

- महर्षि पतंजलि के अनुसार प्रत्याहार का स्वरूप क्या हैं ?
- महर्षि पतंजलि के अनुसार प्रत्याहार का परिणाम क्या हैं ?
- महर्षि पतंजलि के अनुसार धारणा का स्वरूप क्या हैं ?
- महर्षि पतंजलि के अनुसार धारणा का परिणाम क्या हैं ?
- महर्षि पतंजलि के अनुसार ध्यान का स्वरूप क्या हैं ?
- महर्षि पतंजलि के अनुसार ध्यान का परिणाम क्या हैं ?
- अन्य व्याख्याकारों का प्रत्याहार ,धारणा एवं ध्यान के संदर्भ में क्या मत है ?

12.3 प्रत्याहार का स्वरूप

प्रत्याहार दो शब्दों 'प्रति' और 'आहार' से मिलकर बना है। 'प्रति' का अर्थ है विपरीत अर्थात इन्द्रियों के जो अपने विषय हैं उनको उनके विषय या आहार के विपरीत कर देना प्रत्याहार है। इंद्रियॉ विषयी हैं, ये विषय को ग्रहण करती हैं। ये विषय हैं– पंच तन्मात्राएँ। चेतना ज्ञान प्राप्त करना चाहती हैं और चित्त उसका माध्यम बनता है। विषय अधिक होने पर चित्त उसमें भटक जाता है और यह ज्ञान इन्द्रियों से प्राप्त होता है।

जब इंद्रियाँ विषयों को छोड़कर विपरीत दिशा में मुड़ती हैं तो प्रत्याहार होता है। अर्थात इंद्रियों की बहिर्मुखता का अंतर्मुख होना ही प्रत्याहार है। योग के उच्च अंगों के लिए अर्थात धारणा, ध्यान तथा समाधि के लिए प्रत्याहार का होना आवश्यक है।

महर्षि पतंजलि प्रत्याहार के स्वरुप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं –

> स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।। पातंजल योग सूत्र 2/54

अर्थात अपने विषयों के संबंध से रहित होने पर इंद्रियों का जो चित्त के स्वरूप में तदाकार सा हो जाता है, वह प्रत्याहार है। प्रत्याहार से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–

महर्षि व्यास के अनूसार – इंद्रियाँ अपने विषय से असम्बद्ध हैं, जैसे मधुमक्खियाँ रानी मधुमक्खी का अनुकरण करती हैं। राजा मन के निरोध होने से इन्द्रियों का भी निरोध हो जाता है। योग की इस स्थिति को ही प्रत्याहार कहा जाता है।

आचार्य श्रीराम शर्मा के अनूसार – इंद्रियों की बाह्य वृत्ति को सब ओर से हटाकर एकत्रित करके मन में लय करने के अभ्यास को प्रत्याहार कहा गया है। इंद्रियों का विषयों से अलग होना ही प्रत्याहार है। जिस समय साधक अपनी साधनाकाल में इंद्रियों के विषयों का परित्याग कर देता है और चित्त को अपने इष्ट में एकाकार कर (लगा) देता है, तब उस समय जो चिंतन इन्द्रियों के विषयों की तरफ न जाकर चित्त में समाहित हो जाती है, वही प्रत्याहार सिद्धि की पहचान है।

जिस तरह से मनुष्य की छाया चलने पर चलने लगती है, रूकने पर रूक जाती है, वैसे ही इंद्रियाँ चित्त के अधीन रहकर कार्य करती हैं। यही प्रत्याहार के अभिमुख होना है।

शारदातिलक के अनूसार –

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु निरगलम्। बलदाहरणं तेभ्य प्रत्याहारोऽभिधीयते।। 25/23

अर्थात ये इन्द्रियाँ विषयों में बेरोक–टोक दौड़ते रहने से चंचल रहती हैं। अतः उन विषयों से इंद्रियों को निरूद्ध कर मन को स्थिर करने का नाम प्रत्याहार है। रूद्रयामल में भगवद्पाद में चित्त लगाने को प्रत्याहार कहा गया है।

घेरण्ड संहिता के अनूसार –

यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिम्। ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्यैव वशं नयेत्।। 4/2

अर्थात जहाँ–जहाँ यह चंचल मन विचरण करे इसे वहीं–वहीं से लौटाने का प्रयत्न करते हुए आत्मा के वश में करे (यही प्रत्याहार है)।

विष्णु पुराण के अनूसार –

शब्दादिष्वनुषक्तानि निगृह्याक्षणि योगवित्। कुर्याच्चित्तानुकारिणी प्रत्याहार परायणाः।।

अर्थात योगविदों को चाहिए कि वह शब्दादि विषयों में आसक्ति का निग्रह करे और अपने–अपने विषयों में आसक्ति का निग्रह करे और अपने–अपने विषयों से निरूद्ध इंद्रियों को चित्त का अनुसरण करने वाला बनावे। यही अभ्यास प्रत्याहार का रूप धारण कर लेता है।

कठोपनिषद् (1/3/13) के अनूसार – बुद्धिमान मनुष्य को उचित है कि वाक् आदि इंद्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर मन को इष्ट में लगावे।

मैत्रेयुपनिषद् (1/9) के अनूसार – चित्त ही संसार है। इसलिए प्रयत्नपूर्वक उसे ही शुद्ध करो, क्योंकि जैसा चित्त है वैसी ही गति, यह सनातन सिद्धांत है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि इंद्रियों का अपने विषयों को छोड़कर चित्त के अनुकूल अनुरूप होकर कार्य करना प्रत्याहार है। उपर्युक्त परिभाषाओं में महर्षि पतंजलि द्वारा बतायी गयी परिभाषा के अनुसार प्रत्याहार स्वतः होने वाली प्रक्रिया है। इसमें प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है जबकि अन्य परिभाषाओं में प्रयासपूर्वक अर्थात क्रियात्मक प्रत्याहार पर जोर दिया गया है।

12.3.1 प्रत्याहार का परिणाम एवं महत्व–

महर्षि पतंजलि के अनूसार –

ततः परमावश्यतेइन्द्रियाणाम्।। पातंजल योग सूत्र 2/55

उस प्रत्याहार से इंद्रियों की परम वश्यता होती है अर्थात प्रत्याहार से इंद्रियाँ अपने वश में हो जाती हैं। प्रत्याहार के परिणाम से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–

व्यास भाष्य के अनूसार – इंद्रियों की परमवश्यता क्या है, इसे व्यास भाष्य में इस प्रकार कहा गया है–कोई कहते हैं शब्दादि विषयों में आसक्त न होना अर्थात अपने अधीन रखना इन्द्रियवश्यता या इन्द्रिजय है।दूसरे कहते हैं कि वेदशास्त्र से अविरूद्ध विषयों का सेवन, उनके विरूद्ध विषयों का त्याग इन्द्रियजय है।कुछ लोग कहते हैं कि विषयों में न फँसकर अपनी इच्छा से विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्प्रयोग।कुछ लोग कहते हैं कि राग–द्वेष के अभावपूर्वक सुख–दुःख से शून्य विषयों का ज्ञान होना इन्द्रियजय है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनूसार – तब वह मनुष्य जितेन्द्रिय होकर जहाँ अपने मन को ठहराना या चलाना चाहे, उसी में ठहरा एवं चला सकता है। फिर उसको ज्ञान हो जाने से सदा सत्य से प्रीति हो जाती है और असत्य में कभी नहीं।

आचार्य श्रीराम शर्मा के अनूसार – योगी साधक जब प्रत्याहार की सिद्धि प्राप्त कर लेता है तो समस्त इंद्रियाँ उसके वश में हो जाती हैं। वह जितेन्द्रिय हो जाता है। इंद्रियों की स्वतंत्रता का सदैव के लिए अभाव हो जाता है।

इन सब विषयों में इन्द्रियजय के लक्ष्य में विषयों का संबंध बना ही रहता है जिससे गिरने की आशंका दूर नहीं हो सकती। इसलिए यह इंद्रियों की परमवश्यता नहीं है। चित्त की एकाग्रता के कारण इंद्रियों की विषयों में प्रवृत्ति न होना इन्द्रियजय है। उस एकाग्रता से चित्त के निरूद्ध होने पर इंद्रियों का सर्वथा निरोध हो जाता है और अन्य किसी इंद्रियजय के उपाय में प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं रहती। इसलिए यही इंद्रियों की परमवश्यता है। प्रत्याहार का फल है इन्द्रियजय अर्थात मन सहित समस्त इंद्रियों पर विजय। इन्द्रियजय योग की एक महत्वपूर्ण घटना या प्रक्रिया है जो आगे धारणा, ध्यान, समाधि के लिए आधारभूमि का काम करती है।

12.4 धारणा का स्वरूप

राजयोग को दो प्रमुख भागों में बांटा गया है– बहिरंग योग एवं अंतरंग योग। बहिरंग योग में यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार प्रथम पांच अंग आते हैं और अंतरंग योग में धारणा, ध्यान तथा समाधि को रखा गया है। धारणा अंतरंग योग का प्रथम अंग है। धारणा मुख्यतः ध्यान की पूर्व तैयारी है। किसी भी ध्यान से पहले धारणा आवश्यक है। अन्तर विषयों से मुक्ति के लिए हम मन को एकाग्र करते हैं तो धारणा होती है। प्रत्याहार में हम मन तथा चित्त को अंतर्मुखी बनाते हैं और धारणा में उसे एक बिन्दु पर लगाते हैं। शास्त्रों में अधिकतर पंच महाभूतों की धारणा बतायी गयी है क्योंकि पंचमहाभूत हमारे संपर्क में रहते हैं। हम उन्हें अनुभव करते हैं क्योंकि अधिक सूक्ष्म विषयों पर हम धारणा नहीं कर सकते ।

12.4.1 धारणा का अर्थ एवं परिभाषा–

धारणा मन की एकाग्रता है, एक बिन्दु, एक वस्तु या एक स्थान पर मन की सजगता को अविचल बनाए रखने की क्षमता है। ''योग में धारणा का अर्थ होता है मन को किसी एक बिन्दु पर लगाए रखना, टिकाए रखना। किसी एक बिन्दु पर मन को लगाए रखना ही धारणा है। धारणा शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'धृ' धातु से हुई है जिसका अर्थ होता है– आधार, नींव।'' धारणा अर्थात ध्यान की नींव, ध्यान की आधारशिला। धारणा परिपक्व होने पर ही ध्यान में प्रवेश मिलता है। धारणा की अनेक परिभाषाएँ मिलती हैं। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं–

महर्षि पतंजलि– देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।। पा.यो.सू. 3/1

अर्थात देश विशेष में चित्त को स्थिर करना धारणा कहलाता है।

स्पष्ट है कि महर्षि ने भी मन को एकाग्र करने की प्रक्रिया को ही धारणा कहा है जिसमें मन या चित्त को किसी स्थान विशेष में बांधकर रखने की प्रक्रिया ही धारणा है। यहाँ देश के दो भेद किए गए हैं– बाह्य देश जैसे किसी मूर्ति, सूर्य, चन्द्रमा आदि तथा अंतर देश जैसे शरीर के अंदर के कुछ विशिष्ट स्थान जैसे षट्चक्र आदि। धारणा से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–

महर्षि व्यास– नाभिचक्रे, हृदयपुण्डरीके, मूर्धिन ज्योतिषि, नासिकाग्रे, जिह्वाग्र इत्यादि देशों में अथवा बाह्य विषय में वृत्ति मात्र से बंधना स्थिर करना धारणा कहलाता है।

इस सूत्र में देश बन्ध पद का अभिप्राय यह है कि चित्तवृत्ति को शरीर के अंदर किसी स्थान विशेष जैसे नाभिचक्र, हृदय कमल, नासिका का अग्रभाग, भृकुटि, जिह्वाग्र में अथवा आकाश, सूर्य, चन्द्रमा आदि देवता में से किसी एक में अन्य सभी जगह के विषयों से विरक्त हो एक ही विषय पर चित्त की वृत्ति को स्थिर करने का नाम ही धारणा है।

कुछ अन्य ग्रंथों में धारणा की परिभाषा इस प्रकार है–

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्–

पंचभूतमये देहे भूतेष्वेतेषु वंचषु। मनसो धारणं एतद युक्तस्य च यमादिभिः।

अर्थात चित्त का निश्चलीकरण भाव होना ही धारणा है। शरीरगत पंचमहाभूतों में मनोधारण रूप धारणा भवसागर को पार कराने वाली है।

योगतत्वोपनिषद (69/72)– पंचज्ञानेन्द्रियों के विष्ज्ञय में ब्रह्म या आत्मा की भावना होना ही धारणा है।

दर्शनोपनिषद्– शरीरगत पंचभूतांश का बाह्य पंचभूतों में धारण करना ही यथार्थ धारणा है।

तेजोबिन्दूपनिषद्– मन के विषयों में ब्रह्मभाव का अवस्थित होना ही धारणा है।

कठोपनिषद्–

तां योगमिति मन्यते स्थिरामिन्दिय धारणम्। 2/3/11

अर्थात मन और इंद्रियों का दृढ़ नियंत्रण ही धारणा योग है।

वसिष्ठ संहिता– इसमें धारणा की चार परिभाषाएँ दी गयी हैं। अर्थात योगशास्त्र के ज्ञाता योगी लोग यम आदि गुणों से युक्त अपने में मन की स्थिरता को धारणा कहते हैं। अन्य तीन परिभाषाओं में क्रमशः एक में बाह्याकाश एवं अंतराकाश का हृदय में चिंतन करने को धारणा कहा गया है। एक में पंचमहाभूतों का बीज मंत्रों के साथ और एक में पांच देवताओं का चिंतन करना धारणा कहा गया है।

स्वामी विवेकानन्द– धारणा का अर्थ है मन को देह के भीतर या उसके बाहर किसी स्थान में धारण या स्थापन करना। मन को स्थान विशेष में धारण करने का अर्थ है मन को शरीर के अन्य स्थानों से हटाकर किसी एक विशेष अंश के अनुभव में बलपूर्वक लगाए रखना।

आचार्य श्रीराम शर्मा– धारणा का तात्पर्य उस प्रकार के विश्वासों की धारणा करने से है जिनके द्वारा मनोवांछित स्थिति को प्राप्त किया जा सकता है। भौतिक संपदायें कुपात्रों को भी मिल जाती हैं परंतु आत्मिक संपदाओं में एक भी ऐसी नहीं है जो अनाधिकारी को मिल सके।

स्वामी निरंजनानंद सरस्वती– वह वस्तु या प्रत्यय जिस पर मन दृढ़तापूर्वक आधारित होता है, योग की परंपराओं में धारणा राजयोग का अंतरंग अभ्यास है जो मानसिक अनुशासन का मार्ग है।

स्वामी शिवानंद– विचारों के सामुदायीकरण को धारणा कहते हैं। मानसिक प्रवृत्तियों को केवल एक पदार्थ पर स्थिर और प्रतिष्ठापित करना धारणा है। जिस विधि में मन और मन की प्रवृत्तियाँ एकाग्र कर दी जाती हैं। उनमें चंचलता और विक्षेप नहीं रहता उसे (या उस विधि को) धारणा कहा जाता है।

12.4.2 धारणा के प्रकार–

धारणा के प्रकारों का वर्णन विभिन्न ग्रंथों एवं विभिन्न विद्वानों ने अलग–अलग प्रकारों का वर्णन किया है–

स्वामी निरंजनानंद सरस्वती के अनुसार – इन्होंने चार प्रकार की धारणा बतायी है जिनके कई उपभेद हैं जो क्रमशः इस प्रकार हैं –

1. औपनिषदिक धारणा– इसमें स्वामी जी ने 6 प्रकार की धारणा बताई है–

- बाह्याकाश
- अंतराकाश
- चिदाकाश
- आज्ञाचक्र धारणा
- हृदयाकाश धारणा
- दहराकाश धारणा

2. लय धारणा– यह दो प्रकार की है–

- मूलाधार एवं विशुद्धि दृष्टि
- लोक दृष्टि

3. व्योम पंचक धारणा– इसमें पांचों सूक्ष्म आकाशों की अनुभूति अवचेतन तथा उसके परे जगत की होती है। ये पांच हैं–

- गुणरहित आकाश
- परमाकाश
- महाकाश
- तत्वाकाश
- सूर्याकाश

4. नादानुसंधान धारणा– स्थूल से सूक्ष्म आकाशों की अनुभूति अवचेतन तथा उसके परे ध्वनि कंपन की खोज धारणा का संपूर्ण भाग है जिसे नादानुसंधान कहते हैं। (धारणा दर्शन, पृ.423)

वसिष्ठ संहिता में वर्णित धारणा– इसमें पांच तत्वों की धारणा बतायी गयी है–

भूमिरापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च।

एतेषु पंचवर्णानि धारण धारणा स्मृताः।। 4/4

अर्थात पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश इनमें पांच बीज वर्णों (ल, व, र, य, ह) का चिंतन करना धारणा है। इसे इस प्रकार समझ सकते हैं–

महाभूत	स्थान	बीजाक्षर	देवता
पृथ्वी	पांव से जानु तक	लं	ब्रह्म
जल	जानु से मूलाधार तक	वं	विष्णु
अग्नि	मूलाधार से हृदय तक	रं	रूद्र
वायु	हृदय से भ्रूमध्य तक	यं	महत्
आकाश	भ्रूमध्य से ब्रह्मरंध्र तक	हं	अध्यवत

घेरण्ड संहिता के अनुसार – इसमें पंचतत्वों के आधार पांच प्रकारों की धारणा का उल्लेख है–

पार्थिवी धारणा, आम्भसी धारणा, अग्नि धारणा, वायवीय धारणा व आकाशी धारणा।

शिव संहिता तथा अन्य कई उपनिषदों में भी पंच तत्व के आधार पर पांच प्रकार की धारणा बतायी गयी है।

12.4.3 धारणा का परिणाम एवं महत्व–

धारणा से एकाग्रता बढ़ती है और एकाग्रता से अनेक कार्य संपन्न होते हैं क्योंकि हमारी मानसिक ऊर्जा एक बिन्दु पर होती है। आध्यात्मिक एवं लौकिक दोनों प्रकार के कार्यों के लिए धारणा आवश्यक है। स्वामी निरंजनानंद सरस्वती के अनुसार कोई भी छोटा से छोटा कार्य हो, उसे एकाग्रता से करने की आवश्यकता होती है। बिना एकाग्रता के हम कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकते। जबकि एकाग्र मन वाला व्यक्ति कोई भी कार्य अधिक दक्षतापूर्वक कर सकता है। अतः दैनिक जीवन के साथ ही साथ आध्यात्मिक साधना के लिए धारणा आवश्यक है। हम मन की तुलना बल्ब से कर सकते हैं। एक बिजली के बल्ब का प्रकाश सभी दिशाओं में फैलता है, ऊर्जा बिखरती रहती है। आप उस बल्ब से पांच फुट की दूरी पर ताप का अनुभव नहीं कर सकते। यद्यपि उस बल्ब के मध्य स्थित फिलामेंट में पर्याप्त ताप विद्यमान होगा। इसी प्रकार मन में प्रच्छन्न रूप में अपरिमित शक्ति है परन्तु यह सभी दिशाओं में बिखरी हुई है जो धारणा से केन्द्रित होती है।

वशिष्ठ संहिता (4/11–15) में धारणा की महत्ता के सन्दर्भ में बताया गया है कि –

- पृथ्वी तत्व की धारणा से पृथ्वी तत्व पर विजय प्राप्त कर सकते हैं।
- जल तत्व की धारणा से रोगों से छुटकारा मिलता है।
- अग्नि तत्व की धारणा करने वाला अग्नि से नहीं जलता।
- वायु तत्व की धारणा से वायु के समान आकाश विहारी होता है।
- आकाश तत्व में पांच पल की धारणा से जीव मुक्त होगा और एक वर्ष में ही मल–मूल की अल्पता होगी।

12.5 ध्यान का स्वरूप

धारणा के पश्चात् ध्यान की प्रक्रिया आती है। जब धारणाभ्यासी देश–विशेष में मन को लगाते हुए मन को ध्येय के विषय पर स्थिर कर लेता है तो उसे ध्यान कहते हैं। यह समाधि–सिद्धि के पूर्व की अवस्था है। ध्यान अष्टांग योग का सातवाँ अंग है। पहले के छः अंग ध्यान की तैयारी के रूप में किए जाते हैं। ध्यान से आत्मसाक्षात्कार होता है। ध्यान को मुक्ति का द्वार कहा जाता है। स्वामी शिवानन्द ने कहा है– ''ध्यान मोक्ष का द्वार खोलता है''। ध्यान एक ऐसी प्रक्रिया है जिसकी आवश्यकता हमें लौकिक जीवन में भी है और अलौकिक जीवन में भी इसका उपयोग किया जाता है। ध्यान को सभी दर्शनों, धर्मों व संप्रदायों में श्रेष्ठ माना गया है। सभी योगी ध्यान की तैयारी स्वरूप अलग–अलग विधियाँ अपनाते हैं और ध्यान तक पहुँचकर लगभग एक हो जाते हैं। अनेक महापुरूषों ने ध्यान के ही माध्यम से अनेक महान कार्य संपन्न किए। जैसे– स्वामी विवेकानंद एवं भगवान बुद्ध आदि। भगवान कृष्ण ने भी गीता में एक अध्याय ही ध्यान के ऊपर बताया है। आत्मा के ध्यान से माया का तिरोधान हो जाता है।

12.5.1 ध्यान का अर्थ एवं परिभाषा–

ध्यान शब्द की व्युत्पत्ति ध्यैयित्तायाम् धातु से हुई है। इसका तात्पर्य है चिंतन करना। लेकिन यहाँ ध्यान का अर्थ चित्त को एकाग्र करना उसे एक लक्ष्य पर स्थिर करना है।

अतः, किसी विषय वस्तु पर एकाग्रता या 'चिंतन की क्रिया' ध्यान कहलाती है। यह एक मानसिक प्रक्रिया है जिसके अनुसार किसी वस्तु की स्थापना अपने मनःक्षेत्र में की जाती है। फलस्वरूप मानसिक शक्तियों का एक स्थान पर केन्द्रीकरण होने लगता है। यही ध्यान है।

महर्षि पतंजलि कहते हैं–

तत्र प्रत्यैकतानताध्यानम्।। पातंजल योग सूत्र 3/2

अर्थात पूर्वोक्त धारणा वाली वस्तु पर तैल धारावत् मन का एकाग्र हो जाना, ठहर जाना ही ध्यान है। अर्थात धारणा वाले स्थान या ध्येय की एक ही तरह की वृत्ति का प्रवाह गतिशील होना, उसके मध्य में किसी भी वृत्ति का न उठना ही ध्यान है। ध्यान से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–

महर्षि व्यास के अनुसार– उन देशों में ध्येय जो आत्मा उस आलम्बन की और चित्त की एकतानता अर्थात आत्मा चित्त से भिन्न न रहे और चित्त आत्मा से पृथक न रहे उसका नाम है सदृश प्रवाह। जब चित्त चेतन से ही युक्त रहे, कोई पदार्थान्तर न रहे तब समझना कि ध्यान ठीक हुआ।

सांख्य सूत्र के अनुसार–

ध्यानं निर्विषयं मनः।। 6/25

अर्थात मन का विषय रहित हो जाना ही ध्यान है।

आदिशंकराचार्य के अनुसार –

अचिन्तैव परं ध्यानम्।।

अर्थात किसी भी वस्तु पर विचार न करना ध्यान है।

महर्षि घेरण्ड के अनुसार–

ध्यानात्प्रयत्क्षमात्मनः।।

अर्थात ध्यान वह है जिससे आत्मसाक्षात्कार हो जाए।

तत्वार्थ सूत्र के अनुसार–

उत्तमसघनस्येकाग्राचिन्ता निरोधो ध्यानगन्तमुहुर्वाति। –त.सू. 9/27

अर्थात एकाग्रचित्त और शरीर, वाणी और मन के निरोध को ध्यान कहा गया है।

गरूड़ पुराण के अनुसार–

ब्रह्मात्म चिन्ता ध्यानम् स्यात्।। अध्याय 18

अर्थात केवल ब्रह्म और आत्मा के चिन्तन को ध्यान कहते हैं।

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् के अनुसार–

सोऽहम् चिन्मात्रमेवेति चिन्तनं ध्यानमुच्यते।।

अर्थात स्वयं को चिन्मात्र ब्रह्म तत्व समझने लगना ही ध्यान कहलाता है।

मण्डलब्राह्मणोपनिषद् के अनुसार–

सर्वशरीरेषु चैतन्येकतानता ध्यानम्।।

अर्थात सभी जीव जगत को चैतन्य में एकाकार होने को ध्यान की संज्ञा दी गयी है।

आचार्य श्रीराम शर्मा के अनुसार– कोई आदर्श लक्ष्य या इष्ट निर्धारित करके उसमें तन्मय होने को ध्यान कहते हैं।

ध्यान की कुछ अन्य व्यावहारिक परिभाषाएँ इस प्रकार हैं –

- क्लेशों को पराभूत करने की विधि का नाम ध्यान है।
- ध्यान का तात्पर्य चेतना के अंतर वस्तुओं के अखण्ड प्रवाह होते हैं।
- अपनी अंतःचेतना (मन) को परमात्म चेतना तक पहुँचाने का सहज मार्ग है।
- बिखरी हुई शक्ति को एकाग्रता के द्वारा लक्ष्य विशेष की ओर नियोजित करना ध्यान है।
- मन को श्रेष्ठ विचारों में स्नान कराना ही ध्यान है।

12.5.2 ध्यान की विभिन्न तकनीकें–

प्राचीन भारतीय ग्रंथों में ध्यान की विभिन्न तकनीकों का वर्णन किया है; जो इस प्रकार है–

शांडिल्योपनिषद् में ध्यान दो प्रकार के बताए गए है–सगुण ध्यान और निर्गुण ध्यान सगुण इष्ट या मूर्ति का ध्यान है, जिससे मात्र सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

घेरण्ड संहिता में 3 प्रकार के ध्यान बताये गये हैं–

''स्थूलं ज्योतिस्तथासूक्ष्मं ध्यानस्य त्रिविधं विदुः।

स्थूलं मूर्तिमयं प्रोक्तं ज्योतिस्तेजोमयं सूक्ष्मं, बिंदुमयं ब्रह्म कुंडली परदेवता।।'' घे.सं. 6/1

अर्थात् स्थूल ध्यान, ज्योति ध्यान और सूक्ष्म ध्यान के भेद से ध्यान 3 प्रकार का होता है।स्थूल ध्यान वह कहलाता है, जिसमें मूर्तिमय इष्टदेव का ध्यान हो। ज्योतिर्मय ध्यान वह है, जिसमें तेजोमय ज्योतिरूप ब्रह्म का चिंतन हो। सूक्ष्म ध्यान उसे कहते हैं, जिसमें बिंदुमय ब्रह्म कुंडलिनी शक्ति का चिंतन किया जाए।

12.5.3 ध्यान का महत्व–

निजस्वरूप को मन से तत्वतः समझ लेना ही ध्यान होता है। ध्यान करते करते जब चित्त ध्येयकार में परिणत हो जाता है, उसके अपने स्वरूप का अभाव सा हो जाता है। धारणा में केवल लक्ष्य निर्धारित होता है, जबकि ध्यान में ध्येय की प्राप्ति और उसकी प्रतीति

होती है। ध्यान के माध्यम से क्लेशों की स्थूल वृत्तियों का नाश हो जाता है। धारणा, ध्यान और समाधि तीनों को संयम कहा गया है। संयम की स्थिरता से प्रज्ञा की दीप्ति अर्थात् विवेकख्याति का उदय होता है। इसके अतिरिक्त पातंजल योग सूत्र में संयम से प्राप्त होने वाली अनेक अन्य सिद्धियों का भी उल्लेख हुआ है। विभिन्न स्थानों पर ध्यान की महत्ता का वर्णन किया गया है; जो इस प्रकार है–

गीता – ''यथा दीपो निवातस्थो नेगंते सोपमा स्मृता।

योगिनो यतचित्तस्य युंजतो योगमात्मनः।। 6/19

जिस प्रकार वायुरहित स्थान मे स्थित दीपक की लौ चलायमान नहीं होती, वैसी ही उपमा परमात्मा के ध्यान में लगे हुए योगी के जीते हुए चित्त की कही गई है।

घेरंडसंहिता– '' ध्यानात्प्रत्यक्षं आत्मनः'' 1/11

ध्यान से अपनी आत्मा का प्रत्यक्ष हो जाता है। अर्थात – ध्यान के द्वारा आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है। इस प्रकार हम यह समझ सकते है कि ध्यान का योग साधना हेतु क्या महत्व है।

ध्यान एक विज्ञान है जो हमारे शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक, बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास में हमारी सहायता कर हमें अपने संपूर्ण अस्तित्व का स्वामी बनाने में सक्षम है। मानव में विभिन्न शक्तियों का समुच्चय उपलब्ध हैं। प्रत्येक शक्ति के विकास के अपने विधि–विधान हैं। इन सभी शक्तियों का संगम ही हमारा जीवन है। जब हम ध्यान का अभ्यास शुरु करते हैं तब हम अपने अस्तित्व और अपने व्यक्तित्व के प्रत्येक आयाम के विकास की प्रक्रिया में गतिशीलता लाते हैं। ध्यान के द्वारा सूक्ष्म मन के अनुभवों को स्पष्ट किया जाता है। जैसे–जैसे हम अपने भीतर, सूक्ष्म अनुभवों को जानने में सक्षम होते जाते है हम अन्तर्मुखी होते हैं, यह आत्मसाक्षात्कार की अवस्था है। आत्म साक्षात्कार का तात्पर्य यहाँ पर सीधा ईश्वर से सम्बन्ध नहीं, वरन् स्वयं के अनुसंधान से है। ध्यान अपने आपको पहचानने की प्रक्रिया है, स्वयं का साक्षात्कार होना, स्वयं को जानना ध्यान के द्वारा ही संभव है। ध्यान प्राचीन, भारतीय ऋषि–मुनियों, तत्तवेत्ताओं द्वारा प्रतिपादित अनमोल ज्ञान–विज्ञान से युक्त एक विशिष्ट पद्धति है, इसके द्वारा मनुष्य का समग्र उत्थान, विकास, उत्कर्ष संभव है।

अभ्यास प्रश्न–

1. महर्षि पतंजलि के अनुसार प्रत्याहार है–
   क. विषयों के संबंध से रहित होने पर इंद्रियों का चित्त के स्वरूप में तदाकार
   ख. इंद्रियों के संबंध से रहित होने पर विषयों का चित्त के स्वरूप में तदाकार
   ग. इंद्रियों का चित्त के स्वरूप में तदाकार
   घ. विषयों का चित्त के स्वरूप में तदाकार
2. महर्षि पतंजलि के अनुसार धारणा का फल है –
   क. चित्त को स्थिर करना
   ख. देश को स्थिर करना
   ग. देश विशेष में चित्त को स्थिर करना
   घ. मुक्ति को स्थिर करना

3. महर्षि पतंजलि के अनुसार धारणा अष्टांग योग का अंग है –
   क. चौथा
   ख. छठा
   ग. पाचंवा
   घ. सातवां
4. महर्षि पतंजलि के अनुसार ध्यान अष्टांग योग का अंग है –
   क. चौथा
   ख. दूसरा
   ग. पहला
   घ. सातवां
5. महर्षि पतंजलि के अनुसार प्रत्याहार अष्टांग योग का अंग है –
   क. सातवां
   ख. दूसरा
   ग. पाचवां
   घ. चौथा

12.6 सारांश

प्रत्याहार बहिरंग योग एवं अंतरंग योग के बीच की कड़ी है। प्रत्याहार से इंद्रियाँ अंतर्मुखी हो जाती हैं अतः पूरी इंद्रिया इसके अभ्यास से वश में हो जाती है। अर्थात् तब योगी जितेन्द्रिय हो जाता है। यह चित्त के निरोध होने पर ही संभव हो पाता है। अतः तब इंद्रिय की परम वश्यता हो जाती है। तत्पश्चात् धारणा हेतु मन की योग्यता हो जाती है। धारणा एकाग्रता का रूप है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार के द्वारा चित्तवृत्ति की चंचलता संयमित कर उसे शरीर के अंदर या बाहर के किन्ही भी पदार्थो में इस तरह से आबद्ध हों जिससे कि वृत्ति मात्र से उसी स्थान–विशेष में एकाग्रता पूर्वक स्थित हो जाए अन्यत्र कही न जाए, यही धारणा है स्वामी ओमानंद कहते हैं ''वृत्ति ध्येय के विषय के तदाकार होकर स्थिर रूप से उसके स्वरूप को प्रकाशित करने लगती है'' अर्थात् ध्येय विषय से वृत्तिमात्र से चित्त बाधना, ठहराना धारणा है। प्रत्याहार एवं धारणा द्वारा मन की एकाग्रता और स्थिरता में वृद्धि होती है और यह योग साधक के अंतःकरण को पवित्र और उच्चस्तरीय संवेदनाओं के ग्रहण योग्य बनाते है। जिससे कि योग साधना में रत साधक उच्च सोपानों की प्राप्ति हेतु स्वयं को योग्य बनाते हैं। धारणा में केवल लक्ष्य निर्धारित होता है, जबकि ध्यान में ध्येय की प्राप्ति और उसकी प्रतीति होती है। ध्यान करते करते जब चित्त ध्येयकार में परिणत हो जाता है, उसके अपने स्वरूप का अभाव सा हो जाता है। ध्यान एक ऐसा अभ्यास है जिसके माध्यम से अभ्यासकर्ता की अन्तःदृष्टि विकसित होती है और विवेकज्ञान की प्राप्ति होती है, इस निश्चल और निर्दोश विवेकज्ञान की प्राप्ति होने पर समस्त दुखों का अभाव हो जाता है। स्वामी विवेकानन्द ज्ञान प्राप्ति में ध्यान की महत्ता का वर्णन करत हुये कहते हैं कि समस्त ज्ञान ध्यान का ही सुफल है। निष्काम कर्मयोग व्यक्ति को ध्यान के लिए सुपात्र बनाता है और ध्यान से उसे ज्ञान होता है। वह ज्ञान के लिए ध्यान और एकाग्रता का अभ्यास बताते हुये कहते हैं कि ज्यों–ज्यों ध्यान और एकाग्रता से

चित्त शुद्ध, निर्दोष और निश्चल होता जाता है, तदनुरूप उसमें विवेकज्ञान प्रकट होता जाता है।

12.7 परिभाषिक शब्दावली

विषयाभिमुख– इन्द्रियों का अपने विषयों से दूर हो जाना।

वश्यता– मन का अपने वश में हो जाना।

अप्रवृत्ति– प्रवृत्ति अर्थात् आदत अप्रवृत्ति अर्थात् आदत से मुक्ति।

विजित– जीती हुयी।

अंतर्मुखी– बाहर के विषयों से आकृषण हटाकर आन्तरिक जगत में प्रवेश करना।

देश– अपनी एकाग्रता को एक स्थान पर केन्द्रित करना।

आबद्ध– अपनी एकाग्रता को एक स्थान पर बांधना।

प्रत्यक्ष– अपने इष्ट आराध्य का साक्षात्कार होना।

12.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

उत्तर– 1. ख, 2. ग, 3. ख, 4. घ, 5. ग।

12.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- आचार्य, पं. श्रीराम शर्मा, सांख्य दर्शन एंव योग दर्शन, वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, वेद विभाग, शान्तिकुन्ज, हरिद्वार, 2000.
- आचार्य, पं. श्रीराम शर्मा, 108 उपनिषद्, ज्ञानखण्ड, ब्रहमविधा खण्ड, साधना खण्ड, वेद माता गायत्री ट्रस्ट, शांतिकुन्ज, हरिद्वार,1992.
- आचार्य राजवीर शास्त्री, पांतजल योगदर्शन– भाष्यम्, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, 455, खारी बावली, दिल्ली–6.
- आरण्य स्वामी हरिहरानन्द, पांतजल योगदर्शनम्, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली,2000.
- कुमारी पवन, विज्ञानभिक्षु प्रणीत योगसारसंग्रह, ईस्टर्न बुक लिकंर्स, दिल्ली,1981.
- चन्द्र त्रिलोक, पांतजलयोग और श्री अरविन्दयोग, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली,1992.
- तीर्थ श्रीस्वामी ओमानन्द, पांतजलयोगप्रदीप, गीता प्रेस, गोरखपुर,2005.
- नन्दलाल दशोरा, पातंजल योग सूत्र, रणधीर प्रकाशन, हरिद्वार,2006.
- विवेकानन्द स्वामी, विवेकानन्द साहित्य, खण्ड–1, स्वामी स्वानन्द, अद्वैत आश्रम, मायावती, पिथैरागढ़–पुनमुद्रित, 2000.
- सरस्वती स्वामी दिव्यानन्द, वेदों में योग विद्या, यौगिक शोध सस्थांन, योगधाम, आर्यनगर, हरिद्वार,1999.
- सरस्वती स्वामी सत्यानन्द, मुक्ति के चार सोपान, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार,1994.

- गोयन्दका जयदयाल, श्रीमद्भगवद्गीता तत्व–विवेचन, हिन्दी टीका, गीताप्रेस गोरखपुर,2005.
- सरस्वती स्वामी सत्यानन्द, घेरण्ड संहिता, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार प्रथम संस्करण,1994.
- दिगम्बर स्वामी, झा ड़ां पीतरम्बर, हठप्रदीपिका, स्वात्माराम कृत , कैवल्यधाम श्रीमन्माधव योगमन्दिर समिति, लोनावाला–410403.
- स्वामी निरंजनानंद सरस्वती, धारणा दर्शन, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार.
- स्वयमी शिवानन्द, मन का रहस्य एवं निग्रह, शिवानन्द आश्रम, ऋषिकेश, टिहरी गढ़वाल, उत्तराखण्ड.

12.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामाग्री

- तीर्थ श्रीस्वामी ओमानन्द, पांतजलयोगप्रदीप, गीता प्रेस, गोरखपुर.
- सरस्वती स्वामी सत्यानन्द, मुक्ति के चार सोपान, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार.
- गोयन्दका हरिकृष्णदास, पातंजल योग दर्शन, (साधारण हिन्दी–व्याख्या सहित), गीता प्रेस, गोरखपुर.
- पण्डया डॉ. प्रणव, अर्न्तजगत की यात्रा का ज्ञान विज्ञान, वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, शान्तिकुन्ज, हरिद्वार.
- शास्त्री दुण्ढिराज, योगसूत्रम्, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी.
- द्विवेदी, प्रतिभा, योगप्रतिभा, राधा पब्लिकेंशन्स, नई दिल्ली.
- श्रीवास्तव सुरेशचन्द्र, पांतजलयोगदर्शन, चौखम्भा सुभारती प्रकाशन, वाराणसी.
- आचार्य, पं. श्रीराम शर्मा, यम–नियम, श्री वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, शान्तिकुंज, हरिद्वार.
- आचार्य, पं. श्रीराम शर्मा, पतंजलि योग की तत्व साधना, श्री वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, शान्तिकुंज, हरिद्वार.

12.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. महर्षि पतंजलि के अनुसार प्रत्याहार के सन्दर्भ में विस्तृत व्याख्या करें।
2. महर्षि पतंजलि के अनुसार धारणा के सन्दर्भ में विस्तृत व्याख्या करें।
3. महर्षि पतंजलि के अनुसार ध्यान के सन्दर्भ में विस्तृत व्याख्या करें।
4. महर्षि पतंजलि के अनुसार प्रत्याहार के महत्व को स्पष्ट करें।
5. महर्षि पतंजलि के अनुसार धारणा के महत्व को स्पष्ट करें।
6. ध्यान के महत्व को स्पष्ट करें।

इकाई–13 समाधि

13.1 प्रस्तावना
13.2 उद्देश्य
13.3 समाधि
13.3.1 ध्यान और समाधि
13.3.2 समाधि की अन्य परिभाषाएं
13.3.3 योग और समाधि
13.4 योग दर्शन में समाधि के भेद
13.4.1 सम्प्रज्ञात समाधि
13.4.2 असम्प्रज्ञात समाधि
13.4.3 सबीज एवं निर्बीज समाधि में अन्तर
13.4.4 ऋतम्भरा प्रज्ञा एवं धर्म मेध समाधि
13.5 कतिपय अन्य योग मार्गो में समाधि के भेद
13.5.1 राजयोग में समाधि के भेद
13.5.1 ज्ञान योग में समाधि के भेद
13.5.3 भक्ति सागर में समाधि के भेद
13.6 समाधि एवं सप्तज्ञान भूमिका
13.6.1 ज्ञान योग की सप्तज्ञान भूमिका
13.6.2 राजयोग की सप्तज्ञान भूमिका
13.6.3 समाधि प्राप्ति के विविध साधन
13.7 पातंजल योग साधना
13.8 अष्टांग योग साधना
13.8.1 क्रिया योग साधना
13.8.2 अभ्यास एवं वैराग्य साधना
13.9 समाधि का फल
13.10 सारांश
13.11 शब्दावली
13.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
13.13 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
13.14निबन्धात्मक प्रश्न

13.1 प्रस्तावना

भारतीय संस्कृति को देव संस्कृति बनाने वाली प्रणाली 'योग विद्या' है जिसके आधार पर ही प्राचीन ऋषियों मुनियों ने प्रकृति एवं प्रकृति से परे सूक्ष्म तत्वों का रहस्यात्मक ज्ञान प्राप्त किया था। इस योग विद्या का आधार आत्मशोधन एवं जीवन परिष्कार साधना है जिसे अपनाकर आज भी जड़ एवं चेतन के सूक्ष्म रहस्यों के ज्ञान की प्राप्ति व आत्मिक उत्कर्ष सम्भव है।

जड़ शास्त्र विज्ञान के क्षेत्र में जहाँ वाह्य प्रयोगशाला में शोध कार्य होते हैं वही चेतना का शास्त्र अध्यात्म के क्षेत्र में अन्तःकरण को ही प्रयोगशाला बनाकर सत्यान्वेषण किया जाता है। और यह आध्यात्मिक शोध प्रक्रिया योग साधना कहलाती है जिसमें साधक समाधि के चरण में पहुँचकर जीवन व जगत के सूक्ष्म रहस्यों अलौकिक सत्यों एवं स्वयं के वास्तविक स्वरूप से परिचित होता है और जीवन के अंतिम लक्ष्य परमपुरुषार्थ 'कैवल्य' को प्राप्त करता है।

भारतीय अध्यात्म की यह विषेषता है कि यहाँ सत्य को पाने के अनेकों मार्ग बताये गये है (साधनानाम् अनेकता हिन्दू धर्मस्य लक्षणम्।) इसलिए भिन्न–भिन्न योग शास्त्रों में समाधि की अवस्था तक पहुँचने के भिन्न–भिन्न साधना मार्ग बताये गये हैं और उनमें समाधि का स्वरूप भी अलग अलग है। प्रस्तुत इकाई में समाधि के विभिन्न स्वरूपों की व्याख्या के साथ साथ महर्षि पतंजलि के योग दर्शन में समाधि की अवधारणा उसके भेद एवं प्राप्ति के साधनों की विस्तृत विवेचना की गई है।

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप भिन्न–भिन्न दृष्टि कोणों से समाधि का अर्थ, समाधि के विभिन्न चरण, समाधि योग साधनो के अन्तर्गत मानव चेतना के उत्कर्ष की भूमियाँ– सप्तधा प्रज्ञा, समाधि के विभिन्न साधन (यौगिक उपाय) तथा पतंजलि प्रणीत अभ्यास, वैराग्य, क्रियायोग एवं अष्टांग योग आदि साधनाओं को तथा उनके व्यावहारिक महत्त्व को ठीक ढंग से समझ सकेंगे जो आपके स्वयं एवं सामाजिक उत्कर्ष में सहायक सिद्ध होगा।

13.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप यह बता सकेगे कि–

- ☞ समाधि क्या है?
- ☞ भिन्न भिन्न यौगिक ग्रन्थों में समाधि का स्वरूप क्या है।
- ☞ ध्यान और समाधि में मूलभूत अन्तर क्या है? पतंजलि योग दर्शन में समाधि की विवेचना किस तरह की गई है।
- ☞ समाधि की उच्च अवस्था की तरफ उन्मुख चेतना की क्या भूमियाँ होती है?
- ☞ समाधि सिद्धि के यौगिक उपाय कौन कौन से है?
- ☞ महर्षि पतंजलि ने अभ्यास एवं वैराग्य, क्रिया योग तथा अष्टांग योग इत्यादि साधनाओं का विवेचन किस रूप में तथा किन अधिकारी साधकों के लिए की है।
- ☞ पुनश्च, इन यौगिक साधनाओं का व्यावहारिक स्वरूप तथा सामाजिक महत्त्व क्या है? आप इन सबसे ठीक ढंग से अवगत् हो सकेगे।

13.3 समाधि

समाधि शब्द सम और आ उपसर्गपूर्वक धा धातु से कित् प्रत्यय करने पर बना है जिस का अर्थ होता है एकाग्रता, एकाग्र करना, ध्यान की पराकाष्ठा, योग की अंतिम स्थिति, आत्म साक्षात्कार की स्थिति, जीवात्मा परमात्मा के मिलन की अवस्था आदि। समाधि का अर्थ है ध्येय वस्तु में चित्त की विक्षेप रहित एकाग्रता। योग दर्शन के अनुसार– 'समाधीयते चित्तमन्नेनोति समाधिः'। अर्थात् समस्त वृत्तियों के निरोध होने पर चित्त की स्थिर और उत्कृष्ट अवस्था का नाम समाधि है। भोज राज के अनुसार– जिसमें मन विक्षेपों से हटाकर एकाग्र किया जाता है वह समाधि है (राजमार्तण्डवृत्ति) ''सम्यग आधीयते एकाग्रीक्रियते विक्षेपान् परिहृत्य मनोयत्र स समाधिः'। समाधि की परिभाषा करते हुए विद्यारण्य स्वामी ने लिखा है कि निर्वात स्थान में रखे दीपक की लौ के समान चंचलता से रहित चित्त की निश्चल अवस्था का नाम ही समाधि है।

13.3.1 ध्यान और समाधिः–

ध्यान की परिपक्व अवस्था का नाम ही समाधि है। ध्यान का अभ्यास दीर्घ काल तक करते रहने पर जब उसमें परिपूर्णता आ जाती है तब वही ध्यान समाधि के रूप में परिणत हो जाता है। अतः ध्यान के बाद समाधि की अवस्था आती है। वस्तुतः समाधि ध्यान की ही अगली एवं पूर्ण अवस्था है।

महर्षि पतंजलि ने अपने योगसूत्र ग्रन्थ में समाधि का लक्षण बताते हुए कहा है कि–

तदेव अर्थ मात्र निर्भासं स्वरूप शून्यमिव समाधिः।। (योग सूत्र 3/3)

अर्थात् ध्यान करते करते जब चित्त ध्येयाकार के रूप में परिणत हो जाता है और अपने स्वरूप का भान शून्य (अभाव, लुप्त) सा हो जाय तथा उस समय ध्येय से भिन्न कोई भी वस्तु प्रतीत न हो तो (ध्यान की) वही अवस्था समाधि कहलाती है।

ध्यान और समाधि में अन्तर यह है कि ध्यान की अवस्था में ध्याता, ध्यान और ध्येय तीनों अलग–अलग होते है। ध्याता को ध्येय का ध्यान रहता है जबकि समाधि की अवस्था में ध्यान ही ध्येय बन जाता है। ध्यान और ध्येय के मध्य का भेद मिट जाता है और ध्याता 'मैं' की सत्ता भूलकर ध्येय से एकाकार हो जाता है। इस प्रकार समाधि में ध्याता, ध्यान और ध्येय की त्रिपुटी में ध्येय ही शेष रह जाता है। तथा ध्याता एवं ध्यान ध्येयाकार हो जाते हैं। एक प्रकार से समाधि आत्म विस्मृति की अवस्था है। इस अवस्था में समस्त चित्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है जो योग का लक्ष्य भी है– **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।** (योग सूत्र 1/2)

योगभाष्यकार व्यास का भी कथन है–

ध्यानमेव ध्येयाकार निर्भासं प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण

शून्यमिव यदा भवति ध्येयस्वभावावेषा तदा समाधिरित्युच्यते। (व्यास भाष्य 3/3)

अर्थात् जिस काल में ध्यान केवल ध्येयकार होकर निरन्तर शसित होता है एवं ध्येय का स्वरूप हो जाने से चित्तवृत्त्यात्मक ध्यान स्वरूप शून्य के समान हो जाता है, उस समय वही ध्यान समाधि के नाम से कहा जाता है।

13.3.2 समाधि की अन्य परिभाषाएं–

प्रायः योग साधना की सभी प्रणालियों में समाधि की चर्चा किसी न किसी रूप में की गई है। मोक्ष, कैवल्य, निर्वाण आदि जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति के क्रम में समाधि की स्थिति का वर्णन भिन्न–भिन्न रूपों में विभिन्न ग्रन्थों में मिलता है। जैसे–

विष्णु पुराण में कहा गया है कि–

तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत्।

मनसा ध्यानं निष्पाद्यं समाधिः सोऽभिधीयते।। (विष्णु पुराण 6/7/92)

अर्थात्– ध्यान के कल्पनाहीन स्वरूप को ग्रहण करना तथा मन के द्वारा ध्यान की चरम अवस्था को प्राप्त होना ही समाधि है।

स्वामी नारायण तीर्थ के अनुसार– स्वच्छ चित्त का वृत्ति प्रवाह रूप ध्यान ही जब ध्यान के ज्ञान से शून्य होकर ध्येय विषय का पूर्ण रूप से असंदिग्ध भान कराने लगे तथा जब वास्तविक पदार्थ मैं इस प्रकार का चिन्तन कर रहा हूँ' इस प्रकार के आकार से रहित (शून्य) हो जाय तो उस प्रकार के ध्यान को ही भावना विशेष रूप समाधि कहा जाता है–

''तदेव स्वच्छ चित्तस्यवृत्ति प्रवाहरूपं ध्यानमेव अर्थ मात्र निर्भासम्। अर्थमात्रस्य प्रत्ययादि वर्जितस्य ध्येयस्य निःशेषणा संदिग्ध सर्वात्मना शासो भानं यत्र तथा भूतमहमिदं चिन्तयामीत्येव विधाकार शून्यम। तादृष ध्यानं भावना विशेषः समाधिः पदार्थः। (योग सिद्धान्त चन्द्रिका)

विद्यारण्य स्वामी के अनुसार–

निर्वात द्वीप वच्चित्तं समाधिः अभिधियते।

अर्थात्– निर्वात स्थान पर स्थित दीपक के समान चंचलता से रहित चित्त की निश्चल अवस्था का नाम ही समाधि है।

समाधि के विषय में महर्षि दयानन्द का कहना है कि जैसे अग्नि के बीच में लोहा भी अग्नि रूप हो जाता है, उसी प्रकार परमेश्वर के ज्ञान में प्रकाशमय होकर अपने शरीर को भी भूले हुए के समान जान के आत्मा के परमेश्वर के प्रकाश स्वरूप आनन्द और ज्ञान से परिपूर्ण करने को 'समाधि' कहते हैं। (ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका)

अपरोक्षानुभूति में कहा गया है कि–

निर्विकारतया वृत्या ब्रह्माकार तथा पुनः।

वृत्तिविस्मरणं सम्यक् समाधिर्ज्ञान संज्ञकः।। (अपरोक्षानुभूति 124)

अर्थात्– निर्विकार तथा ब्रह्मकार वृत्ति से जो पूर्णतया वृत्तिहीनता हो जाती है वही ज्ञान समाधि है।

योग याज्ञवल्क्य में जीवात्मा और परमात्मा की समान या समता अवस्था को समाधि कहा गया है–

स्माधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः। (योग याज्ञवल्क्य 10/2)

समाधि के विषय में भक्तिसागर का वर्णन इस प्रकार है–

जबहिं लगै समाधि योगी आनन्द लहै।

योग भया सिध जान क्रिया कोइ ना रहै।।

मिलि ध्याता अरू ध्यान एक होवै जहाँ।

दूजा रहै न भाव मुक्ति वर्तै जहाँ।।

निर उपाधि निरवेद ऐसा वह देष है।

करम भरम अरू धरम नहीं कोई लेष है।।

आपा रहै न कोय सकल आस गरै।

चिन्ता या दुख नहीं वासना सब जरै।।

पंच विषय जहं नाहि, नहीं गुण तीन ही।

हौवैं ब्रहम स्वरूप जीवता क्षीन ही।।

जाग्रत स्वप्न सुसुप्ति जहाँ होवैं न हीं।

चौथे पद को पाय होय जहं लीन हीं।।

समाधि की अवस्था में जीव का जीव भाव समाप्त हो जाता है और ब्रह्म भाव व्यक्त होने लगता है। वास्तव में जीव तो ब्रह्म ही है किन्तु अविद्या आदि विकारों के कारण स्वयं को भूल गया। अब समाधि के सिद्ध होने पर क्या होता है, इस सम्बन्ध में भक्ति सागर का कथन है कि समाधि प्राप्त होने पर सभी विकार मिट गये, दोष–दुर्गुण नष्ट हो गये जीव निर्मल होकर अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर लिया–

हुता आदि परमात्मा बिच उठि लगा विकार।

मिलि समाधि निर्मल भवै, लहै रूप ततसार।। (भक्ति सागर, अष्टांग योग)

उपनिषदों में समाधि को आत्मा परमात्मा के मिलन की अवस्था कहा गया है। यथा–

जाबालदर्शनोपनिषद के अनुसार– जीवात्मा और परमात्मा के ज्ञान के उदय को समाधि कहते हैं।

(जाबाल॰ 10/1)

अन्नपूर्णोपनिषद (5/75) भी उपर्युक्त कथन से सहमत है उसके अनुसार समाधि संशय एवं आसक्ति से रहित आत्मपूर्णता की अवस्था है।

सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद कहता है कि– जीवात्मा की परमात्मा के साथ एकता ही समाधि है जिसमें संकल्प–विकल्प की सारी क्रियाएं नष्ट हो जाती हैं। (सौभाग्य लक्षयुपनिषद–16)

मुक्तिकोपनिषद में समाधि संकल्प शून्य आत्म ज्ञान की अवस्था है। उसके अनुसार– ''यह समाधि उस संकल्प शून्य अवस्था का नाम है जिसमें न मन की क्रिया है और न ही बुद्धि

का व्यापार। यह आत्मज्ञान की अवस्था है और इसमें उस प्रत्यक् चैतन्य (आत्म चेतना) के अतिरिक्त सबका बाध (अभाव) है।'' (मुक्तिकोपनिषद 2/55)

शाण्डिल्योपनिषद का मत है कि जीवात्मा और परमात्मा की एकता की वह अवस्था जिसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूप त्रिपुटी का अभाव है, जो परमानन्द रूपा है और शुद्ध चैतन्यात्मिका है, वही समाधि है। (शाण्डिल्योपनिषद 1/11)

तेजोबिन्दूपनिषद के अनुसार– ब्रह्माकार वृत्ति के द्वारा अथवा सर्वसंकल्प निवृत्ति के द्वारा चित्त की वृत्तियों को सर्वथा भूल जाने का नाम ही 'समाधि' है। (तेजोबिन्दूपनिषद 1/37)

हठयोग प्रदीपिका में समाधि की स्थिति को भिन्न भिन्न तरीके से समझाते हुए इसे आत्मा और परमात्मा की एकरूपता बताया गया है। ग्रन्थ में कहा गया है कि जैसे नमक पानी में मिलकर एकरूप हो जाता है वैसे ही जब प्राण और मन दोनों एक रूपता या समरसता प्राप्त कर लेते हैं उस स्थिति को 'समाधि' कहते हैं–

सलिले सैन्धवं यद्वत् साम्यं भजति योगतः।

तथात्म मनसोरैक्यं समाधिः अभिधीयते।।

पुनः जब प्राण क्षीण व मन्द होकर चित्त में लीन हो जाय तो दोनों की एक रूपता भी समाधि है–

यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते।

तदा समरसत्वं च समाधिः अभिधीयते।।

जीवात्मा और परमात्मा दोनों के एकत्व से सभी प्रकार के संकल्पों का नष्ट हो जाना भी समाधि कहलाता है–

तत्समं च द्वयोरैक्यं जीवात्मा परमात्मनोः।

प्रनष्ट सर्वसंकल्पः समाधिः सोऽमिधीयते।। (हठयोग प्रदीपिका 4/5–7)

महर्षि घेरण्ड के अनुसार शरीर से मन को भिन्न करके परमात्मा में लगाने पर समाधि होता है समाधि में अपने नित्य मुक्त शोक–दुख रहित सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म रूप का बोध हो जाता है। इसके लिए विद्या, गुरु और आत्मा की प्रतीति के साथ मन का प्रबोध आवश्यक है–

विद्या प्रतीतिः स्वगुरु प्रतीतिः आत्म प्रतीतिः मनसः प्रबोधः।

दिने दिने यस्य भवेत्स योगी सुशोभनाभ्यासमुपैति सद्यः।।

घटाद् भिन्न मनः कृत्वा चैक्यं कुर्यात्परात्मनि।

समाधिं तं विजानीयान्मुक्तसंज्ञो दशादिभिः।।

अहं ब्रह्म न चान्योऽस्मि ब्रहमैवाहं न शोक भाक्।

सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तः स्वभाववान्।। (घे॰ स॰ 7/2–4)

ब्रह्मसूत्र भाष्यकार श्री शंकराचार्य के अनुसार आत्मा ही ब्रह्म है। दोनों अद्वैत हैं। इस आत्म स्वरूप का बोध समाधि में होता है। विवेकचूड़ामणि में शंकराचार्य जी कहते हैं

समाधिनानेन समस्तवासना

ग्रन्थेर्विनाशोऽखिलकर्मनाशः।

अन्तर्बहिः सर्वत एव सर्वदा

स्वरूप विस्फूर्तिरयत्नतः स्यम्।। (विवेक चूड़ामणि 364)

अर्थात् समाधि से समस्त वासना रूप ग्रन्थि का विनाश और अखिल कर्मो का नाश होकर भीतर बाहर सर्वत्र एवं सर्वदा बिना यत्न किये ही स्वरूप की विस्फूर्ति होने लगती है।

13.3.3 योग और समाधि–

समाधि योग का महत्त्वपूर्ण प्रत्यय है। समाधि की अवस्था में ही योग का उद्देश्य पूर्ण होता है। प्रायः समाधि को योग का पर्याय माना जाता है। व्यास भाष्य में भी कहा गया है कि–

समाधि ही योग है– **योगः समाधिः। (योग भाष्य 1/1)**

महर्षि पतंजलि के अष्टांग योग में भी समाधि ही योग की अंतिम सीढ़ी है। समाधि (आत्मा) से पुरुष को कैवल्य की प्राप्ति होती है जिससे पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। इस प्रकार समाधि परमपुरुषार्थ की पूर्व अवस्था है। इसकी सिद्धि के उपरान्त ही पुरुष को तत्वज्ञान प्राप्त होता है जिससे अविद्या आदि की निवृत्ति होकर कैवल्य होता है।

समाधि की अवस्था में पुरुष (आत्मा) का सम्बन्ध वाह्य जगत के साथ टूट जाता है और वह पुनः अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। यह परम शांति की अवस्था है। यह कोई सरल अनुभव नहीं है अपितु यह एक रहस्यमय अवस्था है जिसका अनुभव इस अवस्था में गये बिना नहीं हो सकता।

13.4 योग दर्शन में समाधि के भेद

योग दर्शन में समाधि के मुख्य दो प्रकार बताये गये हैं और फिर दोनों भेदों के भी कुछ उपभेद किये गये हैं, जो संक्षेप में इस प्रकार है–

योग दर्शन में समाधि मूलतः दो प्रकार की ही है– सम्प्रज्ञात समाधि और असम्प्रज्ञात समाधि। सम्प्रज्ञात समाधि को सबीज समाधि एवं असम्प्रज्ञात समाधि को निर्बीज समाधि भी कहते हैं।

13.4.1 सम्प्रज्ञात समाधिः– यह ध्यान से समाधि तक पहुँचने की पहली अवस्था है। सम्प्रज्ञात समाधि में केवल ध्येय विषय का ही ज्ञान होता है तथा ध्येय विषय के अतिरिक्त अन्य विषयों का अभाव हो जाता है। ध्यान करने वाले (ध्याता) को केवल ध्यान के विषय (ध्येय) का ज्ञान रहता है, उसे अपनी पृथक अनुभूति नहीं होती। इससे पूर्व ध्यान की अवस्था में उसे यह अनुभव होता था कि मैं अमुक व्यक्ति (ध्याता) अमुक विषय (ध्येय) का ध्यान कर रहा हूँ किन्तु ध्यान की इस अवस्था से और ऊँची स्थिति में पहुँचने पर ध्याता और ध्यान दोनों ध्येयाकार हो जाते है इनकी ध्येय से पृथक अनुभूति नहीं होती। यह

अवस्था ही सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था होती है। चूँकी इसमें आलम्बन रूप में कोई न कोई ध्येय विषय होता है इसलिए इसे सबीज समाधि भी कहते हैं।

एकाग्रावस्था में रजोगुण और तमोगुण युक्त चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है, उस समय सत्व गुण प्रधान एकाग्र वृत्ति होने के कारण चित्त शुद्ध और निर्मल हो जाता और तब चित्त ध्येय विषय पर ध्यान केन्द्रित करने में समर्थ हो जाता है।

इस विक्षेप रहित शान्त अवस्था में प्रज्ञा का उदय होता है सम्यक् रूप से प्रज्ञा का आविर्भाव होने के कारण इसे सम्प्रज्ञात समाधि कहा गया है। इसे सम्प्रज्ञात इसलिए भी कहते हैं क्योंकि इसमें ध्येय विषय सम्पक रूप से ज्ञात रहता है।

महर्षि पंतजलि के शब्दों में–

क्षीण वृत्तेः अभिजातस्य इव मणेः ग्रहण ग्राह्येषु तत् स्थतंजनता समापत्तिः। (योग सूत्र 1/41)

अर्थात् ध्यान आदि साधनाओं का अभ्यास करते–करते जब साधक का चित्त स्वच्छ स्फटिक मणि की भाँति अति निर्मल हो जाता है तथा जब उसकी ध्येय विषय के अतिरिक्त अन्य वाह्य वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं उस समय साधक ग्रहीता (पुरुष) ग्रहण (अन्तःकरण और इन्द्रियाँ) तथा ग्राहय (पंचभूत आदि इन्द्रिय विषय), इनमें जिस किसी पर भी ध्येय का लक्ष्य बनाकर उसमें अपने चित्त को लगाता है तो वह चित्त उस ध्येय वस्तु में स्थित होकर तदाकार हो जाती है– (तदस्थतदंजनता)। इसी को सम्प्रज्ञात समाधि (समपत्ति) कहते हैं समाधि की इस अवस्था में साधक को ध्येय वस्तु के स्वरूप का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है उसके विषय में किसी प्रकार का संशय या भ्रम नहीं रहता।

सम्प्रज्ञात समाधि के प्रकारः–

सम्प्रज्ञात समाधि में ध्यान का विषय क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म की ओर होता है। स्थूल पदार्थों के साक्षात्कार एवं उनके स्वरूप को जानने के बाद क्रमष विषयों के साक्षात्कार करने, उनके स्वरूप को जानने में समर्थ होता जाता है। इन्ही स्थूल सूक्ष्म आदि ध्येय विषयों की भिन्नता के आधार पर सम्प्रज्ञात समाधि चार प्रकार की बताई गई है–

''वितर्क विचारानन्दास्मितानुगमात् सम्प्रज्ञातः'' (योग सूत्र 1/17)

अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि चार तरह की है–

1 वितर्कानुगत् या सवितर्क समाधि

2 विचारानुगत् या सविचार समाधि

3 आनन्दानुगत् या सानन्द समाधि

4 अस्मितानुगत् या सास्मित समाधि

1. वितर्कानुगत समाधिः– यह समाधि का वह रूप है जिसमें ध्यान का आलम्बन या विचार अर्थात् ध्येय विषय स्थूल पदार्थ होते हैं, जैसे सूर्य, मूर्ति, आदि।

व्यास भाष्य के अनुसार–

वितर्कः चित्तस्याऽऽलम्बने स्थूल आ भोगः।

इस समाधि में योगी विश्व ब्रहमाण्ड के स्थूल पदार्थों–सौरमण्डल, तारामण्डल, ग्रह, उपग्रह आदि दूरस्थ पिण्डों के स्वरूप को जानने में समर्थ हो जाता है। शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्प की दृष्टि से इस समाधि के दो प्रकार हैं–

1. सवितर्क समाधि और 2. निर्वितर्क समाधि।

वितर्कानुगत समाधि में जब तक शब्द अर्थ और ज्ञान का विकल्प वर्तमान रहता है अर्थात योगी के चित्त में ध्येय स्थूल विषय के स्वरूप के साथ–साथ उसके नाम और प्रतीति की भी अनुभव रहता है, तब तक वह सवितर्क समाधि कहलाती है–

तत्र शब्दार्थ ज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः। (योग सूत्र 1/42)

और जब इनका विकल्प नहीं रहता तो समाधि की वह अवस्था निर्वितर्क समाधि कहलाती है–

स्मृतिपरिषुद्धौ स्वरूप शून्येवार्थमात्र निर्भासा निर्वितर्का। (योग सूत्र 1/43)

सवितर्क समाधि को सविकल्पक समाधि तथा निर्वितर्क समाधि को निर्विकल्पक समाधि भी कहते है क्योंकि इसमें सभी प्रकार के विकल्पों का अभाव हो जाता है।

2. विचारानुगत समाधिः– इसमें ध्यान का आधार सूक्ष्म विषय जैसे तन्मात्रा आदि होते हैं। यह भी सविचार और निर्विचार दो प्रकार की होती है। जब तक इस समाधि में शब्द अर्थ और ज्ञान का विकल्प रहता है तब तक वह सविचार समाधि तथा जब इनका विकल्प नहीं रहता, तब वही निर्विचार समाधि कही जाती है–

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता। (योग सूत्र 1/44)

3. आनन्दानुगत या सानन्द समाधिः– यह समाधि की वह अवस्था है जिसमें ध्यान का विषय इन्द्रियाँ होती है। इस समाधि में अति सूक्ष्म विषयों पर केन्द्रित चित्त में सत्त्व गुण की अधिकता के कारण विशेष आनन्द की अनुभूति होती है इसीलिए इसे आनन्दानुगत समाधि या सानन्द समाधि कहते हैं।

4. अस्मितानुगत समाधि या सास्मित समाधिः– समाधि की इस अवस्था में ध्यान का विषय अस्मिता होती है। इसमें साधक (योगी) को केवल 'मैं हूँ' का ज्ञान रहता है।

उपर्युक्त चारों समाधियों को (अर्थात सम्प्रज्ञात समाधि को) पतंजलि ने सबीज समाधि कहा है।

'' ता एव सबीजः समाधिः।'' (योग सूत्र 1/46)

निर्वितर्क और निर्विचार समाधियाँ निर्विकल्प होने पर भी निर्बीज नही हैं, ये सभी सबीज समाधि ही है क्योंकि इनमें बीज रूप से किसी न किसी ध्येय पदार्थ का अस्तित्व ध्येय वृत्ति के रूप में रहता है। इन समाधियों में चित्त में ध्येय वृत्ति मौजूद रहती है इसलिए चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध अभी नहीं हुआ होता है। जिस कारण सम्प्रज्ञात समाधि या सबीज समाधि से पुरुष को कैवल्य की प्राप्ति अभी नहीं हो पाती। योगी साधक का चित्त

जैसे–जैसे निर्मल होता जाता है चित्त के अन्दर की वृत्तियाँ क्षीण होती जाती हैं, वैसे–वैसे वह समाधि की ओर अधिक उच्च अवस्था प्रवेश करता जाता है।

13.4.2 असम्प्रज्ञात समाधि या निर्बीज समाधिः–

यह समाधि की सर्वोच्च अवस्था है। इसमें चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियाँ निरूद्ध हो जाती हैं इसीलिए इसे निर्बीज समाधि भी कहते हैं। इस अवस्था में चित्त में कोई भी आलम्बन (ध्यान का विषय) नहीं होता। इसमें परम वैराग्य की स्थिति होती है। योगी को संसार की किसी भी वस्तु में माया ममता नहीं रहती। इस की पूर्व अवस्था में केवल शुद्ध संस्कार ही शेष बचे रहते हैं–

. .....संस्कारषेषो अन्यः। (योग सूत्र 1.18)

और इन संस्कारों के भी निरोध हो जाने पर संस्कार के बीज का सर्वथा अभाव हो जाने से निर्बीज समाधि हो जाती है–

तस्यापि निरोधे सर्व निरोधात् निर्बीजः समाधि। (योग सूत्र 1/51)

जिस प्रकार अग्नि ईधन को जलाकर स्वयं भी शान्त हो जाती है, उसी प्रकार असम्प्रज्ञात समाधि में ऋतम्भरा प्रज्ञा उदय होकर अविद्या, वृत्ति एवं संस्कार को भस्म करके स्वयं भी उपशान्त हो जाती है। उस समय विशुद्ध चैतन्य मात्र रहता है जो द्रष्टा पुरुष का स्वरूप है यही पुरुष का कैवल्य या मोक्ष है जो योग का उद्देश्य था।

असम्प्रज्ञात समाधि भी दो प्रकार की होती है–

1. भवप्रत्यय और 2. उपाय प्रत्यय।

यदि कोई योगी योग साधना कर रहा होता है और विदेहलय–प्रकृतिलय अवस्था में पहुँच ने के बाद भी कैवल्य पद की प्राप्ति से पूर्व ही जिसकी मृत्यु हो जाती है, ऐसे योगियों का जब पुनर्जन्म होता है तो पूर्वजन्म के योगाभ्यास विषयक संस्कारो के प्रभाव से वे अन्य साधन (उपाय) अपनाये बिना ही निर्बीज समाधि की अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं। उनकी निर्बीज समाधि उपाय जन्य नहीं होती अतः उसका नाम 'भव प्रत्यय' है अर्थात वह ऐसी समाधि है जिसके सिद्ध होने में पुनः मनुष्य जन्म प्राप्त होना ही कारण है साधन समुदाय नहीं–

भव प्रत्ययो विदेह प्रकृतिलयानाम्। (योग सूत्र 1/19)

किन्तु दूसरे सामान्य योगियों को श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, ऋतम्भरा, प्रज्ञा आदि उपायों के द्वारा यह समाधि सिद्ध हेाती है। यही उपाय प्रत्यय है।

श्रद्धावीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्। (योग सूत्र 1/20)

13.4.3 सबीज एवं निर्बीज समाधि में अन्तरः–

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि असम्प्रज्ञात समाधि ही योग का लक्ष्य है और सम्प्रज्ञात समाधि इस लक्ष्य तक पहुँचने की सीढ़ी है। सम्प्रज्ञात समाधि सबीज समाधि है किन्तु असम्प्रज्ञात निर्बीज समाधि। सम्प्रज्ञात समाधि में ध्यान का कोई न कोई आधार होता है तथा बुद्धि का व्यापार बना रहता है, इसमें चित्त विक्षेप पैदा करने वाले कारण दूर हो

जाते है और बुद्धि सत्त्व गुण प्रधान होकर प्रकाशित होती है इसके विपरीत असम्प्रज्ञात समाधि में ध्यान के विषय की चेतना भी लुप्त हो जाती है। असम्प्रज्ञात का अर्थ ही है चेतना से भी ऊपर की अवस्था। इस अवस्था में केवल रजस् एवं तमस् से उत्पन्न होने वाली निकृष्ट वृत्तियाँ ही निरूद्ध नहीं होतीं बल्कि सत्व की प्रधानता से उत्पन्न होने वाली श्रेष्ठ वृत्तियाँ भी निरूद्ध हो जाती हैं। इस प्रकार असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध हो जाता है जबकि सम्प्रज्ञात समाधि में सत्त्व प्रधान वृत्तियाँ शेष रह गई होती हैं। इसमें ध्येय आलम्बन वृत्ति भी मौजूद हेाती है इसीलिए इसे सबीज समाधि कहा गया है जबकि असम्प्रज्ञात को निर्बीज समाधि।

सम्प्रज्ञात समाधि में चित्त की निर्मलता से ऋतम्भरा प्रज्ञा का उदय होता है जिससे विवेक ख्याति द्वारा अविद्या आदि क्लेश का नाश होता है और योगी धर्ममेध समाधि से होते हुए निर्बीज समाधि को प्राप्त करता है जो कैवल्य की अवस्था है, जीवन का परम पुरुषार्थ और योग का अंतिम लक्ष्य है।

13.4.4 ऋतम्भरा प्रज्ञा, विवेक ख्याति एवं धर्ममेध समाधिः–

सम्प्रज्ञात समाधि की उच्च अवस्था में निर्विचार समाधि के अभ्यास से जब योगी का चित्त शुद्ध और निर्मल हाने लगता है तो उसकी बुद्धि भी अत्यन्त शुद्ध और निर्मल हो जाती है। उस अवस्था में योगी की बुद्धि सत्य स्वरूप को ग्रहण करने वाली होती है उसकी बुद्धि में संशय और भ्रम का लेश मात्र भी नहीं होता। योगी के ऐसे शुद्ध बुद्धि को ही पतंजलि ने ऋतम्भरा प्रज्ञा कहा है।

ऋतम्भरा प्रज्ञा, तत्र प्रज्ञा (योग सूत्र 1/48)

बुद्धि के संस्कार राग द्वेष युक्त होने से बंधन के कारण होते हैं जब बुद्धि ऋतम्भरा प्रज्ञा की स्थिति में पहुँच जाती है तो उससे उत्पन्न होने वाला संस्कार अन्य दूसरे संस्कारों का भी नाश करने वाला होता है–

तज्जः संस्कारः अन्य संस्कार प्रतिबन्धी। (योग सूत्र 1/50)

ऋतम्भरा प्रज्ञा से विवेकख्याति की प्राप्ति होती है। विवेक ख्याति का अर्थ है विवेक ज्ञान अर्थात द्रष्टा और दृश्य, आत्मा (पुरुष) और अनात्मा (चित्त) की अलग अलग अनुभूति। जब विवेक ज्ञान का उदय होता है तब योगी के चित्त में अत्यन्त स्वच्छता आ जाती है, अतः उसमें विलक्षण शक्ति आ जाती है। उस समय योगी सर्वज्ञ हो जाता है ऐसी सामर्थ्य प्राप्त होने पर भी जो योगी उस सामर्थ्य का उपयोग नहीं करता उन विभूतियों एवं सिद्धियों में आसक्त नहीं होता, उससे सर्वथा विरक्त हो जाता है, तब ऐसी स्थिति में उसके विवेक ख्याति या पुरुष ख्याति या विवेक ज्ञान में किसी प्रकार विध्न नहीं पड़ता और वह विवेक ज्ञान निरन्तर प्रकाशमान रहता है। जब योगी की विवेक ख्याति परिपक्व और दृढ़ हो जाती है तो निरन्तर बने रहने वाले विवेक ख्याति (विवेक ज्ञान) से योगी को धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति होती है–

प्रसंख्याने अपि अकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेः धर्ममेघः समाधिः''। (योग सूत्र 4/29)

और उस धर्ममेध समाधि के सिद्ध हो जाने से योगी के अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश रूपी पंचक्लेश तथा शुक्ल, कृष्ण और मिश्रित – ऐसे तीनों प्रकार के कर्म संस्कार (अर्थात् सभी प्रकार के क्लेश एवं कर्म संस्कार) समूल नष्ट हो जाते हैं –

"ततः क्लेश कर्मः निवृत्तिः"। (योग सूत्र 4/30)

और योगी जीवन मुक्त की स्थिति को प्राप्त कर लेता है। और उसे परम वैराग्य की प्राप्ति हो जाती है। परम वैराग्य के द्वारा उस ऋतम्भरा प्रज्ञा जनित संस्कारो के भी निरूद्ध हो जाने पर नये पुराने सभी संस्कारो का पूर्णतः निरोध हो जाने के कारण निर्बीज अर्थात असम्प्रज्ञात समाधि होती है।

इस प्रकार सम्प्रज्ञात समाधि की उच्चतम स्थिति विवेक ख्याति है। विवेक ख्याति की निरन्तरता व परिपक्व अवस्था ही धर्ममेघ समाधि है और धर्ममेघ समाधि की उच्च स्थिति असम्प्रज्ञात समाधि है। कैवल्य के दो रूप हैं– 1. जीवन् कैवल्य या जीवन्मुक्ति और 2. विदेह कैवल्य या विदेह मुक्ति।

धर्ममेघ समाधि जीवनमुक्ति की अवस्था है। पूर्ण कैवल्य की प्राप्ति असम्प्रज्ञात समाधि में होती है, जहाँ से फिर संसार में पुनरावृत्ति (पुनर्जन्म) नहीं होती–

"न च पुनरावर्तते।" (छान्दोग्य उपनिषद 8/15/1)

13.5 कतिपय अन्य योग मार्गों में समाधि के भेद

13.5.1 राजयोग में समाधि के भेदः–

भिन्न भिन्न ध्यान एवं योगांग विषयनुसार राजयोग में 6 प्रकार की समाधियाँ बताई गई हैं–

1. ध्यान योग समाधि
2. नाद योग समाधि
3. रसानन्द योग समाधि
4. लययोग समाधि
5. भक्तियोग समाधि और
6. मनोमूर्च्छा समाधि

घेरण्ड संहिता में महर्षि घेरण्ड कहते हैं कि ध्यान योग समाधि को शाम्भवी मुद्रा से, नादयोग समाधि को भ्रामरी प्राणायाम से, रसानन्द समाधि को खेचरी मुद्रा से, लययोग समाधि को योनिमुद्रा से, भक्तियोग समाधि को इष्टदेव के प्रति समर्पण व भक्ति भाव से तथा मनोमूर्च्छा को मूर्च्छा कुम्भक के माध्यम से सिद्ध किया जाता है–

शाम्भव्या चैव भ्रामर्या खेचर्या योनिमुद्रया।

ध्यानं नादं रसानन्दं लससिद्धिश्चतुर्विध।।

पंचधा भक्तियोगेन मनोमूर्च्छा च षड्विधा।

षड्विधोऽयं राजयोगः प्रत्येकम् अवधारयेत्।।

इस अत्यन्त कठिन व दुर्लभ समाधि की स्थिति को प्राप्त कर लेने पर जीवात्मा सभी प्रकार के दुख एवं बंधनों से सदा के लिए मुक्त हो जाती है और उसका पुनर्जन्म नहीं होता–

यं ज्ञात्वा न पुनर्जन्म जायते भूमिमण्डले। (घे॰ स॰ 7/23)

13.5.2 ज्ञानयोग में समाधि के भेदः– ज्ञानमार्ग के आचार्यो ने साधको हेतु 6 प्रकार के समाधि का अभ्यास आवश्यक बताया है–

1 अन्तर्दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि।

2 अन्तः शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि।

इन दोनों के अभ्यास से प्राप्त–

3 अन्तः निर्विकल्प समाधि।

4 बाह्यदृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि।

5 बाह्यशब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि।

इन दोनों के अभ्यास से प्राप्त–

6 बाह्य निर्विकल्प समाधि।

समाधि के उपर्युक्त 6 अंग हैं। वृत्ति दो दिशाओं में अभिमुख होती है– 1. अन्तरंग और 2. वहिरंग।

वृत्ति जब अन्तर्मुख होती है यानी भीतर की ओर प्रवृष्ट होती है तब उपर्युक्त त्रिविध अन्तरंग समाधियों का अभ्यास साधक को करना चाहिए और वृत्ति जब वहिर्मुख होकर बाह्य दृश्य में क्रीड़ा करने लगती है तो उपर्युक्त त्रिविध वहिरंग समाधियों का अभ्यास करना चाहिए। इससे

यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः।

अर्थात् 'जहाँ–जहाँ भी मन जाय वही समाधि कर ली' इस प्रकार अखण्ड समाधि प्राप्त होती है। (कल्याण विशेषांक योगांक, गीताप्रेस, गोरखपुर 579)

1. अन्तर्दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधिः– अपने अन्दर जो काम क्रोधादि वृत्तियाँ है वे ही दृश्य हैं। इन दृश्यों के भाव अभाव का साक्षी शुद्ध चेतन रूप मैं हूँ– इस प्रकार चिन्तन करना वृत्ति को साक्ष्याकार करना अर्थात साक्षी लीन करना ही अन्तः दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि है।

2. अन्तरशब्दानुविद्ध सविकल्प समाधिः– शास्त्रों के श्रवण और मनन से स्वयं प्रकाश रूप आत्माकार वृत्ति करना ही अन्तश्शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि कहलाता है।

3. अन्तर्निविकल्प समाधिः– उपर्युक्त दोनों समाधियों के अभ्यास से यह समाधि होती है इसमें दृश्य और शब्द दोनों सम्बन्ध छूट जाते है और अचल दीपशिखा सी साक्ष्याकारवृत्ति होती है।

4. बाह्य दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधिः– बाहर जगत के पदार्थों को देखकर होने वाली नाम रूपाकार वृत्ति को त्यागकर अर्थात माया रूप को त्यागकर ब्रहम रूप अंश का खोज करना ही बाहयदृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि है।

5. वाह्यशब्दानुविद्ध सविकल्प समाधिः– सर्वम् खल्बिदम् ब्रह्म, सत्यम्–ज्ञानम्–अनन्तम्–ब्रह्म, आदि श्रुति वाक्यों से चराचर जगत का ब्रह्म रूप से चिन्तन करना– वृत्ति को ब्रह्माकार करना वाह्य शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि है।

6. उपर्युक्त (4 एवं 5 क्रमांक की) समाधियों के अभ्यास से जब वृत्ति निस्तरंग होकर (निश्चल और शान्त होकर) ब्रह्माकार हो जाय तो वह स्थिति वाह्य निर्विकल्प समाधि कहलाती है।

श्री शंकराचार्य कहते हैं कि उत्थान में और अनुत्थान में भी उन अप्रमत्त एवं जितेन्द्रिय होकर यत्नशील साधक इस समाधिषट् का अभ्यास करे। मायाजनित आवरण और विक्षेप अज्ञान जब तक पूर्णतया नष्ट नहीं होते तब तक इस समाधि का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए– (अज्ञान)

उत्थाने वाप्यनुत्थानेऽप्यप्रमत्तो जितेन्द्रियः।

समाधिषटकं कुर्वीत सर्वदा प्रयतो यतिः।।

तावत् समाधि षटकेन नयेत्कालं निरन्तरम्। (सर्ववेदान्त सिद्धान्त संग्रह 900–901)

13.5.3 भक्ति सागर में समाधि के भेद–

स्वामी चरणदास जी महाराज भक्तिसागर में तीन प्रकार की समाधि बताते हैं–

1. भक्ति समाधि
2. योग समाधि और
3. ज्ञान समाधि।

ये तीनों ही समाधियाँ सद्गुरु के मिल जाने पर तो सुगम हो जाती हैं अन्यथा अत्यन्त ही दुष्कर हैं–

भक्ति योग अरूज्ञान की, त्रैविधि कहूँ समाधि।

गुरु मिलै तौ सुगम है, ना ही कठिन अगाधि।। (भक्ति सागर, अष्टांग योगः 174)

(1) भक्ति समाधिः–

इन्द्रियों को नियन्त्रित करके प्रभु के चरणों में ध्यान करते–करते जब ध्यान और ध्याता, ध्येयाकार हो जाए तथा तर्क–वितर्क (बुद्धि) और स्मृति आदि न रहें तो यह अवस्था समाधि की होती है–

सब इन्द्रिन को रोकि कै, करि हरिचरणन ध्यान।

बुद्धि रहै सुरतिहु रहै, तौ समाधि मत मान।।

ध्याता विसरै ध्यान में, ध्यान होय लय ध्येय।

बुद्धिलीन सुरति न रहे, पद समाधि लखि लेह।।

(2) **योगसमाधिः–** इसमें आसन प्राणायाम का अभ्यास करके चक्रों पर ध्यान करना होता है–

आसन प्राणायाम करि, पवन पंथ गहि लेहि।

षट् चक्कर को छेदकरि, ध्यान शून्य मन देहि।।

आया विसरै ध्यान में, रहे सुरति नहीं नाद।

लीन होय किरया रहित लागै योग समाध।।

(3) **ज्ञान समाधिः–**

ब्रह्म स्वरूप आत्मा से एकत्व स्थापित करना ही ज्ञान समाधि है। यह ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी रहित अवस्था होती है।

जब लग तत्त्व विचार करि, कहैं एक अरू दोय।

ब्रह्मव्रत बांधे रहैं, हयांलंग ध्यानहिं होय।।

मैं तू यह बल भूलिकर रहै जु सहज सुभाय।

आपा देखि उठाय करि, तान समाधि लगाय।।

ज्ञान रहित, ज्ञाता रहित, रहित ज्ञेय अरू जान।

लगी कभी छूटै नहीं, यह समाधि विज्ञान।।

इस प्रकार से स्वामी चरण दास जी ने (भक्तिसागर–अष्टांगयोग–174 से 181 तक) उपर्युक्त रूप में समाधि का वर्णन किया है। इन तीनों समाधियों में ध्येय विषय का अन्तर है। भक्ति योग में ध्यान का विषय प्रभुचरण हैं और यहां पदस्थ ध्यान की दृढ़ावस्था है। योग समाधि में ध्यान का विषय चक्र आदि हैं और यह स्थूल/सूक्ष्म पिण्डस्थ ध्यान की दृढ़ावस्था है जबकि ज्ञान समाधि निराकर ब्रह्म ध्यान की दृढ़ अवस्था है।

समाधि के भेद सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भिन्न–भिन्न साधना मार्गों का लक्ष्य एक ही है– निर्विकल्पक समाधि की अवस्था में पहुंचकर अपने वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति या परमात्मा से ऐक्य है। समाधि मार्ग के पड़ाव भिन्न हो सकते हैं। ध्यान के विषयानुसार समाधि के नाम भी अलग–अलग हो सकते हैं फिर भी सभी में कहीं न कहीं भाव एक ही हैं–मन की शुद्धि, पवित्रता और वृत्ति रहित होना। **एक योग के विद्यार्थी के लिए ज्ञानवृद्धि हेतु अन्य मार्गों को जानना भी आवश्यक समझते हुए उपर्युक्त अनेक प्रकार के समाधियों के भेद बताये गये।** ये सभी भेद महर्षि पतंजलि के समाधि सम्बन्धी विवेचन में समाहित हो जाते हैं। अस्तु महर्षि पतंजलि की समाधि सम्बन्धी विवेचना अधिक महत्त्वपूर्ण और मनोवैज्ञानिक है।

13.6 समाधि और सप्तज्ञान भूमिकाः–

योगसाधक जैसे–जैसे अपनी साधना के शिखर की ओर पहुंचता है, वैसे–वैसे ही उसके भाव–विचार एवं ज्ञान क्षेत्र में परिवर्तन होने लगता है, उसके ज्ञान का विस्तार होता जाता है। निर्विकल्पक समाधि की अवस्था को प्राप्त हुए योगी को सप्त ज्ञान भूमिका प्राप्त हो जाती है। दार्शनिक दृष्टि से ज्ञानयोग की सप्तज्ञान भूमिका और राजयोग की सप्तज्ञान भूमिका दोनों की विवेचना भिन्न–भिन्न रूपों में की गई है जो निम्नवत् है–

13.6.1 ज्ञानयोग की सप्तज्ञान भूमिका–

योग वाशिष्ठ के अनुसार निर्विकल्पक समाधि की तरफ बढ़ रहे योगी के ज्ञान की सात अवस्थाएं (सप्तज्ञान भूमिकाएं) होती हैं–

(1) शुभेच्छा (2) विचारणा (3) तनुमानसा (4) सत्तापति (5) असंशक्ति (6) परार्थभाविनी और (7) तुर्यगा।

योगवाशिष्ठ में कहा गया है कि–

ज्ञानभूमि शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृदा।

विचारणा द्वितीयास्यातृतीया तनुमानसा।।

सत्तापत्तिः चतुर्थी स्यात्ततोऽसंशक्ति नामिका।

परार्थभाविनी षष्ठी सप्तमी तुयर्यगास्मृता।।

अर्थात्

(1) शुभेच्छाः– संसार के सभी प्राणी दैहिक, दैविक और भौतिक इन त्रिविध दुःखों से ग्रस्त हैं। इसलिए जब जीवों को ज्ञान हो जाता है कि ये संसार दुःखमय है, अनित्य और क्षणभंगुर है, तब उसके अन्दर संसार के प्रति मोह कम होने लगता है और वैराग्य भाव का उदय हो जाता है। ऐसी स्थिति में उसके शुभ विचार उत्पन्न होने लगते हैं। उसे सत्संगति और शास्त्रचर्चा एवं स्वाध्याय की इच्छा होती है। इसी अवस्था का नाम शुभेच्छा है।

2. विचारणाः– शास्त्र चर्चा, स्वाध्याय और सत्संग तथा अभ्यास और वैराग्य से जब जीव आध्यात्मिक साधना में प्रवृत्त हो जाता है तब उस अवस्था का नाम विचारणा है।

3. तनुमानसाः– साधना के प्रभाव से मन (अन्तःकरण) का निर्मल तथा सूक्ष्म होकर उसके अन्दर सूक्ष्म तत्त्वो को ग्रहण करने की शक्ति आ जाना ही तनुमानसा अवस्था है।

4. सत्तापत्तिः– मन तथा बुद्धि का शुद्ध पवित्र होकर आत्म तत्त्व को ग्रहण करने योग्य हो जाना सत्रापित्त अवस्था है।

5. असंशक्तिः– चित्त मन, बुद्धि (अन्तःकरण) का सांसारिक अनात्म वस्तुओं से आसक्ति रहित होकर चैतन्य स्वरूप आत्म तत्त्व में दृढ़ स्थिति प्राप्त हो जाना असंशक्ति भूमिका (अवस्था) है।

6. परार्थ भावनी– उपर्युक्त अवस्था (असंशक्ति) के अभ्यास से जब आत्मा में दृढ़ और निश्चल स्थिति प्राप्त हो जाने पर बाहर और भीतर समस्त स्थूल–सूक्ष्म पदार्थों के अभाव की प्रतीति होने लगती है, तब उसी अवस्था को परार्थ भावनी कहा गया है।

7 तुर्यगाः– परार्थ भावनी अवस्था के दीर्घ अभ्यास से जब सांसारिक पदार्थों का भीतर और बाहर बिल्कुल प्रतीति (अनुभव) नहीं होता तब आत्म–स्वरूप ब्रह्म चैतन्य में स्थाई और निश्चल स्थिति दृढ़ हो जाती है यही अवस्था तुर्यगा कहलाती है।

तुर्यगा अवस्था जीवन्मुक्ति की अवस्था है। इस अवस्था के प्राप्त हो जाने पर योगी जीवन्मुक्त हो जाता है। उसके अज्ञान स्वरूप बन्धन का नाश हो जाता है और शरीर छूट जाने पर मृत्यु के उपरान्त उसे पूर्ण मुक्ति, मोक्ष या कैवल्य प्राप्त हो जाता है और तब वह ब्रह्म स्वरूप में स्थित हो जाता है। उसे 'प्राप्तस्व' की प्राप्ति हो जाती है। वह 'ब्रह्मविद ब्रहमैव भवति' हो जाता है जैसे घड़ा टूट जाने पर घड़े के अन्दर का आकाश बाहर के आकाश में मिल कर एक हो जाता है, उसी प्रकार तुर्यगा अवस्था को प्राप्त जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष (आत्मा) भी शरीर रूप आदि उपाधियों के मिट जाने पर ब्रह्म स्वरूप परमात्मा से मिलकर एक हो जाता है अर्थात् ब्रह्म स्वरूप हो जाता है। उसे अपने वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है।

13.6.2 राजयोग की सप्त ज्ञान भूमिकाः– महर्षि पतंजलि के अनुसार जब निर्मल विवेक ख्याति के द्वारा योगी का चित्त शुद्ध हो जाता है, उसके मल नष्ट हो जाते हैं, उस समय उसके चित्त में दूसरे सांसारिक ज्ञानों का उदय नहीं होता। अतः सात प्रकार की उत्कर्ष अवस्था वाली बुद्धि उत्पन्न होती है–

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिप्रज्ञा। (योग सूत्र 2/27)

राजयोग साधना में असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था को प्राप्त हुए योगी को ज्ञान की जिन सात अवस्थाओं का बोध होता है वे निम्न हैं–

1. हेय शून्य अवस्था
2. हेयहेतुक्षीणतावस्था
3. प्राप्य प्राप्त अवस्था
4. चिकीर्षाशून्य अवस्था
5. चित्त की कृतार्थता अवस्था
6. गुणलीनता अवस्था और
7. आत्म स्थिति अवस्था

1 हेयशून्यावस्थाः– योगाभ्यास से योगी का चित्त जैसे–जैसे शुद्ध और निर्मल होने लगता है वैसे–वैसे उसके अनुभव एवं समझ भी सूक्ष्म होने लगते हैं। ज्ञान की इस प्रथम भूमिका (अवस्था) में साधक को संसार के समस्त विषयों के दुखपूर्ण होने का

ज्ञान प्राप्त हो जाता है। यह संसार परिणाम, ताप और संस्कार दुख से तथा गुणवृत्ति विरोध आदि दुखो से युक्त है, इसलिए यह त्यागने योग्य है, हेय है यह प्रथम ज्ञान भूमिका हेय शून्य अवस्था कहलाती है।

2. हेयहेतुक्षीणतावस्थाः– द्रष्टा और दृश्य का संयोग, हेय का हेतु है जिसके अभाव हो जाने से दुख के समस्त कारणों का नाश हो जाने पर योगी यह अनुभव करने लगता है कि मेरे समस्त क्लेश नष्ट हो चुके, जिसका अभाव करना था कर दिया, अब और कुछ अभाव करने योग्य शेष नहीं रहा। बुद्धि की यही अवस्था हेयहेतुक्षीणतावस्था कहलाती है।

3. प्राप्य प्राप्त अवस्थाः– इस तीसरी ज्ञान भूमिका में कुछ भी प्राप्त करने की इच्छा शेष नहीं रहती। क्योंकि जो कुछ प्राप्त करना था, प्राप्त कर लिया अर्थात् समाधि द्वारा केवल अवस्था (कैवल्य) की प्राप्ति हो चुकी। अतः अब कुछ भी प्राप्त करना और कुछ भी जानना शेष नहीं रहा।

4. चिकीर्षाशून्य अवस्थाः– इस अवस्था में योगी अनुभव करने लगता है कि कुछ करना था कर लिया अर्थात् हान का उपाय जो निर्मल और अचल विवेक ख्याति है, उसे सिद्ध कर लिया, अब और कुछ करना शेष नहीं रहा। यही चिकीर्षाशून्य अवस्था कहलाती है।

5. चित्त की कृतार्थता अवस्थाः– इस अवस्था में चित्त का कोई कर्त्तव्य और प्रयोजन शेष नहीं रह जाता। चित्त ने अपना कर्त्तव्य 'भोग और अपवर्ग' देना पूरा कर दिया, अब उसका कोई प्रयोजन शेष नहीं रहा। यही चित्त की कृतार्थता अवस्था है।

6. गुणलीनताः– चित्त का कोई प्रयोजन न रहने से अब वह अपने कारण रूप गुणों में लीन हो रहा है, इस प्रकार के ज्ञान की अवस्था गुणलीनता कहलाती है।

7. आत्मस्थिति अवस्थाः– यह पुरुष का अपने आत्म स्वरूप में स्थिति हो जाने की अवस्था है जिसे कैवल्य या मोक्ष भी कहते हैं। इस सातवीं ज्ञान भूमिका में पुरुष (या आत्मा) गुणों के संयोग से रहित होकर अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप में अवस्थित हो जाता है।

उपर्युक्त सप्तज्ञान भूमिका को योग दर्शन में सप्तधाप्रज्ञा भी कहते हैं। इसमें से प्रथम चार (क्रमशः 1 से 4 तक) अवस्थाएं कार्यविमुक्ति की द्योतक हैं, इस कारण वे 'कार्यविमुक्ति प्रज्ञा' (कार्य से विमुक्त करने वाला ज्ञान) कहलाती हैं और अन्त की तीन (क्रमशः 5 से 7 तक की) चित्त से विमुक्त करने वाली यानी चित्तविमुक्ति की द्योतक है इसलिए उन्हें 'चित्तविमुक्ति प्रज्ञा' कहते हैं।

13.6.3 समाधि प्राप्ति के विविध साधन–

मानव जीवन का परम पुरुषार्थ–अंतिम लक्ष्य सम्पूर्ण दुखों से आत्यन्तिक निवृत्ति पाकर अपने वास्तविक स्वरूप में अवस्थिति है जिसे मुक्ति, मोक्ष, कैवल्य अपवर्ग आदि अनेकों नामों से सम्बोधित किया गया है। यौगिक दृष्टि कोण से इस अवस्था की प्राप्ति समाधि के द्वारा होती है, इसीलिए योग को समाधि भी कहा गया है।

समाधि की अवस्था तक पहुँचने के लिए चित्त (अन्तःकरण) की शुद्धता–निर्मलता–पवित्रता एवं एकाग्रता आवश्यक है। जिसके लिए विभिन्न योग साधना मार्ग बताये गये हैं जैसे–

ज्ञानयोग साधना, भक्तियोग साधना, कर्मयोग साधना, राजयोग साधना, हठयोग साधना, अष्टांग योग साधना, मन्त्रयोग साधना, तन्त्रयोग साधना, लययोग साधना, नादयोग साधना, कुण्डलिनी योग साधना आदि।

उपर्युक्त साधना पद्धतियों का अध्ययन विद्यार्थी गण योग साधना के विविध मार्ग के अन्तर्गत करेगे। जैसे भिन्न भिन्न नदियाँ एक समुद्र में जाकर मिल जाती हैं, सबके रास्ते अलग अलग हैं, किन्तु लक्ष्य एक है, उसी प्रकार विविध साधना प्रणालियाँ भी अपने–अपने ढ़ंग से साधक को उसके अंतिम लक्ष्य सामाधि की अवस्था से मोक्ष/कैवल्य की ओर ले जाती हैं। यह भारतीय धर्म एवं संस्कृति की महानता ही है कि यहाँ व्यक्ति की पात्रता एवं उसकी रूचि के अनुसार एक नहीं अनेको मार्ग हैं (साधना की अनेकता है), किस की उपासना करे– इसका कोई बन्धन नहीं है और वेदों को सत्य प्रमाण माना गया है यही तो वैदिक धर्म का लक्षण है–

प्रमाण्य बुद्धिः वेदेषु साधनानाम् अनेकता।

उपासनाम नियमश्चैतद्धर्मस्य लक्षणम्।।

13.7 पातंजल योग साधना

यद्यपि साधना की अनेक प्रणालियाँ हैं। जितने दर्शन मत मतान्तर एवं सम्प्रदाय हैं, उतनी ही साधना के विधि विधान भी हैं। अनेको साधना मार्ग व्यक्ति की पात्रता योग्यता एवं उसमें श्रद्धा विश्वास के अनुरूप उसके योग्य श्रेष्ठ हो सकते हैं किन्तु यदि सर्व सुलभ और सभी मार्गों का सार तत्त्व समाहित किये साधना मार्ग पर विचार किया जाय तो निःसन्देह वह मार्ग महर्षि पतंजलि प्रणीत साधना मार्ग ही कहा जा सकता है महर्षि पंतजलि का योग दर्शन वास्तव में दर्शन से ज्यादा योग ही है। इसका दार्शनिक पक्ष तो सांख्य पर आधारित है। पतंजलि का उद्देश्य ही है कैवल्य का व्यावहारिक उपाय–साधना मार्ग बताना। इसीलिए योग दर्शन को व्यावहारिक दर्शन कहा जाता है।

महर्षि पतंजलि ने अपने योग दर्शन में– भिन्न–भिन्न व्यक्तियों की योग्यता पात्रता के अनुरूप अनेक साधना मार्ग (उपाय) बताये हैं, जिन्हे सामान्यतया निम्न तीन भागों में बांटा जा सकता है–

1 उच्चकोटि की साधना (अभ्यास एवं वैराग्य)

2 मध्यम कोटि की साधना (क्रिया योग)

3 निम्न कोटि की साधना (अष्टांग योग)

उपर्युक्त तीन तरह के साधन तीन प्रकार के अधिकारियों– पात्रता रखने वाले साधकों या योग्य जनों के लिए हैं। उत्तम अधिकारी के लिए उत्तम साधन, मध्यम

के लिए मध्यम और अधम के लिए अधम साधन महर्षि ने योग सूत्र में बताया है। जैसे–

उत्तम अधिकारी के लिए अभ्यास, वैराग्य और ईश्वर प्रणिधान आदि साधन बतलाये हैं।

''अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः।'' (योग सूत्र 1/12)

अर्थात् अभ्यास और वैराग्य से चित्त का निरोध होता है।

''ईश्वर प्रणिधानात् वा''। (योग सूत्र 1/23)

अथवा ईश्वर प्रणिधान (ईश्वर की भक्ति) से चित्त का निरोध हो जाता है।

यह उच्चकोटि की साधना कही जा सकती है जो उच्च कोटि के उत्तम साधकों के लिए है।

मध्यम कोटि के साधकों के लिए क्रिया योग बताया है। तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ही क्रिया योग है–

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रिया योगः। (योग सूत्र 2/1)

निम्न कोटि के अधम अधिकारियों के लिए महर्षि पतंजलि ने 'अष्टांग योग' की शिक्षा दी है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि– ये आठ साधन अष्टांग योग कहलाते हैं–

यमनियमासनप्रणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि। (योग सूत्र 2/29)

इनके अनुष्ठान से चित्त की अशुद्धता दूर होकर धीरे धीरे ज्ञान का विकास होता रहता है और अन्त में विवेक ख्याति की प्राप्ति हो जाती है।

योगाङ्ग अनुष्ठानात् अशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिः आविवेकख्यातेः। (योग सूत्र 2/28)

सामान्यतया हर कोई साधक उत्तम या मध्यम कोटि का अधिकारी नहीं होता। प्राथमिक साधनों का पालन करके ही साधक मध्यम और उत्तम साधनाओं को पूर्ण कर सकता है। इसलिए योग के उत्तम और मध्यम साधनाओं के विषय में विशद विवेचना करने से पूर्व आवश्यक है कि पहले उन आठ प्राथमिक साधनाओं पर विचार किया जाय जिन्हे अष्टांग योग कहा जाता है और जिनके पालन से साधक उत्तम कोटि की साधना का अधिकारी बनता है।

13.8 अष्टांग योग साधनाः–

चित्त की शुद्धि एवं चित्त वृत्तियों के निरोध के लिए महर्षि पतंजलि ने प्राथमिक साधकों को अष्टांग मार्ग का उपदेश दिया है जिन्हें 'अष्टांग योग' कहते हैं। इस योग मार्ग के आठ अंग हैं– यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इनमें से प्रथम पाँच योग के वहिरंग साधन कहलाते हैं एवं अंतिम तीन (धारणा, ध्यान, और समाधि) अन्तरंग साधन। इनमें से प्रथम अंग अगले अंग यानी पहली सीढ़ी दूसरी सीढ़ी पर पहुँचने की योग्यता प्रदान करती है और साधक

क्रमबद्ध रूप से स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर साधना पथ पर अग्रसर होता जाता है। वहिरंग साधना के अभ्यास से साधक अंतरंग साधना करने योग्य हो पाता है। अष्टांग योग के प्रथम दो अंग (यम और नियम) नैतिक साधना पर बल देते हैं। आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार का उद्देश्य शरीर को स्वस्थ, प्राणवान बनाना, स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर का शोधन तथा चित्त को वाहय विषयों से हटाना है ताकि वह ध्यान और समाधि के योग्य हो सके। धारणा ध्यान और समाधि में एकाग्रता का अभ्यास क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म–अतिसूक्ष्म होते हुए अपनी पराकाष्ठा में पहुँचता है।

इन योगांगो के अभ्यास से चित्त की अशुद्धि का नाश हो जाता है, ज्ञान का प्रकाश चमकता है जिससे कि विवेक ख्याति की प्राप्ति होती है फल स्वरूप आत्मा (पुरुष) अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो कैवल्य को प्राप्त हो जाता है, जो कि योगी का लक्ष्य था।

महर्षि पतंजलि के ही शब्दो में–

''यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि।'' (योग सूत्र 2/29)

योगांङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः। (योग सूत्र 2/28)

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः। (योग सूत्र 2/26)

.....हानं तत् दृशेः कैवल्यम्। (योग सूत्र 2/25)

अष्टांग योग साधना की समझ के लिए उसके सभी अंगो को जानना आवश्यक है, जो निम्न हैं–

1 यमः– यह अष्टांग योग का पहला अंग है। यम शब्द की व्युत्पत्ति यम उपरमें धातु से हुई है जिसका अर्थ उपरम् अर्थात् अभाव या निवृत्ति है। 'यमयन्ति निवर्तयन्तीति यमाः' यानि कि जो अवांछनीय कार्यों से निवृत्त कराते हैं, यम हैं। यम का अर्थ होता है– नियन्त्रण या संयम। मन, वचन और कर्म का संयम ही यम है। यम पाँच प्रकार के हैं– अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इनके पालन से साधक बुरी आदतों से बचता है, उसके व्यवहार (आचरण) की शुद्धि होती है। यम मानव मात्र (सम्पूर्ण प्राणी मात्र) की उन्नति, विकास और विश्व शान्ति के लिए आवश्यक हैं (इसीलिए सभी धर्मों में ये स्वीकार किये गये हैं)। यम के पालन में किसी देश जाति या काल आदि का बन्धन नहीं है। महर्षि पतंजलि का कथन है कि यम सार्वभौम महाव्रत हैं–

(क) अहिंसासत्यास्तेय ब्रहमचर्यापरिग्रहा यमाः। (योग सूत्र 2/30)

(ख) जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्। (योग सूत्र 2/31)

(अ) अहिंसाः– मन, वचन और कर्म (शरीर) से किसी भी प्राणी की कभी भी किसी भी समय हिंसा न करना, उसे दुख न देना अहिंसा है। योग दर्शन में हिंसा को सभी बुराइयों का जड़ माना गया है। रामचरित मानस में गोस्वामी तुलसीदास ने भी हिंसा को सबसे बड़ा पाप माना है–

परहित सरिस धरम नहीं भाई।

पर पीड़ा सम नहीं अघमाई।।

किसी के प्रति कठोर व्यवहार करना, कटु वचन बोलना, दूसरो की कमियाँ देखना (पर दोष दर्शन) निन्दा, चुगली करना आदि भी हिंसा के अन्तर्गत आते हैं। इसलिए इनका सर्वथा त्याग साधना की पहली सीढ़ी है।

(अब यहाँ प्रश्न यह है कि क्या कोई डाक्टर रोगी का आप्रेशन करता है, माता पिता गुरुजन संतान एवं विद्यार्थी को डाटते हैं जिससे उसे कष्ट होता है तो क्या ऐसा कर्म हिंसा समझकर नही करना चाहिए? यहाँ यह कहा जा सकता है कि कार्य के पीछे भाव का विशेष महत्त्व है। यदि उपर्युक्त कार्य हानि पहुँचाने के उद्देश्य से किये जा रहे हैं तो अवश्य ही हिंसा हैं, अन्यथा नहीं।)

(ब) सत्यः– सत्य का अर्थ है मिथ्या वचन व छल कपट युक्त व्यवहार का परित्याग। जैसा देखा सुना व अनुभव किया वैसा ही बोलना एवं मधुर हितकर वाणी बोलना सत्य है।

स. अस्तेयः– दूसरे के धन को न चुराना, चोर वृत्ति का परित्याग अस्तेय कहलाता है।

द. ब्रह्मचर्यः– ब्रह्मचर्य का अर्थ है विषय वासना की ओर ले जाने वाली प्रवृत्ति का त्याग करना। मन, वचन और शरीर से मैथुन का परित्याग करना ब्रह्मचर्य कहलाता है। भोजवृत्ति के अनुसार उपस्थ इन्द्रिय का संयम ही ब्रह्मचर्य है– ब्रह्मचर्यम् उपस्थ संयमः।

दक्ष संहिता के अनुसार मैथुन आठ प्रकार के होते हैं– स्त्रियों को वासना की दृष्टि से देखना, उनके विषय में कामुक चर्चा करना, उनके अंगो को स्पर्श करना, स्त्री के विषय में स्मरण चिन्तन करना, उनके साथ खेलना, एकान्त में उनके साथ रहना, गुप्त बातें करना और संभोग (क्रिया–निष्पत्ति) करना। इन सभी प्रकार के मैथुनों का परित्याग कर देना ही ब्रह्मचर्य है।

'स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।

संकल्पोऽध्यवसायश्च् क्रियानिष्पत्तिरेव च।।

एतन्मैथुनमष्टांग प्रभवन्ति मनीषिणः।

विपरीतं ब्रह्मचर्य मेतदेवाष्टलक्षणम्।। (दक्ष स्मृति)

य. अपरिग्रहः– आवश्यकता से अधिक धन सम्पत्ति आदि भोग सामग्री का संचय (परिग्रह) न करना ही अपरिग्रह है। योग साधना के लिए संचय प्रवृत्ति का त्याग आवश्यक है।

2. नियमः– अष्टांग योग का दूसरा अंग नियम है नियम का अभिप्राय आन्तरिक अनुशासन से है। यम जहाँ व्यक्ति के जीवन को सामाजिक एवं बाहय क्रियाओं से सामन्जस्यपूर्ण बनाते हैं, वहीं नियम उसके आन्तरिक जीवन को अनुशासित और सदाचार से पूर्ण करते हैं। त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषद् में कहा गया है कि–

अनुरक्तिः परे तत्त्व सततं नियमः स्मृतः।

अर्थात् परम तत्त्व में निरन्तर अनुरक्ति ही नियम है। नियम का उद्देश्य मन की शान्ति और पवित्रता प्राप्त कर एकाग्रता के लिए तैयारी करना है।

महर्षि पतंजलि के अनुसार नियम भी पाँच हैं–

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः। (योग सूत्र 2/32)

अर्थात् शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान नियम है।

अ. शौचः– शुचि (पवित्र) शब्द से शौच शब्द बना है। जिसका अर्थ होता है– शुद्धता, पवित्रता, स्वच्छता। अपने को मनसा, वाचा और कर्मणा शुद्ध पवित्र बनाये रखना शौच कहलाता है। इसके दो भेद हैं– 1 बाह्य शौच और 2 आन्तरिक शौच।

क. बाह्य शौच :– यह शारीरिक शुद्धि है। जल मिट्टी आदि से शरीर को शुद्ध रखना वाह्य शौच कहलाता है।

ख. आन्तरिक शौचः– यह मानसिक शुद्धि है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, अंहकार आदि मनोविकारों को दूर करना आन्तरिक शौच कहलाता है।

मनुस्मृति में कहा गया है कि शरीर की शुद्धि जल से होती है, मन की शुद्धि सत्य से होती है, जीवात्मा की शुद्धि तप और स्वाध्यास से होती है तथा बुद्धि की शुद्धि ज्ञान से होती है–

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति, मनः सत्येन शुध्यति।

विद्यातपोभ्यां भूतात्मा, बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति।। (मनु॰ 5.109)

महर्षि पतंजलि के अनुसार शौच के पालन से अपने अंगों में वैराग्य तथा दूसरो से संसर्ग न करने की इच्छा उत्पन्न होती है–

शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैः असंसर्गः।। (योग सूत्र 2/40)

ब. संतोषः– समुचित प्रयत्न के बाद जो मिल जाय उसी से संतुष्ट रहना संतोष कहलाता है। हमेशा संतुष्ट रहना तृष्णा से रहित होना तथा अत्यधिक पाने की इच्छा का अभाव ही संतोष है।

सन्तोषस्तुष्टिः। (भोजवृत्ति 2.32)

तृष्णाराहृत्य संतोषं इति (योग रहस्य)

संतोष का अर्थ भाग्य भरोसे बैठ जाना या निकम्मा बनकर पुरुषार्थ छोड़ देना नहीं है बल्कि पुरुषार्थ करते हुए आनन्दित रहना हर घड़ी प्रसन्न रहना, विपरीत परिस्थितियों में भी खिन्न न होना, यह संतोष है। संतोष ही सुख का मूल है, इसके विपरीत असन्तोष या तृष्णा ही दुख का मूल है–

संतोष मूलं ही सुखम्, दुख मूलं हि विपर्ययः। (मनुस्मृति 4/42)

संताष परम सुख है– संतोषं परम् सुखम्।

रामचरित मानस में भी कहा गया है–

गोधन गजधन बाजधन और रतन धन खान।

जब आवहि सन्तोष धन, सब धन धुरि समान।।

महर्षि पतंजलि ने सन्तोष का लाभ (फल) बताते हुए कहा है कि संतोष से सर्वोत्तम (निरतिशय) सुख प्राप्त होता है (जो व्यक्ति को समाधि की ओर ले जाता है)।

संतोषात् अनुत्तमसुखलाभः। (योग सूत्र 2/42)

(स) तपः– सर्दी–गर्मी, भूख–प्यास, लाभ–हानि, हर्ष–शोक आदि द्वन्द्वों को प्रसन्नता पूर्वक सहन करते हुए अपने कर्त्तव्य का पालन करते रहना तप कहलाता है–

तपो द्वन्द्वसहनम्। (व्यास भाष्य 2/32)

तप के प्रभाव से अशुद्धि का नाश हो जाता है और तब शरीर एवं इन्द्रियों की सिद्धि हो जाती है–

कायेन्द्रियसिद्धिः अशुद्धिक्षयात् तपसः। (योग सूत्र 2/ 43)

द. स्वाध्यायः– वेद, उपनिषद, गीता, दर्शन आदि सद्ग्रन्थों एवं धर्मशास्त्रों का अध्ययन, ऊँकार एवं गायत्री जप तथा ज्ञानी पुरुषों के कथनों का अनुशीलन स्वाध्याय कहलाता है। अपने स्वयं का आत्म–चिन्तन–सुधार एवं परिष्कार भी स्वाध्याय ही है। स्वाध्याय से मन की शुद्धि हो जाती है जिससे इष्ट देवता का साक्षात्कार हो जाता है।

स्वाध्यायः प्रणवादि पवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं वा। (व्यास भाष्य 2/1)

स्वाध्यायात् इष्टदेवता सम्प्रयोगः। (योग सूत्र 2/44)

य. ईश्वर प्रणिधानः– ईश्वर की उपासना या भक्ति को ईश्वर प्रणिधान कहते हैं। इसलिए योग भाष्यकार व्यास जी ने लिखा है कि–

अपने समस्त कर्मों को कर्मफल सहित परमगुरु परमेश्वर के निमित्त अर्पित कर देना ईश्वर प्रणिधान है–

ईश्वर प्रणिधानं तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्। (व्यास भाष्य 2/32)

परमात्मा को अपने अन्तरात्मा में धारण करना हृदय में–अपने भावों में स्थापित करना, हर पल उसे अपने साथ अनुभव करना, ईश्वर प्रणिधान का लक्षण है। ईश्वर प्रणिधान से ईश्वर की अनुकम्पा प्राप्त हेाती है जिससे योग साधना के अन्तराय–विघ्न बाधाएं दूर हो जाती हैं और योगी शीघ्र ही समाधि सिद्धि को प्राप्त कर लेता है–

समाधि सिद्धिः ईश्वर प्रणिधानात्। (योग सूत्र 2/45)

3. आसनः– आसन अष्टांग योग का तीसरा अंग है। पतंजलि का कथन है कि स्थिर भाव से सुख पूर्वक बैठने को आसन कहते हैं–

"स्थिर सुखमासनम्"। (योग सूत्र 2/46)

चित्त की एकाग्रता के लिए शरीर का अनुशासन भी उतना ही आवश्यक है जितना मन का। इसलिए मन की एकाग्रता ध्यान हेतु शरीर का संयम भी जरूरी है। यह काम आसन करता है। आसन शरीर को स्वस्थ और निरोग रखने में भी सहायक है। आसन के अनेकों प्रकार हैं– जैसे सुखासन, पद्मासन, वज्रासन आदि। आसन को सिद्ध कर लेने से साधक के शरीर पर सर्दी–गर्मी आदि द्वन्द्वों का प्रभाव नहीं पड़ता–

ततो द्वन्द्वानभिघातः। (योग सूत्र 2/48)

आसन सिद्ध हो जाने पर सभी प्रकार के शारीरिक द्वन्द्वों को बिना किसी प्रकार की पीड़ा के सहन करने की शक्ति आ जाती है जिससे उन द्वन्द्वों का प्रभाव नहीं पड़ता। जिसने ये द्वन्द्व चित्त को चंचल बनाकर साधना में विघ्न नहीं डाल पाते। इस प्रकार आसन समाधि प्राप्ति के सहयोगी अंग हैं।

4. प्राणायामः– यह अष्टांग योग का चौथा अंग है। प्राणायाम शब्द प्राण+आयाम से बना है। प्राण का अर्थ है जीवनी शक्ति और आयाम का अर्थ है विस्तार करना, घारणा करना, नियन्त्रित करना या रोकना। इस प्रकार प्राणवायु पर संयम करना तथा अपने अन्दर की प्राण शक्ति–जीवनी शक्ति का विस्तार करना ही प्राणायाम है–

प्राणानाम आयामः प्राणायामः। महर्षि पतंजलि ने श्वास प्रश्वास की गति को रोकने को प्राणायाम कहा है।

'तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोः गति विच्छेदः प्राणायामः। (योग सूत्र 2/49)

प्राणायाम क्रिया के तीन अंग हैं– पूरक, कुम्भक, और रेचक। इसके अन्तर्गत क्रमशः नियमपूर्वक अपने भीतर श्वास खीचना, रोकना और छोड़ना आदि क्रियाएं आती हैं।

प्राणायाम से जहाँ अनेक प्रकार के रोगो से मुक्ति मिलती है, वहीं मन की शुद्धि भी होती है मन पर नियन्त्रण होने लगता है। उस पर पड़ा आवरण क्षीण हो जाता और मन के अन्दर धारणा की विशेष योग्यता आ जाती है–

ततः क्षीणते प्रकाशावरणम्।

धारणासु च योग्यता मनसः।। (योग सूत्र 2/52,53)

5. प्रत्याहारः– यह अष्टांग योग का पाँचवा अंग है। प्रत्याहार शब्द प्रति+आहार से बना है। प्रति का अर्थ है पीछे और आहार का अर्थ है लेना या ग्रहण करना। इस प्रकार प्रत्याहार का अर्थ है विमुख होना पीछे हटना, दूसरी दिशा में जाना। यौगिक दृष्टिकोण से इन्द्रियों का अपने वाह्य विषयों से हटकर अन्दर की ओर जाना यानी वहिर्मुखी से अन्तर्मुखी होना प्रत्याहार है। योग दर्शन में इन्द्रियों का अपने विषयों को त्याग करके चित्त स्वरूप के अनुकूल होना प्रत्याहार कहलाता है–

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकारः इव इन्द्रियाणाम् प्रत्याहारः।

(योग सूत्र 2/54)

पुनः चित्तश्य अन्तर्मुखी भावः प्रत्याहारः। (त्रिशिख ब्राहमणेपनिषद)

प्रत्याहार के अभ्यास से इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण हो जाता है–

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्। (योग सूत्र 2/55)

6. धारणाः– किसी देश या स्थान विशेष पर चित्त को स्थिर करना (बाँधना) धारण कहलाती है–

देश बन्धश्चित्तश्य धारणा। (योग सूत्र 3/1)

धारणा में चित्त को किसी एक वस्तु पर केन्द्रित करना होता है। यह वस्तु या स्थान वाहय या आन्तरिक दोनो हो सकता है। व्यास भाष्य में कहा गया है कि नाभि चक्र, हदय कमल, मूर्ध्य ज्योति, नासिकाग्र, जिह्वा आदि देशों या स्थानों में अथवा किसी अन्य बाहय विषयों में वृत्ति मात्र से चित्त को एकाग्र करने का नाम धारणा है। वेदान्त सार में अद्वितीय चेतन सत्ता (ब्रह्म) में मन को लगाना ही धारणा कहलाता है–

अद्वितीयवस्तुन्यन्तरिन्द्रिय धारणां धारणाः।। (वेदान्त सार, 205)

अष्टांग योग की दृष्टि से धारणा योग की छठी सीढ़ी है जबकि अन्तरंग योग की दृष्टि से धारणा पहली सीढ़ी कहलायेगी क्योकि यम से प्रत्यर्हार तक वहिरंग योग कहलाता है और धारणा, ध्यान व समाधि अंतरंग योग। महर्षि पतंजलि ने धारणा ध्यान और समाधि को संयुक्त रूप में संयम भी कहा है–

त्रयम् एकत्र संयमः। (योग सूत्र 3/4)

7. ध्यानः– यह धारणा की अगली अवस्था है धारणा परिपक्व बन जाने पर ध्यान के रूप में परिणत हो जाती है। धारणा में मन किसी एक स्थान पर एकाग्र होता है और जब यही एकाग्रता इतनी दृढ़ हेा जाती है कि उसमें ज्ञानात्मक चित्त वृत्ति का एक अविच्छिन्न प्रवाह बहने लगता है, तब उसे ध्यान कहते है–

तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम्। (योग सूत्र 3/2)

मैत्री उपनिषद के अनुसार मन का विषयों से रहित हो जाना ही ध्यान है–

ध्यानं निर्विषयं मनः।

मनुस्मृति में कहा गया है कि प्राणायाम से शरीर के दोष, रोग आदि दूर होते हैं। प्रत्याहार से बाह्य विषयों की ओर प्रवृत्ति समाप्त होती है। अर्थात् विषयों के प्रति अनासक्ति का भाव आता है। धारणा से मनुष्य के पाप, कुसंस्कार और कुविचार आदि नष्ट होते है। तथा ध्यान के अभ्यास से मनुष्य के अन्दर विद्यमान विकृत करने वाले विकार, जैसे– काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार आदि नष्ट होते हैं–

प्राणायामैर्दहेद् दोषान्, धारणाभिश्च किल्विषम्।

प्रत्याहारेण संसर्गान, ध्यानेनानीश्वरान् गुणान्।। (मनु॰ 6.72)

8. समाधिः– समाधि योग की अंतिम सीढ़ी है। यह ध्यान की उच्च अवस्था है। ध्यान करते–करते जब ध्यान में केवल ध्येय मात्र की प्रतीति होती है और चित्त का निज स्वरूप शून्य हो जाता है, तब वह ध्यान ही समाधि हो जाता है–

तदेवार्थमात्र निर्भासं स्वरूप शून्यमिव समाधिः। (योग सूत्र 3/3)

धारणा ध्यान और समाधि में अन्तर यह है कि धारणा में मन की पूर्ण एकाग्रता नहीं होती। ध्यान में पूर्ण एकाग्रता हो जाती किन्तु ध्याता, ध्येय और ध्यान की प्रतीति अलग–अलग बनी रहती है जबकि समाधि में केवल ध्येय मात्र की प्रतीति होती है। ध्याता और ध्यान ध्येय में लीन हो जाते हैं। समाधि की अवस्था में चित्त की वृत्तियाँ निरूद्ध हो जाती हैं और समाधि की निर्बीज अवस्था में द्रष्टा पुरुष को कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है।

समाधि का विस्तृत अध्ययन आप (विद्यार्थी गण) इसी इकाई के अन्तर्गत कर चुके हैं। यहाँ समाधि प्राप्त के साधनों की चर्चा के प्रसंग में आपकों बताया गया कि अष्टांग योग क्या है और किस प्रकार यह समाधि का साधन है।

समाधि प्राप्ति हेतु मूलभूत पात्रता के विकास में अष्टांग योग विशेष रूप से सहायक है। इसीलिए समाधि के यौगिक उपायो में यह साधना का मूल आधार होने के कारण विशेष रूप से उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है।

13.8.1 क्रिया योग साधनाः–

महर्षि पतंजलि ने समाधि की अवस्था तक पहुँचने का दूसरा मार्ग 'क्रिया–योग' को बताया है उनके अनुसार तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ही क्रिया योग है–

तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः।। (योग सूत्र 2/1)

यद्यपि तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान– ये तीनो ही अष्टांग योग के अन्तर्गत नियम के अंग हैं। जिनका चित्त दूषित है, जो निम्न स्तर के साधक हैं, उन्हे अहिंसा सत्य आदि यमों का अभ्यास भी करना है और इन तप स्वाध्याय आदि नियमों का भी। किन्तु जो मध्यम श्रेणी के साधक हैं जो हिंसा, स्तेय, परिग्रह आदि से मुक्त हैं, जिनका व्यवहार आचरण शुद्ध है, ऐसा साधकों के लिए महर्षि ने तीन ही उपाय बताये हैं– तप, स्वाध्याय, और ईश्वर प्रणिधान। और इन तीनों के समन्वित स्वरूप को क्रिया योग का नाम दिया है।

तपः– योग की सिद्धि के लिए तप की नितान्त आवश्यकता है। जब व्यावहारिक जीवन में बिना कष्ट सहे, तप पुरुषार्थ के बिना लौकिक उपलब्धि हासिल नहीं होती तो आध्यात्मिक उपलब्धि कैसे मिल सकती है। इसीलिए व्यास भाष्य में कहा गया है कि–

''ना तपस्विनो योगः सिद्धयति''।

अर्थात् जो तपस्वी नहीं है उनका योग सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि अनादि काल से जन्म जन्मान्तरों से चित्त क्लेश वासनाओं से आच्छादित है। हमारे अन्तःकरण में

क्लेश, कर्म–विपाक और वासनाओं की अनन्त गांठे लगी हुई हैं। समस्त चित्त मल–विक्षेप से भरा हुआ है.....जिनका नाश (ग्रन्थियों का भेदन) तप के द्वारा ही किया जा सकता।

तप के साथ साथ स्वाध्याय भी आवश्यक है। प्रणव आदि का जप एवं मोक्ष शास्त्रों का अध्ययन स्वाध्याय है। तप और स्वाध्याय से व्यक्ति को प्रायः अहंकार होने लगता है। इसीलिए अहंकार उत्पन्न न हो, अहंकार के नाश के लिए अपने कर्मों को ईश्वर को समर्पित करते जाना भी योग साधक के लिए जरूरी है, जिसे ईश्वर प्राणिधान कहा गया है। ईश्वर की शरणागति, ईश्वर की भक्ति ही ईश्वर प्रणिधान है। व्यास भाष्य के अनुसार–

स्वाध्यायः प्रणवादि पवित्राणाम् जपः मोक्षशास्त्रध्ययनम् ईश्वर प्रणिधानम् सर्व क्रियाणाम् परमगुरावर्पणं तत्फलं सन्यासो वा। (योग सूत्र 2/1)

क्रिया योग के प्रभाव से समाधि के प्रति भावना उत्पन्न होती है और अविद्या आदि क्लेश क्षीण हो जाते हैं–

''समाधि भावनार्थः क्लेशतनू करणार्थश्च''। (योग सूत्र 2/1)

जिससे क्लेश रहित योगी विवेकख्याति से ईश्वर साक्षात्कार की ओर उन्मुख होता हुआ समाधि को प्राप्त कर लेता है।

तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान का वर्णन अष्टांग योग के अन्तर्गत भी विद्यार्थी गण कर चुके हैं। इसीलिए अब और अधिक यहाँ उनकी पुनरावृत्ति नहीं की जा रही है।

13.8.2 अभ्यास एवं वैराग्य साधना

समाधि की अवस्था तक पहुँचने का उच्च स्तरीय साधन अभ्यास और वैराग्य है जो उच्च कोटि के समाहित चित्त वाले साधकों के लिए है। पूर्व जन्मों के साधना एवं संस्कार से जिन साधकों का चित्त शुद्ध हो चुका है, जो हिंसा, असत्य, चौर्य वृत्ति, संचय आदि के कुसंस्कारों से मुक्त हैं, जिनके अन्दर काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, दम्भ अहंकार आदि मनोविकार क्षीण हो चुके हैं– ऐसे साधक तो स्वभाव से ही यम नियम पालन करने वाले होते ही हैं। इसीलिए महर्षि पतंजलि कहते हैं कि समाहित चित्त वाले उच्च स्तरीय साधकों के चित्त की वृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य की साधना से ही हो जाता है–

अभ्यास–वैराग्याभ्यां तन्निरोधः। (योग सूत्र 1/12)

श्रीमद्भगद्गीता में भी श्री कृष्ण ने कुन्ती पुत्र कौन्तेय अर्थात् अर्जुन को मन को वश में करने के लिए अभ्यास और वैराग्य की शिक्षा दी है–

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।। (गीता 6/35)

अभ्यासः– अभ्यास का अर्थ है प्रयास या प्रयत्न करते रहना। चित्त की शुद्धता और स्थिरता योग साधना की अनिवार्य आवश्यकता है अतः इसके लिए निरन्तर प्रयत्न करना ही अभ्यास है–

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः। (योग सूत्र1/13)

अभ्यास के विविध उपायः– महर्षि पतंजलि ने अभ्यास के अनेकों साधन बतलाये है जैसे–

1. चित्त की निर्मलता और प्रसन्नता सम्बन्धी अभ्यासः–

सुखी मनुष्यों के प्रति मित्रता का भाव रखने से, दुखी मनुष्यों के प्रति दया की भावना से, पुण्यात्मा व्यक्तियों के प्रति प्रसन्नता की भावना रखने से और पापियों के प्रति उपेक्षा की भावना करने से चित्त के रोग, द्वेष, घृणा, क्रोध आदि मल नाश होते है और चित्त शुद्ध निर्मल होता है। अतः ये भावनात्मक चित्त शुद्धि के उपाय हैं। साधक को इन उपायों का अभ्यास करना चाहिए–

मैत्री करूणामुदिता उपेक्षाणाम् सुख दुख पुण्य अपुण्य विषयाणां भावनातः चित्त प्रसादनम्।

(योग सूत्र 1/33)

2. प्राणायामः– के अभ्यास से भी चित्त शुद्ध निर्मल और स्थिर हो जाता है।

प्रच्छर्दन विधारणाभ्याम् वा प्राणस्य। (योग सूत्र 1/34)

अर्थात्– बारम्बार प्राण वायु को शरीर से बाहर निकालने और रोकने के अभ्यास से भी चित्त निर्मल होता है और उसमें स्थिरता आती है।

3. विषयवती प्रवृत्तिः– भी चित्त (मन) की स्थिति को बाँधने वाली होती है–

विषयवती वा प्रवृत्तिः उत्पन्ना मनसः स्थिति निबन्धनी। (योगसूत्र 1/35)

4. शोकरहित सात्विक प्रवृत्ति भी मन को स्थिर करने वाली होती है।

"विशोका वा ज्योतिष्मती।" (योग सूत्र 1/36)

5. रागद्वेष रहित महापुरुषों का आलम्बन अभ्यास भी चित्त को स्थिर करने वाला होता है–

वीतरागविषयं वा चित्तम्।। (योग सूत्र 1/37)

6. अपनी–अपनी श्रद्धा और विश्वास के अनुसार जिसको जो श्रेष्ठ लगे उसका ध्यान करने से भी चित्र एकाग्र हो जाता है–

"यथाभिमतध्यानात् वा" (योग सूत्र 1/39)

इसके अतिरिक्त ईश्वर की भक्ति, शरणागति, उसका जप ध्यान का अभ्यास करने से भी अर्थात् ईश्वर प्रणिधान से भी चित्त की शुद्धता स्थिरता एवं समाधि की प्राप्ति हो जाती है–

ईश्वर प्राणिधानात् वा। (योग सूत्र 1/23)

अभ्यास की निरन्तरताः– योग साधना में साधक को पूरी निष्ठा के साथ अभ्यास करते रहना चाहिए। बिना व्यवधान के दीर्घ काल तक और लगातार (निरन्तर) पूरे

श्रद्धा और विश्वास के साथ आदर पूर्वक अभ्यास करते रहने पर वह अभ्यास दृढ अवस्था वाला होता है–

''स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढ़भूमिः''। (योग सूत्र 1/14)

जितनी अधिक लगन और निष्ठा के साथ साधना की जायेगी सफलता भी उतनी ही शीघ्र मिलेगी–

तीव्रसंवेगानाम् आसन्नः। (योग सूत्र 1/21)

वैराग्यः– लौकिक एवं परिलौकिक सभी प्रकार के भोगों के प्रति आसक्ति रहित हो जाना ही वैराग्य कहलाता है। महर्षि पतंजलि के अनुसार–

'' दृष्टानुश्रविक विषय वितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम् (योग सूत्र 1/15)

अर्थात् दृष्ट और श्रुत यानी देखे और सुने (लौकिक और परिलौकिक) दोनों प्रकार के भोगों से जब चित्त भली भांति तृष्णा रहित हो जाता है, तो ऐसे कामना रहित चित्त की जो वशीकार नामक अवस्था विशेष है, वह वैराग्य (अपर वैराग्य) है।

वैराग्य के भेदः– योग दर्शन में वैराग्य के दो प्रकार बताये गये हैं– **i.** अपर वैराग्य और **ii.**. पर वैराग्य

(i) अपर वैराग्यः– भोग विषयों के प्रति तृष्णा रहित हो जाना अपर वैराग्य कहा जाता है। इससे बुद्धि में विषयों के प्रति अनासक्ति भाव का जागरण होता है। विषय दो प्रकार के होते हैं और 1. दृष्ट 2. श्रुत या आनुश्रविक।

दृष्ट विषय वे हैं जिनका प्रत्यक्ष अनुभव हो सकता है जैसे धन, स्त्री, पुत्र, भोग सामग्री ऐश्वर्य इत्यादि। आनुश्रविक विषय वे हैं जिनका प्रत्यक्ष अनुभव तो नही होता किन्तु इनको धर्म शास्त्रों आदि में सुना जाता है जैसे स्वर्ग, वैकुण्ठ, परलोक इत्यादि। इन दोनो प्रकार के विषयो से सर्वथा तृष्णा रहित विरक्त हो जाना, इन्हे पाने की लेश मात्र भी इच्छा मन में न रह जाना (आसक्ति रहित हो जाना) यह वशीकार नामक अपर वैराग्य है। इस वैराग्य से सम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति हो जाती है।

(ii) परवैराग्यः– अपर वैराग्य की दृढ़ अवस्था परवैराग्य है। अपरवैराग्य के परिपक्व होने पर साधक को विवेक ख्याति की प्राप्ति होती है। चित्त की अत्यन्त निर्मलता में यह विवेक ख्याति भी चित्त की ही एक सात्विक वृत्ति और सतोगुण का परिणाम प्रतीत होने लगती है। फिर साधक के इससे भी वैराग्य हो जाता है। साधक में प्रवृत्ति के गुणों एवं उनके कार्यो मे किसी प्रकार की किंचित मात्र भी तृष्णा नहीं रहती वह सर्वथा आप्तकाम–निष्काम हो जाता है। ऐसी सर्वथा राग रहित वैराग्य अवस्था को ही परवैराग्य कहते हैं–

''तत् परम् पुरुषख्यातेर्गुण वैतृष्ण्यम्।'' (योग सूत्र 1/16)

पर वैराग्य से ही असम्प्रज्ञात या निर्बीज समाधि की सिद्धि होती है।

पर वैराग्य ही ज्ञान की पराकाष्ठा है–

''ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम''। (व्यास भाष्य 1/16)

इसी से ही कैवल्य या मोक्ष की प्राप्ति होती हे–

एतस्यैव नान्तरीयकं कैवल्यम्। (व्यास भाष्य 1/16)

इस प्रकार अभ्यास और वैराग्य की साधना के द्वारा उत्तम कोटि के साधक कैवल्य की प्राप्ति कर सकते हैं। वैराग्य ज्ञान रूप है तो अभ्यास प्रयत्न रूप। वैराग्य से चित्त की बाह्य वृत्तियाँ निरूद्ध हो जाती हैं और अभ्यास से आन्तरिक वृत्तियाँ। इस प्रकार इन दोनों की साधना से सम्पूर्ण चित्त वृत्तियों का निरोध होकर आत्म स्वरूप की प्राप्ति 'कैवल्य' हो जाता है।

13.9 समाधि का फल

निर्बीज समाधि का फल कैवल्य की प्राप्ति है किन्तु इस अवस्था तक पहुँचने से पूर्व समाधि के द्वार पर प्रवेश करते ही साधक को अनेकों अलौकिक शक्तियों का साक्षात्कार एवं अनुभव होने लगता है। योग साधक को इन शक्तियों की उपेक्षा कर आगे बढ़ना होता है क्योंकि ये अलौकिक शक्तियाँ योग साधक को पथ से विचलित करने वाली विध्न स्वरूप है। समाधि के इन फलों का अध्ययन विद्यार्थीगण अगले इकाईयों में कर सकेंगे।

अभ्यास प्रश्नः–

1. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिएः–

(क) समाधि योग साधना का.....सोपान है।

(ख) समाधि की अवस्था में ध्याता और ध्यान.....हो जाते है।

(ग) सवितर्क समाधि में ध्यान का विषय.....होता है।

(घ) सम्प्रज्ञात समाधि की उच्च अवस्था में.....का उदय होता है।

(ङ) योग दर्शन में सप्तज्ञान भूमिका को.....भी कहते हैं।

2. सत्य/असत्य बताइयेः–

(क) अभ्यास और वैराग्य की साधना चंचल चित्त वालों के लिए है।

(ख) नियम भावात्मक सद्गुण हैं।

(ग) धारणा मन की एकाग्र अवस्था है।

(घ) आत्मस्थिति अवस्था चित्त विमुक्ति प्रज्ञा है।

(ङ) विवेक ख्याति से धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति होती है।

3. संक्षिप्त अन्तर बताइयेः–

(क) सबीज समाधि एवं निर्बीज समाधि

(ख) जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति

(ग) भक्ति समाधि एवं योग समाधि

(घ) यम एवं नियम

(ङ) विवेक ख्याति से बुद्धि एवं ऋतम्भरा प्रज्ञा

4. अति लघुत्तरीय प्रष्नः– संक्षेप में उत्तर दें–

(क) समाधि को योग क्यों कहते है?

(ख) असम्प्रज्ञात समाधि के बाद पुनर्जन्म क्यों नहीं होता?

(ग) तनुमानसा का क्या अर्थ है?

(घ) प्राप्तस्व प्राप्ति किसे कहते हैं?

(ङ) प्रत्याहार किसका संयम है?

5. सही विकल्प की पहचान कीजिएः–

''तदेवार्थमात्र निर्भासं स्वरूप शून्यमिव समाधिः''

सूत्र का सही सन्दर्भ है–

(क) ब्रह्म सूत्र– समाधिपाद 30

(ख) योग सूत्र– समाधिपाद 30

(ग) योग सूत्र– विभूतिपाद 03

(घ) इनमें से कोई नही।

13.10 सारांश

इस इकाई में अब तक आपने जाना कि ध्यान की सर्वोच्च अवस्था ही समाधि है। जिसमें ध्यान क्रिया और ध्येय अलग अलग न रहकर एक हो जाते हैं। अर्थात् ध्याता और ध्यान 'ध्येयाकार' हो जाते हैं। समाधि ही योग साधना की अंतिम सीढ़ी होती है। समाधि में ध्यान का विषय क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म, अति सूक्ष्म होता जाता है जब तक ध्यान का कोई न कोई विषय है अर्थात् ध्यान का आधार वृत्ति है तब तक समाधि सम्प्रज्ञात या सबीज कहलाती है और समाधि की उच्च अवस्था में जब ध्यान का कोई आधार या आलम्बन ही न रह जाय तो वह समाधि असम्प्रज्ञात या निर्बीज समाधि कहलाती है। ध्यान के विषयानुसार सम्प्रज्ञात समाधि के चार भेद हैं– वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मिता अनुगत। ये सभी सबीज समाधि है। क्योंकि इनमें कोई न कोई ध्यानवृत्ति अभी मौजूद है। जबकि असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियाँ निरूद्ध हो जाती हैं, संस्कारो का भी निरोध हो

जाता है, इसीलिए इसे निर्बीज समाधि भी कहते हैं। सम्प्रज्ञात या सबीज समाधि में विवेक ख्याति ऋतम्भरा प्रज्ञा के उदय से योगी के अविद्या आदि क्लेश नाश हो जाते हैं– यह जीवन् कैवल्य (जीवन् मुक्ति) की अवस्था है। असम्प्रज्ञात या निर्बीज समाधि में पुरुष अपने वास्तविक स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, यह पूर्ण कैवल्य (विदेह कैवल्य/विदेह मुक्ति) की अवस्था होती है। समाधि लाभ कराने वाले अनेकों योग मार्ग हैं–जैसे ज्ञान योग, भक्ति योग, कर्मयोग, राजयोग, हठयोग, मन्त्रयोग, लययोग, आदि। महर्षि पतंजलि के योग दर्शन में भी चित्त वृत्ति निरोध के अनेकों उपाय बताये गये है। पतंजलि ने साधक की योग्यता पात्रता के अनुरूप उत्तम साधक–समाहित चित्त वाले के लिए अभ्यास वैराग्य तथा मध्यम एवं अधम साधक के लिए क्रमशः क्रियायोग एवं अष्टांग योग साधना की व्यावहारिक शिक्षा दी है।

13.11 शब्दावली

उत्कृष्ट	–	उन्नत, श्रेष्ठ
निर्वात	–	वायु रहित स्थान
निश्चल	–	स्थिर, शान्त
परिपक्व	–	पूर्ण
दीर्घ	–	लम्बा
परिणत	–	परिवर्तित
ध्यान	–	मन की एकाग्रता
ध्याता	–	ध्यान करने वाला व्यक्ति
ध्येय	–	ध्यान का विषय, लक्ष्य
एकाकार	–	एक हो जाना
आत्म–विस्मृति	–	स्वयं को भूल जाना, अपने शरीर मन आदि का अनुभव न होना
शासित	–	प्रकाशित
अंसदिग्ध	–	सन्देह से रहित, निःसन्देह
बाध	–	अभाव
निवृत्ति	–	छुटकारा, रहित होना
ज्ञाता	–	ज्ञान प्राप्त करने वाला
ज्ञेय	–	ज्ञान का विषय
सर्वथा	–	पूरी तरह, हर प्रकार से सही–सही
सम्यक्	–	पूरी तरह से, भली भाति, पूर्ण
आलम्बन	–	आधार
निकृष्ट	–	निम्न स्तर की
अनात्मा	–	जड़ तत्व, चित्त
निस्तरङ्ग	–	तरंग रहित, विचार रहित, निश्चल और शान्त
ऐक्य	–	एकाकार हो जाना
हेय	–	दुख
हेतु	–	कारण
हान	–	मुक्ति या छुटकारा

हानोपाय	–	मुक्ति का उपाय
ग्रहाय	–	इन्द्रियों के विषय (पंचमहाभूत तन्मात्राएं आदि)
ग्रहण	–	अन्तःकरण और इन्द्रियाँ, साधन
ग्रहीता	–	पुरुष, चेतन तत्व, बुद्धि युक्त पुरुष
समापत्ति	–	एकाग्रता, समाधि
विशद	–	विस्तृत

13.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1 (क) अंतिम **(ख)** ध्येयाकार **(ग)** स्थूल **(घ)** ऋतम्भरा प्रज्ञा **(ङ)** सप्तधा प्रज्ञा।

2 (क) असत्य **(ख)** सत्य **(ग)** असत्य **(घ)** सत्य **(ङ)** सत्य।

3. (क) सबीज समाधि में ध्यान की कोई न कोई आलम्बन वृत्ति रहती है जबकि निर्बीज समाधि में सम्पूर्ण वित्तियों का निरोध हो जाता है।

(ख) विवके ख्याति से अविद्या आदि क्लेशों एवं संस्कारो का नाश होने पर योगी जीवन्मुक्त हो जाता है। शरीर छूट जाने के बाद विदेह मुक्ति को प्राप्ति होती है।

(ग) भक्ति सागर के अनुसार ईश्वर की भक्ति जप ध्यान से होने वाली समाधि भक्ति समाधि है जबकि योग समाधि में आसन प्राणायाम का अभ्यास करके चक्रों पर ध्यान करना होता है।

(घ) यम में दुर्गुणों को छोड़ना है, नियम में सद्गुणों को अपनाना है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रहमचर्य और अपरिग्रह यम है जबकि शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान नियम कहलाते है।

(ङ) अविद्या, अज्ञान से युक्त अशुद्ध प्रज्ञा को बुद्धि कहते है जबकि योग साधना से होने वाली निर्मल शुद्ध बुद्धि ऋतम्भरा प्रज्ञा कहलाती है जिससे विवक ज्ञान की प्राप्ति होती है।

4. (क) क्योंकि समाधि की अवस्था में ही योग का उद्देश्य पूर्ण होता है।

(ख) असम्प्रज्ञात समाधि कैवल्य की अवस्था है जहाँ से पुनर्जन्म नहीं होता। (जन्म के सभी हेतु कारक, अविद्या संस्कार आदि का नाश हो चुका होता है।)

(ग) योग वशिष्ठ के अनुसार योग साधना के प्रभाव से अन्तःकरण (मन) का निर्मल एवं सूक्ष्म होकर उसके अन्दर सूक्ष्म तत्त्वों को ग्रहण करने की शक्ति आ जाना ही ज्ञान की तनु–मानसा अवस्था है।

(घ) पुरुष स्वभावतः नित्य, स्वतन्त्र एवं दुख आदि से मुक्त है। कैवल्य की अवस्था में वह अपने इसी वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है जो कि वास्तव में वह है ही। इसीलिए कैवल्य की अवस्था को प्राप्तस्व प्राप्ति (यानी जो पहले से प्राप्त था उसी को पुनः प्राप्त करना) कहा गया है।

(ङ) प्रत्याहार इन्द्रियों का संयम (नियन्त्रण) है।

5 (ग) योग सूत्र–विभूतिपाद 03

13.13 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1 गोयन्दका, हरिकृष्णदास– पातंजल योग दर्शन प्रकाशन गीता प्रेस गोरखपुर।

2 आरण्य, श्री मत स्वामी हरिहारानन्द– पातंजल योग दर्शन, मोती लाल बनारसीदास दिल्ली।

3 सरस्वती स्वामी विज्ञानान्द– योग विज्ञान प्र॰ योग निकेतन ट्रस्ट ऋषिकेश।

4 पोद्दार श्री हनुमान प्रसाद सम्पादक कल्याण योगांक– प्र॰ गीता प्रेस गोरखपुर

5 कल्याण साधना अंक– प्र॰ गीता प्रेस गोरखपुर

6 भारती परमंहस स्वामी अनन्त– पातंजल योग शास्त्र एक अध्ययन– प्र॰ मोरार जी देसाई राष्ट्रीय योग संस्थान नई दिल्ली।

7 स्वामी शिवानन्द, साधना प्रकाशक– दिव्य जीवन संघ, टिहरी गढ़वाल।

8 द्विवेदी डॉ. कपिलदेव– साधना एवं सिद्धि विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

9 सिन्हा, डॉ. हरेन्द्र प्रसाद– भारतीय दर्शन की रूपरेखा– मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली।

13.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1 समाधि क्या है? विविध योग ग्रन्थों में इसे किस रूप में परिभाषित किया गया है?

2 महर्षि पतंजलि के योग दर्शन के परिप्रेक्ष्य में समाधि सम्प्रत्यय की विस्तृत विवेचना कीजिए।

3 सम्प्रज्ञात समाधि का स्वरूप स्पष्ट करें?

4 सबीज एवं निर्बीज समाधि में क्या अन्तर है? समझाइये।

5 राजयोग अथवा ज्ञान योग में से किसी एक के अनुसार समाधि के भेदों की विवेचना कीजिए।

6 भक्ति सागर में समाधि का स्वरूप क्या है? व्याख्या करें।

7 सप्तधा प्रज्ञा से आप क्या समझते हैं। स्पष्ट कीजिए।

8 महर्षि पतंजलि के योग दर्शन में चित्त वृत्ति निरोध के प्रमुख साधन कौन कौन से हैं? अभ्यास एवं वैराग्य की विवेचना कीजिए।

9 अष्टांग योग क्या है? यम नियम का व्यावहारिक महत्त्व समझाइये।

10 महर्षि पतंजलि के अनुसार क्रिया योग का वर्णन कीजिए।

इकाई–14 संयम जन्य विभूतियाँ

14.1 प्रस्तावना
14.2 उद्देश्य
14.3 संयम जन्य विभूतियाँ
    14.3.1 विभूति का अर्थ
    14.3.2 पातंजल योग दर्शन में विभूतियों का स्वरूप
    14.3.3 वहिरंग योग साधना जन्य विभूतियाँ
        क– यम जनित विभूतियाँ
        ख– नियम जनित विभूतियाँ
        ग– आसन जनित विभूतियाँ
        घ– प्राणायाम जनित विभूतियाँ
        ङ– प्रत्याहार जनित विभूतियाँ
    14.3.4 अन्तरंग योग साधना जन्य विभूतियाँ –(संयम जन्य विभूतियां)
        क– समष्टि जगत विषयक संयम जनित विभूतियाँ
        ख– व्यष्टि शरीर विषयक संयम जनित विभूतियाँ
        ग– ग्राह्य विषयक संयम जनित विभूतियाँ
        घ– ग्रहण विषयक संयम जनित विभूतियाँ
        ङ– गृहीतृ विषयक संयम जनित विभूतियाँ
14.4 विवेक ज्ञान रूपी विभूति का महत्त्व
14.5 विभूतियों की समीक्षा।
14.6 सांराश
14.7 शब्दावली
14.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
14.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
14.10 निबन्धात्मक प्रश्न

14.1 प्रस्तावना

साधना से सिद्धि योग दर्शन का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। प्रायः सभी भारतीय योग साधनाओं में साधक को साधना से अनेक अलौकिक शक्तियों के प्राप्ति की बात कही गई है जिन्हे ऐश्वर्य, विभूतियाँ, सिद्धियाँ आदि कहते हैं। महर्षि पतंजलि प्रणीत योग सूत्र के चार पादों में से तीसरा पाद तो विभूतियों को ही समर्पित है जिससे स्पष्ट है कि योग साधक के लिए इन विभूतियों की जानकारी कितनी आवश्यक है। इन विभूतियों की चर्चा से जहाँ सामान्य व्यक्ति योग साधना के प्रति उत्साहित होता है, वहीं योगी इनसे पहले से ही सावधान हो जाता है कि कही वह इनके आकर्षण में आकर योग भ्रष्ट न हो जाय और निष्काम भाव से परहित में जहाँ इनकी आवश्यकता हो वहाँ इनसे सहयोग भी प्राप्त कर ले।

प्रस्तुत इकाई में योग दर्शन में वर्णित भिन्न–भिन्न संयम साधनाओं से होने वाली उपलब्धि स्वरूप इन्ही विभूतियों की विश्लेषण–विवेचना की गई है।

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह समझ सकेगें कि ठीक ढंग से की गई साधना कभी निष्फल नहीं जाती। मन की शुद्धता, अपने अन्दर सत्वगुण की वृद्धि एवं दृढ़ लक्ष्य होकर प्रलोभनों से बचते हुए प्रयासरत रहना ही सफलता की कुँजी है, चाहे वह जिस क्षेत्र में हो। यह समझ अवश्य ही आपके निजी अनुभव जीवन यात्रा एवं पुरुषार्थ की प्राप्ति में सहायक सिद्ध होगी।

14.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप–

- ☞ यह बता सकेगे कि योग साधना में विभूतियाँ क्या होती हैं।
- ☞ विभूतियाँ किस प्रकार सिद्धियाँ भी हैं और उपसर्ग (विघ्न) भी, यह समझ सकेंगे।
- ☞ ग्राहय, ग्रहण और गृहीता विषयक संयम एवं उसके फल क्या है यह आप बता सकेगे।

हजारों वर्ष पूर्व हमारे ऋषियों ने सौर्य मण्डल आदि का ज्ञान कैसे प्राप्त कर लिया था– आपके इस जिज्ञासा का समाधान भी हो सकेगा।

14.3 संयम जन्य विभूतियाँ

14.3.1 विभूति का अर्थ–

विभूति का अर्थ विशिष्ट वैभव, ऐश्वर्य, विशेष शक्ति, आदि से है जिसे योग की आषा से यौगिक सम्पदा, सिद्धि, ऋद्धि, निधि, विभूति आदि अनेक नामों से सम्बोधित किया गया है। सुर दुर्लभ यह मानव शरीर अपरिमित सम्भावनाओं का आगार है जिसमें सूक्ष्म रूप से अनन्त शक्तियाँ विद्यमान होती हैं किन्तु अविद्या आदि क्लेशों का आवरण उन शक्ति सामर्थ्य का ढके रहता है। जैसे जैसे साधक साधना के द्वारा इन आवरणों से मुक्त होता है, वैसे–वैसे अनेक ऐसी रहस्यमय शक्तियों से उसका साक्षात्कार होता है जो सामान्य व्यक्ति

के लिए असम्भव स्तर की होती हैं। इन्ही विशिष्ट शक्तियों, ऐश्वर्यों, योग साधना से प्राप्त यौगिक सम्पदाओं को ही विभूतियाँ कहा गया है। इसी सन्दर्भ में ऋर्षि का कथन है–

करामलकवद्विश्वं तेन योगी प्रयश्यन्ति।

दूरतो दर्शनं दूर श्रवणं चापि जायते।।

भूतं भव्यं भविष्यं च वेत्ति सर्वकारणम्।

ध्यान मात्रेण सर्वेषां भूतानां च मनोगतम्।।

(पं॰ श्री राम शर्मा आचार्य वाङ्गमय, साधना से सिद्धि –8.5)

अर्थात् योगी को अदृश्य जगत (सूक्ष्म जगत) दृश्यवत् दिखता है, उसे दूर दर्शन, दूर श्रवण की विभूतियाँ उपलब्ध होती है। ध्यान मात्र से योगी भूत, भविष्य, वर्तमान तथा प्राणियों के मनोगत भाव जान लेता है। महर्षि पतंजलि भी इन यौगिक विभूतियों की प्राप्ति से सहमत हैं।

14.3.2 पातंजल योग दर्शन में विभूति का स्वरूप–

पतंजलि के योग सूत्र में विभूतियों की विशेष चर्चा है। योग सूत्र चार पादों में से तीसरे पाद का नामकरण ही विभूतिपाद है जो कैवल्य पाद के पूर्ववर्ती है। कैवल्य हेतु योगाभ्यास कर रहे साधक की साधना एकाग्रता एवं चित्त की शुद्धि की प्रगाढ़ता के क्रम में उसके अन्दर अनेकों अद्भूत रहस्यमयी शक्तियों का जागरण होने लगता है जिन्हें विभूतियाँ कहा गया है। अष्टांग योग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) साधना से प्राप्त होने वाली विभूतियों को समझने के लिए उन्हें निम्न भागों में विभाजित किया जा सकता है–

क. वहिरंग योग साधना जन्य विभूतियाँ

ख. अंतरंग योग साधना जन्य विभूतियाँ/संयम जन्य विभूतियाँ।

14.3.3 वहिरंग योग साधना जन्य विभूतियाँः–

अष्टांग योग के प्रथम पाँच अंगों– 1. यम 2. नियम 3. आसन 4. प्राणायाम और 5. प्रत्याहार को वहिरंग योग कहा गया है। इन योग साधनाओं के परिणाम स्वरूप जो विभूतियाँ योग साधक को प्राप्त होती हैं, वे निम्न हैं–

(क) यम जनित विभूतियाँः–

अष्टांग योग साधना में यम के अन्तर्गत जिन पाँच प्रकार के अनुशासनों का पालन करना होता है वे हैं– अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रहमचर्य और अपरिग्रह। इनके सर्वतोभावेन पालन से दृढ़ स्थिति होने पर विशेष शक्तियों विभूतियों का जागरण होता है जिनका वर्णन योग सूत्र में निम्नवत् किया गया है–

1. अहिंसा जनित विभूतिः–

अहिंसा की दृढ़ स्थिति हो जाने पर उस योगी के निकटवर्ती सभी प्राणियों में भी बैर का त्याग हो जाता है–

अहिंसा प्रतिष्ठायाम् तत्सन्निधौ वैरत्यागः। (योग सूत्र 2/35)

स्पष्ट है कि अहिंसात्मक सिद्धि से योगी के अन्दर एक ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है जिसके प्रभाव से वह जहाँ भी रहता है उसके समीपवर्ती अन्य जीवों के अन्दर भी उनकी स्वाभाविक बैर वृत्ति समाप्त हो अंहिसात्मक भावना उत्पन्न हो जाती है।

ऐसा कहा जाता है कि ऋषियों मुनियो के आश्रम में सभी प्राणी बिना किसी वैरभाव के रहा करते थे। जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरित मानस में वाल्मीकि आश्रम का वर्णन किया है–

खग मृग विपुल कोलाहल करहीं।

विरहित बैर मुदित मन चरहीं।।

इसी प्रकार अगस्त्य मुनि के आश्रम के सम्बन्ध में कहा गया है कि–

यदा प्रभृति चाक्रान्ता दिगियं पुण्यकर्मणा।

तदा प्रभृति निर्वेराः प्रशान्ता रजनीचराः।।

अयं दीर्घायुषस्तस्य लोके विश्रुतकर्मणः।

अगस्त्यस्याश्रमः श्रीमान् विनीतमृगसेवितः।।

नात्र जीवन्मृषावादी क्रूरो वा यदि वा शठः।

नृशंसः पापवृत्तो वा मुनिरेष तथाविधः।।

(वाल्मीकि रामायण वनकाण्ड सर्ग 11/83, 86,90)

2. सत्य जनित विभूतिः–

सत्य की दृढ़ स्थिति होने पर योगी में क्रियाफल के आश्रय का भाव आ जाता है–

सत्य प्रतिष्ठायाम् क्रियाफलाश्रयत्वम्। (योग सूत्र 2/36)

अर्थात् जो कर्म किसी ने नहीं किया उसका भी फल प्रदान करने की शक्ति योगी में आ जाती है। यानि कि उनके अन्दर वरदान–आशीर्वाद व अभिशाप देने की सामर्थ्य पैदा हो जाती है, जो सत्य होता है।

व्यास भाष्य में कहा गया है कि सत्य प्रतिष्ठ व्यक्ति का वाक्य अमोध होता है वह जो कहता है हो जाता है। धार्मिक हो जाओ कहने से व्यक्ति धार्मिक हो जाता है, स्वर्ग प्राप्त करो का आशीर्वाद दे देने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है–

धार्मिको भूया इति भवति धार्मिकः,

स्वर्ग प्राप्नुदीति स्वर्ग प्राप्नोति,

अमोघास्य वाग्भवति।। (व्यास भाष्य, योग सूत्र 2/36)

3. अस्तेय जनित विभूतिः–

चोरी के अभाव (अस्तेय) की दृढ़ स्थिति हो जाने पर योगी के सामने सभी प्रकार के रत्न प्रकट हो जाते हैं–

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्। (यो॰ सू॰ 2/37)

यानी अस्तेय प्रतिष्ठित योगी को सभी आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति हो जाती। पुनः उसके अन्दर जमीन के अन्दर गड़ी वस्तुओं तक को देख लेने की शक्ति आ जाती है।

4. ब्रहमचर्य जनित विभूतिः–

ब्रहमचर्य की सिद्धि हो जाने पर योगी के शरीर मन बुद्धि आदि में अद्भुत शक्ति आ जाती है–

ब्रहमचर्य प्रतिष्ठायां वीर्य लाभः। (योग सूत्र 2/38)

ब्रहमचर्य प्रतिष्ठिति व्यक्ति तेजस्वी, ओजस्वी और वर्चस्वी हो जाता है। साधारण मनुष्य किसी काम में उसकी बराबरी नहीं कर पाते।

5. अपरिग्रह जनित विभूतियाँः–

अपरिग्रह के दृढ़ होने पर योगी को पूर्वजन्मों एवं वर्तमान जन्म का पूर्णज्ञान भलीभाँति हो जाता है–

अपरिग्रह स्थैर्य जन्मकथान्तासंबोधः। (योग सूत्र 2/39)

व्यास भाष्य के अनुसार ऐसे योगी को अतीत वर्तमान और भविष्य में होने वाले जन्मों का, यानी कौन था– क्या था, आगे क्या होऊँगा, कहाँ होऊँगा–जैसी जिज्ञासाओं का ज्ञान हो जाता है।

(ख) नियम जनित विभूतियाँः–

अष्टांग योग साधना में नियम भी पाँच हैं– शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। इनके पालन से भी साधक के अन्दर अद्भूत सामर्थ्य प्रकट होने लगते हैं, जो निम्नवत् है–

1. शौच जनित विभूतिः–

शौच दो प्रकार का होता है i वाह्य शौच और ii आन्तरिक शौच।

शौच के इन दो भेदों से इनके सिद्ध होने पर होने वाली विभूतियाँ भी दो तरह की होती हैं–

वाहय शौच जनित विभूति और आन्तरिक शौच जनित विभूति।

(i) वाह्य शौच जनित विभूतियाँः–

वाह्य शौच के सिद्ध होने पर साधक के अन्दर अपने शरीर के प्रति वैराग्य भाव आ जाता हैं– तथा दूसरों के संग के प्रति आसक्ति समाप्त हो जाती है–

शौचात्त्स्वाङ्ग जुगुप्सा परैरसंसर्गः।। (योग सूत्र 2/40)

(ii) आन्तरिक शौच जनित विभूतियाँः–

आन्तरिक शौच के सिद्ध होने से साधक में निम्न पाँच तरह की योग्यताओं से भरा सामर्थ्य आ जाता है–

(अ) अन्तःकरण की शुद्धि

(ब) मन की प्रसन्नता

(स) चित्त की एकाग्रता

(द) इन्द्रियों पर विजय और

(य) आत्म साक्षात्कार की योग्यता–

" सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च।" (योगसूत्र– 2/41)

उपर्युक्त योग्यताएँ– शक्तियाँ साधक के आगे की साधना कैवल्य मार्ग में सहायक बनती हैं।

2. सन्तोष जनित विभूतिः–

सन्तोष की सिद्धता से सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति होती है–

"संतोषादनुत्तमसुखलाभः। (योग सूत्र 2/42)

अर्थात् ऐसे तृष्णा रहित योगी को अनन्तसुख रूपी विभूति प्राप्त हो जाती है।

3. तप जनित विभूतिः–

तप के प्रभाव से अशुद्धि का नाश हो जाता है तथा शरीर की सिद्धि (अणिमा आदि की प्राप्ति) तथा इन्द्रियों की सिद्धि यानी (दूरदर्शन, दूरश्रवण, दिव्य दृष्टि जैसी सामर्थ्य की प्राप्ति) हो जाती है–

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।। (योग सूत्र 2/43)

4 .स्वाध्याय जनित विभूतिः–

स्वाध्याय के सिद्ध होने पर इष्टदेवता (ऋषि, सिद्धगण आदि का) साक्षात्कार हो जाता है–

स्वाध्यायात् इष्टदेवता सम्प्रयोगः। (योग सूत्र 2/44)

5. ईश्वर प्रणिधान जनित विभूतिः–

ईश्वर प्रणिधान से समाधि की सिद्धि हो जाती है–

समाधि सिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्।। (योग सूत्र 2/45)

(ग) आसन जनित विभूतियाँः–

आसन की सिद्धि हो जाने पर योगी के अन्दर ऐसी विशिष्ट शक्ति आ जाती है कि उस पर सर्दी, गर्मी भूख–प्यास आदि द्वन्द्वों का आघात नहीं लगता (यानी ये द्वन्द्व उसे नहीं सताते)–

ततो द्वन्द्वानभिघातः। (योग सूत्र 2/48)

(घ) प्राणायाम जन्य विभूतियाँः–

प्राणायाम के सिद्ध होने पर विवेक ज्ञान पर पड़ा अविद्या आदि क्लेश का परदा (आवरण) नष्ट हो जाता है–

ततः क्षीयते प्रकाशवरणम्। (योग सूत्र 2/52)

पुनश्च

मन के अन्दर धारणा शक्ति और स्थिरता शक्ति आ जाती है–

धारणासु च योग्यता मनसः।। (योग सूत्र 2/53)

(ङ) प्रत्याहार जन्य विभूति

प्रत्याहार के सिद्ध होने पर साधक को इन्द्रियजय सम्पदा की प्राप्ति हो जाती है। अर्थात् उसकी इन्द्रियाँ उसके वश में हो जाती हैं (इन्द्रियों पर विजय हो जाती है)

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्। (योग सूत्र 2/55)

14.3.4 अन्तरंग योग साधना जन्य विभूतियाँ या संयम जन्य विभूतियाँः–

संयम का अर्थः– अष्टांग योग साधना के शेष तीन अंतिम अंग धारणा, ध्यान और समाधि है। ये अष्टांग योग साधना के अन्तरंग साधन हैं–

त्रयमन्तरंङ्ग पूर्वेभ्यः।। (योग सूत्र 3/7)

धारणा ध्यान समाधि को अन्तरंग योग साधना कहते हैं इन्हे संयम भी कहते है। महर्षि पंतजलि के अनुसार धारणा ध्यान और समाधि इन तीनों का किसी एक विषय में होना संयम है।–

त्रयमेकत्र संयमः। (योग सूत्र 3/4)

इसी कारण अन्तरंग योग साधना जन्य विभूतियों को संयम जन्य विभूति कहा गया है। इस संयम से होने वाली विभूति है– अलौकिक प्रतिभा या समाधि प्रज्ञा–

तज्जयात्प्रज्ञालोकः। (योग सूत्र 3/5)

इस अलौकिक प्रतिभा से ध्येय का ज्ञान यथार्थ रूप से होने लगता है और अन्य नाना प्रकार की विभूतियाँ सिद्ध होने लगती हैं। महर्षि पंतजलि ने योग सूत्र के तृतीय पाद का नामकरण ही विभूतियों पर आधारित विभूतिपाद रखा है जिसमें सूत्र 16 से लेकर इस पाद की समाप्ति पर्यन्त भिन्न भिन्न संयम से होने वाली विभूतियों की ही चर्चा है। अध्ययन की सुविधा के दृष्टिकोण से इन विभूतियों को निम्न 5 वर्गो में विभाजित किया जा सकता है–

(क) समष्टि जगत विषयक संयम जनित विभूतियाँ

(ख) व्यष्टि शरीर विषयक संयम जनित विभूतियाँ

(ग) ग्राहय विषयक संयम जनित विभूतियाँ

(घ) ग्रहण विषयक संयम जनित विभूतियाँ

(ङ) गृहीतृ विषयक संयम जनित विभूतियाँ

(क) समष्टि जगत विषयक संयम जनित विभूतियाँ

1. परिणामत्रय में संयम जन्य विभूतियाँ–

परिणामतय में संयम करने से योगी को भूत (अतीत) और भविष्य (अनागत) का ज्ञान हो जाता है–

परिणाम त्रय संयमात् अतीतानागतज्ञानम्। (योग सूत्र 3/16)

परिणाम त्रय का अर्थः– संसार के समस्त भौतिक पदार्थ परिवर्तन शील (परिणामी) हैं। यह परिवर्तन या परिणाम तीन प्रकार का है– धर्म परिणाम, लक्षण परिणाम, और अवस्था परिणाम।

धर्म परिणाम में पदार्थ के धर्म का परिवर्तन होता हैं। जैसे मिट्टी का घड़ा बन जाना या घड़े का फूट कर टुकड़े हो जाना, या चित्त का व्युत्थान धर्म से निरोध धर्म को ग्रहण कर लेना।

लक्षण परिणाम धर्म परिणाम के साथ साथ हो जाता है। वर्तमान धर्म का लुप्त (अतीत) हो जाना उसका अतीत लक्षण परिणाम है और नये धर्म का प्रकट हो जाना वर्तमान लक्षण परिणाम।

अवस्था परिणाम में धर्म के वर्तमान लक्षण से युक्त रहते हुए ही उसकी अवस्था बदलती रहती है। नये का पुराना हो जाना, बालक का युवा होना, युवा का वृद्ध होना, शरीर की कोशिकाओं में होने वाला प्रतिक्षण परिवर्तन अवस्था परिणाम हैं।

इन तीनों परिणामों में संयम करने का अभिप्राय यह है कि जिस वर्तमान वस्तु के विषय में यह जानना चाहे कि उसका पिछला अतीत क्या था, किस तरह परिवर्तित होते हुए वर्तमान तक आई, आगे भविष्य में वह कब कैसे कहाँ पहुँचेगी, इन सब बातों का ज्ञान उक्त तीनों परिणामों में संयम अर्थात् धारणा ध्यान और समाधि कर लेने से हो जाता है।

2. शब्द अर्थ और ज्ञान के विभाग में संयम जन्य विभूतिः–

शब्द अर्थ और ज्ञान के परस्पर अध्यास से इनमें परस्पर मेल प्रतीत होता है। इनके विभाग में संयम करने से योगी को सभी प्रणियों के शब्दों (वाणी) ज्ञान हो जाता है–

शब्दार्थ प्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरूतज्ञानम्।

(योग सूत्र 3/17)

शब्द अर्थ और ज्ञान परस्पर भिन्न हैं। शब्द वह है जो बोला जाता है, जैसे गौ।

अर्थ वह है जो शब्द से जाना जाता है जैसे दूध देने वाला पशु।

प्रत्यय (ज्ञान)– यह शब्द और अर्थ दोनों को मिलाकर ज्ञान कराने वाली वृत्ति है, जो श्रोता के मन में रहती है।

ये तीनों अलग अलग रहते हैं। शब्द जैसे गो वक्ता की वाक् इन्द्रिय (वाणी) में रहता है। अर्थ जैसे गौ का अर्थ गोशाला में रहता है और गौ ज्ञान श्रोता के मन में रहता है। ये तीनों मिले हुए (एक) प्रतीत होते है। सभी प्राणी जो शब्द बोलते है उनमें शब्द अर्थ और ज्ञान तीनों होते हैं। योगी जब इनमें संयम करता है तो वह इस शब्द का अर्थ और शब्द अर्थ दोनों के सम्बधी ज्ञान को जान लेता है और सभी प्राणियों की बोली भाषा का समझ लेता है।

3. संस्कार संयम जन्य विभूतिः–

संस्कारों में संयम से योगी को पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाता है–

संस्कार साक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्। (योग सूत्र 3/18)

प्राणी जो कुछ कर्म करता है एवं अनुभव करता है वे सब उसके चित्त में संस्कार रूप में संचित रहते हैं जिनके साक्षात्कार से योगी को पूर्व जन्म का ज्ञान हो जाता है।

4. प्रत्यय संयम जन्य विभूतिः–

दूसरे के चित्त (प्रत्यय) का संयम द्वारा साक्षात्कार कर लेने पर दूसरों के चित्त का ज्ञान हो जाता है–

प्रत्ययस्य परचित्त ज्ञानम्। (योग सूत्र 3/19)

जब योगी किसी के चेहरे तथा नेत्र आदि की आकृति अथवा रागादि किसी भाव चिह्न विशेष को देखकर उसके चित्त की वृत्ति में संयम करता है तो उसको उस चित्त का साक्षात्कार हो जाता है जिससे योगी को यह ज्ञान हो जाता है कि इस समय वह चित्त रागयुक्त है, द्वेष युक्त है, सांसारिक वासनाओं से युक्त है अथवा इन सबसे वैराग्य युक्त है।

5. कायरूप में संयम जन्य विभूति

कायरूप में संयम से योगी अन्तर्धान हो जाता है–

'कायरूपसंयमात् तद्ग्राहय शक्तिस्तम्भे चक्षुः प्रकाश असम्प्रयोगे अन्तर्धानम्।।''

(योग सूत्र 3/21)

शरीर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश नामक पंच भूतो से बना है जिनके गुण क्रमशः गंध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द है। इन गुणों को ग्रहण करने वाली (ग्राहक) इन्द्रियाँ क्रमशः घ्राण, जिह्वा, चक्षु, त्वक् और कर्ण हैं। इस प्रकार चक्षु ग्रहण शक्ति हैं और रूप ग्राह्य शक्ति। इन दोनों शक्तियों के संयोग से ही देखने का कार्य होता है। इन दोनों में से किसी एक की शक्ति के रूक जाने से देखने का कार्य बंद हो जाता है।

जब योगी अपने शरीर के रूप में संयम कर लेता है तब वह अपने संकल्प मात्र से दृश्यता शक्ति या ग्राहय शक्ति का अवरोध कर सकता है जिससे उसे कोई देख नहीं सकता। इसे ही अन्तर्धान कहा जाता है। अन्तर्धान का अर्थ है छिप जाना।

इसी प्रकार शब्द, स्पर्श, रस और गंध में संयम करने से उस उसकी ग्राहय शक्ति रूक जाती है और उनके रहते हुए भी उनसे सम्बन्धित इन्द्रियाँ उन्हे ग्रहण नहीं कर पाती। इसी प्रकार रूप में संयम करने से योगी को कोई देख नहीं पाता (अन्तर्धान) शब्द में संयम करने से योगी के शब्द कोई सुन नहीं पाता। स्पर्श में सयम करने से योगी को कोई छू नहीं सकता, इत्यादि विभूतियाँ योगी में आ जाती हैं।

6. द्विविध कर्म–संयम जन्य विभूतिः–

सोपक्रम और निरूपक्रम कर्मों का संयम कर लेने से योगी को मृत्यु का ज्ञान हो जाता है–

''सोपक्रमं निरूपक्रमं च कर्म तत्संयमात् अपरान्तज्ञानम् अरिष्टेभ्यो वा।'' (योग सूत्र 3/22)

मनुष्य के आयु का निर्माण करने वाले पूर्वजन्म के कर्म दो प्रकार के होते है 1 सोपक्रम और 2 निरूप क्रम।

1. सोपक्रम वे कर्म हैं जिनके फल का आरम्भ हो चुका है। ये अपना फल देने में लगे हुए हैं जिससे ये आयु समाप्त करने का काम (कर्मफल भोग कराकर) पूरे बेग से कर रहे हैं।

2. निरूपक्रम कर्म वे हैं जिसके फल भोग का आरम्भ अभी नहीं हुआ है।

इन दोनों प्रकार के कर्मो में संयम करके योगी यह जान लेता है कि कौन कौन से कर्म भोगे जा चूके, किन कर्मो का भोग अभी बाकी है और कब तक सभी कर्म भोग लिए जायेंगे। कर्म फल भोग समाप्ति काल का ज्ञान हो जाने से योगी को अपने मृत्यु (अर्थात् शरीर नाश) समय का पूर्व ज्ञान हो जाता है।

इसके अतिरिक्त अरिष्टों से अर्थात् अशुभ चिह्नों से भी मृत्यु का अनुमान हो जाता है।

7. मैत्यादिषु संयम जन्य विभूतियाँः–

मैत्री आदि में संयम करने से मैत्री आदि का बल प्राप्त होता है–

मैल्यादिषु बलानि।'' (योग सूत्र 3/23)

योग सूत्र के समाधिपाद में (1/33) में चार प्रकार की भावनाएं बताई गई है मैत्री, करूणा, मुदिता एवं उपेक्षा। इनमें से पहली तीन भावनाओं में संयम करने से योगी की क्रमशः मैत्री, करूणा और मुदिता की शक्ति बढ़ जाती है।

अर्थात् सुखी मनुष्यों के प्रति मित्रता की भावना (मैत्री) में संयम करने से योगी को मैत्रीबल की प्राप्ति हो जाती है जिससे वह सबका मित्र बनकर उनको सुख पहुँचाने में समर्थ हो जाता है।

दुखी मनुष्यों के प्रति जो करूणा की भावना है उसमें संयम करने से योगी को करूणाबल प्राप्त हो जाता है जिससे उसमें दुखियों के दुख हरने की शक्ति आ जाती है।

तीसरी जो पुण्यात्मा मनुष्यों में मुदिता की भावना है उसमें संयम करने से योगी को मुदिता का बल प्राप्त हो जाता है। जिससे वह दूसरों को भी अपनी ही तरह प्रसन्न बनाने में समर्थ हो जाता है।

चौधी भावना उपेक्षा है। यह अभावात्मक पदार्थ (उदासीनता, भावनाओ का त्याग) होने से संयम का विषय नहीं बन सकता।

8. बलेषु संयम जन्य विभूतियाँः–

भिन्न बलो में संयम करने से योगी को संयम के अनुसार भिन्न–भिन्न प्रकार के बल प्राप्त होते है जैसे हाथी आदि के बल में संयम करने से योगी को हाथी का बल प्राप्त होता है–

''बलेषु हस्तिबलादीनि।'' (योग सूत्र 3/24)

इसी प्रकार योगी यदि गरूड़ के बल में संयम करता है तो उसे गरूड़ के समान बल मिल जाता है। शेर के बल मे संयम करने से शेर का बल और वायु के बल में संयम करने से वायु के समान बल मिलता है। इसी तरह योगी जिसके बल में संयम करता है, वैसा ही बल उसे प्राप्त हो जाता है।

9. ज्योतिष्मती प्रवृत्ति विषयक संयम जन्य विभूतिः–

ज्योतिष्मती प्रवृत्ति का प्रकाश डालने से अत्यन्त सूक्ष्म छिपी हुई और दूर देश में स्थित वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है–

''प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्।। (योग सूत्र 3/25)

यहाँ सूक्ष्म का अर्थ परमाणु आदि से है। व्यवहित यानी छिपे हुए पदार्थ जैसे परदे के पीछे की चीज, समुद्र में रत्न, खान में सुवर्ण, जमीन के भीतर की वस्तुए आदि तथा विप्रकृष्ट यानी दूरस्थ व्यक्ति/वस्तुएं, आँखो की दृष्टि से दूर, सुदूर हैं जिसका ज्ञान योगी को हो जाता है।

10. सूर्य में संयमजन्य विभूतिः–

सूर्य में संयम करने से समस्त लोकों का ज्ञान हो जाता है–

''भवुनज्ञानं सूर्ये संयमात्।'' (योग सूत्र 3/26)

शास्त्रों में चौदह भुवनों (लोकों) का वर्णन मिलता है। इनमें से सात लोक ऊपर के लोक (ऊर्ध्वलोक) हैं और सात लोक नीचे के लोक हैं। ऊपर के लोक क्रमशः हैं– भूः लोक, भुवःलोक, स्वःलोक, महःलोक, जन लोक, तप लोक और सत्य लोक। नीचे के लोकों के नाम है क्रमशः तल, तलातल, महातल, रसातल, सुतल, वितल, और पाताल।

सूर्य में संयम करने से योगी को इन सभी लोकों का ज्ञान इसलिए हो जाता है क्योंकि सूर्य का सम्बन्ध इन सभी भुवनों से है।

11. चन्द्रमा में संयम जन्य विभूतिः–

चन्द्रमा में संयम करने से सब तारो के व्यूह (स्थिति–विशेष) का ज्ञान हो जाता है–

''चन्दे ताराव्यूहज्ञानम्''।। (योग सूत्र 3/27)

चन्द्रमा में संयम करने से कौन सा तारा किस स्थान में टिका है, नक्षत्रों का स्थान स्थिति क्या है? यह ज्ञान हो जाता है।

तारों की स्थिति का यह ज्ञान सूर्य में संयम से नहीं हो पाता क्योंकि सूर्य के तेज प्रकाश में तारों का प्रकाश दब जाता है। पुनः तारों के आकर्षण विकर्षण शक्ति का चन्द्रमा के साथ अति घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए इनका ज्ञान सूर्य संयम के बजाय चन्द्र संयम से होता है।

12. ध्रुव तारा में संयम जन्य विभूतिः–

ध्रुवतारा में संयम करने से सभी ताराओं की गति का ज्ञान हो जाता है–

''ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्''। (योग सूत्र 3/28)

सभी ताराओं में ध्रुव तारा सबसे निश्चल और प्रधान है। साथ ही सभी ताराओं की गति का उससे सम्बन्ध भी है। इसलिए ध्रुव तारा में संयम करने से समस्त ताराओं की गति का ज्ञान योगी को हो जाता है। अर्थात् योगी यह जान जाता है कि कौन सा तारा कितने समय में किस राशि और नक्षत्र पर जायेगा।

(ख) व्यष्टि शरीर विषयक संयम जनित विभूतियाँः–

1. नाभिचक्र में संयम जन्य विभूतिः–

नाभिचक्र में संयम करने से शरीर के व्यूह (उसकी स्थिति) का पूरा–पूरा ज्ञान हो जाता है अर्थात् शरीर के रसो धातुओं तथा नाड़ियों आदि का ज्ञान योगी को हो जाता है।

''नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्।'' (योग सूत्र 3/29)

2. कण्ठकूप में संयम जन्यविभूतिः–

कण्ठकूप में संयम करने से भूख और प्यास की निवृत्ति हो जाती है–

'' कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः।'' (योग सूत्र 3/30)

जिह्वा के नीचे सूत के समान एक नस (तन्तु) है (जिसे जिह्वा मूल भी कहते हैं) उसके नीचे कण्ठ और कण्ठ के नीचे कूप (गड्ढ़ा) होता है। कण्ठ कूप में ही उदान वायु का स्थान है जो भोजन आदि को आमाशय में पहुँचाने तथा खाली आमाशय (भूख) की सूचना देने का काम करता है। इस कण्ठ कूप में संयम करने से उदान का कार्य रूका रहता है जिससे भूख प्यास की सूचना योगी को नहीं हो पाती और वह भूख प्यास से निवृत्त हुआ रहता है।

3. कूर्मनाड़ी–संयम जन्य विभूतिः–

कण्ठकूप के नीचे वक्षः स्थल (छाती) में कछुए कूर्म के आकार वाली नाड़ी है जिसे कूर्म नाड़ी कहते हैं। इस कूर्म नाड़ी में संयम करने से स्थिरता की प्राप्ति होती है। (अर्थात् चित्त और शरीर दोनों स्थिर हो जाते हैं)–

''कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्।'' (योग सूत्र 3/31)

क्योंकि कूर्मनाड़ी और शरीर की गतिशीलता में घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिससे कूर्मनाड़ी के संयम से शरीर की स्थिरता प्राप्त होती है। भोजवृत्ति के अनुसार शरीर की स्थिरता के साथ चित्त भी स्थिर हो जाता है–

तस्यां कृतसंयमस्य चेतसः स्थैर्यमुत्पद्यते।

वा कायस्य स्थैर्यमुत्पद्यते।। (भोजवृत्ति यो॰ सू॰ 3/31)

4. मूर्धज्योति संयम जन्य विभूतिः–

सिर के कपाल के अन्दर एक छिद्र है (जिसको ब्रहमरन्ध्र भी कहते हैं), इस छिद्र में प्रकाश मयी ज्योति है जिसे मूर्ध ज्योति कहते हैं। मूर्ध ज्योति के इस प्रकाश का कारण सुषुम्ना नाड़ी द्वारा सात्विक चित्त का प्रकाश है।

मूर्ध ज्योति में संयम करने से योगी को पृथ्वी, आकाश और स्वर्ग लोक के मध्य विचरण करने वाले सिद्ध पुरुषों के दर्शन होते हैं।

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्।। (योग सूत्र 3/32)

भोजवृत्ति के अनुसार योगी उन सिद्ध पुरुषों के साथ बातचीत भी करता है–

तान्पश्यति तैश्च स सभाषयत इत्यर्थः। (भोजवृत्ति. योग सूत्र 3/32)

योगी उन सिद्ध पुरुषों से सहायता व मार्ग दर्शन भी प्राप्त करता है।

5. प्रातिभ ज्ञान जन्य विभूतिः–

प्रातिभ ज्ञान उत्पन्न होने से योगी सब कुछ जान लेता है–

'' प्रातिभाद्वा सर्वम्।'' (योग सूत्र 3/33)

प्रातिभ ज्ञान वह प्रकाश है जो बिना किसी वाह्य कारण अपने स्वयं के अन्दर से ही प्राप्त होता है। यह तारक ज्ञान का ही दूसरा नाम है। यह विवेक ज्ञान की पूर्व अवस्था (प्रथम रूप) है। जिस प्रकार सूर्योदय से पूर्व की अवस्था सूर्य की प्रभा होती है जो सूर्य का पूर्वरूप है अर्थात् ज्ञापक चिन्ह है, उसी प्रकार विवेक ज्ञान का पूर्वरूप या ज्ञापक चिहन प्रातिभ ज्ञान है। जैसे सूर्य की प्रभा के उत्पन्न होने पर मनुष्य सब वस्तुओं को देख सकता है उसी प्रकार प्रातिभ ज्ञान उत्पन्न होने पर योगी बिना संयम के ही सब कुछ जान जाता है। भोजवृत्ति में भी कहा गया है कि ''प्रातिभज्ञान के होने से योगी अन्य संयमों के बिना ही सब कुछ जान जाता है। (भोजवृत्ति यो॰ सूत्र 3/33)

उपर्युक्त योग सूत्र (3/33) में आये 'सर्व' शब्द का अर्थ बताते हुए पांतजल योग दर्शनम में ब्रहमलीनमुनि कहते हैं कि उस प्रातिभज्ञान से योगी भूत भविष्य और वर्तमान रूप तीनों काल के सभी पदार्थो को जान लेता है। उसे निखिल पदार्थों का ज्ञान हो जाता है।

योग सूत्र 3/33 में 'वा' शब्द का प्रयोग भी हुआ है 'प्रातिभात् वा सर्वम्।' इस 'वा' शब्द की व्याख्या में स्वामी ओमानन्द तीर्थ कहते हैं कि 'वा' का अभिप्राय यह है कि इस से पूर्व जो जो संयम कहा गया है उससे जिन–जिन विषयों का ज्ञान होता है, वह सब प्रातिभ ज्ञान से हो जाता है। (पातंजल योग प्रदीप, विभूतिपाद सूत्र 33 की व्याख्या)

6. हृदय में संयम जन्य विभूतिः–

हृदय में संयम करने से चित्त के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है–

'हृदये चित्तसंवित्'। (योग सूत्र 3/34)

शरीर के अन्दर हृदय विशेष स्थान है जिसके अन्दर सूक्ष्म रूप से कमल के आकार का देश है जिसे हृदय कमल कहते हैं। यह हृदय कमल ही चित्त का निवास स्थान है। जिसमें संयम करने से वृत्ति सहित चित्त का ज्ञान हो जाता है।

भोजवृत्ति के अनुसार हृदय में संयम से योगी को अपने चित्त के साथ साथ दूसरों के चित्त का भी ज्ञान हो जाता है। वह अपने चित्त में प्रविष्ट सभी वासनाओं और दूसरे के चित्त में प्रविष्ट राग आदि को जान लेता है। कुछ अन्य व्याख्याकार मानते है कि योगी जिसके हृदय में संयम करेगा, उसी चित्त का ज्ञान उसे होगा।

7. स्वार्थ प्रतीति में संयम जन्य विभूतिः–

स्वार्थ प्रतीति अर्थात् पुरुष प्रत्यय में संयम से पुरुष का ज्ञान होता है–

'सत्त्वपुरूषयोः अत्यन्तसंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थात् स्वार्थसंयमात् पुरुष ज्ञानम्।'

(योग सूत्र 3/35)

अर्थात् सत्त्व (बुद्धि या चित्त) और पुरुष जो परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं इन दोनों की प्रतीतियों का अभेद भोग है उसमें से पदार्थ प्रतीत से भिन्न जो स्वार्थ प्रतीति है, उसमें संयम करने से पुरुष का ज्ञान होता है।

सरल शब्दो में इस सूत्र के अर्थ रूप में हम कह सकते हैं कि बुद्धि (चित्त) और पुरुष दोनों नितान्त भिन्न भिन्न तत्व हैं। एक जड़ (प्रकृति) है तो दूसरा चेतन। किन्तु अविद्या के कारण दोनों के भेद का ज्ञान नहीं हो पाता जिससे पुरुष भोग में फँसा रहता है यह पदार्थ प्रत्यय है। चित्त से परे पुरुष का जो स्व प्रत्यय है वह स्वार्थ प्रत्यय है। इसी स्वार्थ प्रत्यय (पुरुष–प्रत्यय) में संयम करने से पुरुष का ज्ञान होता है अर्थात् पुरुष विषयक प्रज्ञा उत्पन्न होती है।

8. स्वार्थ संयम जन्य अन्य विभूतियाँः–

उस स्वार्थ संयम (पुरुष प्रत्यय में संयम) से प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद और वार्ता– ये छः सिद्धियाँ प्रकट होती हैं–

''ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते।।'' (योग सूत्र 3/36)

चित्त (बुद्धि) से भिन्न पुरुष का जो अपना भेद स्वरूप स्वार्थ प्रत्यय है उसमें यानी पौरुषेय प्रत्यय में संयम करने से पुरुष ज्ञान हो जाता है (योग सूत्र 3/35)

किन्तु उससे पूर्व यानी पुरुष ज्ञान उत्पन्न होने से पहले योगी के अन्दर निम्न 6 प्रकार की सिद्धियाँ प्रकट होती है–

I. प्रातिभ– इससे योगी में भूत, भविष्य और वर्तमान एवं सूक्ष्म (अतीन्द्रिय) छिपी हुई (व्यवहित) तथा दूर देश में स्थित दूरस्थ (विप्रकृष्ट) वस्तुओं को जानने की शक्ति आ जाती है।

II. श्रावणः– इससे योगी में दिव्य और दूर के सूक्ष्म शब्दों को सुनने की शक्ति (योग्यता) आ जाती है।

III . वेदनः– इससे योगी में दिव्य स्पर्श का अनुभव करने की शक्ति आ जाती है।

IV . आदर्शः– इससे योगी में दिव्य रूप का दर्शन करने की शक्ति आ जाती है।

V . आस्वादः– इससे योगी में दिव्य रस का अनुभव करने की शक्ति आ जाती है।

VI . वार्ताः– इससे योगी में दिव्य गंध का अनुभव करने की शक्ति आ जाती है।

उपर्युक्त छः प्रकार की विभूतियाँ समाधि की सिद्धि में तो विध्न (उपसर्गाः) है (क्योंकि इन सिद्धियो में पड़कर योगी अपने आत्म ज्ञान के लक्ष्य से भटक सकता है इसलिए साधक को इनका त्याग कर देना चाहिए) किन्तु व्युथान में (जिन्हें समाधि या आत्म ज्ञान की आवश्यकता नहीं है उनके लिए) ये सिद्धियाँ हैं–

ते समाधौ उपसर्गाः व्युत्थाने सिद्धयः। (योग सूत्र 3/37)

9. कर्म शिथिलता एवं चित्त गति ज्ञान विषयक संयम जन्य विभूतिः–

कर्म, कर्म संस्कार एवं संयम के कारण चित्त शरीर में बन्धन ग्रस्त है। संयम के द्वारा योगी जब बन्धन के कारण रूप कर्म एवं कर्म संस्कारों को शिथिल करके चित्त को स्वच्छ बना लेता है, साथ ही शरीर में चित्त के आने जाने का मार्ग एवं गति का ज्ञान भी जब योगी को हो जाता है, तब योगी के अन्दर ऐसी शक्ति आ जाती है कि वह अपने शरीर से चित्त को निकालकर दूसरों के शरीर में प्रविष्ट कर सकता है–

''बन्धन कारण शैथिल्यात्प्रचार संवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः। (योग सूत्र 3/38)

इसके पश्चात् इन्द्रियाँ भी चित्त के अधीन होने के कारण जहाँ चित्त जाता है वहीं अपने आप चली जाती हैं। अर्थात् उसी शरीर में चली जाती हैं। (व्यास भाष्य योग सूत्र 3/38)

इस प्रकार योगी के अन्दर वह सामर्थ्य आ जाती है कि वह सूक्ष्म शरीर से किसी दूसरे के (मृत या जीवित) शरीर में प्रवेश कर सकता है। योग ग्रन्थों में इसे परकायाप्रवेश सिद्धि कहते हैं। शंकराचार्य आदि सिद्ध योगियों के ऐसे उदाहरण भी कई शास्त्रों में उपलब्ध होते हैं।

10. उदान प्राण विषयक संयम जन्य विभूतिः–

संयम द्वारा उदानवायु को जीत लेने से योगी के शरीर का जल, कीचड़ और काँटो आदि से संयोग नहीं होता और योगी की उर्ध्वगति भी होती है–

'उदानजयात् जलपङ्ककण्टकादिषु असङ्ग उत्क्रान्तिः च।'' (योग सूत्र 3/39)

शरीर के जीवन का आधार प्राण है। कार्यों के आधार पर इसके पाँच प्रकार हैं– प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान। उदान प्राण का निवास स्थान कण्ठ है तथा यह कण्ठ से लेकर सिर तक गमन करता है। यह ऊपर की ओर गमन करने वाला है इसलिए इसे उदान कहते है– उन्नयात् उदानः।

(व्यास भाष्य, यो॰ सूत्र 3/39)

संयम के द्वारा जब कोई योगी उदानवायु पर विजय प्राप्त कर लेता है, तब उसका शरीर रूई की तरह हल्का हो जाता है। जिससे वह अपने शरीर को ऊपर उठाये रखता है। फलस्वरूप पानी और कीचड़ आदि पर चलते हुए भी उसके पैर अन्दर नहीं जाते, साथ ही काँटे आदि भी शरीर में नहीं घुस पाते। पुनः मृत्यु के समय उसके प्राण ब्रहमरन्ध्र द्वारा निकलते हैं जिससे योगी की उर्ध्वगति होती है जो शुक्ल मार्ग हैं।

गीता में कहा गया है कि शुक्ल मार्ग से जाने वाले का पुनर्जन्म नहीं होता जबकि कृष्ण मार्ग वाले जन्म मृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं–

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।

एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः।। (गीता 8/26)

11. समान प्राण विषयक संयम जन्य विभूतिः–

संयम के द्वारा समान वायु को जीत लेने से योगी का शरीर दीप्तिमान हो जाता है–

'समानजयात् ज्वलनम्'। (योग सूत्र 3/40)

समान प्राण का केन्द्र स्थान हृदय है। यह हृदय से लेकर नाभि तक रहता है और भोजन आदि के रस को समस्त शरीर में समान रूप से पहुँचाता है इस की गति सम है इसीलिए इसे समान कहते हैं।

संयम के द्वारा जब योगी समानवायु को जीत लेता है, तब उसका शरीर अग्नि की तरह प्रकाश युक्त (देदीप्यमान) हो जाता है क्योंकि शारीरिक अग्नि समान प्राण के अधीन होता है। जिसके उत्तेजित होने से योगी का शरीर अग्नि के समान चमकता हुआ दिखाई देता है।

12. श्रोताकाश सम्बन्ध में संयम जन्य विभूतिः–

श्रोत (कान) और आकाश के सम्बन्ध में संयम कर लेने से योगी के श्रोत दिव्य हो जाते हैं–

'श्रोताकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोतम्।' (योग सूत्र 3/41)

सभी प्राणियों के श्रोत इन्द्रिय का आधार आकाश है एवं सम्पूर्ण शब्दों का आधार भी आकाश ही है। श्रोत और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से योगी को दिव्य श्रोत की प्राप्ति हो जाती है। जिससे योगी दिव्य सूक्ष्म और दूरस्थ शब्दों को भी सुन सकता है।

इसी प्रकार त्वचा और वायु, चक्षु और तेज, रसना और जल, तथा घ्राण और पृथ्वी के सम्बन्ध में संयम करने से दिव्य त्वचा, दिव्य नेत्र, दिव्य रसना और दिव्य घ्राण प्राप्त होता है। इन सब सिद्धियों की चर्चा महर्षि पंतजलि ने इससे पूर्व ही सूत्र 36 में पुरुष ज्ञान से पूर्व होने वाली सिद्धि के रूप में बतलायी हैं।

13. काय आकाश सम्बन्ध में संयम जन्य विभूतिः–

शरीर (काय) और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से योगी आकाश में गमन कर सकता है–

''कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमात्.....आकाश गमनम्। (योग सूत्र 3/42)

जहाँ शरीर है वहीं उसको अवकाश देने वाला आकाश है। इस प्रकार शरीर और आकाश में धनिष्ठ सम्बन्ध (आधेय–आधार सम्बन्ध) है। इस सम्बन्ध में संयम करने से योगी अपने शरीर को हल्का बनाकर वह पानी पर पैर रखता हुआ चल सकता है। उसके अन्दर मकड़ी के जाले के समान सूक्ष्म तारों पर भी चलने की सामर्थ्य आ जाती है। उसे आकाश गमन की विभूति भी प्राप्त हो जाती है।

पुनश्च, योगी को हलकी वस्तु जैसे रूई आदि में समापत्ति करने से भी (तदाकार होकर) आकाश में चलने की योग्यता मिल जाती है–

.....लघुतूलसमापत्तेः च आकाश गमनम्।'' (योग सूत्र 3/42)

14. महाविदेहावृत्ति विषयक संयम जन्य विभूतिः–

संयम द्वारा सिद्ध की हुई महाविदेहावृत्ति से ज्ञान प्रकाश के आवरण का नाश हो जाता है।

'वहिरकल्पिताः वृत्तिः महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः। (योग सूत्र 3/43)

मन को शरीर से बाहर धारण करना 'विदेहा वृत्ति' है यह कल्पित होती है। किन्तु जब अभ्यास परिपक्व हो जाने पर बिना कल्पना के ही मन शरीर से बाहर यथार्थ रूप में स्थित हो जाता है, तब विदेहा वृत्ति अकल्पिता कहलाती है। इसी को महाविदेहा कहते हैं। इससे योगी के ज्ञान का आवरण नष्ट हो जाता है। साथ ही यह योगी को परकाया प्रवेश एवं विभिन्न लोकों में सूक्ष्म शरीर से भ्रमण करने में सहायक होती है। (ओमानन्द तीर्थ, पातंजल योग प्रदीप 3/43 की व्याख्या)

यह धारणा इन्द्रिय और मन की स्वरूपावस्था में संयम करने से होती है।

(ग) ग्राहय विषयक संयम जनित विभूतियाँः–

1. पंचभूतों की अवस्थाओं में संयम जन्य विभूतिः–

पंचभूतों की पाँच अवस्थाओं स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय, और अर्थवत्व में संयम करने से योगी को पाँचों भूतो पर विजय (भूतजय) प्राप्त हो जाती है।

'स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वायार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः। (योग सूत्र 3/44)

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पाँच महाभूत हैं इनमें से प्रत्येक की पाँच अवस्थाएं होती है जो निम्न लिखित हैं–

I . स्थूल रूपः– इन्द्रियों द्वारा अनुभव में आने वाले इनके गुण या आकार आदि इनका स्थूल रूप हैं।

II. स्वरूपः– भूतों के जो लक्षण हैं वे इनकी स्वरूपावस्था है। जैसे पृथ्वी का आकार और गंध, जल का गीलापन, अग्नि की उष्णता और प्रकाश, वायु की गति या कम्पन और आकाश का अवकाश देना स्वरूप है।

III. सूक्ष्म रूपः– पंच भूतो की जो कारण अवस्था है जिसे तन्मात्रा कहते हैं, वे इनकी सूक्ष्म रूप या अवस्था है। जैसे पृथ्वी की गंध तन्मात्रा, जल की रस तन्मात्रा, अग्नि की रूप तन्मात्रा, वायु की स्पर्श तन्मात्रा और आकाश की शब्द तन्मात्रा।

IV. अन्वय रूपः– पाँचों भूतो में जो तीनों गुणों (सत्, रज और तम) का स्वभाव यानी प्रकाश, क्रिया और स्थिति व्याप्त है, वह इनकी अन्वय अवस्था है।

V. अर्थवत्त्व रूपः– ये पाँचों भूत पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिए हैं। यही इनकी अर्थवत्त्व रूप (प्रयोजन) या अवस्था है।

इन पाँचों भूतों की प्रत्येक अवस्था के क्रम से सम्पूर्ण अवस्थाओं (पच्चीस रूपों) में भली भाँति संयम करके जब योगी इनका साक्षात् प्रत्यक्ष कर इनका सम्यक ज्ञान कर लेता है, तब योगी का इन भूतों पर पूरा अधिकार हो जाता है। जिससे सब भूतों का स्वभाव योगी के लिए उसके संकल्पानुसार हो जाता है।

2 भूतजय जन्य अन्य विभूतियाँः–(भूतजय का फल)

(उपर्युक्त वर्णनानुसार) भूतजय से योगी को

(i) अणिमा आदि अष्टसिद्धियों की प्राप्ति

(ii) काय सम्यत् की प्राप्ति तथा

(iii) उन भूतों के धर्मों से बाधा मुक्त होने की शक्ति की प्राप्ति हो जाती है–

'ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत् तद्धर्मानभिघातश्च।'' (योग सूत्र 3/45)

(i) अष्ट सिद्धियाँः– भूतजय से योगी के अन्दर 1. अणिमा 2. लघिमा 3. महिमा 4. गरिमा 5. प्राप्ति 6. प्राकाम्य 7. वशित्व और 8. ईशित्व नामक विशेष अष्ट सिद्धियों का प्रादुर्भाव हो जाता है–

अणिमा अर्थात्– शरीर का सूक्ष्म कर लेने की शक्ति।

लघिमा अर्थात्– शरीर का हलका कर लेने की शक्ति।

महिमा अर्थात्– शरीर का बड़ा कर लेने की शक्ति।

गरिमा अर्थात्– शरीर को भारी कर लेने की शक्ति।

प्राप्ति अर्थात्– जिस पदार्थ को चाहे प्राप्त कर लेने की शक्ति।

प्राकाम्य अर्थात्– बिना रूकावट के इच्छा पूर्ण होने की शक्ति।

वशित्व अर्थात्– पांचों भूतों तथा समस्त भौतिक पदार्थों को वश में कर लेने की शक्ति।

ईशित्व अर्थात्– भौतिक पदार्थों के उत्पत्ति विनाश की शक्ति।

☞ उपर्युक्त अष्ट सिद्धियों का विशेष अध्ययन विद्यार्थीगण अपने पाठ्यक्रमानुसार इकाई 16 में कर सकेंगे।

(ii) काससम्पत् विभूतिः–

- भूत जय से योगी को अष्ट सिद्धियों के साथ–साथ काय सम्पत् की भी प्राप्ति होती है। रूप, लावण्य, बल, और वज्र के समान संगठन ये शरीर सम्बन्धी चार सम्पदाएँ ही काय सम्पत् कहलाती हैं–
- **रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि काससम्पत्।** (योग सूत्र 3/46)
- शरीर का अत्यन्त ही सुन्दर एवं मनोहर हो जाना रूप सम्पदा है।
- समस्त अंगों में तेज कांति आ जाना– लावण्य सम्पदा है।
- बल की अधिकता हो जाना– बल सम्पदा है।
- शरीर के प्रत्येक अंग का वज्र के समान दृढ़ और परिपूर्ण हो जाता ये व्रजसंहवजननत्वानि (अर्थात् वज्र के समान बनवाट या संगठन) सम्पदा है।
- उपर्युक्त विभूतियाँ योगी को भूत जय से प्राप्त होती हैं।

(iii) भूतों के धर्मों से बाधा न होना सम्बन्धी विभूतिः–

तद्धर्मानभिघातः– इसका भाव यह है कि भूतों के धर्म उस योगी के काम में बाधा नहीं डाल सकते जैसे पृथ्वी का धर्म स्थूल भाव (कड़ापन) उसे बाधा नहीं पहुँचा सकता। वह कठोर पत्थर (शिला) में या धरती के अन्दर भी सहजता से प्रवेश कर सकता है। पत्थरों की कठोरता योगी को आघात नहीं पहुँचा सकतें। इसी प्रकार जल का गीलापन योगी को गला नहीं सकता। अग्नि की उष्णता उसे जला नहीं सकती। वायु उसे उड़ा नहीं सकता। अर्थात् सर्दी गर्मी वर्षा आदि कोई भी भूतों के धर्म उसके शरीर में किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचा सकतें। ये सब विभूतियाँ योगी को भूतो की सब अवस्थाओं पर विजय प्राप्त कर लेने से हस्तगत हो जाती हैं।

(घ) ग्रहण विषयक संयम जनित विभूतियाँः–

1 इन्द्रियों के ग्रहणादि रूपों में संयम जन्य विभूतिः–

इन्द्रियों के पाँच रूप है– ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्व। इन रूपों में संयम करने से योगी को इन्द्रियों पर विजय प्राप्त हो जाती है–

'ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः।' (योग सूत्र 3/47)

इन्द्रियों की पाँच अवस्थाएँ (रूप) इस प्रकार हैं–

I. ग्रहणः– इन्द्रियों की विषयामुखी वृत्ति ग्रहण रूप है।

II . स्वरूपः– सामान्य रूप से इन्द्रियों का प्रकाशकत्त्व (जैसे नेत्रो का नेत्रत्व आदि) स्वरूप कहलाता है।

III . अस्मिताः– यह इन्द्रियों का सूक्ष्म रूप अहंकार है जिससे मन सहित दसो इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है।

IV . अन्वयः– इन्द्रियों में जो तीनों गुणों (सत् रज और तम) का स्वभाव यानी प्रकाश क्रिया और स्थिति व्याप्त है वह उनका अन्वय रूप है।

V अर्थवत्त्वः– इन्द्रियों का प्रयोजन पुरुष को भोग तथा अपवर्ग दिलाना, उनका 'अर्थवत्त्व' रूप है।

इस प्रकार जब मन और दसों इन्द्रियों की पाँचों अवस्थाओं में योगी क्रम से संयम करके उनका पूर्ण प्रत्यक्ष कर लेता है तो मन सहित उन सभी इन्द्रियों पर उसका पूरा अधिकार हो जाता है। पातंजल योग दर्शन टीकाकार हरिकृष्णदास गोयन्दका के अनुसार इन्द्रियजय का अर्थ मनसहित सभी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेना है।

2. इन्द्रिय जय से होने वाली विभूतियाँः– या इन्द्रिय जय का फलः–

इन्द्रिय जयसे मनोजवित्व, विकरणभाव और प्रधानजय नामक विभूतियाँ प्राप्त होती हैं–

'ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च।' (योग सूत्र 3/48)

इन तीनों विभूतियों–सिद्धियों का स्वरूप निम्न है–

I. मनोजवित्व का अर्थ हैः– मन की गति के समान शरीर की गति हो जाने का सामर्थ्य, जिससे मन की तरह एक क्षण में ही योगी कही से कही जा सकता है। यह विभूति ग्रहण अवस्था में संयम से आती है।

II. विकरणभाव का अर्थ हैः– शरीर के बिना ही इन्द्रियों में काम करने की शक्ति आ जाना। जैसे स्थूल शरीर से दूर रहते हुए भी दूरस्थ वस्तुओं को देख लेना, दूरस्थ की आवाज को सुन लेना आदि। यह विभूति स्वरूप अवस्था में संयम से आती है।

III प्रधानजय का अर्थ हैः– प्रकृति के सभी विकारों पर अधिकार हो जाना। यह शेष तीन यानी अस्मिता अन्वय और अवस्था या रूप में संयम का फल है।

पातंजल योग प्रदीप ग्रन्थकार स्वामी ओमानन्द तीर्थ के अनुसार उपर्युक्त तीनों सिद्धियों (विभूतियों) को योग शास्त्र में 'मधुप्रतीका' कहा गया है। (योग सूत्र 3/48 की व्याख्या) ये तीनों प्रकार की विभूतियाँ ग्रहण विषयक संयम (समाधि) के सिद्ध होने पर योगी को स्वतः मिल जाती हैं।

(ङ) गृहीतृ विषयक संयम जनित विभूतियां–

1. सत्त्व–पुरुष–अन्यता ख्याति विषयक संयम जन्य विभूतिः–

चित्त (बुद्धि) और पुरुष का भेद जानने वाला योगी सभी भावों का मालिक और सर्वज्ञ हो जाता है।

'सत्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्व ज्ञातृत्वं च ।' (योग सूत्र 3/49)

सात्विक चित्त के प्रकाश में बुद्धि और पुरुष के भिन्नता में संयम करने से प्रकृति और पुरुष में भेद करने वाला विवेक ज्ञान उत्पन्न होता है जिसे विवेक ख्याति कहते हैं। इस विवेक ख्याति के हो जाने पर पुरुष अपने को चित्त से अलग देखता हुआ प्रकृति एवं उसकी विकृतियों का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है और प्रकृति के परिणामों पर अधिकार करके उन्हे अपने वश में रखता है।

सर्वभावधिष्ठातृत्व का अर्थ हैः– अविद्या आदि पंच क्लेशों को दग्धबीज करके उन पर विजय प्राप्त कर लेना तथा **सर्वज्ञातृत्व** का अर्थ है यह जान लेना कि सारा संसार प्रकृति के गुणों का व्यापार है। प्रकृति दृश्य है, आत्मा (पुरुष) द्रष्टा है। वह प्रकृति एवं उसके गुणों से सर्वथा भिन्न असंग, निर्लेप, सुख–दुख से परे, निष्क्रिय, शुद्ध चैतन्य स्वरूप, ज्ञान स्वरूप कूटस्थ नित्य ज्ञाता तत्व है।

उपनिषदों में भी कहा गया है कि–

''आत्मनो वा अरे दर्शनेनेदं सर्वविदितम्''

अर्थात्– आत्मा (पुरुष) का दर्शन होने पर सर्वज्ञातृत्व प्राप्त हो जाता है।

सर्वज्ञातृत्व होने से तीनों कालो में जितने भी पदार्थ हैं, उन सभी का यथार्थ ज्ञान योगी को हो जाता है। इस सिद्धि का एक अन्य नाम विशोका भी है–

'विशोकानाम सिद्धिरित्युच्यते'। (भोजवृत्ति योग सूत्र 3/49)

इसे विशोका इसलिए कहते हैं क्योंकि इसे प्राप्त करके योगी अविद्या आदि क्लेश रूप बन्धन से मुक्त हो, सर्वज्ञ एवं सभी पदार्थों का स्वामी होकर शोक से रहित हो जाता है।

2. क्षण क्रम संयम जन्य विभूतिः–

क्षण और उसके क्रम से संयम करने से विवेकज ज्ञान की प्राप्ति होती है–

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्। (योग सूत्र 3/52)

जिस प्रकार द्रव्य का सबसे छोटा से छोटा भाग परमाणु कहलाता है, उसी प्रकार समय या काल का सबसे छोटा भाग क्षण है। एक क्षण के बाद दूसरे क्षण के आने को क्रम कहते हैं। (दो क्षण एक साथ नहीं रह सकते।) एक क्षण के बाद दूसरे क्षण के आने का सिलसिला लगा रहता है जो क्रम कहलाता है। अतः क्षण और उसके क्रमों में संयम करने से विवेकज ज्ञान अर्थात् विकेक से उत्पन्न ज्ञान की प्राप्ति होती है।

3. विवेक ज्ञान जन्य विभूतिः–

विवेक ज्ञान होने से योगी के अन्दर एक समान प्रतीत होने वाली वस्तुओं में भी अन्तर जान लेने की सामर्थ्य आ जाती है–

.....**तुल्ययोः ततः प्रतिपत्ति। (योग सूत्र 3/53)**

पुनश्च, विवेक ज्ञान होने पर योगी के अन्दर यह सामर्थ्य भी आ जाती है कि–

(i) योगी समस्त वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। (सर्व विषयम्)

(ii) योगी सभी वस्तुओं हर प्रकार से (पूर्णरूप से) जान सकता है। (सर्वथा विषयम्)

(iii) योगी हरेक वस्तु को बिना क्रम के एक साथ जान सकता है। (अक्रमम्)

(iv) विवेक ज्ञान से पर–वैराग्य होने पर योगी संसार सागर से तर सकता है (तारकं)।

विवेक जनित ज्ञान की यही विशेषता है–

''तारकं सर्व विषयं सवर्थाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्।'' (योग सूत्र 3/54)

अर्थात् जो ज्ञान संसार सागर से तारने वाला है सबकों जानने वाला है, सब प्रकार से जानने वाला है और बिना क्रम के जानने वाला है– ऐसे ज्ञान को विवेक जनित ज्ञान कहते हैं।

विवेक ज्ञान से होने वाली सिद्धियों एवं विवेक ख्याति से हो जाने पर (पर वैराग्य) जब दोषों के बीज रूप अन्तिम वृत्ति की सर्वथा निरोध हो जाता है, तब निर्बीज समाधि हो जाती है। इस अवस्था में अपनी वृत्तियों के संस्कारो सहित चित्त अपने कारण में विलीन हो जाता है और पुरुष की अपने स्वरूप में अवस्थिति हो जाती है जिसे कैवल्य कहते हैं–

'तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्। (योग सूत्र 3/50)

14.4 विवेक ज्ञान रूपी विभूति का महत्त्व

विवेक ज्ञान ही कैवल्य का हेतु है। विवेक ज्ञान से अविद्या का नाश होता है। अविद्या के नाश से अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश रूपी क्लेश भूने हुए बीज के समान नष्ट हो जाते हैं। उनके न रहने पर सकाम कर्मों का भी अभाव हो जाता है। कर्मों के अभाव से कर्म के संस्कार भी नहीं बनते और उन सकाम कर्मों की वासना से फल की भावना का वृक्ष भी पैदा नहीं होता। वृक्ष के न रहने से उस पर जन्म आयु और भोग के फल भी नहीं लगते जिससे उनका सुख–दुःख रूपी स्वाद भी नहीं मिलता। इस प्रकार पुरुष को भोग और अपवर्ग दिलाने का जो प्रकृति के गुणों का जो प्रयोजन था वह समाप्त हो जाता है जिससे वे पुरुषार्थ शून्य होकर अपने कारण में लीन हो जाते है और पुरुष अपने वास्तविक स्वरूप में अवस्थित हो जाता है, यही कैवल्य है– **केवली भावं कैवल्यम्।** जो कि मानव जीवन का परम पुरुषार्थ है जिसे भिन्न भिन्न दर्शनों में अपवर्ग, मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण, स्वरूप अवस्थिति, गुणाधिकार समाप्ति, परमधाम, परमपद जैसे भिन्न–भिन्न नामों से सम्बोधित किया गया है।

कैवल्य प्राप्ति का हेतु विवेक ज्ञान ही है जिसके लिए अनेकों प्रकार के संयम एवं साधना विधियाँ हैं। साधक अपनी रूचि एवं योग्यता के अनुसार संयम साधना का चुनाव कर सकता है जब चित्त और पुरुष दोनों समान रूप से शुद्ध हो जाते हैं तब कैवल्य हो जाता है–

'सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति। (योग सू.त्र 3/55)

14.5 विभूतियों की समीक्षा

योग दर्शन के अनुसार योगाभ्यास द्वारा साधक की रजस एवं तमस जन्य मलिनता धीरे धीरे क्षीण होती जाती है और सत्त्वगुण का उद्रेक होकर चित्त शुद्ध एवं निर्मल होता जाता है। चित्त की शुद्धता एवं निर्मलता जैसे–जैसे बढ़ती जाती है, वैसे वैसे ही साधक योग मार्ग पर कैवल्य की दिशा में अग्रसर होता जाता है। योगांगो में दृढ़ स्थिति एवं संयम से साधक अपने अन्दर अद्भुत शक्तियों का अनुभव करता है। ये यौगिक शक्तियाँ ही ऐश्वर्य या विभूति कहलाती हैं। इन शक्तियों से साधक योगी सामान्य व्यक्तित्व से असामान्य व्यक्तित्व का धनी हो जाता है। वह ऐसे कार्य कर सकता है जिसे चमत्कार कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए भूत वर्तमान और भविष्य तीनों कालों का ज्ञान हो जाना, सर्वज्ञ हो जाना, मृत्यु का ज्ञान हो जाना विगत् जन्म और पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाना, अतिदूर एवं अतिसूक्ष्म वस्तुओं को भी देख लेना, सुन लेना, जान लेना, अपने शरीर को छोटा–बड़ा–भारी–हल्का आदि बना लेना मन के वेग से कहीं से कहीं पहुँच जाना किसी को शाप–वरदान देकर बिना कर्म किये ही उसको फल दिला देना, पंचभूतों पर विजय प्राप्त कर बिना शरीर की मद्द से ही उनसे कार्य करा लेना, प्रातिभ ज्ञान रूपी विभूति से सब कुछ जान लेना और अन्त में विवेक ख्याति रूपी विभूति से पर–वैराग्य होने पर कैवल्य को प्राप्त कर अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाना। इत्यादि ऐसी ज्ञान परक एवं कर्म परक विभूतियाँ है जो योग साधना के मार्ग पर बिखरे हुए सुगन्धित फूलों की तरह योगी को मिलती जाती हैं। अब यह योगी पर निर्भर करता है कि वह किस पुष्प को उठायेगा और किसकी उपेक्षा कर के आगे बढ़ जायेगा। कैवल्य की प्राप्ति हेतु योगी को इन विभूतियों की उपेक्षा करके आगे बढ़ना होता है क्योंकि यदि योगी इन वैभवों के फंस गया तो वह योग मार्ग से भटक सकता है। इसीलिए पंतजलि ने कैवल्य के इच्छुक योगी के लिए विभूतियों को योग का विध्न कहा है। जबकि कैवल्य के बजाय केवल अलौकिक शक्ति सम्पन्न बनने की इच्छा रखने वालों के लिए ये ऐश्वर्य–विभूतियाँ ही सिद्धियाँ हैं।

योग साधना में विभूतियों का महत्त्वः–

कैवल्य प्राप्ति के इच्छुक योगी के लिए यद्यपि विभूतियों की तरफ ध्यान नहीं देना होता है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि विभूतियाँ योगी के लिए निरर्थक हैं। वास्तव में विभूतियाँ योग साधना में सहायक भी हैं। शरीर की दृढ़ता, द्वन्द्वों की निवृत्ति, भूख–प्यास पर नियन्त्रण, प्रतिमज्ञान, विवेकज्ञान जैसी विभूतियां योग साधक में सहायक ही होती हैं। विभूतियां योगी के कैवल्य की जिज्ञासा और तीव्र इच्छा को बढ़ाती हैं। उसकी साधना सही दिशा में चल रही है इसका परिचय कराती हैं। योग साधक को जैसे–जैसे विभूतियों की प्राप्ति होती जाती है, उसे लगने लगता है कि वह सही दिशा में जा रहा है और आगे की साधना की तरफ प्रेरित भी होता है। विभूतियों के सदुपयोग से योगी परहित, परोपकार, दीन–दुखियों या योग साधकों की मदद निष्काम भाव से करके अपने योग साधना में तीव्र गति से अग्रसर भी हो सकता है। ये विभूतियाँ योग साधना में विघ्न तब बन जाती हैं जब योगी लोगो को प्रभावित करने, अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए इनका चमत्कार प्रदर्शन करने लगता है। अतः कुछ विभूतियाँ योग साधना में सहयोगी भी है।

विभूतियाँ कहाँ तक सच हैं?

विभूतियों के सन्दर्भ में कुछ लोगों को इसकी सत्यता पर शंका होती है। उनका मानना है कि प्रकृति के नियमों के विरूद्ध हवा में उड़ना, धरती में धुस जाना, पानी पर चलना, आग में भी न जलना शरीर को छोटा–बड़ा कर लेना, तीनों कालो का ज्ञान हो जाना, परकाया प्रवेश जैसे कार्य असम्भव हैं। इसलिए भौतिकवदी वैज्ञानिक तथा तथाकथित बुद्धिजीवी इन्हे सही नहीं मानते। इस सन्दर्भ में इन वैज्ञानिकों से इतना ही कहा जा सकता है कि योग एक महाविज्ञान है। भौतिकी जड़ का विज्ञान है तो योग और अध्यात्म चेतना का विज्ञान। यह चेतन विज्ञान जड़ विज्ञान से कहीं अधिक सक्षम और गूढ़ है। एक विज्ञान को दूसरे विज्ञान के आविष्कारों की सत्यता जांचने के लिए उसकों उसी अनुरूप प्रयोगशाला का निर्माण करना होगा। योग विज्ञान की प्रयोगशाला योगी का चित्त होता है। शुद्ध चित्त रूपी प्रयोगशाला के निर्माण से ही विभूतियों की सत्यता का अनुभव किया जा सकता है। भारत भूमि में समय समय पर ऐसे योगी होते रहे हैं जिन्होंने योग साधना के द्वारा इन विभूतियों की सत्यता को सिद्ध किया है। अभी कुछ समय पहले स्वामी राम ने अमरीका में हठयोग द्वारा शरीर विज्ञान के नियमों के विरूद्ध कार्य करके वैज्ञानिक समुदाय को हतप्रभ कर दिया था। अतः निश्चित रूप से विभूतियाँ सत्य हैं। यह बकवास नहीं हैं। आज आम आदमी जो योग साधना नहीं करता वह भी जानता है कि सन्तोष से सुख मिलता है। फिर सन्तोष में दृढ़ होने पर, तृष्णा रहित हो जाने से अनुत्तम सुख लाभ, परम सुख की विभूति क्यों नहीं मिलेगी? आखिर सुख अपेक्षाओं की पूर्ति और दुख इच्छाओं का पूर्ण न होना ही तो है। यदि इच्छा न रहे तो सुख और दुख क्यों होंगे? इसी प्रकार आसन आदि से शारीरिक स्वास्थ्य (दृढ़ता) की प्राप्ति आज हरकोई अनुभव कर रहा है। जैसे जैसे विज्ञान चेतना की तरफ अग्रसर होगा, योग विज्ञान के आयाम उसकी समझ में सत्य सिद्ध होते जायेंगे। यदि योग साधना से सर्वज्ञ होने या ग्रह नक्षत्रों की स्थिति पता हो जाने जैसी विभूतियाँ न होतीं तो आज विज्ञान अब जिन ग्रहों पर उपकरण भेजकर उन्हे लालरंग का बता रहा हैं, हमारे ऋषि मुनि हजारों वर्ष पहले ही कैसे बता दिये थे कि वह ग्रह (मंगल) लाल ग्रह है। इसी प्रकार अन्य योग विभूतिजन्य भारतीय ज्ञान को समझा जा सकता हैं।

अतः निःसन्देह यौगिक विभूतियाँ सत्य होती हैं। महर्षि पतंजलि जैसा व्यक्तित्व अपने ग्रन्थ (योगसूत्र) में झूठा वर्णन क्यों करेगा?

अभ्यास प्रश्नः–

1. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिएः–

(क) संस्कारो मे संयम से योगी को.....का ज्ञान हो जाता है।

(ख) सूर्य में संयम करने से योगी को.....का ज्ञान हो जाता है।

(ग) समाधि की सिद्धि में विभूतियाँ.....हैं।

(घ) .....से योगी को अष्ट सिद्धियों की प्राप्ति हो जाती हैं।

(ङ) शरीर के बिना ही इन्द्रियों में काम करने की शक्ति आ जाना कहलाता है.....।

2. सत्य/असत्य बताइयेः–

(क) प्रतिभा ज्ञान उत्पन्न होने से योगी सब कुछ जान लेता है।

(ख) शाप और वरदान देने का सामर्थ्य आ जाना सत्य की दृढ़ स्थिति होने पर होता है।

(ग) योग साधना का उद्देश्य विभूतियों की प्राप्ति है।

(घ) स्वाध्यायात् इष्टदेवता सम्प्रयोगः।

(ड़) विवेक ज्ञान तारक होता है।

3. सही विकल्प की पहचान कीजिएः–

(क) दिव्य गंध का अनुभव कराने वाली यौगिक विभूति है–

1. प्रातिभ **2.** श्रावण **3.** वार्ता **4.** इनमें से कोई नही।

(ख) परिणाम त्रय नहीं है–

1. विभूति परिणाम **2.** धर्म परिणाम

3. लक्षण परिणाम **4.** अवस्था परिणाम

(ग) इन्द्रिय जय से होने वाली विभूति है–

1. मनोजवित्व **2.** विकरण भाव

3. प्रधान जय **4.** सभी

(घ) प्राण का प्रकार नहीं है–

1. व्यान 2. महान 3. समान 4. उदान

(ड़) इन्द्रियों के स्थूल और सूक्ष्म विषय कहलाते हैं–

1. ग्राह्य **2.** ग्रहण **3.** ग्रहीता **4.** संयम

4. संक्षिप्त अन्तर बताइयेः–

(क) धर्म परिणाम और लक्षण परिणाम।

(ख) शब्द, अर्थ और ज्ञान।

(ग) स्वार्थ प्रतीति एवं परार्थ प्रतीति।

(घ) भूतो के स्थूल रूप एवं स्वरूप।

(ङ) इन्द्रियों की ग्रहण अवस्था एवं अस्तिमावस्था।

5. अतिलघु उत्तरीय प्रश्नः–

(क) संयम किसे कहते है?

(ख) पंतजलि योग सूत्र के विभूतिपाद में कुल कितने सूत्र है?

(ग) विभूतियों को उपसर्ग कब कहा गया है?

(घ) अष्टसिद्धियाँ कौन कौन सी हैं?

(ङ) स्वार्थ संयम जन्य विभूतियों के नाम बताइये?

14.6 सारांश

योग साधना का उद्देश्य चित्त की शुद्धि द्वारा समाधि एवं कैवल्य की प्राप्ति है। योगाभ्यास से शुद्ध चित्त हो रहे योग साधक को उसके योग मार्ग में ऐसे अनेक यौगिक शक्तियों की जिन्हे, ऐश्वर्य, विभूतियाँ सिद्धियाँ या यौगिक सम्पदा आदि कहा जाता है। जैसे सर्वज्ञता, आकाश गमन, परकाया प्रवेश, चित्त ज्ञान, मृत्युज्ञान, पुनर्जन्म का ज्ञान, समस्त भुवन ज्ञान, शरीर को सूक्ष्म, बड़ा हल्का आदि बना लेने का सामर्थ्य, दिव्य दुष्टि दिव्य वाणी, भूत जय, इन्द्रिय जय, मनजवित्व आदि। इन विभूतियों का प्रदर्शन योगसाधना में बाधक होता है। यद्यपि कुछ विभूतियाँ योगी की योग साधना में सहायक भी हैं। वैसे तो योग साधना के प्रारम्भिक चरण यम नियम आदि वहिरंग योग में दृढ़ होने से ही साधक को अपने अन्दर कुछ विशिष्ट शक्तियों का अनुभव होने लगता है। जिनमें से कुछ उसके आगे की योग यात्रा में सहायक भी होती है जैसे भूख प्यास पर नियन्त्रण, शरीर की स्थिरता, धारणा शक्ति आदि किन्तु अन्तरंग योग साधना जिसे संयम साधना भी कहते हैं, से तो विभूतियों का द्वार ही खुल जाता है। संयम का अर्थ है धारणा ध्यान और समाधि का एक जगह होना। योगी भिन्न–भिन्न विषयों पर संयम करता है जिससे उस विषय का उसे यथार्थ ज्ञान हो जाता है फलस्वरूप विभूतियों का भी अर्जन होता है। जैसे–जैसे संयम का विषय स्थूल से सूक्ष्म अतिसूक्ष्म की ओर होता हुआ उच्च स्तरीय होता जाता है, वैसे–वैसे ही संयम जनित विभूतियाँ भी उच्च से उच्चतर स्तर की होती हुई योगी की सेवा में उपस्थित होती जाती हैं। योगी ग्राह्य, ग्रहण एवं गृहीता पर संयम करते हुए क्रमशः भूतजय, इन्द्रिय जय और सर्वज्ञातृत्व (विशोका) जैसी विभूतियों को प्राप्त करता है। योगी को विवेकज ज्ञान रूपी उच्चस्तरीय विभूति की उपलब्धि हेतु निम्नस्तरीय विभूतियों की उपेक्षा करनी होती है अन्यथा विभूतियों के आकर्षण में योग भ्रष्ट होने की आशंका सदैव बनी रहती है। योगी जब सात्विक चित्त के प्रकाश में बुद्धि और पुरुष के भिन्नता में संयम करता है तो उसे विवेक ख्याति की प्राप्ति होती है। विवेक ख्याति से पर वैराग्य होने पर निर्बीज समाधि में योगी को कैवल्य की उपलब्धि हो जाती है जो कि योग का लक्ष्य था।

14.7 शब्दावलीः–

विभूति	–	योगज शक्ति, ऐश्वर्य, वैभव, सिद्धि
अपरिमित	–	असीम
आवरण	–	पर्दा
दृश्यवत्	–	दीखने जैसा, प्रत्यक्ष
दूर दर्शन	–	दूर की वस्तुओं को देख लेना
मनोगत	–	मन के अन्दर, मन के भाव
पूर्ववर्ती	–	पहले आई हुई
प्रगाढ़ता	–	अधिकता, ज्यादा
सर्वतो भावेन	–	हर प्रकार से
शौच	–	शुद्धता, पवित्रता

संग	–	साथ
विशिष्ट	–	विशेष प्रकार की
ध्येय	–	लक्ष्य, ध्यान का विषय
नाना प्रकार	–	अनेक तरह की
त्रय	–	तीन
परिणामी	–	परिवर्तन शील
अधीन	–	नियन्त्रण में
दूरस्थ	–	दूर स्थित, सुदूर
उष्णता	–	गर्मी, तेज
सम्यक	–	भली भाँति, पूर्णरूप से
काय	–	शरीर
आघात	–	चोट
हस्तगत होना	–	मिल जाना, प्राप्त हो जाना
प्रयोजन	–	उद्देश्य
स्वतः	–	अपने आप
अध्यास	–	भ्रम
विभाग	–	हिस्सा, अंग, अलग अलग करना
संचित	–	इकट्ठा
समापत्ति	–	संयम, समाधि
अरिष्ट	–	नुकसान दायक, अशुभ
मुदिता	–	प्रसन्नता
व्यवहित	–	छिपे हुए
विप्रकृष्ट	–	दूर स्थित (दूरस्थ) वस्तुएं
उर्ध्व	–	ऊपर
आकर्षण	–	अपनी तरफ खींचना
विकर्षण	–	अपने से दूर करना
व्यष्टि	–	व्यक्तिगत
निवृत्त	–	छुटकारा, मुक्त
निखिल	–	सम्पूर्ण
देश	–	स्थान
प्रविष्ट	–	समाहित, मौजूद
ग्राह्य	–	इन्द्रियों के स्थूल और सूक्ष्म विषय
ग्रहण	–	इन्द्रियाँ और अन्तःकरण
ग्रहीता	–	बुद्धि के साथ एक रूप हुआ पुरुष, अस्मिता
आविर्भाव	–	उत्पत्ति, प्रकट होना
अर्जन	–	उपलब्धि

14.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तरः–

1. **(क)** पूर्वजन्म **(ख)** समस्त लोकों का **(ग)** विध्न (उपसर्ग) **(घ)** भूतजय **(ङ)** विकरण मात्र।

2. **(क)** सत्य **(ख)** सत्य **(ग)** असत्य **(घ)** सत्य **(ङ)** सत्य।

3. (क) 3 **(ख)** 1 **(ग)** 4 **(घ)** 2 **(ङ)** 1

4. (क) धर्म परिणाम में पदार्थ के धर्म का परिवर्तन होता है, जैसे मिट्टी का घड़ा बन जाना या घड़े का टूट कर टुकड़े हो जाना। लक्षण परिणाम धर्म परिणाम के साथ–साथ हो जाता है जैसे घड़ा टूट गया तो– वर्तमान धर्म (घड़ा) का लुप्त (अतीत) हो जाना अतीत लक्षण परिणाम कहलायेगा और नये धर्म (घड़े के टूटे टुकड़े) का प्रकट यानी वर्तमान हो जाना वर्तमान लक्षण परिणाम कहलायेगा।

(ख) शब्द अर्थ और ज्ञान– ये तीनों परस्पर भिन्न हैं। शब्द वह है जो बोला जाता है। जैसे गौ अर्थ वह है जो शब्द से जाना जाता है जैसे गौ यानि कि दूध देने वाला पशु। ज्ञान– यह शब्द और अर्थ दोनों को मिलाकर बोध कराने वाली वृत्ति है जो श्रोता के मन में रहती है।

(ग) चित्त और पुरुष नितान्त भिन्न भिन्न प्रत्यय हैं। चेतन स्व प्रत्यय यानी पुरुष की प्रतीति स्वार्थ प्रतीति है जबकि इससे अन्य चित्त आदि की प्रतीति परार्थ प्रतीति है।

(घ) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश– इस पंच भूतो में से प्रत्येक की पाँच रूप होते हैं– स्थूल रूप, स्वरूप, सूक्ष्म रूप, अन्वय रूप, और अर्थवत्त्व रूप।

इनका स्थूल रूप वह है जो इन्द्रियों द्वारा अनुभव में आता है। जैसे आकार, गुण, रूप आदि।

स्वरूप वह है जो इनका लक्षण या स्वभाव कहलाता है जैसे पृथ्वी का गंध और आकार, जल का गीलापन, अग्नि की उष्णता और प्रकाश, वायु का गति या कम्पन और आकाश का अवकाश (रिक्त)।

(ङ) भूतों की तरह इन्द्रियों के भी पांच रूप या अवस्थाएं होती हैं ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व अवस्था। इन्द्रियों का कार्य अपने अपने विषयों रूप, रस, गंध आदि को ग्रहण करना होता है। इसलिए इन्द्रियाँ अपने अपने विषयो की तरफ आकर्षित होती हैं। इन्द्रियों की विषयामुखी वृत्ति ही उनका ग्रहण रूप है। जबकि अस्मिता इन्द्रियों का सूक्ष्म रूप अंहकार है जिससे इन्द्रियों का आविर्भाव (उत्पत्ति) होता है।

5 (क) धारणा ध्यान और समाधि इन तीनों का किसी एक विषय में होना संयम कहलाता है।

(ख) योग सूत्र के विभूतिपाद में कुल 55 सूत्र हैं।

(ग) समाधि की सिद्धि में विभूतियाँ बाधक है इसलिए समाधि या कैवल्य की दृष्टि से ये उपसर्ग यानी विध्न स्वरूप हैं।

(घ) अष्टसिद्धियाँ हैं– अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व और ईशित्व।

(ङ) प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद और वार्ता– ये छः विभूतियाँ स्वार्थ संयम जन्य विभूतियाँ हैं।

14.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. तीर्थ, श्री स्वामी ओमानन्द– पातंजल योग प्रदीप, गीताप्रेस, गोरखपुर।
2. गोयन्दका, हरिकृष्णदास (टीकाकार) पातंजल योग दर्शन, गीताप्रेस, गोरखपुर।
3. आरण्य, स्वामी हरिहरानन्द, पातंजल योग दर्शन– मोती लाल बनारसी दास, दिल्ली।
4. कल्याण–योगांक (दशवें वर्ष का विशेषांक)– गीता प्रेस, गोरखपुर।
5. कल्याण साधनांक (पंद्रहवें वर्ष का विशेषांक)– गीता प्रेस, गोरखपुर।
6. पं॰ श्री राम शर्मा आचार्य वाङ्गमय, साधना से सिद्धि (भाग एक एवं दो)– अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा।
7. पं॰ श्री राम शर्मा आचार्य वाङ्गमय– साधना पद्धतियों का ज्ञान और विज्ञान– अखण्ड ज्योति संस्थान मथुरा।
8. पं॰ श्री राम शर्मा आचार्य वाङ्गमय– अपरिमित सम्भावनाओं का आगार मानवी व्यक्तित्व– अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा।
9. उपाध्याय, बलदेव– भारतीय दर्शन– शारदा मंदिर वाराणसी।
10. सरस्वती, स्वामी विज्ञानानन्द– योग विज्ञान– योग निकेतन ट्रस्ट, ऋषिकेश।

14.10 निबंधात्मक प्रश्नः–

1. विभूतियों से आप क्या समझते हैं? ये सिद्धि हैं या उपसर्ग? व्याख्या कीजिए।

2. संयम किसे कहते हैं? किन्ही पाँच संयम जन्य विभूतियों का वर्णन कीजिए।

3. भूतजय क्या है? भूतजयजनित विभूतियों की विवेचना करें।

4. इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिए किस प्रकार का संयम करना चाहिए, यह बताते हुए इन्द्रिय जय जन्य विभूतियों को स्पष्ट कीजिए।

5. गृहीतृ विषयक संयम क्या है? इससे जनित विभूतियों पर प्रकाश डालें।

इकाई–15 जन्मादिपंच सिद्धियाँ

15.1 प्रस्तावना

15.2 उद्देश्य

15.3 जन्मादि पंच सिद्धियाँ

15.3.1 जन्माजा सिद्धि

15.3.2 ओषधिजा सिद्धि

15.3.3 मन्त्रजा सिद्धि

15.3.4 तपोजा सिद्धि

15.3.5 समाधिजा सिद्धि

15.3.6 जात्यन्तर परिणाम एवं सिद्धियों की समीक्षा

15.4 सांराश

15.5 अभ्यास प्रश्न

15.6 शब्दावली

15.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

15.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

15.9 निबन्धात्मक प्रश्न

15.1 प्रस्तावनाः–

योग का प्रधान विषय समाधि है। समाधि–साधक के अन्दर चित्त की शुद्धि होने पर शरीर व इन्द्रियों आदि में विलक्षण परिवर्तन होकर अनेक अलौकिक शक्तियों का प्रादुर्भाव होने लगता है, जिन्हें विभूतियाँ या सिद्धियाँ कहते हैं। योग सूत्र के विभूतिपाद में वर्णित जो अनेकों प्रकार की सिद्धियाँ है वे सभी संयम जन्य यानी समाधि से होने वाली सिद्धियाँ हैं। किन्तु सिद्धियाँ केवल संयम से यानी समाधि से ही उत्पन्न हेाती हैं, ऐसा आवश्यक नहीं है। समाधि के अतिरिक्त जन्म, औषधि, मन्त्र और तप से भी सिद्धियों का प्रादुर्भाव होता है, जिसे जन्मजा, ओषधिजा, मन्त्रजा, तपोजा और समाधिजा सिद्धियाँ कहते हैं। प्रस्तुत इकाई में इन्हीं सिद्धियों पर प्रकाश डाला गया है।

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह समझ सकेगें कि अलौकिक शक्तियाँ सूक्ष्म रूप में हमारे अन्दर निहित होती हैं। जो चित्त की शुद्धता एवं मंत्र तप आदि के प्रभाव से प्रकट हो

जाती हैं। अपनी अन्तर्निहित क्षमताओं के जागरण में ही जीवन की सार्थकता है यह विचार अवश्य ही आपके जीवन संग्राम में सहायक सिद्ध होगा।

15.2 उद्देश्य

- ☞ प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप समझ सकेंगे कि
- ☞ पंच सिद्धियाँ क्या होती है?
- ☞ समाधि के अलावा अन्य किन निमित्तों से सिद्धियों का प्रादुर्भाव होता है, आप यह बता सकेंगे।
- ☞ जन्म से ही सिद्धि किसे मिलती है? आप यह समझ सकेंगे।
- ☞ तप क्या है और जीवन में उत्कर्ष के लिए तप का कितना महत्त्व है? आप यह जान सकेंगे।
- ☞ मन्त्र जप के प्रभाव एवं मन्त्रजा सिद्धि से अवगत् हो सकेगे।

15.3 जन्मादि पंच सिद्धियाँ

योग और सिद्धि का सम्बन्ध अत्यन्त ही धनिष्ठ है। प्रायः पूर्ण योगी होने का अर्थ ही सिद्धियों के स्वामी से लगाया जाता है। जिस प्रकार ईश्वर का अर्थ ही है ऐश्वर्यवान, राजा का अर्थ ही है प्रजावान, उसी तरह योगी का अर्थ है सिद्धिवान। किन्तु ये सिद्धियाँ या विभूतियाँ योगी को कहीं गिरी–बिखरी नहीं मिल जाती अपितु यह उसके अपने निजी साधना का फल होता है। योगी जैसे–जैसे योग साधना में आरोहण करता है वैसे वैसे विभूतियाँ उसे अन्दर जागृत होती जातीं। योगी को साधना एवं संयम से कौन कौन सी और किस किस तरह की अलौकिक शक्तियाँ विभूतियाँ या सिद्धियाँ प्राप्त होती है, इसका वर्णन महर्षि पतंजलि ने योग सूत्र के विभूतिपाद के अन्तर्गत विस्तृत रूप से किया है जिसका अध्ययन आप सब ने (विद्यार्थीगण) इससे पूर्व की इकाई संख्या 14 (संयम जन्य विभूतियाँ) के अन्तर्गत कर लिया है।

विभूतियाँ या सिद्धियाँ होती क्या हैं? ये भी आप ठीक ढंग से समझ गये होगे। वास्तव में जो भी अलौकिक है, विलक्षण है, जो पहले नहीं था अब प्राप्त हो गया ऐसी अद्भूत शक्ति ही सिद्धि है। किन्तु ऐसी घटना अनायास नहीं घटती। प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। उसी प्रकार सिद्धियों के अविर्भाव का भी कारण विशेष अवश्य है। सिद्धियाँ तभी प्रकट होती हैं जब हमारे स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों में (चित्त में) किसी निमित्त बस विलक्षण परिवर्तन आ जाय। सिद्धि की परिभाषा भी तो यही है कि शरीर, इन्द्रियों और चित्त में परिवर्तन होने पर जो पहले की अपेक्षा विलक्षण अलौकिक स्तर की शक्तियों का प्रादुर्भाव हो जाता है उन्ही को सिद्धि कहते हैं।

महर्षि पतंजलि ने योग सूत्र के विभूतिपाद में संयम जन्य सिद्धियों के बारे में बताया है यानी ये वे सिद्धियाँ है जो योग साधना से चित्त की शुद्धि होने पर भिन्न–भिन्न विषयों में संयम आदि से उत्पन्न होती हैं।

किन्तु सिद्धियाँ केवल संयम समाधि से ही मिलती हों ऐसी बात नहीं हैं। दूसरे अन्य कारणों से भी सिद्धियाँ प्रादुर्भूत हो सकती हैं। महर्षि पतंजलि इन्ही अन्य निमित्तों की चर्चा करते हुए कैवल्य पाद के प्रथम सूत्र में सिद्धि प्राप्ति के अन्य कारणों को बताते हुए पाँच प्रकार की सिद्धियों की बात करते हैं–

'जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः। (योग सूत्र कैवल्यपाद–1)

अर्थात्– जन्म से होने वाली सिद्धि, औषधि से होने वाली सिद्धि, मन्त्र से होने वाली सिद्धि तपस्या से होने वाली सिद्धि और समाधि से प्राप्त होने वाली सिद्धि– ये पाँच प्रकार की सिद्धियाँ होती हैं। इन्ही को क्रमशः जन्मजा सिद्धि, औषधिजा सिद्धि, मन्त्रजा सिद्धि, तपोजा सिद्धि और समाधिजा सिद्धि भी कहते हैं। इन सिद्धियों का वर्णन निम्नवत् है–

15.3.1 जन्मजा सिद्धिः–

जब प्राणी मरकर एक योनि से दूसरी योनि में जाता है तब उसके पूर्वजन्म के कर्मानुसार शरीर इन्द्रियों और चित्त का परिवर्तन होकर अपूर्व विलक्षण शक्तियों का प्रादुर्भाव हो जाता है। इन शक्तियों को ही सिद्धि कहते हैं। अर्थात् जो जन्म से ही प्राप्त होने वाली सिद्धि है वह जन्मजा सिद्धि कही जाती है। इस सिद्धि की उत्पत्ति में केवल जन्म ही निमित्त है।

अब प्रश्न यह है कि जन्म से सिद्धि कैसे मिल जाती है? इस प्रश्न का उत्तर पतंजलि के योग सूत्र समाधि पाद 19 में देखा जा सकता है जहाँ वे कहते हैं कि–

'भवप्रत्ययो विदेह प्रकृतिलयानाम्'।

पूर्व जन्म के योगी का यदि निर्बीज समाधि से पूर्व ही देहान्त हो जाय तो अगले जन्म में पूर्व जन्म की योग साधना के प्रभाव से उसे सिद्धियाँ मिल जाती हैं। इसी प्रकार गीता में भी योग भ्रष्ट के बारे में कहा गया है।

जिनको जन्म से ही सिद्धियाँ उपलब्ध होती हैं ऐसे सिद्ध पुरुष अपने पूर्व जन्मों में किये गये योग बल को साथ ले आते हैं और समयानुसार पूर्व जन्मों के किये गये योग साधना के प्रभाव से इस जन्म में उनके अन्दर स्वतः ही सिद्धियाँ प्रकट होने लगती हैं। महर्षि कपिल, वेदव्यास, शुकदेव, दत्तात्रेय एवं आदि शंकराचार्य आदि महर्षियों योगियो को जन्म से ही सिद्धियाँ प्राप्त हुई थीं। ऐसा शास्त्रों में उल्लेख मिलता है। भोजवृत्ति में उपर्युक्त विवरण के अलावा पक्षी, मछली, पशु आदि की आकाश गमन, जल गमन, दूर दृष्टि आदि विलक्षण शक्तियों को भी जन्मजा सिद्धि कहा गया है।

15.3.2 ओषधिजा सिद्धिः

मनुष्य जब किसी औषधि के सेवन से अपने शरीर का काया कल्प कर लेता है तब उससे भी शरीर में अपूर्व शक्तियों का प्रादूर्भाव हो जाता है। इसे ही ओषधिजा सिद्धि कहते हैं– अर्थात् औषधि– वनस्पति आदि के प्रयोग से जो सिद्धि प्राप्त होती है वह ओषधिजा सिद्धि कही जाती है। इस प्रकार की सिद्धि औषधि आदि के सेवन द्वारा चित्त में सात्त्विक परिणाम से होती है। जैसे पारे आदि रसायन के उपयोग से शरीर में विलक्षण परिवर्तन आ जाना अथवा सोमरस पान एवं अन्य विशिष्ट औषधियों द्वारा शरीर का कायाकल्प कर लेना, वृद्ध शरीर को युवा बना लेना इत्यादि जैसे च्वयन ऋषि।

औषधियों से होने वाले सिद्धि के सन्दर्भ में श्री राम शर्मा आचार्य वाङ्गमय खण्ड 5 साधना से सिद्धि भाग एक में आचार्य श्री ने लिखा है कि यहाँ औषधि से तात्पर्य अभिमान्त्रित वनौषधि से है। उनका प्रभाव अपने विशेष ढंग का है। कुछ तो जड़ी बूटियाँ अपने निजी गुणों के कारण ही मानवी चेतना को असाधरण रूप से प्रभावित करने की क्षमता रखती है। कुछ को किसी महाप्राण द्वारा अपनी आत्म शक्ति का वाहन बनाकर उसे असाधारण स्तर का बनाया और सेवन कर्त्ता का हित साधा जाता है।

गाँजा, भाँग, चरस अफीम वस्तुतः वनस्पतियाँ ही हैं जो अपनी उत्तेजक क्षमता के कारण सेवन करने वाले के होश हवाश गुम कर देती हैं। शराब भी वनस्पतियों को सड़ा कर निकाला गया अर्क ही है। तम्बाकू चाय आदि भी वनस्पति वर्ग में ही आते हैं जो मादक उत्तेजना उत्पन्न करते हैं। यह वनस्पतियों का बुरा पक्ष हुआ जिसके प्रयोग से मनुष्य उन्मादी जैसा हो जाता है। और अनेक प्रकार की हानियाँ उठाता है।

इस सन्दर्भ में दूसरा उजला पक्ष भी है। अश्विनी कुमारों ने वयोवृद्ध च्वयन ऋषि को वनस्पतियों का एक ऐसा योग दिया था जिसका सेवन करने से उनकी जराजीर्ण स्थिति देखते–देखते नवजीवन में बदल गई थी और उनका कायाकल्प हो गया था। यह औषधिजा सिद्धि ही थी। इसी तरह लक्ष्मण को मेघनाद द्वारा मारी गई अमोघ ब्रह्म शक्ति का आघात लगने पर वे मूर्छित होकर मरणासन्न स्थिति में थे। सुषेण वैद्य द्वारा बताई गई संजीवनी बूटी को हनुमान जी पर्वत क्षेत्र से लाये और संजीवनी बूटी औषधि का प्रयोग करते ही लक्ष्मण जी मरणासन्न स्थिति से पुनः वापस पूर्ववत् अवस्था में आ गये।

सोमरस पान वह विद्या है जिसमें सोमवल्ली को सोम सूत्रों में अनुप्राणित किया जाता है। देव स्तर के मानव उनका उपयोग करके अपनी श्रद्धा युक्त निष्ठा का विकास विस्तार करते हैं। यज्ञों में वनस्पतियों का उनके विशिष्ठ गुणों के कारण ही मन्त्रों के साथ यजन होता है। यज्ञ द्वारा वनस्पतियाँ, ऊर्जा रूप में बदल जाती हैं। जिससे आस पास के वातावरण एवं सम्पर्क में आने वालो पर असाधरण प्रभाव छोड़ती हैं। उसका प्रतिफल शारीरिक मानसिक रोगों के निवारण, वायुमण्डल के संशोधन एवं पर्जन्य के अभिवर्षण में महती भूमिका निभाना है।

वनौषधियों की ऐसी अन्यान्य विशेषताओं को देखते हुए ही चरक, सुश्रुत, वाणभट्ट जैसे वनस्पति विज्ञानियों ने गम्भीर अनुसंधान किये थे और उसका सर्व साधारण के लिए अतीव लोक कल्याण कारी उपयोग किया था। ऐसे ही प्रयोगो के कारण आयुर्वेद शास्त्र का क्रमशः विकास होता आया और एक सांगोपांग शास्त्र विनिर्मित हुआ। आयुर्वेद में ऐसे ऐसे रसायन आदि औषधियों का वर्णन आता है जिनके सेवन से शरीर पर जादू सा असर होता है और काया पलट जाती है। रोग मुक्त हो पूर्ण आयुष्य लाभ में औषधि सेवन की महत्त्वपूर्ण भूमिका मानी जाती है। औषधि सेवन द्वारा नेत्र आदि इन्द्रियों में भी अद्भुत शक्ति का प्रादूर्भाव होते देखा जाता है।

15.3.3 मन्त्रजा सिद्धिः–

मन्त्रों से प्राप्त होने वाली सिद्धि मन्त्रजा सिद्धि है। जब मनुष्य विलक्षण सामर्थ्य प्राप्त करने के लिए किसी मन्त्र का विधिवत् अनुष्ठान करता है तो उससे भी शरीर इन्द्रियों और चित्त

में विलक्षण शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है जिसे मन्त्रजा सिद्धि कहते हैं। यह सिद्धि मन्त्र द्वारा चित्त में एकाग्रता परिणाम से प्राप्त होती है।

मन्त्र का अर्थ ही है– **'मननात् त्रायते इति मन्त्रः।**

अर्थात् जिसके मनन (जप) करने से उद्धार हो जाय वह मन्त्र है। मन्त्र शब्द मन्+त्र से बना है। मन् शब्द का अर्थ है मनस्तत्त्व को किसी इष्ट देव में पूर्णतया स्थिर तथा तन्मय कर देना और 'त्र' शब्द का अभिप्राय है त्राण करना। अर्थात् मन्त्रजप के साथ साथ मन को मन्त्र के देवता परमात्मा या मन्त्र भाव के साथ एकाग्र कर और फिर मन्त्र शक्ति के प्रभाव से संसार सागर से तर जाना यानि मुक्ति प्राप्त कर लेना, यही मन्त्र साधना का मार्ग यानी मन्त्र योग कहलाता है। इसीलिए शास्त्रों में कहा गया है कि–

'जपात् सिद्धिः जपात् सिद्धिः जपात् सिद्धिर्न संशयः।'

अर्थात्– मन्त्रजप से सिद्धि मिलती है, मन्त्र जप से सिद्धि मिलती है, मन्त्रजप से सिद्धि मिलती है। इसमें कोई संशय नहीं है।

महर्षि पतंजलि भी योग सूत्र में कहते हैं कि शास्त्रों के स्वाध्याय एवं मन्त्र जप आदि के प्रभाव से इष्ट देवता का भलीभाँति साक्षात्कार हो जाता है–

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः। (योग सूत्र 2/44)

समाधि सिद्धि का श्रेष्ठ उपाय ईश्वर प्रणिधान है। योग साधना या निर्बीज समाधि तक पहुँचने के जितने भी साधन हैं, उनकी अपेक्षा ईश्वर की उपासना उसका नाम जप अधिक सुगम है–

'ईश्वर प्रणिधानाद्वा' (योग सूत्र 1/23)

उस ईश्वर का नाम (मन्त्र) प्रणव (ऊँ) है–

'तस्य वाचकः प्रणवः। (योग सूत्र 1/27)

उस ऊँकार नाम मन्त्र का जप उसके अर्थ स्वरूप परमेश्वर का स्मरण चिन्तन करना चाहिए–

तज्जपस्तदर्थभावनम्। (योग सूत्र 1/28)

ईश्वर के नाम मन्त्र प्रणव के जप की साधना से, मन्त्र की शक्ति (ईश्वर) की कृपा से योग साधना एवं जीवन में आ रहे सभी विघ्नों का अभाव हो जाता है। साथ ही अन्तरात्मा के स्वरूप का ज्ञान भी हो जाता है–

'ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।' (योग सूत्र 1/29)

मन्त्र जप से दोनों का क्षय होता है, जैसे–जैसे मन्त्र जप में तल्लीनता बढ़ती जाती है वैसे वैसे ही दोषों का नाश होता जाता है, चित्त में सत्त्वगुण की अधिकता बढ़ती जाती है। मन्त्र जप के अनुरूप ही अन्तःकरण की शुद्धि भी होती रहती है। जप से शुद्धि तथा शुद्धि से साधना में गहराई बढ़ती जाती है। तन्मयता से तल्लीनता और तल्लीनता से तद्रूपता का क्रम चल पड़ता है। आग के पास रखे लोहे में अग्नि के गुण आ जाते हैं यानी आग से जुड़कर लोहा भी आग हो जाता है। ऐसे ही मन्त्र साधक, मन्त्र जप की शक्ति से

तद्रूप होने लगता है, उसके अन्दर अलौकिक शक्तियों का जागरण होने लगता है अर्थात् सिद्धि प्राप्त कर लेता है और समाधि की सिद्धि भी हो जाती है–

समाधिसिद्धिः ईश्वरप्रणिधानात्। (योग सूत्र 2/45)

मन्त्र कोई साधारण शब्द या ध्वनि नहीं होते। इनमें अपार शक्ति होती है। मन्त्रों का गठन इस प्रकार का होता है कि इनके जप से बार–बार उच्चारण से जप कर्त्ता के अन्दर विशिष्ट प्रभाव पडता है और जप एवं भाव के अनुसार उसके चित्त में परिणाम होने लगता है। जाग्रत मन्त्र में इतनी शक्ति होती है कि उसके जप मात्र से शीघ्र ही अभीष्ट सिद्धि मिलने जग जाती है। जैसे मनोकामना की पूर्ति, इष्ट का दर्शन, वरदान, अपने अन्दर असीम शक्ति का जागरण, वाक् सिद्धि, संकल्प पूर्ति, आदि होने लगते है। यही कारण है कि जितने भी योग मार्ग हैं उनमें शीघ्र सिद्धि प्रदान करने वाले मार्गो में मन्त्रजप मार्ग यानी मन्त्रयोग सर्वप्रथम है–

'मन्त्रयोगः हठश्चैवलययोगस्तृतीयकः।

चतुर्थो राजयोगः स्यात्सद्विधाभाववर्ज्जितः।। (शिव संहिता 5/15)

यही कारण है कि प्राचीन काल में जितने ऋषि महर्षि मुनि ज्ञानी, योगी, यति, भक्त, साधक आदि मन्त्र जप (मन्त्रयोग) के द्वारा सिद्धियाँ प्राप्त करने में सफल रहे, उतना अन्य योग साधनों से शायद नहीं। देवर्षि नारद, ध्रुव, प्रहलाद, राजा सुरथ, रत्नाकर (वाल्मीकि) राजा हरिशचन्द्र, गजेन्द्र, मार्कन्डेय आदि महान सिद्ध पुरुषों साधकों ने मन्त्र द्वारा ही सिद्धियाँ पायीं। डाकू रत्नाकर ने मन्त्रजप साधना से ही सिद्धियों विभूतियों के भण्डार स्वरूप महर्षि वाल्मीकि बन पाये।

मध्य युग एवं अर्वाचीन काल में भी मन्त्र से सिद्धि के प्रमाण मिलते हैं। जैसे तुलसीदास, मीराबाई, सूरदास, चैतन्यमहाप्रभु विधारण्य स्वामी, तुकाराम, मधुसूदन सरस्वती, मदन मोहन मालवीय, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, महर्षि दयानन्द एवं गायत्री मन्त्र के सिद्ध साधक पं॰ श्री राम शर्मा आचार्य आदि का जीवन तथा उनका कृतित्त्व मन्त्र की सिद्धियों से सम्पुट रहा। मन्त्र जप से मिलने वाले लाभ का ही यह परिणाम कहा जा सकता है कि संसार भर के साधकों में से सर्वाधिक संख्या मन्त्र जप करने वालों की ही है।

मन्त्र जप का अर्थ सिद्धि की लालसा में मन्त्र की किताबों में लिखे कुछ शब्दों को किसी तरह दुहराते रहना मात्र नहीं है। इसके भी नियम और विधि विधान हैं जिसको करने से ही मन्त्र के अन्दर की उसकी प्राण शक्ति जागृत होती है जिससे वह सिद्धि दायी हो जाती है। इसीलिए मन्त्र के साथ श्रद्धा विश्वास और तल्लीनता अति आवश्यक है। मन्त्रयोग की परिभाषा भी यही कहती है–

मन्त्रजपान्मनोलयो मन्त्रयोगः।

अर्थात् मन्त्र जप के द्वारा मन का इष्ट देव में लय हो जाना ही मन्त्र योग है। जब मन्त्र जप से इष्टदेवता का प्रकाश चित्त में आने लगता है तो जन्म जन्मान्तरों के कुसंस्कार रूपी अंधकार तिरोहित हो जाता है। इसीलिए मन्त्र को भवसागर से तारने वाला कहा गया है–

'मननात् तारयेत् यस्तु स मन्त्र परिकीर्तितः।'

मन्त्र से होने वाली सिद्धियों का वर्णन वेदों में एवं तन्त्र शास्त्रों में विस्तृत रूप से किया गया है। तन्त्र तो मन्त्र शक्ति के विविध प्रयोगो का विज्ञान ही है। किन्तु उसे ठीक से समझ न पाने के कारण और उन मन्त्र शक्तियों एवं उनसे मिलने वालो सिद्धियों लाभों के दुरुपयोग के कारण आज तन्त्र विज्ञान को जादू टोने का शास्त्र समझ लिया गया है। जिस प्रकार से महत्त्वपूर्ण सामान–कीमती वस्तुएं छिपा कर तिजोरी के अन्दर रखी जाती हैं उसी प्रकार तन्त्र ग्रन्थों में भी मन्त्र के प्रयोगों को कुपात्रों से बचाकर रखने के लिए–गोपनीयता की दृष्टि से अनेक प्रयोग विधि के उपायों हेतु ऐसे शब्दों का प्रयोग किया गया है जिसे निम्न स्तरीय व्यक्ति निम्न भावों में ही ग्रहण करेगा जबकि उन शब्दों के भाव उच्च हैं। वे शब्द लाक्षणिक अर्थ वाले हैं, शाब्दिक अर्थ वाले नहीं। मांस, मीन, मदिरा, मुद्रा, मैथुन आदि पंचमकार साधना के शब्द ऐसे ही है। जो भी हो तन्त्रग्रन्थों में मन्त्र प्रयोग से अनेक सिद्धियों की प्राप्ति के उपाय बताये गये हैं।

तन्त्रमार्ग के बजाय वैदिक मार्ग ज्यादा श्रेष्ठ है, सर्वहितकारी है। वैदिक मन्त्रों से मिली सिद्धियाँ भी ज्यादा स्थायी होती हैं। वेद के मन्त्रों में अमोध शक्ति होती है जिसके बल से वेदज्ञ ब्राह्मण पुत्रेष्टि आदि यज्ञ के द्वारा पुत्र उत्पन्न करा सकते हैं, जैसे दशरथ की संताने (श्री राम, लक्ष्मण आदि) तथा राजा द्रुपद के घृष्टद्युम्न एवं द्रोपदी आदि सन्तानें मन्त्र शक्ति से सम्पन्न पुत्रेष्टि यज्ञ की ही देन रही हैं। प्रकृति एवं परमात्मा से जो कुछ भी मनुष्य को चाहिए उसके लिए मन्त्र का विधान है। प्राचीन काल में प्राकृतिक प्रकोपों से बचने हेतु तथा वर्षावृष्टि आदि प्रयोजनों हेतु मन्त्रों का प्रयोग होता था, ऐसा शास्त्रों में उल्लेख मिलता है। आज भी पारिवारिक परेशानी, कलह, ग्रह शान्ति, बिच्छू दंश, सर्प दंश, रोग निवारण आदि में लोग मन्त्र का प्रयोग करते और लाभ पाते देखे जाते हैं।

हमारी प्राचीन शिक्षा पद्धति तो मन्त्रजा सिद्धि पर ही आधारित रही है। गुरुकुलों में शिष्यों को दी जाने वाली धनुर्विद्या आदि की शिक्षा मन्त्र विद्या और उसको साधने का ही प्रयोग था। परशुराम, द्रोणाचार्य, भीष्म, पितामह, विश्वामित्र, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, अर्जुन, कर्ण आदि धनुर्विद्या के आचार्य एवं उनके शिष्य इसी मन्त्र शक्ति के द्वारा ही अपने वाणों से वह काम करते रहे जो आज मशीनगन, मिसाईल, प्रक्षेपास्त्र एवं परमाणु बम से हो सकता है। रामायण काल एवं महाभारत काल की घटनाएं मन्त्रजा सिद्धि की चमत्कारों से भरी पड़ी हैं।

उपर्युक्त विवेचन का आशय यह है कि मन्त्र से भी सिद्धि मिलती है, बल्कि मन्त्रजा सिद्धि की प्राप्ति होना अन्य कठिन योगों से सरल है। इसे महर्षि पतंजलि भी स्वीकार करते हैं। इसीलिए योग दर्शन के भाष्यकार व्यास मुनि स्पष्ट लिखते हैं कि वेदादि शास्त्रो का स्वाध्याय करने वाले एवं मन्त्रजप साधना व अनुष्ठान में लगे हुए साधकों को उनके अभीष्ट देवता तथा सिद्ध पुरुषों के दर्शन हो जाते हैं। देव, ऋषि एवं सिद्ध आदि उन्हे प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं और उनका कल्याण करते हैं–

'देवा ऋषयः सिद्धाश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं गच्छति। कार्येचास्य वर्तन्त इति।'

(योग सूत्र 2/44)

इस प्रकार वैदिक ऋषियों से लेकर आधुनिक सन्त कवियों तक सबने मन्त्रजा सिद्धि की बात स्वीकार की है। ऋग्वेद में कहा गया है कि मन्त्र सिद्ध मुनि आकाश में उड़

सकते हैं, ब्रहमाण्ड के सम्पूर्ण पदार्थो को देख सकते हैं। वे देवताओं के अति प्रिय होते हैं। वे सिद्ध योगी सत् कर्म के लिए ही शरीर धारण करते हैं–

'अन्तरिक्षेण पतति विश्वारूपावचाकशत्।

मुनिर्देवस्यदेवस्य सौकृत्याय सखा हितः।। (ऋग्वेद 10/136/4)

वेदों में तो मन्त्रद्रष्टा को ही ऋषि कहा गया है–

मन्त्रद्रष्टाः ऋषयोः।

समकालीन संतो का भी यही अनुभव है कि प्रभु के नाम रूपी मन्त्र के जप से ही सब सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। भक्त तुकाराम के शब्दों में–

साधन यही सिद्धियों का है,

सरल और सुखधाम।

श्री गोपाल नाम लेता रह,

मुख से आठों याम।।

मन्त्र शास्त्रों में जप हेतु हजारों मन्त्र बतायें गये है किन्तु उन सभी में गायत्री मन्त्र (ऊँ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्) सर्वोपरि है। यह वैदिक मन्त्र सिद्ध मन्त्र होने के नाते सर्व सिद्धि प्रदायक है, जिस के गुण गान से सभी आर्षग्रन्थ भरे पड़े हैं। गायत्री मंत्र के अनुष्ठान पुरश्चरण से सभी प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, जैसे अथर्ववेद का कथन है–

ऊँ स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्ताम् पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां, पशुं, कीर्तिं, द्रविणं, ब्रहमवर्चसम् महयं दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्। (अथर्ववेद 19/71/1)

15.3.4 तपोजा सिद्धिः– तपस्या से प्राप्त होने वाली सिद्धि तपोजा सिद्धि है। जब मनुष्य शास्त्रोक्त तप करता है या कर्त्तव्य पालन पथ पर सहर्ष कष्ट को सहता है पर, धर्म का त्याग नहीं करता तो उस तपश्चर्या से उसके शरीर इन्द्रियों और चित्त की समस्त अशुद्धियों का नाश हो जाता है और उनमें अपूर्व शक्तियों का प्रादुर्भाव हो जाता है। इसे ही तपोजा सिद्धि कहते हैं।

जिस प्रकार लोहा आग में तप कर फौलाद बन जाता है उसी प्रकार तपस्या में तप कर शरीर, इन्द्रिय, मन, चित्त आदि का भी रूपान्तरण हो जाता है और उनका शुद्ध विलक्षण स्वरूप प्रकट हो जाता है। महर्षि पतंजलि के शब्दों में तप से अशुद्धि के क्षय होने से शरीर और इन्द्रियों की शुद्धि होती है–

कायेन्द्रियसिद्धिर शुद्धिक्षयात्तपसः। (योग सूत्र 2/43)

जैसे लोहे को आग में बार–बार तपाने और कूटने पीटने से उसके दोष मल आदि दूर हो जाते हैं– वह इच्छा और आवश्यकतानुसार अति उपयोगी हो जाता है, जंग लगे निकम्मे चाकू में चमक के साथ साथ तेज शान भी आ जाती है वैसे ही तपस्या की भट्ठी में तपने से यानी निरन्तर तप के अभ्यास से तपस्वी के शरीर और इन्द्रियों के मल का नाश हो जाता है जिससे उसका शरीर स्वस्थ, स्वच्छ और

हल्का हो जाता है। तथा उसे अणिमा आदि सिद्धियाँ (योग सूत्र 3/45) तथा काय सम्पत् रूप विभूतियाँ (3/46) प्राप्त हो जाती हैं। साथ ही उसे दिव्य–दर्शन, दिव्य–श्रवण, दूर–श्रवण, दूर–दर्शन आदि इन्द्रिय सम्बन्धी सिद्धियाँ भी प्राप्त हो जाती हैं।

(i) तप का स्वरूप एवं तपोजा सिद्धियाँः–

अब प्रश्न यह है कि तप कहते किसको हैं? और यह किस तरह किया जाता है तथा इसका स्वरूप क्या होता है? उच्च उद्देश्यों हेतु प्रसन्नता पूर्वक कष्ट सहन करने को तप कहा जाता है, इसलिए उद्देश्य के अनुरूप ही तप का स्वरूप और प्रकार होता है। यही कारण है कि तप की परिभाषाएं भी भिन्न–भिन्न हैं, यद्यपि भाव में समानता है। जैसे **व्यास भाष्य** (2/32) के अनुसार **'तपोद्वन्द्वसहनम्'** अर्थात् सभी प्रकार के द्वन्द्वों को सहन करना तप है। भूख–प्यास, सर्दी–गर्मी, सुख–दुख, मान–अपमान, जय–पराजय आदि द्वन्द्वों को प्रसन्नता पूर्वक सहन करते हुए अपने कर्त्तव्य पथ और साधना में डटे रहना तप कहलाता है। जो तपस्वी नहीं है उसका योग सिद्ध नहीं हो सकता–

'ना तपास्विनोः योगः सिद्धयति।' (व्यास भाष्य 2/32)

जिस प्रकार अश्वविद्या में कुशल सारथि चंचल घोड़ों को वश में रखता है उसी प्रकार शरीर, प्राण, इन्द्रियों और मन को उचित रीति और अभ्यास से वश में करने को तप कहते हैं। इसीलिए **आचार्य चाणक्य** कहते हैं–

''**तपः सार इन्द्रिय निग्रहः**''। अर्थात् इन्द्रियों को अनुचित विषयों से रोकना ही असली तप है।

(चाणक्य सूत्र 5/85)

अपने वर्ण आश्रम परिस्थिति और योग्यता के अनुसार स्वधर्म का पालन करना भी तप कहलाता है, जैसा कि महाभारत में कहा गया है–

'तपः स्वधर्म वर्तित्वम्'। (महाभारत बन पर्व 313/88)

संसार में जो कार्य अति कठिन हैं, दुःसाध्य हैं, उन्हें तप के, द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है। बिना तप के महान कार्य सिद्ध नहीं होते हैं। शास्त्र कहते हैं कि ईश्वर भी तप के ही प्रभाव से सृष्टि रचना में समर्थ हुआ है–

यः पूर्व तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत्।

गुहा प्रविष्य तिष्ठन्तं यो भूते भूतेभिर्व्यपश्यत्।। (एतद्वैतत क॰ 2/1/6)

अर्थात् उस परमेश्वर ने सर्व प्रथम तप किया। उस तप के श्रम स्वेद से जल उत्पन्न हुआ। **तैत्तरीय उपनिषद** में कहा गया है कि उस परमात्मा ने प्रकट होने की इच्छा की। इस हेतु तप किया। तप की शक्ति से जगत रचा और उसी में प्रविष्ट हो गया–

''सोऽकामयत् वहुस्यां प्रजायेयेति।

स तपोऽतप्यत्।

स तपस्तप्त्वा इदंसर्वमसृजत यदिकिचं।

सत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्। (तैत्तरीय, व्रह्मावल्ली–6)

शान्डिल्योपनिषद के अनुसार ब्रह्म ने ज्ञानमय तप से वृद्धि प्राप्ति की। तब एक से अनेक होने की इच्छा की और इस हेतु पुनः तप किया। तब तीन अक्षर, तीन आवृत्ति, त्रिपदा गायत्री, तीन वेद, तीन देव, तीन वर्ण और तीन अग्नि प्रकट हुए–

'अथैष ज्ञानमयेन तपसा चीपमानोऽकामयत बहुस्यां प्राजायेयेति।

अथैतस्मात् तप्यमानात् सत्यकामात् भीण्यक्षराण्य जायन्त।

तिस्त्रो व्याहृतयास्त्रिपदा गायत्रीं त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयो वर्णा स्त्रयोऽयनलश्च जायन्ते।''

(शान्डिल्य उपनिषद 3/1)

प्रश्नोपनिषद भी कहता है कि प्रजा उत्पन्न करने की कामना वाले प्रजापति ने तप किया–

तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽऽतप्यत्। (प्रश्नोपनिषद 1/4/5)

पुराणों में भी स्वयं प्रजापति ब्रहमा द्वारा तप करके तप के सिद्धि सामर्थ्य से सृष्टि रचना की बात कही गई है–

मत्स्य पुराण कहता है कि–

तपश्चचार प्रथममराणां पितामहः।

आविर्भतास्ततो वेदाः सांगोपांग पदक्रमाः।।

अर्थात्– सर्वप्रथम तो देवों के पितामह ने तप किया। तब सब वेदों का अविर्भाव हुआ। जो अपने अंग, उपांग, शास्त्र तथा पद एवं क्रम से संयुक्त थे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि तप–साधना ही शक्ति और सिद्धि का माध्यम एवं स्त्रोत है। स्वयं ईश्वर द्वारा तप के ये विवरण स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य के लिए अभीष्ट उपलब्धियों का यही एक मात्र मार्ग है।

तप से ब्रहम की सिद्धिः– तप से अनेकों सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। असम्भव को सम्भव कर दिखाने की सामर्थ्य तपस्या से ही आती है। **तैतरीय उपनिषद** में वर्णित प्रसंगानुसार भृगु को वरूण ने ब्रह्म सिद्धि हेतु तप का ही मार्ग बतलाया था। उनके अनुसार तप ही ब्रह्म है। तपस्या के द्वारा ही ब्रह्म ही प्राप्ति होती है–

तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रहमेति।। (तै॰ उपनिषद भृगुवल्ली)

(ii) तप से विवेकज्ञान की सिद्धि और मुक्तिः–

कूर्मपूराण के अनुसार– तपस्या से उत्पन्न योगाग्नि शीघ्र ही सम्पूर्ण पाप समूहों को जलाकर नष्ट कर देती है। उन पापों के दग्ध हो जाने पर आनन्द दायक प्रतिबन्धक रहित तारक स्वरूप विवेक ज्ञान का उदय हो जाता है जिससे निर्वाण या मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है–

''योगाग्निर्दहति क्षिप्रमशेषं पाप पंजरम्।

प्रसन्नं जायतेज्ञानं ज्ञानान्निर्वाणमृच्छति।। (कूर्मपूराण)

इसीलिए शास्त्रों में सिद्धि और मोक्ष की प्राप्ति हेतु तपस्या को श्रेष्ठतम् साधन माना गया है–

तपस्यां तपोत्तमम्।

संसार में जो अति कठिन कार्य है, दुःसाध्य है, जिसे कोई भी अति क्रमण करने में समर्थ नहीं होता, ऐसे दुःसाध्य कार्यो को एक मात्र तप के द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है और तप का अतिक्रमण कोई भी नहीं कर सकता–

''यद् दुष्करं दुराराध्यं दुर्जयं दुरति क्रमम्।

तत्सर्व तपस्या साध्यातपों हि दुरतिक्रमम्।।''

(iii) तप के भेद एवं सिद्धियाँः– मुख्यतः तप के दो प्रकार हैं– वाह्य तप और आन्तरिक तप।

वाह्य तपः– जो तपस्या स्थूल शरीर या बाहरी स्तर पर की जाती है, उसे वाह्य तप कहते हैं। जैसे व्रत करना, उपवास रखना, यानी अन्न ग्रहण न करना, खड़े रहना, सर्दी के मौसम में ठंडे पानी में रहना। इसके अतिरिक्त अप्रिय शब्द सुनकर कान बंद कर लेना, अप्रिय वस्तु देखकर आँख बन्द कर लेना, कठोरता से ब्रहमचर्य का पालन करना, अस्वाद व्रत, शुद्ध सात्विक अल्पमात्रा में भोजन करना, इत्यादि वाह्य कठोरताओं का पालन वाह्य तप है जिससे स्थूल शरीर एवं अन्नमय कोश सधता है। वाह्य तप का साक्षात् प्रभाव स्थूल–सूक्ष्म शरीर पर पड़ता है किन्तु इसका अप्रत्यक्ष प्रभाव सूक्ष्म शरीर, मन आदि पर भी पड़ता है। वाहय तप से शरीर सम्बन्धी तपोजा सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

आन्तरिक तपः– जो तपस्या स्थूल शरीर के बजाय मानसिक स्तर पर की जाती है वह आन्तरिक तप है। आन्तरिक तप ही श्रेष्ठ तप है। इसमें मन, बुद्धि, आदि अन्तःकरण को तपाकर उनके राग, द्वेष अहंकार आदि दोषों–मलो का नाश करना एक इन्हे शुद्ध निर्मल बनाना होता है। आन्तरिक तप से चित्त शुद्धि जन्य सिद्धियों का प्रादूर्भाव होने लगता है। इसके अनेक अंग हैं– जैसे प्रायश्चित तप यानी पूर्वकृत भूलों अपराधों के लिए क्षमा प्रार्थना के साथ पुनः भूल न करने का संकल्प एवं सतत प्रयास तथा 'जितना गड्ढा किया खेत में उतनी मिट्टी डालो' के सिद्धान्त को अपनाते हुए पाप कर्म की तुलना मे उतना ही पुण्य कर्म करना, ये प्रायश्चित तप कहलाता है। इसी तरह (2) अहंभाव को छोडना (3) अभेद शुद्धि की स्थापना (4) स्वाध्याय (5) ध्यान (6) परोपकार तथा त्याग तितिक्षा व निष्काम कर्म सम्पादन आदि आन्तरिक तप के विविध रूप है।

गीता में वाहय एवं आन्तरिक तपों को समन्वित करते हुए शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक तीन तरह के तप बताये गये हैं–

1. शारीरिक तपः– यानी शरीर के स्तर पर तप करना। जैसे श्रेष्ठ जनों का सम्मान, उनकी सेवा, स्वभाव में सरलता, स्वच्छता, विनम्रता ब्रहमचर्य एवं अहिसा का पालन आदि शारीरिक तप हैं।

2. वाचिक तपः– यानी वाणी सम्बन्धी दोषों का क्षय और वाणी का संयम। सत्य और प्रिय वचन बोलना, असत्य, छल कपट युक्त एवं कड़वे वचन न बोलना, स्वाध्याय, ईश्वर भजन, जप एवं मौन व्रत आदि वाचिक तप है।

3. मानस तपः– यह मन सम्बन्धी आन्तरिक तप है। मन का संयम, मानसिक पवित्रता, प्रसन्नता, विचारों की शुद्धता, सबके प्रति दया, करूणा, संवेदना आदि पवित्र भावों को सतत मन में प्रतिष्ठित करते रहना आदि मानसिक तप है।

गीता के अनुसार गुण एवं भाव के दृष्टिकोण से पुनः इन तपों के तीन भेद हैं– सात्विक तप, राजसिक तप और तामसिक तप।

यदि ये तीनों तप श्रद्धा से एवं निष्काम भाव से किये जाते हैं तो ये सात्विक तप हैं। यदि ये तप फल की इच्छा से या सत्कार, सम्मान और पूजा प्राप्त करने के लिए या दूसरों पर छाप छोड़ने के लिए पाखण्ड स्वरूप किये जा रहे हैं तो ये राजस तप है तथा यदि ये तप हठ पूर्वक, शरीर, वाणी और मन को कष्ट देने के लिए या किसी दूसरे को हानि पहुँचाने के लिए किए जाते हैं तो ये तामस तप हैंः–

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः।

अफलाकाँक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते।।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।

क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम।।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।

परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्।। (गीता 17/17,18,19)

इन तपो में सात्विक तप जन्य सिद्धि ही अधिक स्थायी एवं कल्याणकारी होती है। हमारे ऋषियों, मुनियों, सन्त, महात्माओं ने सात्विक तपोजा सिद्धि से अपना भी कल्याण किया और संसार का भी जबकि राक्षसों आदि द्वारा प्राप्त तामसिक तपोजा सिद्धियाँ तो स्वयं उनके लिए भी घातक सिद्ध हुई और दूसरों के लिए भी।

15.3.5 समाधिजा सिद्धिः– समाधि से होने वाली यानी संयम जन्य सिद्धियाँ ही समाधिजा सिद्धि कहलाती है। अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि के अभ्यास से शरीर, इन्द्रियों और चित्त में जो अपूर्व शक्तियों–विभूतियों का प्रादूर्भाव हो जाता है उन्हे ही समाधिजा सिद्धि कहते हैं।

इन सिद्धियों का पूर्ण उल्लेख महर्षि पतंजलि ने योग सूत्र के विभूतिपाद के अन्तर्गत किया है। जिसका विस्तृत अध्ययन आप (विद्यार्थी) इससे पूर्व की इकाई अर्थात् इकाई 14 संयम जन्य विभूतियो के अन्तर्गत कर चूके हैं। अस्तु यहाँ उनकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है। कृपया इस हेतु उक्त इकाई में वर्णित संयम जन्य विभूतियो को देखे।

15.3.6 जात्यन्तर परिणाम एवं सिद्धियों की समीक्षाः– शरीर और इन्द्रियों आदि में अभूतपूर्व परिवर्तन होकर विलक्षण शक्तियों का आ जाना ही सिद्धि है। यह सिद्धि योग साधना और समाधि से तो होती ही है। जन्म औषधि मन्त्र और तप से भी हो सकती है।

इसीलिए महर्षि ने सिद्धियों के पाँच प्रकार बताये हैं– जन्मजा, ओषधिजा, मन्त्रजा, तपोजा और समाधिजा। अन्य शास्त्रों में भी इन सिद्धियों को प्राप्त जनों के उदाहरण मिलते हैं।

सिद्धि की अवस्था में जो शक्ति पहले नहीं थी, वह आ जाती है यानी शरीर मन इन्द्रियों आदि में विलक्षण परिवर्तन होकर, ये एक प्रकार से दूसरे प्रकार में बदल जाते हैं (सिद्ध पुरुष सामान्य से विशेष हो जाता है) इसी को जाति–अन्तर–परिणाम कहते हैं। अर्थात् एक जाति से दूसरे जाति में परिवर्तन हो जाता है।

अब प्रश्न यह है कि किसी भी कार्य की उत्पत्ति के लिए कारण की आवश्यकता पड़ती है। बिना कारण के कार्य नहीं होते। कारण भी दो प्रकार के होते हैं– पहला उपादान कारण और दूसरा निमित्त कारण। जैसे घड़ें की उत्पत्ति के लिए मिट्टी आदि उपादान कारण हैं तो कुम्हार निमित्त कारण। इन दोनो के मिलने से ही मिट्टी से घड़े रूपी कार्य की उत्पत्ति होती है या मिट्टी जाति का परिवर्तन घड़ा जाति में हो पाता है।

इसी आधार पर यह प्रश्न उठता है कि जन्म, औषधि, मन्त्र, जप, समाधि आदि निमित्त कारणों से ही शरीर इन्द्रियों आदि में होने वाला जात्यन्तर परिणाम बिना उपादान कारण के कैसे हो सकता है?

इस शंका का समाधान करते हुए पतंजलि प्रकृति को ही उपादान कारण ठहराते हैं और कहते हैं कि एक जाति से दूसरी जाति में बदल जाना प्रकृतियों के भरने से होता है–

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्। (योग सूत्र 4/2)

जात्यन्तरपरिणाम के लिए आवश्यक उपादान कारण रूप तत्वों की आवश्यकता पूर्ति प्रकृति ही करती है। कहने का भाव यह है कि मन्त्र–तप, औषधि, समाधि आदि के प्रभाव से योगी के शरीर और इन्द्रियों आदि के पूर्व राजसी–तामसी अवयव जैसे–जैसे अलग होते जाते हैं, वैसे–वैसे उनके स्थान पर दूसरे सात्विक अवयव भरते चले जाते हैं और इन सात्विक अवयवों की पूर्ति जैसे–जैसे होती जाती है वैसे वैसे ही शरीर इन्द्रियाँ आदि विलक्षण शक्ति वाले होते जाते हैं। इस प्रकार उस जाति के अनुकूल अवयव भरते रहने से दूसरी जाति बन जाती है। इस जाति अन्तर परिणाम का निमित्त मन्त्र तप आदि होते हैं।

अब प्रश्न यह है कि जन्म, औषधि, मंत्र, तप आदि निमित्त कारण प्रकृति की पूर्णता कैसे कर देते हैं? इस सन्दर्भ में पतंजलि का मत है कि इन निमित्त कारणों का काम केवल रूकावटों को दूर कर देना मात्र है। उसके बाद प्रकृतियों की पूर्ति तो अपने आप हो जाती है। रूकावट दूर होने पर कमी को पूर्ण कर देना प्रकृति का स्वभाव है। जैसे एक किसान एक खेत से दूसरे खेत में जल ले जाता है तो केवल उसकी रूकावटों को ही दूर करता है, उस जल को चलाने का काम नहीं करता रूकावट दूर होने से जल अपने आप एक खेत से दूसरे खेत में चला जाता है। उसी प्रकार औषधि, मन्त्र, तप आदि निमित्त कारणों द्वारा जब रूकावटें दूर हो जाती हैं तब शरीर इन्द्रियों आदि में परिवर्तन के लिए जिन जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है, उन उनकी पूर्ति अपने आप हो जाती है और इस प्रकार जात्यन्तर परिणाम हो जाता है। यानी सिद्धियाँ प्रादुर्भूत हो जाती हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि अलौकिक क्षमताएं–अनन्त सम्भावनाएं व शक्तियाँ हमारे अन्दर होती हैं। ये हमारी अन्तर्निहित शक्तियाँ हमारी अपनी कमियों–कमजोरियों, दुष्प्रवृत्तियों आदि के कारण दबी पड़ी होती है और हम अपने अन्दर

विभूतियों का भण्डार दबाये हुए भी दीन–हीन असहाय अवस्था में पड़े रहते हैं। यदि किन्हीं मन्त्र, तप आदि उपायों से इन बाधाओं को हटा दिया जाय तो हमारी अन्तर्निहित शक्तियाँ स्वयं ही उभर कर सामने आ जाती हैं जिन्हे सिद्धियाँ कहा जाता है। अस्तु सिद्धियाँ कोई चमत्कार या हाथ की सफाई नहीं एक सत्य तथ्य हैं।

अभ्यास प्रश्नः–

(1) रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिएः–

(क) .....सिद्धियाँ वे हैं जिनकी उत्पत्ति में केवल जन्म ही निमित्त है।

(ख) मन्त्र द्वारा चित्त में एकाग्रता परिणाम होने से.....सिद्धि प्राप्त होती है।

(ग) 'स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः का तात्पर्य.....सिद्धि से है।

(घ) संयम से होने वाली सिद्धियाँ कहलाती हैं–..... ।

(ङ) पारे आदि रसायन के उपयोग से शरीर में विलक्षण परिणाम उत्पन्न करना..... ..सिद्धि है।

(2) सही विकल्प की पहचान कीजिएः–

(क) निम्न से कौन सिद्धि के भेद नहीं है–

1 समाधिजा **2** तपोजा

3 जलजा **4** मन्त्रजा

(ख) सिद्धि के निमित्त कारण हो सकते हैं–

1 समाधि **2** मन्त्र

3 तप **4** सभी

(ग) धारणा–ध्यान और समाधि से सिद्धि का प्रादूर्भाव कहलाता हैः–

1 औषधिजा **2** जन्मजा

3 समाधिजा **4** इनमें से कोई नही।

(घ) 'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्' उदाहरण है–

1 मन्त्रजा सिद्धि का **2** समाधिजा सिद्धि का

3 दोनों का **4** किसी का नहीं

(ड़) जात्यन्तर परिणाम में मन्त्र तप आदि होते है–

1 निमित्त **2** उपादान

3 दोनो **4** कोई नहीं

3 संक्षित अन्तर बताइये–

(क) जन्मजा सिद्धि एवं समाधिजा सिद्धि

(ख) मन्त्रजा सिद्धि एवं ओषधिजा सिद्धि

(ग) निमित्त कारण एवं उपादान कारण

(घ) सात्विक तप एवं राजसिक तप

(ड़) वाचिक तप एवं मानस तप

(4) सत्य/असत्य बताइये–

(क) जन्मजा सिद्धि इस जन्म में कठोर तपस्या से प्राप्त होती है।

(ख) मन्त्रजा सिद्धि का आधार औषधियाँ है।

(ग) भवप्रत्यय (योग सूत्र1/19) का सम्बन्ध जन्मजा सिद्धि से किया जा सकता है।

(घ) उपनिषद् में तप को ब्रह्म कहा गया है।

(ङ) विभूतिपाद में वर्णित संयम–जन्य विभूतियाँ ही समाधिजा सिद्धियाँ हैं।

(5) अतिलधूत्तरीय प्रश्नः–

संक्षेप में उत्तर दीजिएः–

1. संयम समाधि के अलावा अन्य किन उपायो से सिद्धि पायी जा सकती है?

2. सिद्धियों के पाँच प्रकार कौन कौन से है?

3. गायत्री मन्त्र अनुष्ठान साधना से प्राप्त होने वाली सिद्धि को क्या कहेगे?

4. चन्द्रायण व्रत करना किस तरह की साधना है?

5. मन्त्रजा सिद्धि के लिए पंतजलि ने कौन सा मन्त्र बताया है?

6. 'तपः सार इन्द्रिय निग्रहः' किसने कहा है?

7. तप के बिना योग सिद्ध नहीं होता यह कथन किसका है?

8. जात्यन्तर परिणाम क्या होता है?

9. तारक ज्ञान किसे कहते हैं?

10. जन्मादि पंच सिद्धियों की बात योग सूत्र के किस पाद में कही गई है?

15.4 सारांश

इस इकाई में आपने जाना कि शरीर, मन, इन्द्रियों एवं चित्त आदि में अपूर्व विलक्षण अलौकिक शक्तियों का प्रादूर्भाव हो जाना ही सिद्धियाँ हैं।

इन सिद्धियों का प्रादूर्भाव पाँच कारणों से हो सकता है। जिसके कारण ये पाँच प्रकार की होती हैं। जन्म से होने वाली सिद्धि, औषधि से होने वाली सिद्धि, मन्त्र से होने वाली सिद्धि, तप से होने वाली सिद्धि और समाधि से होने वाली सिद्धि, जिन्हें क्रमशः जन्मजा, ओषधिजा,

मन्त्रजा, तपोजा एवं समाधिजा सिद्धि कहते हैं। भारतीय योग शास्त्रों कथाओं एवं जीवन दर्शन में इन सिद्धियों के अनेकों उदाहरण मिलते हैं। जैसे कपिल, व्यास, शुकदेव आदि जन्मजा सिद्ध पुरुष थे। च्वयन ऋषि औषधिजा सिद्धि से बूढ़े से युवा शरीर प्राप्त हुए। मन्त्रजा सिद्धि के अनेक उदाहरण वैदिक युग से आज तक दिखते हैं। शाप–वरदान देने में सक्षम ऋषियों, मुनियों, साधकों, सन्तो से यह भारत भूमि कभी खाली नहीं रही। यही स्थिति तपोजा और समाधिजा सिद्धि की भी है। कहने का अर्थ यह है कि ये सिद्धियाँ कपोल कल्पना नहीं एक वास्तविकता हैं, जिनकी भारतीय धर्म, दर्शन एवं संस्कृति में मान्यता है।

सिद्धियों के प्रभाव से शरीर इन्द्रियों आदि में जो अलौकिक शक्ति आ जाती है उसे जाति–अन्तर–परिणाम (जात्यन्तर परिणाम) कहते हैं। इस परिणाम में मन्त्र, तप, समाधि आदि निमित्त स्वरूप केवल बाधाओं– रूकावटो को दूर करते हैं। तामसिक रूकावटो के क्षय की पूर्ति सात्विक प्रकृति आकर करती है।

इस जात्यन्तर परिणाम में यानी सिद्धियों की उत्पत्ति में मन्त्र, तप आदि निमित्त बनते हैं। हमारे अन्दर छिपी पड़ी दिव्य शक्तियाँ मन्त्र–तप आदि से बाधाओं रूकावटो के हटने पर प्रकट हो जाती हैं। यही सिद्धियों की प्रादुर्भूत होने का रहस्य है।

15.5 शब्दावली

जन्मादि	–	जन्म आदि (जन्म औषधि, मन्त्र, तप और समाधि)
अनायास	–	बिना प्रयत्न, संयोग से
आरोहण	–	आगे बढना, अग्रसर होना, उन्नति
जागृत	–	जागना, प्रकट होना
विलक्षण	–	विशिष्ट लक्षण, विशेष
प्रादुर्भाव	–	उत्पन्न होना, प्रकट होना
अपूर्व	–	जो पहले नहीं था
कायाकल्प	–	आमूल चूल परिवर्तन, शरीर का श्रेष्ठ–उत्तम हो जाना,
परिणाम	–	परिवर्तन
तद्रूप	–	उसी के अनुरूप, वैसा ही
अर्वाचीन	–	आधुनिक
दग्ध	–	अग्नि में जल जाना
तारक	–	तारने वाला, उद्धार करने वाला
पुनरावृत्ति	–	पुनः आवृत्ति, दुहराना
सोदाहरण	–	उदाहरण सहित

15.6 अभ्यास प्रष्नों के उत्तर

1. (क) जन्मजा **(ख)** मन्त्रजा **(ग)** मन्त्रजा **(घ)** समाधिजा **(ङ)** ओषधिजा

2. (क) 3 **(ख)** 4 **(ग)** 3 **(घ)** 2 **(ङ)** 1

3 (क) पूर्व जन्म के पुण्यों के प्रभाव से कपिल आदि ऋषियों की तरह जन्म से ही बिना किसी साधना के ही सिद्धि मिल जाना जन्मजा सिद्धि है। जबकि संयम समाधि (साधना आदि) से उत्पन्न सिद्धि समाधिजा सिद्धि कहलाती है।

(ख) मन्त्रजा सिद्धि मन्त्र जप साधना से चित्त में एकाग्रता परिणाम से होती है जबकि ओषधिजा सिद्धि ओषधि आदि सेवन द्वारा चित्त में सात्त्विक परिणाम से होती है।

(ग) किसी वस्तु के निर्माण में जो शक्ति काम करती है उसे निमित्त कारण कहते हैं जबकि सामग्री आदि उपादान कारण कहलाती हैं। जैसे घड़े के निर्माण में कुम्हार निमित्त कारण है और मिट्टी पानी आदि उपादान कारण।

(घ) जो तप श्रद्धा पूर्वक निष्काम भाव से किये जाते हैं वे सात्त्विक तप होते हैं जबकि जो तप फल की इच्छा से सम्मान–सत्कार पूजा आदि प्राप्त करने के लिए किये जाते हैं या प्रभाव प्रदर्शन व पाखण्ड स्वरूप किये जाते हैं वे राजसिक तप हैं।

(ङ) वाणी का संयम तथा सत्य प्रिय वचन बोलना, असत्य कटुवचन से परहेज आदि वाचिक तप है जबकि मन का संयम शुद्धता पवित्रता प्रसन्नता का अभ्यास आदि आन्तरिक तप मानस तप कहलाते है।

4 (क) असत्य **(ख)** असत्य **(ग)** सत्य **(घ)** सत्य **(ङ)** सत्य

5 (1) समाधि के अतिरिक्त पूर्वजन्मों की साधनाओं के फलस्वरूप जन्म से, औषधि से, मन्त्र से, तथा तप से सिद्धियाँ पायी जा सकती हैं।

(2) जन्मजा, ओषधिजा, मन्त्रजा, तपोजा और समाधिजा ये पाँच प्रकार की सिद्धियाँ होती है।

(3) मन्त्रजा सिद्धि।

(4) तप साधना।

(5) प्रणव मन्त्र यानी ऊँकार (तस्य वाचकः प्रणवः)

(6) आचार्य चाणक्य ने।

(7) योग भाष्य में व्यास मुनि का।

(8) सिद्धि मिलने के बाद शरीर मन इन्द्रियों आदि में विलक्षण शक्ति उत्पन्न हो जाने से सिद्धि पूर्व की अवस्था (एक जाति) से सिद्धि की अवस्था (दूसरी जाति) में जो अन्तर आता है, उसी को जात्यन्तर परिणाम कहते हैं।

(9) विवेक ज्ञान को तारक ज्ञान कहते हैं। यह संसार से तारने वाला (उद्धार करने वाला) है।

(10) कैवल्य पाद–1 में।

15.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूचीः–

1. पातंजल योग दर्शन– गीताप्रेस गोरखपुर

2. गोयन्दाका, हरिकृष्णदास (टीकाकार) पातंजल योग दर्शन, गीताप्रेस गोरखपुर।

3. आरण्य स्वामी हरिहरानन्द पातंजल योग दर्शन– मोती लाल बनारसी दास दिल्ली।

4. कल्याण योगाङ्क (दशवें वर्ष का विशेषांक)– गीता प्रेस गोरखपुर।

5. कल्याण साधनाङ्क (पद्रहवें वर्ष का विशेषांक)– गीता प्रेस गोरखपुर।

6. पं॰ श्री राम शर्मा आचार्य वाङ्गमय साधना से सिद्धि (भाग एक एवं दो)– अखण्ड ज्योति संस्थान मथुरा।

7. पं॰ श्री राम शर्मा आचार्य वाङ्गमय– साधना पद्धतियों का ज्ञान और विज्ञान– अखण्ड ज्योति संस्थान मथुरा।

8. पं॰ श्री राम शर्मा आचार्य वाङ्गमय– अपरिमित सम्भावनाओं का आगार मानवी व्यक्तित्व– अखण्ड ज्योति संस्थान मथुरा।

9. उपाध्याय बलदेव– भारतीय दर्शन– शारदा मंदिर वाराणसी।

10. सरस्वती, स्वामी विज्ञानानन्द– योग विज्ञान– योग निकेतन ट्रस्ट, ऋषिकेश।

15.9 निबन्धात्मक प्रश्नः–

1. महर्षि पतंजलि के अनुसार सिद्धियाँ कितने प्रकार की होती हैं। विवेचना कीजिए।
2. जन्मजासिद्धि क्या है? स्पष्ट करें।
3. ओषधिजा से होने वाली सिद्धि का उदाहरण सहित वर्णन कीजिए।
4. तप क्या है? मानव जीवन में तप के महत्त्व को स्पष्ट कीजिए।
5. तपोजा सिद्धि का सविस्तार वर्णन करें।
6. समाधिजा सिद्धि का आशय सोदाहरण बताइये।
7. ग्रहीतृ विषयक समाधिजा सिद्धि क्या है? समझाइये।

इकाई–16 अणिमादि अष्ट सिद्धियाँ

16.1 प्रस्तावना

16.2 उद्देश्य

16.3 अणिमा आदि अष्ट सिद्धियाँ

16.3.1 पातंजल योग दर्शन में अणिमा आदि अष्ट सिद्धियाँ

16.3.2 कतिपय अन्य योग ग्रन्थों/योगियों की दृष्टि में अष्ट सिद्धियाँ

16.3.3 सिद्धियों का आधार दैवी सम्पदाएं

16.3.4 शरणागति से सिद्धियों की प्राप्ति सहज

16.3.5 अणिमादि सिद्धियों की समीक्षा

16.4 सारांश

16.5 शब्दावली

16.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

16.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

16.8 निबन्धात्मक प्रश्न

16.1 प्रस्तावना

जिस प्रकार पौराणिक कथाओं में ईश्वर साक्षात्कार से पूर्व उसकी माया शक्ति भिन्न–भिन्न रूपो में प्रकट होकर भक्त को प्रलोभन देती है जिसमें फंस जाने पर भक्त भगवान से दूर हो जाता है किन्तु उनकी उपेक्षा कर देने पर भगवान भी मिल जाते हैं और वे सभी माया शक्तियाँ भी, जो भक्त के रास्ते में रूकावट डालने आई थीं।

इसी प्रकार योग साधना में भी आत्म साक्षात्कार (कैवल्य) से पूर्व अष्ट सिद्धियों रूपी अलौकिक शक्तियाँ आती हैं जिन पर मोहित होकर योगी योग भ्रष्ट भी हो सकता है और इनकी उपेक्षा कर साधना में आगे बढ़ते हुए कैवल्य हो जाने पर आत्म साक्षात्कार के साथ–साथ इन सिद्धियों का स्वामी बना लोक कल्याण एवं ईश्वरीय संकल्पों में इनका सदुपयोग भी कर सकता है।

प्रस्तुत इकाई में इन्हीं अलौकिक शक्ति स्वरूपा अष्ट सिद्धियों की विवेचना है जो योगी को सम्प्रज्ञात समाधि में भूतजय होने पर प्राप्त होती हैं, जिनके अध्ययन से आप यह समझ सकेंगे कि मनुष्य जीवन में कुछ भी असम्भव नहीं है आवश्यकता है तो सिर्फ अपने प्रयत्न

और पुरुषार्थ को सही दिशा देने की। यह समझ आपको अपने व्यक्तित्व के निर्माण एवं सार्थक जीवन जीने में अवश्य ही सहायक सिद्ध होगा।

16.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप–

☞ अणिमा आदि अष्ट सिद्धियों, इन महासिद्धियों के बारे में अवगत् हो सकेंगे।

☞ आप यह समझ सकेंगे कि सिद्धियाँ कोरी कल्पना नहीं अपितु चेतन विज्ञान (योग) का सत्य निष्कर्ष हैं।

☞ अतीन्द्रिय क्षमताओं के सम्बन्ध में पाश्चात्य मनोविज्ञान के निष्कर्षो से भी अवगत हो सकेंगे।

☞ आप की इस जिज्ञासा का समाधान भी हो सकेगा कि हमारे ऋषि, मुनि, योगी, संत, महापुरुष कैसे सभी ज्ञात–अज्ञात बातें जान जाते थे एवं कैसे उनके शाप–आशीष फलीभूत होते रहे है?

☞ आप यह भी समझ सकेंगे कि सच्चा योगी सिद्धियों का प्रदर्शन नहीं करता और सिद्धियों का प्रदर्शन करने वाला, सच्चा योगी नहीं होता और न ही वे सच्ची सिद्धियाँ होती हैं।

16.3 अणिमादि अष्ट सिद्धियाँ

साधना और सिद्धि के परस्पर सम्बन्ध की स्वीकार्यता प्रायः हर प्रकार की साधनाओ में देखने को मिलती है। साधना का अर्थ है साथ लेना, संयम करे लेना, ठीक कर लेना, व्यवस्थित और अनुकूल बना लेना आदि। सर्कस का रिंग मास्टर हाथी, शेर, भालू जैसे हिसंक पशुओं को साध कर उनसे मनोनुकूल काम करा लेता है। घोड़े बैल आदि पशु साध लिए जाने पर खेती व व्यवसाय के अनुकूल होकर लाभकारी बन जाते हैं। इसी प्रकार मनुष्य भी जब अपने शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि प्राण आदि को साध लेता है यानी इन पर अपना नियन्त्रण कर लेता है, अनुशासन के अभ्यास से जब इन्हे अनुशासित कर लेता है तब ये उस साधक के लिए अनेकों प्रकार से और अधिक लाभकारी हो जाते हैं और तब ये सामान्य से असामान्य कार्य करने में भी समर्थ हो जाते हैं, इनके अन्दर विलक्षण शक्तियों का जागरण हो जाता है अर्थात् तब साधक के अन्दर अलौकिक विलक्षण शक्तियाँ जागृत हो जाती हैं, इन्हे ही सिद्धियाँ कहते हैं।

सिद्धियों के प्रादुर्भाव से व्यक्ति (योगी) सामान्य से असामान्य हो जाता है। उसके शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि में अलौकिक सामर्थ्य आ जाता है जिससे वह अपने शरीर को अपने इच्छानुसार छोटा या बड़ा, हल्का या भारी बना सकता है, हवा में उड़ सकता है, पानी में नीचे तल में जाकर रह सकता है। दूरस्थ वस्तु को देख सकता है, सुन सकता है, जान सकता है, कहीं से कोई सामान मंगा सकता है अपने सूक्ष्म शरीर को किसी अन्य शरीर में प्रवेश करा सकता है .....इत्यादि। योगी की ये सामर्थ्य ही उसकी सिद्धि कहलाती है।

16.3.1 पातंजल योग दर्शन में अणिमा आदि अष्ट सिद्धियाँः–

प्रायः सभी यौगिक ग्रन्थों में चित्त की शुद्धता एवं निर्मलता के होने पर इन सिद्धियों या विभूतियों के मिलने की बात कही गई है। समाधि में ऐसी अनेक सिद्धियों का प्रादुर्भाव होता है। महर्षि पतंजलि ने भी योग सूत्र में इन विभूतियों या सिद्धियों की चर्चा की है।

सिद्धियाँ अनेकों हैं जिनमें से अष्ट सिद्धियों का विशेष महत्त्व है। क्योंकि इन्हीं आठ सिद्धियों में अन्य सिद्धियाँ समाहित हो जाती है। अष्ट सिद्धियों का उल्लेख पतंजलि ने विभूतिपाद में संयम जन्य विभूतियों के अन्तर्गत किया है। ये समाधि से होने वाली सिद्धियाँ हैं।

सम्प्रज्ञात समाधि में योगी जब पंचमहाभूतों के विभिन्न रूपों में संयम करता है तो उसे पंचमहाभूतों पर विजय प्राप्त हो जाती है–

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्व संयमाद् भूतजयः। (योगसूत्र 3/44)

योगी जब भूतों पर विजय प्राप्त कर लेता है तब उसके अन्दर अणिमा आदि आठ सिद्धियों का प्रादुर्भाव होता है (साथ की काय सम्यत् होती है और उन पाँचों भूतो के धर्मो से रूकावट नहीं होती)–

'ततोऽणिमादि प्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मान भिधातश्च। (योगसूत्र 3/45)

ऊपर वर्णित अष्ट सिद्धियों के नाम इस प्रकार हैं–

अणिमामहिमाश्चैव लघिमा गरिमा तथा।

प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्ट सिद्धयः।।

अर्थात् अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व या यत्रकामावसायित्व– ये आठ योग सिद्धियाँ हैं।

कुछ योग ग्रन्थों में यत्रकामावसायित्व को वशित्व से अलग किस्म की आठवी सिद्धि मानी गई है और गरिमा को महिमा के अन्दर समाहित कर लिया गया है। इन अष्ट सिद्धियों का अर्थ और स्वरूप निम्न है–

1. अणिमा सिद्धिः– अपने शरीर को छोटा करके अणु के समान सूक्ष्म रूप धारण कर लेना अणिमा सिद्धि है। रामायण में जिस प्रकार हनुमान जी सुरसा के मुंह में प्रवेश करके वापस आ गये तथा वे जिस रूप में लंका में प्रवेश करके उसका निरीक्षण किया था, वह अणिमा सिद्धि ही थी जिससे उन्होंने अपने शरीर को अणु रूप बना लिया था।

अणिमा शब्द अणु से बना है। अणु शब्द का अर्थ है अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व। इस सूक्ष्म तत्त्व की जो पराकाष्ठा है उसका नाम है अणिमा, जिससे परे कोई और सूक्ष्म वस्तु हो ही नहीं सकती। जब योगी इच्छा करते ही अपने शरीर को सूक्ष्म अणु से भी सूक्ष्मतर कर लेता है तब उसे अणिमा सिद्धि कहते हैं। स्थूल शरीर की अपेक्षा इन्द्रियाँ सूक्ष्म हैं, इन्द्रियों से अधिक सूक्ष्म मन है, मन से सूक्ष्म बुद्धि है और बुद्धि से भी सूक्ष्म आत्मा है। आत्मा ही सूक्ष्म की पराकाष्ठा है। अतएव अणिमा शब्द उस आत्म तत्त्व की सत्ता को भी परिलक्षित करता

है। इसीलिए कुछ विद्वानों ने मैं ही अणिमा हूँ इस तरह के प्रत्यक्ष अनुभव को भी अणिमा सिद्धि माना है। (योग सिद्धि का रहस्य–योगांक, गीताप्रेस गोरखपुर)

2. लघिमाः– लघु शब्द का अर्थ है हल्का। जैसे रूई, पक्षी का रोआं आदि। अपने शरीर को रूई के समान हल्का बना लेना लघिमा सिद्धि है। इस सिद्धि के द्वारा योगी शरीर को हल्का बनाकर आकाश गमन कर सकता है। यानी लघिमा सिद्धि से ही आकाश गमन आदि सिद्धि भी सम्भव है। लघिमा सिद्धि से योगी पानी, कीचड़, कंटक (काँटे) आदि पर बिना किसी बाधा के चल सकता है क्योंकि वह शरीर को हल्का बनाकर काँटे आदि से ऊपर उठा लेगा और हवा में चलता रहेगा, जिससे पानी काँटा या पंक (कीचड़) आदि उसके चलने में कोई बाधा नहीं पहुँचा पायेगे। आकाश गमन में समर्थ हो जाने से योगी कभी भी कहीं भी पहुँच सकता है।

3. महिमाः– महिमा शब्द का सम्बन्ध महत् या बड़ा से है। अपने शरीर कर पहाड़ के समान बड़ा (विशाल) बना लेने की शक्ति का होना ही महिमा सिद्धि है। जैसे रामायण में हनुमान जी सुरसा के सामने किया था। महाभारत में भीम के राक्षसी से उत्पन्न पुत्र घटोत्कच ने भी महाभारत युद्ध में कर्ण के वाण से मरते समय विशाल रूप धारण कर कौरव सेनाओं को दबा कर मार डाला था। यद्यपि यह उसकी राक्षसी माया थी। फिर भी इसमें महिमा सिद्धि जरूर रही होगी। एक अन्य उदाहरण भागवत पुराण से दिया जा सकता है। भगवान वामन द्वारा तीन पग में तीनों लोकों को माप लेना यानी शरीर को तीनो लोकों में व्यापक बना लेना–महिमा सिद्धि ही मानी जायेगी।

अणिमा, लघिमा एवं महिमा उपर्युक्त सिद्धियाँ शरीर की सिद्धि है। यानी ये देह सम्बन्धी सिद्धियाँ हैं।

4. प्राप्तिः– इच्छा मात्र से कहीं से भी कोई पदार्थ प्राप्त कर लेने की शक्ति, प्राप्ति सिद्धि कहलाती है। (अर्थात् सर्वथा सर्वपदार्थो की प्राप्ति ही प्राप्ति सिद्धि है)। यह इन्द्रियों से प्राप्त होने वाली सिद्धि है।

कुछ विद्वानों के अनुसार प्राप्ति सिद्धि वह है जिसके द्वारा योगी जब चाहे तब एक लोक से दूसरे लोकों में यानी ग्रह, उपग्रह, सूर्य, चन्द्र आदि लोकों पर जहाँ चाहे वही पहुँच सके। (कल्याण योगांक–योग की विभिन्न सिद्धियाँ)

स्वामी हरिहरानन्द आरण्य के अनुसार प्राप्ति सिद्धि से योगी यदि चाहे तो अंगुली के अग्रभाग से चन्द्रमा को स्पर्श कर सकता है। अर्थात् प्राप्ति सिद्धि से चन्द्रमा तक पहुँच जाना या चन्द्रमा तक को प्राप्त कर लेना सम्भव है।

5. प्राकाम्यः– प्राकाम्य शब्द का अर्थ है इच्छा का अनभिघात यानी बिना रूकावट के इच्छा का पूर्ण होना। जो भी इच्छाएं कामनाएं हो उनका तत्काल पूर्ण हो जाना अथवा जो भी कार्य हों उनका तत्काल इच्छामात्र से (बिना किसी बाधा या रूकावट के अनायास ही) सिद्ध (सम्पन्न) हो जाना प्राकाम्य सिद्धि है।

6. वशित्वः– पंचमहाभूतों तथा भौतिक पदार्थों को वश में कर लेने की शक्ति ही वशित्व सिद्धि है। इसके द्वारा समस्त सांसारिक वस्तुओ के अलावा जीव जन्तुओं को भी अपने वश में कर लेने (अपने अनुकूल बना लेने) की सामर्थ्य आ जाती है।

साथ ही यह कर्मों में अलिप्त रहने और विषय भोग में आसक्त न होने की सामर्थ्य देने वाली सिद्धि भी है। जैसे भगवान श्री कृष्ण ने गोपिकाओं के साथ रास लीला रचाते हुए भी अपने चित्त को किसी में भी आसक्त नहीं होने दिया। स्वयं को अपने ब्रहम स्वरूप में ही निश्चल रूप में रखे रहा।

7. ईशित्वः– योगी में भूत एवं भौतिक पदार्थो की उत्पत्ति, स्थिति और लय (विनाश) करने का सामर्थ्य का हो जाना ही ईशित्व सिद्धि है। इस सिद्धि के द्वारा अन्य प्राणियों पर प्रभाव डालने उन पर शासन करने की सामर्थ्य आ जाती है।

8. यत्रकामावसायित्वः– यत्रकामावसायित्व का अर्थ है प्रत्येक संकल्प के पूर्ण हो जाने की सामर्थ्य आ जाना। इस सिद्धि से योगी के संकल्पानुसार ही पदार्थों का स्वभाव हो जाता है। यानी योगी के इच्छानुसार विष का स्वभाव भी बदल सकता है। वह योगी यदि संकल्प करे तो अमृत की जगह विष खिलाकर भी किसी को जीवित कर सकता है।

उपर्युक्त सिद्धि–सामर्थ्य होते हुए भी योगी के संकल्प ईश्वरीय नियम के विपरीत नहीं होते। ईश्वर के संकल्पानुसार ही योगियों का संकल्प होता है।

यत्रकामावसायित्व सिद्धि से सम्पन्न योगी (अर्थात् कामावसायी योगी) शुद्ध चित्त और न्यायकारी होते हैं। इसीलिए उनका संकल्प ईश्वर के संकल्प और उसकी आज्ञा के विपरीत नहीं होता। इसलिए जब कभी भी ऐसे योगी अपने इस सिद्धि का प्रयोग करते हैं तो वह ईश्वर के संकल्प और उसके आज्ञानुसार न्याय व व्यवस्था के संचालन में स्वीकृति, सहयोगार्थ ही होता है।

अस्तु कामावसायी योगी सर्व सामर्थ्य वाला होते हुए भी गुरुओं के भी गुरु (सापूर्वेषामपिगुरु) नित्य सिद्ध ईश्वर के संकल्प एवं उसकी आज्ञा के विरूद्ध संकल्प नहीं कर सकता।

गरिमा सिद्धिः– कुछ योग शास्त्रों में गरिमा सिद्धि को 'महिमा' में ही सम्मिलित कर लिया गया है जबकि कुछ शास्त्र गरिमा की गणना अलग स्वतन्त्र सिद्धि के रूप में करते हैं।

गरिमा यानी गुरुत्व या भारी। अपने शरीर को भारी बना लेने की शक्ति गरिमा सिद्धि है। महाभारत वन पर्व में वर्णित कथा के अनुसार हनुमान जी ने भीमसेन के मार्ग में रूकावट डालने के लिए गरिमा सिद्धि का प्रयोग किया था। उन्होने अपनी पूँछ को इतना भारी बनाकर भीम का रास्ता रोक रखा था कि 10 हजार हाथियों के बल वाले महाबली भीम हनुमान जी की पूँछ को उठाकर रास्ते से दूर करना तो क्या पूँछ को हिला तक नहीं सके। यह गरिमा सिद्धि ही थी।

उपर्युक्त सिद्धियाँ पंचभूतों की पाँच स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व रूप में संयम करने से प्राप्त होती हैं। अणिमा, लघिमा, महिमा तथा प्राप्ति सिद्धियाँ भूतो के स्थूल रूपों में संयम करने से प्राप्त होती है। प्राकाम्य सिद्धि भूतों के स्वरूप में संयम करने से प्राप्त होती है। वशित्व सिद्धि भूतों के सूक्ष्म रूप में संयम करने से मिलती है। ईशित्व सिद्धि अन्वय में संयम करने से प्राप्त होती है तथा यत्रकामावसायित्व सिद्धि अर्थवत्व में संयम करने से प्रादुर्भूत होती हैं। ये सभी सिद्धियाँ भूतजय का फल हैं। यानी पंचभूतों के रूपों में संयम करने पर भूतो पर विजय प्राप्त हो जाने से प्रादुर्भूत होती है। इन सिद्धियों के

साथ–साथ योगी को रूप, लावण्य, बल और वज्रतुल्य दृढ़ता– ये सब कायसम्पत्तियों की भी प्राप्ति हो जाती है तथा महाभूत योगी के कार्यो में रूकावट भी नहीं डालते, जिनका अध्ययन आप इकाई– 14 संयमजन्य विभूतियों के अन्तर्गत कर चूके हैं।

16.3.2 कतिपय अन्य योग ग्रन्थों/योगियों की दृष्टि में अष्ट सिद्धियाँः–

उपर्युक्त वर्णित अणिमा आदि अष्ट सिद्धियों की विवेचना महर्षि पतंजलि के योग दर्शन के आधार पर की गई। यद्यपि योग दर्शन में वर्णित आठ सिद्धियाँ ही अष्ट महासिद्धियों के रूप में विख्यात हैं। फिर भी कई अन्य शास्त्रों में अष्ट सिद्धियों के रूप, में कुछ अलग–अलग नाम मिलते हैं जिनका भाव व तात्पर्य अणिमा आदि अष्ट सिद्धियों में ही समाहित है। इनमें से कुछ उदाहरण निम्नवत् हैं–

i श्रीमद् भागवत् में वर्णित अणिमा सिद्धियाँः–

श्री मद्भागवत् में एकादश स्कन्ध के 15 वें अध्याय में उद्धव जी के प्रश्नों के उत्तर में भगवान श्री कृष्ण ने जिन सिद्धियों की बात कही है उनके नाम हैं– **1.** अणिमा **2.** महिमा **3.** लघिमा **4.** प्राप्ति **5.** प्राकाम्य **6**. ईशित्व **7.** वशित्व **8.** कामावसायित्व **9.** अनुर्मिमत्व **10.** दूर श्रवण सिद्धि **11.** दूर दर्शन सिद्धि **12.** मनोजव सिद्धि **13.** कामरूप सिद्धि **14.** परकाया प्रवेश **15.** स्वच्छन्द मरण **16.** देवक्रीड़ानुदर्शन **17.** यथा संकल्पसंसिद्धि **18.** अप्रतिहतगति और आज्ञा **19.** त्रिकालज्ञता **20.** अद्वन्द्वता **21.** परचित्ताद्यभिज्ञता **22**. प्रतिष्टम्भ **23**. अपराजय **24.** ख्याति।

उपर्युक्त 24 सिद्धियों में से प्रथम आठ यानी क्रम संख्या 01 से लेकर 08 तक अणिमा आदि अष्ट महासिद्धियाँ हैं।

क्रमांक 9 से 18 तक की दस सिद्धियों गौण सिद्धियाँ कहलाती हैं। तथा क्रमांक 19 से लेकर 24 तक की सिद्धियों की गणना साधारण सिद्धियों में होती है। इन सभी सिद्धियों का अर्थ निम्नवत् है–

अष्ट महासिद्धियाँः– क्रमांक 01 से लेकर 08 तक की यानी अणिमा से लेकर कामावसायित्व तक की ये आठ सिद्धियाँ महासिद्धियाँ कहलाती हैं क्योंकि इन की सिद्धि से शेष सभी सिद्धियाँ स्वतः प्राप्त होने लगती हैं।

इन सिद्धियों का अर्थ व विवेचना पूर्व पृष्ठों पर वर्णित योग दर्शन में अणिमा आदि अष्ट सिद्धियों के अन्तर्गत की जा चुकी है।

अब आगे की दस गौण सिद्धियाँ हैं–

9. अनुर्मिमत्वः– ऊर्मि का अर्थ है क्षुधा, तृषा, शोक, मोह, जन्म और मृत्यु। इन छः उर्मियों से यानी भूख प्यास आदि से निवृत्त या मुक्त (अन+ऊर्मि=अनूर्मि) करने की शक्ति को अनुर्मिमत्व सिद्धि कहते हैं।

10. दूर श्रवण सिद्धिः– अर्थात् दूरस्थ स्थित शब्दों को भी सुन लेने का सामर्थ्य आ जाना।

11. दूर दर्शन सिद्धिः– अर्थात् त्रिलोक में होने वाले सभी दृश्यों और कार्यों को अपने स्थान से ही देख लेने की शक्ति।

महाभारत में व्यास ने संजय को दूर दर्शन और दूर श्रवण की शक्ति प्रदान कर उनके नेत्र व कान को दिव्य बना दिया था, जिससे कि वे महाभारत युद्ध का आँखों देखा हाल धृतराष्ट्र के बताते रहे।

12. मनोजव सिद्धि– अर्थात् मन के वेग के समान शरीर से कहीं भी कभी भी पहुंच जाने का सामर्थ्य हो जाना।

13. कामरुप सिद्धि– अर्थात् अपनी इच्छा के अनुसार रूप धारण कर लेने की सामर्थ्य हो जाना।

14. परकाया प्रवेशः अर्थात् अपने शरीर से निकलकर दूसरे के शरीर में प्रवेश कर जाना। योगी द्वारा दूसरे के शरीर में प्रविष्ट हो जाने तथा निष्क्रमण करने की शक्ति प्राप्त कर लेने को परकाया प्रवेश सिद्धि कहते हैं। पुराण आदि ग्रन्थों में इनके अनेकों प्रमाण उपलब्ध होते हैं। जैसे त्रेतायुग में सुलभा नाम की सिद्धा योगिनी ने अपने योगबल से राजा जनक के शरीर में प्रवेश किया था। ऐसा महाभारत में कहा गया है। योगवाशिष्ठ में भी वर्णित है कि रानी चुड़ाला ने योग बल से अपने समाधिस्थ पति राजा शिखिध्वज के शरीर में प्रवेश किया था। आद्यशंकराचार्य का परकाया प्रवेश तो सर्व श्रुत है ही जिसके अनुसार उन्होंने उभय भारती द्वारा शास्त्रार्थ में हार जाने पर परकाया प्रवेश से रतिशास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया और पुनः शास्त्रार्थ में भारती को पराजित कर उसके पति मण्डन मिश्र को अपना शिष्य बना लिया जो आगे चलकर सुरेश्वराचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए। ऐसा माना जाता है कि आज भी हिमालय क्षेत्र में इन सिद्धियों से सम्पन्न योगी रहते हैं।

15. स्वच्छन्द मरणः– अर्थात् इच्छा मृत्यु। काल के वश में न होकर अपनी इच्छा से शरीर से प्राण निकालने की सिद्धि ही स्वच्छन्दमरण है, जैसा कि भीष्म पितामह को प्राप्त हुई थी।

16. देवक्रीड़ानुदर्शनः– स्वर्ग आदि अन्य लोको में देवता जो क्रीड़ा करते हैं उन्हे यहाँ से ही देखना और वैसी ही क्रीड़ा स्वयं कर सकने की सामर्थ्य हो जाना देवक्रीड़ानुदर्शन सिद्धि है।

17 यथासंकल्प संसिद्धिः– मन में जो भी संकल्प हो उसका तुरन्त पूर्ण हो जाना ही संकल्पसिद्धि है।

18. अप्रतिहत गति और आज्ञाः– अर्थात् आज्ञा (आदेश) और गति का कहीं भी न रूकना। इस सिद्धि से सम्पन्न योगी की हर आज्ञा का पालन होता है योगी के आदेश का पालन राजा तक करते हैं। उसकी गति भी बाधा रहित हो जाती है वह चाहे जहाँ आ जा सकता है।

अब निम्न 6 साधारण सिद्धियाँ कहलाती हैं–

19. त्रिकालज्ञताः– अर्थात् भूत, वर्तमान और भविष्य इन तीनों कालों का ज्ञान हो जाने की शक्ति आ जाना। त्रैकालिक ज्ञान सिद्धि से योगी सर्वज्ञ हो जाता है। जैसे व्यास वशिष्ठ आदि ऋषि गण।

20. अद्वन्द्वताः– इसे द्वन्द्वराहित्य सिद्धि भी कहते हैं। शीत–उष्ण, सुख–दुख, मृदु–कठिन, लाभ–हानि, जय–पराजय आदि द्वन्द्वों के वश में न होना इन पर विजय प्राप्त कर लेना ही अद्वन्द्वता सिद्धि है।

21. परचित्त ज्ञान सिद्धि या परचित्ताद्यभिज्ञताः– दूसरे के चित्त की स्थिति को जान लेना, दूसरों के मन के विचार, कल्पनाएं, इच्छाएं उसकी सोच, उसके स्वप्न आदि को जान लेना ही परचित्त ज्ञान सिद्धि है।

22. ख्याति सिद्धिः– इच्छानुसार सभी प्रकार की भोग सामग्री एवं सुखों का प्राप्त हो जाना ख्याति सिद्धि है।

23. प्रतिष्टम्भः– अग्नि, वायु, जल, शास्त्र, विष, सूर्य के ताप आदि का कोई असर न होना प्रतिष्टम्भ सिद्धि है इसे 'स्तम्भन शक्ति सिद्धि' भी कहा गया है, जिसके द्वारा योगी किसी भी वस्तु या पदार्थ के कार्य को संकल्प मात्र से स्तम्भित कर देता है यानी रोक देता है या नष्ट कर देता है जिससे उसका उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

24 अपराजय सिद्धिः– कभी भी किसी से भी पराजित न होना, अपराजेय होकर सर्वत्र विजयी होना ही अपराजय सिद्धि है।

इस प्रकार श्री मद् भागवत् में 11वें स्कन्ध के 15वें अध्याय में अष्ट महासिद्धियों, दस गौण सिद्धियों एवं 6 साधारण सिद्धियों को मिलाकर कुल 24 सिद्धियाँ बताई गई हैं। जिनमें अष्ट महासिद्धियों का विशेष महत्त्व है क्योंकि ये ईश्वर का स्वाभाविक ऐश्वर्य हैं जिन्हें योगी साधना से प्राप्त करता है।

<u>आद्य शंकराचार्य के अनुसार अष्ट सिद्धियाँः–</u>

अद्वैत वेदान्ताचार्य ज्ञानमार्गी योगी आद्य शंकराचार्य ने अष्ट सिद्धियों के नाम की गणना निम्न प्रकार से की है।

1. जन्म सिद्धिः– जन्म से ही पूर्व संचित संस्कार तथा वैभव प्राप्त होना।

2. शब्द ज्ञान सिद्धिः– श्रवण मात्र से ही ज्ञान (साक्षात्कार) हो जाना।

3. शास्त्र ज्ञान सिद्धिः– शास्त्रों के स्वाध्याय से असाधारण बुद्धि का विकास हो जाना।

4. आधि भौतिक ताप सहन शक्तिः– त्रिविध दुखों मे से आधि भौतिक दुखों को प्रसन्नतापूर्वक सहन कर लेने का सामर्थ्य आ जाना। अधिभौतिक दुख वे हैं जो वाह्य भौतिक कारणों से प्राप्त होते हैं। जैसे चोट लगना काँटा चुभना, सर्पदंश आदि।

5. आध्यात्मिक ताप सहन शक्तिः– अपने निजी शरीर व मन से प्राप्त होने वाला दुख ही आध्यात्मिक ताप है। इनके सहन का सामर्थ्य आ जाना ही आध्यात्मिक ताप सहन सिद्धि है।

6. आधि दैविक ताप सहन शक्तिः– प्राकृतिक प्रकोप आदि दैवी कारणों से उत्पन्न दुखों (जैसे बाढ़, भूकम्प, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि) का प्रभाव न पड़ने की सामर्थ्य ही आधि दैविक ताप सहन सिद्धि है।

7. विज्ञान सिद्धिः– यानी अन्तःकरण से तत्वज्ञान का स्फुरण होना।

8. विद्या सिद्धिः– विद्या (विवेक ज्ञान) के द्वारा अविद्या का नाश हो जाना ही विद्या सिद्धि है जिससे आत्मा को अपने ब्रह्म स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है।

कुछ अन्य दृष्टिकोणों से अष्ट सिद्धियों के नाम हैं–

1. परकाया प्रवेश सिद्धि

2. जल आदि में असंग सिद्धि

3. उत्क्रान्ति सिद्धि

4. ज्वलन सिद्धि

5. दिव्य श्रवण सिद्धि

6. आकाश मार्ग गमन सिद्धि

7. प्रकाशावरण क्षय सिद्धि और

8. भूतजय सिद्धि।

उपनिषदों में वर्णित अष्ट सिद्धियाँः–

साधना मार्ग के साधकों को समयानुसार जो विलक्षण शक्तियाँ सिद्धियाँ प्राप्त होती है उनकी संख्या अष्ट (आठ) है। इन अष्टसिद्धियों की विवेचना कतिपय उपनिषदों में इस प्रकार से है जिनका वर्णन पं॰ श्री राम शर्मा आचार्य जी ने 'साधना से सिद्धि' में किया है–

1 आत्म–सिद्धिः– इन्द्रिय संयम, मनोनिग्रह, स्थित प्रज्ञता की प्राप्ति, समाधि, आत्म साक्षात्कार, ईश्वर दर्शन, तत्वज्ञान, भूत जय, पंचक्लेशों से निवृत्ति, भव बन्धनों से मुक्ति, मोक्ष, संसार की किसी भली बुरी परिस्थिति का प्रभाव ग्रहण न करना, ये सब आत्मसिद्धि के लक्षण हैं।

2 विविधा सिद्धिः– पंच तत्वों पर नियन्त्रण, उनके द्वारा अभीष्ट वस्तुएं तथा परिस्थितियाँ उत्पन्न कर सकना दूसरों के मन में अपनी भावना तथा मान्यता की स्थापना कर देने का सामर्थ्य विविधा सिद्धि है।

3. ज्ञान सिद्धिः– तीक्ष्ण बुद्धि, तीव्र स्मरण शक्ति, भूतकाल में हो चुकी तथा भविष्य में होने वाली घटनाओं को जान सकना यानी भूत भविष्य का ज्ञान होना, दूरस्थ एवं समीपवर्ती परिस्थितियों वस्तुओं का समान रूप से साक्षात्कार हो जाना, पूर्व जन्मों का वृत्तान्त जानना, सभी प्राणियों के मनोगत भावों को जान जाना, शास्त्रों का सार दर्शन, अन्तःकरण में वैराग्य और निस्पृह प्रेम होना– ये ज्ञान सिद्धि के लक्षण हैं।

4. तप सिद्धिः– कठोर तप कर सकने की शक्ति सर्दी–गर्मी आदि द्वन्द्वों का प्रसन्नता पूर्वक सहन, भूख प्यास पर नियन्त्रण, जल थल और आकाश में विचरण कर सकने की सामर्थ्य का आ जाना ही तप सिद्धि है।

5. क्षेत्र सिद्धिः– थोड़े स्थान में बहुत विस्तृत वस्तुओं का समा सकना, सूक्ष्म शरीर द्वारा देश दशान्तरों और लोक लोकान्तरों में भ्रमण का सकना, अपने तेजस को बाहर दूर–दूर तक फैलाकर उस क्षेत्र के दुख तथा अभावों को दूर कर सकना तथा शरीर में स्थित देव शक्तियों का जागरण एवं उनका साक्षात्कार कर लेना क्षेत्र सिद्धि है।

6. देव सिद्धिः– सूक्ष्म शक्तियों देवताओ, यक्ष, गन्धर्व, प्रेत, पिशाच, बेताल, ब्रह्मराक्षस, छाया पुरुष आदि का अनुग्रह, स्वामित्व और सहयोग प्राप्त करना, मन्त्रसिद्धि

सिद्ध योगियों का ब्रहमरन्ध्र में सम्बन्ध सानिध्य, षट्चक्रों और कुण्डलिनी का जागरण देव सिद्धि के अन्तर्गत आता है।

7. शरीर सिद्धिः– दृष्टि या स्पर्श मात्र से दूसरों को निरोग और कष्ट मुक्त कर देना अपार शारीरिक बल, अद्भुत मनोबल, उत्कृष्ट चिंतन, निर्बाध भाषण, शाप वरदान से दूसरो को नष्ट कर देने या जीवन दान देने की शक्ति आ जाना, स्पर्श से पदार्थों का स्वादिष्ट और सुगन्धित हो जाना, स्वल्प आहार से बहुतों की तृप्ति कर देना, वाणी एवं आशीर्वचनों का सफल होना, शरीर का कायाकल्प दीर्घ जीवन या अमर हो जाना– शरीर सिद्धि है।

8. विक्रिया सिद्धिः– अपने शरीर को अन्य शरीरों में परिवर्तित कर लेना दूसरों के शरीरों को परिवर्तित कर देना, शरीर को अति भारी, अति हल्का, अति सूक्ष्म, अति विशाल, बना लेना, अन्तर्धान हो जाना, सभी कामनाओं की पूर्ति हो जाना वशीकरण आदि की शक्ति आ जाना ही विक्रिया सिद्धि कहलाती है।

औपनिषदिक अष्टसिद्धियों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि ये सभी सिद्धियाँ योग दर्शन में वर्णित अणिमा आदि अष्ट सिद्धियों में अन्तर्निहित हैं।

16.3.3 सिद्धियों का आधार दैवी सम्पदाएंः–

जिस प्रकार सूर्योदय से पूर्व हल्का उजाला व लालिमा वातावरण में आ जाती है उसी प्रकार सिद्धियों के पादुर्भूत होने से पूर्व व्यक्तित्व में दिव्य परिवर्तन परिलक्षित होने लगते हैं। व्यक्ति के विचार– व्यवहार आदि में अनेक सात्विक गुणों का समावेश होने लगता है। ये सद्गुण ही दैवी सम्पदाएं कहलाते हैं। जिस प्रकार भौतिक उन्नति का अर्थ भौतिक सम्पदाओं में सम्बर्द्धन है उसी प्रकार अध्यात्मिक या योग मार्ग में उन्नति का अर्थ भी दैवी सम्पदाओं का सम्बर्द्धन व विकास ही है। ये दैवी सम्पदाएं ही विकास करके विभूतियों और सिद्धियों के रूप, में प्रकट होती हैं। चित्त शुद्धि से ही सिद्धियों का प्रादुर्भाव होता है जो पहले दैवी सम्पदाओं के रूप में जीवन में आती है। इसीलिए हम सिद्धियों का आधार दैवी सम्पदाओं को कह सकते हैं।

गीता में श्री कृष्ण ने दैवी सम्पदा प्राप्त साधक के निम्न लक्षण बताये हैं–

अभंय सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञान योग व्यवस्थितिः।

दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।

दया भूतेष्व लोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीर चापलम्।।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नाति मानिता।

भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत।। (गीता अध्याय 16/1–3)

अर्थात् दैवी सम्पदा सम्पन्न जनों में भय का सर्वथा अभाव, अन्तःकरण की पूर्ण निर्मलता, तत्वज्ञान के लिए ध्यान योग में निरन्तर दृढ़ स्थिति और सात्विक दान, इन्द्रियों का दमन, ईश्वर तथा गुरुजनों की पूजा, अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मो का आचरण, वेद

शास्त्रों का पठन पाठन तथा भगवान के नाम और गुणों का कीर्तन, स्वधर्म पालन के लिए कष्ट सहन, शरीर एवं इन्द्रियों के सहित अन्तःकरण की सरलता, मन, वाणी और शरीर से किसी प्रकार भी किसी को कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण, अपना अपकार करने वाले पर भी क्रोध न करना, कर्मों में कर्त्तापन के अभिमान का त्याग, अन्तःकरण की उपरति अर्थात चित्त की चंचलता का अभाव, किसी की भी निन्दा आदि न करना, सब भूत प्राणियों में हेतु रहित दया, इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग होने पर भी उनमें आसक्ति का न होना, कोमलता, लोक और शास्त्र के विरूद्ध आचरण में लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओं का अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य बाहर की शुद्धि एवं किसी में भी शत्रुभाव का न होना और अपने में पूज्यता के अभिमान का अभाव– ये सब तो हे अर्जुन, दैवी सम्पदा के प्राप्त हुए पुरुष के लक्षण हैं।

उपर्युक्त लक्षण ही वे पात्रताएं है जो किसी साधक को साधना के सोपानों पर आगे बढ़ाते हैं। साधक की पात्रता का ज्यो–ज्यो विकास होता जाता है त्यो–त्यो उच्च से उच्चतर सिद्धियाँ उसे गले लगाती चली जाती हैं।

16.3.4 शरणागति से सिद्धियों की प्राप्ति सरल एवं सहजः–

योग दर्शन में वर्णित अष्ट सिद्धियाँ आदि संयम से प्राप्त होती हैं। अनेक प्रकार की बाधाओं और योग अन्तरायों का सामना करते हुए संयम की पराकाष्ठा में पहुँच पाना हर साधक के लिए आसान नहीं हो पाता। इसीलिए महर्षि पंतजलि ने ईश्वर शरणागति भक्ति का भी मार्ग बताया है–

'ईश्वर प्रणिधानात् वा' (योग सूत्र 1/23)

ईष्वर की शरणागति, प्रणव जप आदि से समस्त बाधाओं– विध्न अन्तरायों का अभाव हो जाता है–

ततः ..... अन्तरायाभावश्च। (योग सूत्र 1/29)

और समाधि की सिद्धि भी हो जाती है–

'समाधिसिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्। (योग सूत्र 2/45)

सम्प्रज्ञात समाधि में ही अणिमा आदि अष्ट सिद्धियाँ प्रादुर्भूत होती है। अतः ईश्वर की शरणगति, उसकी भक्ति व ध्यान– सिद्धियों की प्राप्ति का सरल सहज मार्ग है। यही बात भगवान् श्री कृष्ण उद्धव से कहते हैं–

''मयि युज्जतो चेत मनः उपतिष्ठन्ति सिद्धयः।''

अर्थात् हे उद्धव! मेरे में मन एकाग्र करने वाले के पास सिद्धियाँ स्वयं चलकर आ जाती हैं।

त्रिशिखब्राहमणोपनिषद में भी कहा गया है कि जो लोग इस स्थूल, सूक्ष्म और अन्य प्रकार से बने संसार को ही भगवान का रूप मानते हैं और उसकी हृदय कमल में आराधना करते हैं, वह साक्षात उन्हीं के रूप (ऐश्वर्यवान– ईश्वर की तरह) का हो जाते हैं और अणिमा आदि सिद्धियों को अनायास ही पा लेते हैं।

योग सिद्धियों का विवेचन करते हुए **भर्तृहरि** ने लिखा है कि ईश्वर के प्रति समर्पण से जब चित्त से रजोगुण (अर्थात सुख की इच्छाएं) और तमोगुण (अर्थात् पाप की इच्छाएं) नष्ट हो जाती हैं और ईश्वरीय प्रकाश की स्थिरता आ जाती है उस समय भूत और भविष्य की बातें (अर्थात् सिद्धियाँ) स्पष्ट दिखाई–सुनाई पड़ने लगती हैं।

इस प्रकार ईश्वर की भक्ति शरणागति से सिद्धियों की प्राप्ति अन्य योग साधनाओं की अपेक्षा अधिक सरल व सहज मार्ग है, इसीलिए ऋग्वेद में ऋषि का उद्घोष है–

अयं होता प्रथमः पश्यतेमतिदं ज्योतिरमृतं मृर्ष्येषु।

अयं सजज्ञे ध्रुव आ निषत्तोऽमर्त्य स्तन्वा वर्धमानः।।

ध्रुव ज्योतिर्निहितं दृशये कं मनो जविष्ठं पतयत्स्वतन्तः।

विश्व देवाः समनसः सकेता एकं क्रतुमभि वियन्ति साधु।। (ऋग्वेद 6/9/4–5)

अर्थात् नाशवान शरीर के साथ बढ़ने वाला यह अमर आत्मा प्रकट हुआ। यह जीव (चेतना) है वह ज्योति रूप, तेजोमय है। सांसारिक सुखोपभोग की तृष्णा में यह तेज नष्ट हुआ पतन का कारण बनता है जबकि परमात्मा को धारण करने से वह बढ़ता है और अदृश्य एवं अद्भुत क्षमताएं (अर्थात् सिद्धियाँ) विकसित करता है।

16.3.5 अणिमा आदि सिद्धियों की समीक्षाः–

योग साधना से प्रादुर्भूत सिद्धियों की समीक्षा दो दृष्टिकोणों से की जा सकती है। पहला– इनकी योग साधना में महत्त्व या उपयोगिता के दृष्टिकोण से और दूसरा– इनकी सत्यता असत्यता के दृष्टिकोण से। अतः अब हम निम्न बिन्दुओं पर विचार करेगें–

1. योग साधना में सिद्धियों की सार्थकता।
2. सिद्धियों की सत्यता और असत्यता।
3. वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सिद्धियो की समीक्षा और निष्कर्ष

i योग साधना में सिद्धियों की सार्थकताः–

योग साधना से चित्त की शुद्धि होने पर विलक्षण शक्ति रूप, सिद्धियों की प्राप्ति होने लगती है। ये सिद्धियाँ अनेकों प्रकार की हैं जिनको महासिद्धियाँ, गौण सिद्धियाँ एवं सहायक सिद्धियों के रूप में विभाजित किया जा सकता है। इनमें से कुछ सिद्धियाँ तो कैवल्य की तरफ बढ़ रहे योगी को बिना प्रयत्न ही मिल जाती हैं। जबकि कुछ सिद्धियों के लिए योगी को प्रयत्न (विशेष संयम) करना पडता है। सिद्धियों के सम्यक् स्वरूप, पर विचार किया जाय तो इनके दो रूप प्राप्त होते हैं– सहायक रूप और विध्न स्वरूप बाधक रूप। पंतजलि ने भी इनको सिद्धि भी कहा है और उपसर्ग (विध्न) भी। इसलिए यह विचार करना आवश्यक है कि सिद्धियाँ योग साधना में उपयोगी हैं या विध्न स्वरूप योग में बाधक।

वास्तव में सिद्धियाँ कोई वस्तु विशेष नहीं अपितु शक्तियाँ है और शक्तियाँ का स्वरूप उपयोग कर्त्ता के दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। जिस प्रकार तलवार से किसी की जान बचाई जाय तो वह तलवार अपनी उपयोगिता सिद्ध करता है किन्तु अपने अंहकार

प्रदर्शन वश यदि उसी तलवार से किसी निर्दोष की जान मार दी जाय तो वह तलवार शक्ति अनेकों तरह की समस्याएं खडी कर तलवारधारी के जीवन पथ में बाधक भी सिद्ध हो जाती है।

इसी प्रकार सिद्धियाँ भी योगी के लिए सहायक भी हैं और बाधक भी। जैसे आसन की सिद्धि से शरीर में दृढ़ता आ जाना, तप सिद्धि से अशुद्धियों का नाश हो जाना, कण्ठकूप में संयम से भूख–प्यास पर नियन्त्रण हो जाना, क्षण और क्रम में संयम करने से विवेकज ज्ञान उत्पन्न हो जाना आदि सिद्धियाँ तो योग साधना में सहायक ही होती हैं क्योंकि इनके बिना साधना मार्ग में आगे बढ़ना या कैवल्य की प्राप्ति (विवेक ज्ञान के बिना) सम्भव नहीं होगा। किन्तु चमत्कार प्रदर्शन करने के लिए या जिज्ञासा बस योगी को भटका देने वाली सिद्धियाँ भी होती हैं। जिन्हे समाधि में विघ्न ही कहा जायेगा जैसे हाथी के बल में संयम कर हाथी के समान बलवान हो जाना और अपने शक्ति का दुरुपयोग करना आदि।

इसी तरह अणिमा आदि अष्ट सिद्धियों की प्राप्ति निर्बीज समाधि से पहले ही हो जाती है। यदि योगी इन सिद्धियों को पाकर जिज्ञासा वश इनके प्रयोग परीक्षण में लग गया तो वह असम्प्रज्ञात या निर्बीज समाधि की अवस्था में पहुँचकर कैवल्य की प्राप्ति कैसे कर पायेगा? अस्तु कैवल्य से पूर्व कैवल्य साधक के लिए ये विघ्न स्वरूप हो सकती हैं किन्तु यदि इनका सदुपयोग किया जाय, इन्हें कैवल्य हेतु ही इस्तेमाल किया जाय, परम तत्व–आत्मतत्व, ईश्वर के ज्ञान की ही जिज्ञासा हो तो ये अवश्य ही सहायक हैं।

अतः योग साधक को मात्र सिद्धियों की प्राप्ति के लिए ही योग साधना नहीं करनी चाहिए किन्तु यदि साधना के मार्ग में सिद्धियाँ अनायाश आती हैं तो अपनी साधना की दिशा को सही मानते हुए सिद्धियों से प्रोत्साहित होकर, लक्ष्य की ओर ही और तीव्र वेग से उन्मुख होना चाहिए। ऐसे 'योगी के लिए उसकी सिद्धियाँ अवश्य ही सार्थक होती हैं। 'अहं' के स्तर से ऊपर उठ जाने के बाद तो सिद्धियाँ सदैव कल्याणकारी ही होती हैं।

ii सिद्धियों की सत्यता और असत्यताः–

सिद्धियों की सत्यता और असत्यता के सम्बन्ध में दोनो तरह के मत प्राप्त होते हैं। कुछ लोग सिद्धियों की सत्यता पर सन्देह नहीं करते, इन्हे पूर्णत सत्य मानते हैं तो इन पर सन्देह करने वाले और इन्हे कपोल कल्पना कह कर असत्य हराने वाले लोग भी हैं।

प्रत्यक्ष को ही एक मात्र प्रमाण मानने वाले कुछ ऐसे तथाकथित बुद्धिजीवी वैज्ञानिक या दार्शनिक हैं जो सिद्धियों को असत्य ठहराते हैं। उनका तर्क यह है कि यदि सिद्धियाँ सत्य होतीं तो इनका किसी न किसी व्यक्ति में कहीं न कहीं प्रत्यक्ष भी होता किन्तु ऐसा नहीं होता है। सिद्धियों की बातें केवल किस्से कहानी और किताबों में ही पढ़ने सुनने में आती हैं इसलिए ये कपोल कल्पना के सिवा और कुछ नहीं हैं। पुनः वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी सिद्धियाँ सत्य सिद्ध नहीं होतीं। कोई प्रकृति के नियमों के विरूद्ध अपने शरीर को छोटा–बड़ा कैसे कर सकता है? हवा में कैसे उड़ सकता है? बिना भोजन–पानी के कैसे जीवित रह सकता है? भूत–भविष्य को जान लेना, किसी के मन की बात जान लेना, पानी पर चल लेना, अदृश्य हो जाना, पदार्थों का रूप बदल देना आदि बातें सही मानना मूर्खता के सिवा और कुछ नहीं है।

उपर्युक्त तर्क देने वाले लोग तो आत्मा और ईश्वर में भी सन्देह प्रकट करेंगे और करते भी हैं। तो क्या इनके सन्देह करने से सत्य को भी असत्य माना जा सकता है? बहुत सारे बुद्धिजीवी–दार्शनिक–योगी सामान्यजन और अब वैज्ञानिक दृष्टि वाले भी सिद्धियों की सत्यता पर विश्वास हमेशा से विश्वास करते आ रहे हैं और आगे भी करते रहेंगे, बल्कि वह दिन दूर नहीं जब विज्ञान भी आध्यात्मिक सत्यताओं पर मुहर लगा दे क्योंकि धीरे–धीरे पदार्थ विज्ञान भी चेतना की ओर ही जा रहा है और सिद्धियाँ चेतन विज्ञान रूपी योग का विषय हैं, जड़ रूपी पदार्थ विज्ञान का नहीं।

प्रत्येक विज्ञान का विषय, साधन और सत्यता परीक्षण का मापदण्ड अलग–अलग होता है। जब एक विज्ञान के सत्यता मापदण्ड से दूसरे विज्ञान के सत्यता निष्कर्ष को सही सिद्ध नहीं कर सकते तो फिर भौतिकी रूपी जड़ पदार्थ का मापदण्ड चेतना विज्ञान के निष्कर्षो को सही सिद्ध कैसे कर सकता है?

और जिसे सत्य सिद्ध न किया जा सके इसका अर्थ यह नहीं होता कि वह असत्य है। पुनः जिसका प्रत्यक्ष न हो उसका अस्तित्व ही नहीं होता यह कहना वैज्ञानिक दृष्टि नहीं अपितु मूर्खता दृष्टि है। क्योंकि संसार में ऐसा बहुत कुछ है जो दिखता नहीं है किन्तु होता है। देखने की दृष्टि, साधन बदलने पर वह दिखने या अनुभव में आने ही लगता है। इसीलिए विज्ञान प्रत्यक्ष न हो पाने पर आज जिसके अस्तित्व को नहीं मानता, कल उसके अस्तित्व को स्वीकार कर लिया है, यही विज्ञान का इतिहास रहा है। यही बात सिद्धियों पर भी लागू होती हैं। सम्भव है भविष्य में वैज्ञानिक पैरामीटर्स, योग साधना जन्य विलक्षण शक्तियों के अस्तित्व को अवश्य ही सत्य सिद्ध कर दें।

सिद्धियों की सत्यता पर विश्वास करने वाले शास्त्र वर्णित विषयों को शब्द प्रमाण के रूप में स्वीकार करते है। रामायण और महाभारत की घटनाएं और अनेकों योगियो के जीवन से जुडे प्रसंग सिद्धियों के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं।

रामायाण के अनुसार हनुमान जी को अणिमा, लघिमा, महिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त थीं। जिसका उन्होने राम काज में उपयोग भी किया। वे हवा में उड़ते हुए आकाश मार्ग से समुद्र लांघ कर लंका पहुँचे। सूक्ष्म रूप से सुरसा के मुँह में प्रवेश किया और निकल आये, इसी (अणिमा) रूप से लंका में निरीक्षण किया, सुरसा को एवं सीता जी को भी अपना विशाल रूप (महिमा) दिखाया। रामायाण युद्ध में अतिवल आदि का प्रयोग किया। इसी तरह अंगद के पाँव को रावण की सभा में कोई हिला तक नहीं सका था जो उनकी गरिमा सिद्धि थी।

महाभारत काल के भीमदेव भी हनुमान की पूँछ तक नहीं हिला पाये थे। वनवास से अयोध्या वापस आने पर भगवान श्री राम एक समय में एक साथ सभी अयोध्यावासियों से भिले थे। महाभारत काल में संजय की दिव्य दृष्टि, भीष्म की ब्रहाचर्य सिद्धि, द्रोणाचार्य, कर्ण अर्जुन आदि सभी धनुधर्रो की मन्त्र सिद्धियाँ जैसे असंख्य उदाहरण सिद्धियों की सत्यता को प्रमाणित करते हैं।

इसी तरह वैदिक काल से लेकर अब तक हमारे ऋषियों, मुनियों, तपस्वियों, सन्तों योगियों के जीवन प्रसंग भी सिद्धियों के विवरण से भरे पड़े हैं। वशिष्ठ, विश्वामित्र, वाल्मीकि, आदि ऋषि हो या महात्मा बुद्ध, महावीर, गुरुनानक देव, स्वामी रामकृष्ण परमंहस,

गुरु गोरखनाथ, आद्य शंकराचार्य समर्थ रामदास, महर्षि रमण, श्री अरविन्द, स्वामी विवेकानन्द, महर्षि दयानन्द, पं॰ श्री राम शर्मा आचार्य, संत रविदास, संत तुकाराम योगी परमानन्द अवघूत, योगी विशुद्धानन्द, साई नाथ, देवरहा बाबा, लाहिणी महाशय आदि योगियों महापुरुषों तथा तिब्बत के लामा योगियों आदि के बारे में सिद्धियों से जुडे अनेकों प्रसंग प्राप्त होते हैं।

स्वामी योगानन्द की रचना' **आटोवायो ग्राफी ऑफ ए योगी**', स्वामी राम रचित ग्रन्थ 'लिविंग विद **दि हिमालयन मास्टर्स** डॉ॰ गोपीनाथ कविराज रचित **'भारतीय संस्कृति और साधना'**, अलेक्जेण्डर नील कृत '**दि मीस्टिक्स एण्ड मेजिशियन्स**' तथा पं॰ श्री राम शर्मा आचार्य वाङ्गमय **'साधना से सिद्धि'** भाग एक दो, साधना पद्धतियों का ज्ञान और विज्ञान, प्रसुप्ति से जागृति की ओर, अपरिमिति सम्भावनाओं का आगार मानवी व्यक्तित्व, गायत्री की पंचकोशी साधना एवं उपलब्धियाँ आदि ग्रन्थों में सिद्धियों की सत्यता एवं अनेक सिद्ध पुरुषों के अलौकिक प्रसंग भरे पड़े हैं।

गुरु–परम्परा–चरित साधना ग्रन्थ में भी कुछ ऐसे योगियो का वर्णन है जिनमें शून्य से उठने, भ्रमण करने, आकाश गमन आदि की सिद्धियाँ थीं। इनमें भास्कर राय, राम ठाकुर, समुज्जवल आचार्य एवं शिशिर जैसे संत विशेष उल्लेखनीय हैं। अन्त में पं॰ श्री राम शर्मा आचार्य के शब्दों में हम कह सकते हैं कि साधना से सिद्धि का सिद्धान्त पूर्णतः सत्य है, किन्तु साधना ईश्वर की नहीं अपनी की जाती है। ईश्वर के शरणागति हो अपने गुण, कर्म, और स्वभाव (चिंतन, चरित्र, और व्यवहार) को साधा जाता है। (श्रेष्ठ या ठीक किया जाता है) जिससे कि ईश्वर का ऐश्वर्य उस व्यक्तित्व में प्रकट होने लगता है जिसे सिद्धि कहते हैं।

iii वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सिद्धियों की समीक्षा एवं निष्कर्षः–

योग की सिद्धियाँ भौतिक विज्ञान के गले नहीं उतर पातीं। वह इन्हे अपने वैज्ञानिक सिद्धान्तों के विपरीत पाता है किन्तु जैसे जैसे विज्ञान की प्रगति हो रही है उसके सिद्धान्त भी व्यापक होते जा रहे है। ऐसे में वह योग के सिद्धियों को सिरे से खारिज करने के बजाय इसकी सत्यता पर अनुसंधान की ओर है। अभी उसका क्षेत्र आसन और प्राणायाम, ध्यान (एकाग्रता) तक ही सीमित है और इस क्षेत्र में अभी तक के जो वैज्ञानिक निष्कर्ष हैं वे यौगिक सिद्धान्तों की ही पुष्टि करते हैं। आशा है जब विज्ञान जड के बजाय चेतन को उसके सही रूप, में समझना शुरू करेगा तब सिद्धियाँ भी उसके समझ में सही सिद्ध हो जायेगी।

कुछ यौगिक सिद्धियों की विवेचना भी वैज्ञानिक अपने दृष्टि से करने लगे हैं। जैसे योगी बिना खाये पीये भी रह सकता है। अब यह विज्ञान की नजरों में कपोल कल्पना नहीं रह गया है। वैज्ञानिकों की शोध टीम ने यह निष्कर्ष निकाला है कि सभी भोज्य पदार्थ प्रकाश तरंगो का ही स्थूल रूप है, यदि हम किसी तरह समर्थ हो सकें तो हम पेड़–पौधों की तरह सीधे आकाश से ही पोषक तत्व प्राप्त कर सकते हैं। अब यह सामर्थ्य कैसे आयेगी, इस के लिए महर्षि पंतजलि के योग सूत्र को शोध का विषय बनाना होगा–

'कण्ठ कूपे क्षुत् पिपासा निवृत्तिः।' (योग सूत्र 3/31)

और यह शोध किसी वाह्य प्रयोगशाला मे ए.सी. में बैठकर नहीं चित्त की प्रयोगशाला में तप और संयम साधना के उपकरणों से ही सम्भव है।

इसी प्रकार हवा में उड़ना या आकाश गमन को भी विज्ञान की दृष्टि से ही सही सिद्ध किया जा सकता है। जैसे हम प्रतिदिन आकाश में उड़ते हुए पक्षियों को देखते हैं। वे अपने पंख हिलाते चलते हैं और बड़ी सहजता से उड़ते रहते हैं। उन्हे जिस गति से जिधर जाना होता है, उसी गति से उनके पंख भी फड़कते रहते है। इस प्रक्रिया में वे एक प्रकार से नीचे धरती की तरफ खीचने वाली गुरुत्वाकर्षण शक्ति को निष्फल निष्क्रिय स्तर का बना देते हैं जिससे उनके मार्ग में इस बल का कोई भी गतिरोध उत्पन्न नहीं होता। अब यहाँ प्रश्न यह है कि निरीह समझे जाने वाले इन नभचर पक्षियों के लिए गुरुत्वाकर्षण शक्ति को निष्फल कर देना यदि सम्भव हो सकता है, तो सर्वसमर्थ बुद्धिमान प्राणी मनुष्य के लिए ऐसा कर पाना पूर्णतया असम्भव ही क्यों माना जाय? क्या किसी तरह आन्तरिक शक्तियों के विकास से ऐसा सम्भव नहीं हो सकता? ऐसा अवश्य सम्भव है, यदि वह शक्ति मिल जाय जिससे हम गुरुत्वाकर्षण को निष्फल कर सकें। योगी ऐसा ही तो करता होगा। कई बार प्राण संकट में पड़ने पर ऐसा देखने को मिलता है कि व्यक्ति के अन्दर कोई ऐसी शक्ति जाग जाती है कि वह असम्भव सा कार्य कर दीखाता है। जैसे जो व्यक्ति कभी एक फुट भी नहीं उछल सकता था वह भयंकर साँप या कुत्ते से बचने के लिए भयावेश में दीवाल कूद जाता है। जेल से भागते हुए कैदी लोहे के सलाखे तक मोड़ देते हैं। इस से स्पष्ट होता है कि मनुष्य के अन्दर असम्भव को भी सम्भव कर दिखाने की सामर्थ्य प्रसुप्त रूप में होती है, जिसका जागृत हो जाना ही सिद्धि है।

अदृश्य हो जाने सम्बन्धी सिद्धियों की बौद्धिक विवेचना करते हुए **स्वामी विवेकानन्द जी** राजयोग पुस्तक में लिखते हैं कि जो व्यक्ति अपने प्राण के कम्पन्न को जितना बढ़ा लेता है वह उतनी ही ऊँची भूमिका में पहुँच जाता है। किन्तु इसके साथ सत्य यह भी है कि वह निम्न भूमिका वाले लोगों के लिए अगोचर स्तर का हो जाता है। स्वामी जी कहते हैं कि समान प्राण–कम्पन वाले व्यक्ति ही दूसरे पदार्थ प्राणी को देख सकते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि मनुष्य के लिए इस दूनिया में जो कुछ दृश्य है उन सबकी प्राण आवृत्ति एक समान है। यही कारण है कि सूक्ष्म शरीर धारी आत्माएं हमारे निकट होते हुए भी हमारे लिए अदृश्य जैसी बनी रहती हैं। उनके अनुसार यदि कोई सूक्ष्म शरीरधारी महापुरुष किसी को दर्शन देते है तो वे मात्र कृपापात्र पर इतना अनुग्रह करते हैं कि उसकी प्राण की आवृत्ति को बढ़ा कर अति उच्च और अपने समान कर देते हैं, जिससे वह उसके लिए स्थूल एवं दृश्य बन जाते हैं जबकि वहीं उपस्थित अन्य दूसरे लोगों के लिए वे सूक्ष्म स्तर के अगोचर ही बने रहते हैं। योगियों के अचानक प्रकट होने या अदृश्य हो जाने के पीछे यही सामान्य सिद्धान्त है।

किसी के मन की बात जान लेना अपने विचारों को दूसरों तक पहुँचा देना, भूत और भविष्य का ज्ञान हो जाना जैसी सिद्धियाँ भी अब विज्ञान के शोध का विषय बन चुकी हैं। पाश्चात्य मनोविज्ञान मनुष्य की अतीन्द्रिय क्षमताओं, उसके अतीन्द्रिय ज्ञान (ई. एस. पी. यानी एक्स्ट्रा आर्डिनरी सेन्स परसेप्सन) को स्वीकार करते हुए इसे चार भागों में विभाजित किया है–

1. क्लेयर वायेन्स (परोक्ष दर्शन) अर्थात् वस्तुओं या घटनाओं की वह जानकारी जो ज्ञान प्राप्ति के सामान्य आधारों के बिना ही उपलब्ध हो जाती है।

2. फ्रीकाग्नीशन (भविष्य ज्ञान) अर्थात् बिना किसी मान्य आधार के भविष्य के गर्भ में झाँककर घटनाओं को घटित होने से पूर्व जान लेना।

3. रिट्रोकॉग्नीशन (भूतकालिक ज्ञान) अर्थात् बिना किसी साधन के अविज्ञात भूत कालीन घटनाओं की जानकारी हो जाना।

4. टेलीपैथी (विचार–सम्प्रेषण) अर्थात् बिना किसी आधार अथवा यन्त्र के अपने विचार दूसरों के पास पहुँचाना तथा दूसरों के विचार ग्रहण करना।

इन अतीन्द्रिय क्षमताओं की गणना इनके जाग्रत रूप में योग की सिद्धियों के रूप में हजारो वर्षो से होती आ रही हैं जिसे पाश्चात्य मनोविज्ञान भी अब स्वीकार करने लगा है। वैज्ञानिक आधारों के अभाव में अब तक इन्हे कपोल कल्पना मात्र माना जाता था किन्तु अनेकानेक घटनाक्रमों, सिद्धि अवस्था को प्राप्त महामानवों, योगियों का विश्लेषण–परीक्षण करने पर वैज्ञानिकों ने पाया कि अतीन्द्रिय सामर्थ्य केवल कहने सुनने तक सीमित नहीं है वरन् यह तथ्यपूर्ण और विज्ञान सम्मत प्रक्रिया है।

निष्कर्षः– उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि योग ग्रन्थों में वर्णित अणिमा आदि सभी सिद्धियाँ पूर्ण सत्य हैं। यह कोई कपोल कल्पना नहीं अपितु उच्च स्तरीय अध्यात्म–योग शास्त्र के प्रयोगों का प्रतिफल होती हैं। जिसे समझने के लिए कोरा बुद्धिवाद नहीं अपितु उच्चस्तरीय समझ (विवेक) चाहिए जो कि योग मार्ग अपनाने से होने वाले शुद्ध चित्त से ही सम्भव है। इसलिए योग की सिद्धियों को या तो योगी ही जान (अनुभव कर) सकता है या वह जिसे योगी जनाना (अनुभव कराना, ज्ञात कराना) चाहे।

पुनश्च सिद्धियाँ योग साधना में सहायक भी हैं और बाधक भी। कैवल्य (मोक्ष) के इच्छुक साधक को चाहिए कि वह सिद्धियों की तरफ न भागे। अनायास प्राप्त हो जाने वाली सिद्धियों का भी उपयोग कैवल्यार्थ ही करे। कैवल्य प्राप्त योगी के लिए अणिमा आदि सिद्धियों उसके द्वारा लोक कल्याण योग साधकों के मार्ग दर्शन एवं ईश्वरीय व्यवस्था में सहयोगी होती हैं।

अभ्यास प्रश्नः–

1. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए–

(क) आकाश गमन में समर्थ बनाने वाली सिद्धि.....है।

(ख) .....सिद्धि से योगी यदि चाहे तो अपनी अंगुली से चन्द्रमा को भी स्पर्श कर सकता है।

(ग) इच्छा का अनभिघात.....कहलाता है।

(घ) अणिमा आदि अष्ट सिद्धियाँ.....संयम करने से प्राप्त होती हैं।

(ङ) अष्ट सिद्धियों की चर्चा योग सूत्र के.....पाद में की गई है।

2. सत्य/असत्य की पहचान कीजिएः–

(क) अणिमा सिद्धि से योगी अदृश्य हो सकता है।

(ख) अपने शरीर को भारी बना लेने वाली सिद्धि महिमा है।

(ग) प्राप्ति सिद्धि से योगी किसी भी लोक (स्थान) पर जा सकता है।

(घ) कामावसायी योगी किसी पदार्थ के स्वभाव को बदल सकता है।

(ङ) दैवी सम्पदा वाले की साधना शीघ्र सफल हो सकती है।

3. सही विकल्प बताइयेः–

(क) अणिमा आदि सिद्धियों की संख्या है–

(i) पाँच **(ii)** छः **(iii)** आठ **(iv)** नौ

(ख) अणिमा सिद्धि की चर्चा विभूतिपाद के निम्न सूत्र में की गई है–

(i) 44वें **(ii)** 45वें **(iii)** 42वें **(iv)** 43वें

(ग) अपने शरीर को पहाड के समान बड़ा बना लेने की शक्ति है–

(i) अणिमा **(ii)** लघिमा **(iii)** गरिमा **(iv)** महिमा

(घ) उपर्युक्त विकल्प ग में उल्लिखित चारों सिद्धियाँ हैं–

(i) बुद्धि सम्बन्धी **(ii)** देह सम्बन्धी **(iii)** मन सम्बन्धी **(iv)** अतीन्द्रिय

(ङ) श्री मद्भागवद में वर्णित अष्ट सिद्धियाँ कहलाती हैं–

(i) महासिद्धियाँ **(ii)** गौण सिद्धियाँ **(iii)** क्षुद्र सिद्धियाँ **(iv)** इनमें से कोई नहीं।

4. संक्षिप्त अन्तर बताइयेः–

(क) ईशित्व और वशित्व

(ख) प्राप्ति और प्राकाम्य

(ग) महिमा और गरिमा

(घ) मनोजव सिद्धि और काम रूप सिद्धि

(ङ) त्रिकालज्ञता और परचित्ताद्याभिज्ञता

5. संक्षिप्त उत्तर दीजिएः–

(क) यत्रकामावसायित्व सिद्धि का क्या अर्थ है?

(ख) कायसम्पत्तियाँ कौन कौन सी है?

(ग) भूतजय का अर्थ बताइये?

(घ) पंचभूतो के पाँच रूप कौन–कौन से है?

(ङ) पंचभूतों पर विजय का क्या फल होता है?

16.4 सारांश

योग साधना के द्वारा चित्त की शुद्धता एवं निर्मलता होने पर योगी के शरीर, इन्द्रिय, मन आदि में अनेक विलक्षण शक्तियाँ प्रकट होने लगती हैं जिन्हें सिद्धियाँ कहते हैं। सम्प्रज्ञात समाधि में भूतजय होने पर उच्च स्तरीय सिद्धियों का प्रादुर्भाव होता है जिन्हे अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व वाशित्व और यत्रकामावसायित्व कहते हैं। संख्या में आठ होने के नाते योग दर्शन में इन्हे अष्ट सिद्धियाँ कहा गया है। जिन्हे श्री मद्भागवत् में अष्ट महासिद्धियो का दर्जा प्राप्त है। भिन्न–भिन्न दृष्टिकोणों से भिन्न–भिन्न ग्रन्थों में अष्ट सिद्धियों की चर्चा है, यद्यपि नाम भिन्न हैं तो भी भाव एक समान है– अलौकिक दिव्य–शक्ति सम्पन्न हो जाना। यदि इन सिद्धियों से योगी लक्ष्य से भटक जाय तो वह योग भ्रष्ट भी हो सकता है। अस्मिता (अंह) को पार कर जाने के बाद योगी के पतन की आशंका नहीं रह जाती फिर ये सिद्धियाँ उसके लिए सदैव सहायक होती हैं। सिद्धियाँ सत्य हैं। अब विज्ञान भी सिद्धियों की सत्यता पर धीरे धीरे विश्वास करने लगा है। यद्यपि अभी वह आसन, प्राणायाम एकाग्रता एवं मनोविज्ञान के क्षेत्र में होने वाले स्वास्थ्यप्रद शारीरिक मानसिक लाभों एवं कतिपय अतीन्द्रिय शक्तियों की सत्यता को स्वीकार करने तक ही सीमित है।

16.5 शब्दावली

अणिमादि	–	अणिमा आदि
साधकर	–	नियन्त्रण करके, वश में रखकर
विलक्षण	–	अद्भुत
प्रादुर्भाव	–	उत्पन्न, प्रकट
संयम	–	धारणा, ध्यान और समाधि का एक जगह होना
औपनिषदिक	–	उपनिषदों में वर्णित
पंचभूत	–	पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश
पराकष्ठा	–	सर्वोच्च स्थिति
कतिपय	–	कुछ
लावण्य	–	चमक, सुन्दरता
वज्रतुल्य	–	वज्र के समान
सम्पदा	–	सम्पत्ति

16.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तरः–

1. **(क)** लघिमा **(ख)** प्राप्ति **(ग)** प्राकाम्य **(घ)** पंचभूतो में **(ड़)** विभूति
2. **(क)** सत्य **(ख)** असत्य **(ग)** सत्य **(घ)** सत्य **(ड़)** सत्य

3. (क) iii **(ख)** ii **(ग)** iv **(घ)** ii **(ङ)** i

4. (क) भौतिक पदार्थो को उत्पन्न–विनाश आदि करने की सामर्थ्य हो जाना ईशित्व है जबकि भौतिक पदार्थों को वश में कर लेने की शक्ति वशित्व सिद्धि है।

(ख) इच्छा मात्र से कहीं से भी कुछ मंगा लेने की शक्ति प्राप्ति सिद्धि है जबकि सभी इच्छाओं के पूर्ण हो जाने की सिद्धि प्राकाम्य है।

(ग) शरीर को पहाड़ के समान बड़ा बना लेने की सिद्धि महिमा है जबकि अपने शरीर या किसी अंग विशेष को भारी (वजनदार) बना लेने की सिद्धि गरिमा है।

(घ) मन के वेग के समान शरीर से चाहे जहाँ पहुँच जाने की सामर्थ्य मनोजव सिद्धि है जबकि इच्छानुसार रूप धारण कर लेने की सिद्धि काम रूप है।

(ङ) भूत वर्तमान और भविष्य तीनों कालों का ज्ञान हो जाने की सिद्धि त्रिकालज्ञता है जबकि दूसरो के चित्त (मन) में क्या चल रहा है– यह जानने की शक्ति परचित्ताद्यभिज्ञता सिद्धि है।

5 (क) यत्रकामावसायित्व सिद्धि का अर्थ है– योगी के प्रत्येक संकल्प के पूर्ण हो जाना की सिद्धि।

(ख) अष्ट सिद्धियों के साथ–साथ योगी को रूप, लावण्य, बल और वज्रतुल्य दृढ़ता की भी प्राप्ति होती है। इन्हे ही काय सम्पत्तियाँ कहते हैं।

(ग) पंचभूतो के विभिन्न रूपों में संयम करने से भूतों पर विजय प्राप्त हो जाती है जिसे भूतजय कहते हैं।

(घ) पंचभूतो (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) में से प्रत्येक की पाँच अवस्थाएँ या रूप होती हैं। ये पाँच रूप हैं– स्थूल रूप, स्वरूप, सूक्ष्म रूप, अन्वयरूप और अर्थवत्त्व रूप।

नोट– विद्यार्थी इन रूपों का विस्तृत अध्ययन यूनिट 14 में संयम जन्य विभूतियों के अन्तर्गत कर चूके हैं।

(ङ) पंचभूतो पर विजय का फल अष्ट सिद्धियों एवं काय सम्पत्त की प्राप्ति है। साथ ही ये महाभूत योगी के कार्यो में रूकावट भी नहीं डालते।

16.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. पातंजल योग दर्शन– गीताप्रेस गोरखपुर

2. आरण्य, स्वामी हरिहरानन्द, पातंजल योग दर्शन– मोती लाल बनारसी दास, दिल्ली।

3. गोयन्दाका, हरिकृष्णदास (टीकाकार), पातंजल योग दर्शन, गीताप्रेस, गोरखपुर।

4. कल्याण साधनाङ्क (पंद्रहवें वर्ष का विशेषांक)– गीता प्रेस, गोरखपुर।

5. कल्याण योगाङक (दशवें वर्ष का विशेषांक)– गीता प्रेस, गोरखपुर।

6. पं॰ श्री राम शर्मा आचार्य वाङगमय– अपरिमित सम्भावनाओं का आगार मानवी व्यक्तित्व– अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा।

7. पं॰ श्री राम शर्मा आचार्य वाङगमय साधना से सिद्धि (भाग एक एवं दो)– अखण्ड ज्योति संस्थान मथुरा।

8. पं॰ श्री राम शर्मा आचार्य वाङगमय– साधना पद्धतियों का ज्ञान और विज्ञान– अखण्ड ज्योति संस्थान मथुरा।

9. सरस्वती, स्वामी विज्ञानन्द– योग विज्ञान– योग निकेतन ट्रस्ट, ऋषिकेश।

10. उपाध्याय, बलदेव– भारतीय दर्शन– शारदा मंदिर वाराणसी।

16.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1. अष्ट सिद्धियों पर एक सार गर्भित लेख लिखें।

2. श्री मद् भागवत में महाअष्टसिद्धियाँ किसे कहा गया है? उदाहरण सहित स्पष्ट करें।

3. एक योगी के लिए उसकी अष्ट सिद्धियों के प्रासंगिता की विवेचना कीजिए।

4. अणिमा आदि अष्टसिद्धियों के सत्यासत्य पर अपने विचार प्रस्तुत करें।

5. दैवी सम्पदाएं कौन सी हैं? इन्हे सिद्धियों का आधार क्यों कहा गया है?

इकाई 17 पुरूष की अवधारणा एवं स्वरूप

17.1 प्रस्तावना

17.2 उद्देश्य

17.3 पुरूष की अवधारणा एवं स्वरूप

17.3.1 पुरूष से तात्पर्य

17.3.2 पुरूष का स्वरूप

17.3.3 पुरूष की विशेषताएं

17.3.4 पुरूष के अस्तित्व के प्रमाण

17.3.5 पुरूष की अनेकता

17.3.6 पुरूष की अनेकता के प्रमाण

17.3.7 पुरूष सिद्धान्त की समीक्षा

17.4 सारांश

17.5 शब्दावली

17.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

17.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

17.8 निबन्धात्मक प्रश्न

17.1 प्रस्तावनाः

'आत्मा' भारतीय दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सम्प्रत्यय है। अलग–अलग दर्शनों में आत्मा सम्बन्धी विचार भी अलग–2 हैं। योग दर्शन, सांख्य दर्शन के आत्मा सम्बन्धी विचार को पूरी तरह स्वीकार करता है। इन दोनों दर्शनों में आत्मा के लिए 'पुरुष' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार यहाँ पुरूष का अर्थ आत्मा से है। प्रस्तुत इकाई में पुरूष सम्बन्धी विचारों की विश्लेषण एवं व्याख्या की गयी है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप सांख्य एवं योग दर्शन में पुरूष सम्प्रत्यय (आत्मा सम्बन्धी विचार) और अपने अन्दर की चेतन शक्ति को ठीक ढंग से समझ सकेंगे जो आपके उत्कर्ष में सहायक सिद्ध होगा

17.2 उद्देश्यः–

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आपः–

- यह बता सकेंगे कि आत्मा या पुरूष तत्व किसे कहते हैं?
- आत्मा (पुरूष) का स्वरूप क्या है? कि यह आपको पता चलेगा।
- आप स्वयं की चेतन शक्ति एवं अपनी वास्तविक आन्तरिक विशेषताओं को ठीक ढंग से जान सकेंगे।

17.3 पुरूष की अवधारणा एवं स्वरूप

योग दर्शन का सांख्य दर्शन से घनिष्ट सम्बन्ध है। महर्षि कपिल प्रणीत सांख्य दर्शन भारतीय चिन्तन परम्परा में प्राचीनतम् दर्शन है। महाभारत रामायण, श्रुति, स्मृति, पुराण, श्री मद्भगवद्गीता, छान्दोग्य, प्रश्न, कठ, श्वेताश्वर आदि उपनिषदों में सांख्य एवं योग दर्शन के विभिन्न तत्वों का विवरण उपलब्ध होता है। भारतीय विचार धारा में सांख्य और योग दर्शन की गणना समान तंत्र के रूप में की जाती है और उसे सांख्य–योग दर्शन कहा जाता है। वस्तुतः महर्षि पतंजलि ने सांख्य दर्शन की तत्वमीमांसीय पृष्ठभूमि पर ही अपने योग दर्शन को प्रस्तुत किया है। योग दर्शन, सांख्य दर्शन के द्वैतवाद (प्रकृति–पुरूष सिद्धान्त), सत्कार्यवाद, प्रकृतिवाद, त्रैगुण्यवाद, विकासवाद तथा ज्ञान सम्बन्धी विचारों, त्रिविध प्रमाणों (प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द) को स्वीकार करता है। योग दर्शन, सांख्य दर्शन के तत्त्वमीमांसीय पच्चीस तत्त्वो को स्वीकार करते हुए उसके साथ 'ईश्वर' नामक छब्बीसवें तत्त्व को भी मानता है। इसीलिए कभी–कभी सांख्य दर्शन को निरीश्वर सांख्य और योग दर्शन को सेश्वर सांख्य भी कहा जाता है।

योग दर्शन, सांख्य दर्शन के द्वैतवाद को स्वीकार करता है अर्थात वह दो मूल तत्वों को मानता है– एक प्रकृति और दूसरा पुरूष।

17.3.1 पुरूष से तात्पर्यः–

प्रायः पुरूष से हमारा तात्पर्य शरीर धारी व्यक्ति से होता है, किन्तु सांख्य एवं योग दर्शन में पुरूष का अर्थ 'विशुद्ध आत्मा' है जो शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार आदि से अलग तत्व है। भारतीय दर्शन में जिसे 'आत्मा' कहा गया है उसी सत्ता (तत्त्व) को सांख्य एवं योग दर्शन 'पुरूष' कहता है। सांख्य दर्शन में पुरूष का शाब्दिक अर्थ है–

'पुर्यां शेते इति पुरूषः' अर्थात् इस शरीर रूपी पुरी में जो शयन करता है तथा जो शरीर, इन्द्रिय, मन बुद्धि आदि से भिन्न है– वह पुरुष कहलाता है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि सांख्य दर्शन में पुरुष का तात्पर्य पुलिंग पुरुष से नहीं है। अपितु शरीर के अन्दर विद्यमान, चेतन आत्मा तत्व से है, इस अर्थ में सांख्य की दृष्टि से स्त्री भी 'पुरुष' है क्योंकि उसके अन्दर भी आत्मा है जिसे सांख्य दर्शन पुरूष कहता है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति का शरीर, मन, बुद्धि आदि प्रकृति जन्य है एवं उसकी आत्मा (चेतन तत्त्व) ही पुरूष है।

पुरूष के सम्बन्ध में योग दर्शन सांख्य दर्शन के विचारों को स्वीकार करता है। सांख्य दर्शन पुरूष के विषय में मुख्यतः तीन प्रश्नों पर विचार करता है–

1. पुरूष का स्वरूप क्या है?
2. पुरूष के अस्तित्व के लिए प्रमाण क्या है?
3. पुरूष एक है या अनेक।

17.3.2 पुरूष का स्वरूपः–

पुरूष सांख्य दर्शन का महत्वपूर्ण तत्व है। इस पुरूष तत्व को ही ईश्वर कृष्ण कृत सांख्यकारिका की द्वितीय कारिका में 'ज्ञ' एवं ग्यारहवीं कारिका में 'पुमान्' कहा गया है–

व्यक्ताव्यक्त **ज्ञ** विज्ञानात्।

(सांख्यकारिका–2)

तथा

व्यक्तं तथा प्रधानं तद् विपरीतः तथा च **पुमान्**

(सां. का.–11)

व्यक्त और अव्यक्त (प्रकृति) दोनों ही त्रिगुणात्मक, अविवेकी, अचेतन, विषय, सामान्य ज्ञेय तथा परिवर्तनशील, प्रसवधर्मा हैं, किन्तु पुरूष इन दोनों से विपरीत स्वभाव वाला है। प्रकृति का विपरीत धर्मी होने के कारण पुरूष त्रिगुणातीत विवेकी, विषयी, ज्ञाता, विशेष, चेतन और अपरिणामी है।

17.3.3 पुरूष की विशेषताएंः–

सांख्य दर्शन के अनुसार 'पुरूष' की निम्नलिखित विशेषताएं है–

(क) पुरूष चेतन हैः–

सांख्य दर्शन में प्रकृति एवं पुरूष दो नित्य, मूल तत्व हैं। प्रकृति जड़ है जबकि पुरूष चेतन है। पुरूष चैतन्य स्वरूप है। चेतना पुरूष का गुण नहीं बल्कि स्वभाव है। पुरूष की यह चेतना किसी भी अवस्था में समाप्त नहीं होती। यह जाग्रत स्वप्न एवं सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में विद्यमान रहती है।

(ख) पुरूष त्रिगुणातीत है–

सांख्य के अनुसार प्रकृति त्रिगुणात्मिका है जबकि पुरूष सत्, रज एवं तम् इन तीनों गुणों से रहित है। वह निस्त्रैगुण्य या त्रिगुणातीत है।

(ग) **पुरूष सुख–दुःख से परे हैं–**

सांख्य दर्शन में पुरूष सुख एवं दुख दोनों से परे है। सुख एवं दुख प्रकृति से उत्पन्न विकार हैं। पुरूष इससे सर्वथा मुक्त है किन्तु अज्ञानवश वह प्रकृति की विकृतियों शरीरादि को अपना स्वरूप समझ लेने के कारण वह सुख दुख से प्रभावित होने लगता है।

(घ)**पुरूष सत चित तो है किन्तु आनन्द स्वरूप नहीं:–**

वेदान्त दर्शन में पुरूष अर्थात आत्मा को आनन्द स्वरूप (सच्चिदानन्द) कहा गया है किन्तु सांख्य दर्शन आनन्द को सतोगुण से उत्पन्न मानता है और पुरूष को त्रिगुणातीत कहता है। इसलिए पुरूष गुणों से रहित होने के कारण आनन्द से रहित है, वह आनन्द स्वरूप नहीं है। इस प्रकार सांख्य दर्शन में आत्मा (पुरूष) सच्चिदानन्द (सत्+चित्+आनन्द) स्वरूप नहीं है। वह सत् स्वरूप और चित् स्वरूप तो है किन्तु आनन्द स्वरूप नहीं।

(ड)**पुरूष अकर्ता एवं द्रष्टा है–**

सांख्य दर्शन कहता है कि 'असंगोऽयं पुरूषः' अर्थात् पुरूष स्वभावतः अकर्ता है। वह प्रकृति के विकारों का मात्र द्रष्टा है, कर्ता नहीं है और इस कारण वह मात्र साक्षी है।

(च)**पुरूष अनेक हैं–**

सांख्य दर्शन मानता है कि प्रत्येक शरीर में अलग–अलग आत्माएं (पुरूष) है यानी पुरूष एक नहीं अनेक हैं जबकि वेदान्त दर्शन में शंकराचार्य एक ही आत्मा को स्वीकार करते हैं। (सांख्य आत्मा की अनेकता को तर्कों के आधार पर सिद्ध करता है जिसे विद्यार्थी इसी इकाई में आगे अध्ययन करेंगे।)

17.3.4 पुरूष के अस्तित्व के प्रमाण

सांख्य दर्शन तर्को के आधार पर पुरूष के अस्तित्वके सिद्ध करने का प्रयास करता है। 'सांख्यकारिका' में ईश्वर कृष्ण कहते हैं–

''संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्यात् अधिष्ठानात्''।

पुरूषोस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थ प्रवृत्तेश्च।।

(सांख्य कारिका–17)

इस कारिका में पुरूष की सत्ता (अस्तित्व) को सिद्ध करने के लिए पांच तर्क दिये गये हैं जो निम्न हैं:–

1. **संघात परार्थत्वात**:–

संसार के जितने भी सावयव (संघात) पदार्थ है वें अपने से भिन्न किसी चेतन के उपयोग के लिए होते हैं। जैसे पलंग या खाट स्वयं के लिए नहीं होते वे किसी परार्थ यानी अन्य व्यक्ति के शयन के लिए होते हैं। इसी प्रकार शरीर इन्द्रिय मन, बुद्धि अहंकार इत्यादि संघातमय पदार्थो से भी इनके उपयोगकर्ता (भोक्ता) चेतन पुरूष का अस्तित्व सिद्ध होता है। इस तर्क को प्रयोजनात्मक (Teteological) तर्क कहा जाता है।

2. **त्रिगुणादि विपर्यात्**:–

विश्व की समस्त वस्तुएं त्रिगुणात्मक हैं। तार्किक दृष्टिकोण से कोई ऐसा भी होना चाहिए जो इन त्रिगुणात्मक पदार्थो का द्रष्टा हो और स्वयं त्रिगुण से परे हो। ऐसा तत्व ही पुरूष है। यह प्रमाण तार्किक (Logical) कहा जाता है।

3. **अधिष्ठानात्**:–

जिस प्रकार रथ आदि जड पदार्थ चेतन सारथी से अधिष्ठित (प्रेरित) होने पर ही कार्य करते हैं उसी प्रकार शरीर, मन, बुद्धि आदि भी त्रिगुणात्मक एवं जड़ है। अतः इनका भी कोई अधिष्ठाता चेतन तत्व होने चाहिए जो कि पुरूष है। इस प्रकार प्रकृति एवं उसके विकारों के अधिष्ठाता की दृष्टि से पुरूष की सत्ता सिद्ध होती है। यह प्रमाण तात्विक (Ontological) कहा जाता है।

4. **भोक्तृभावात्**:–

संसार के समस्त पदार्थ सुख दुख आदि उत्पन्न करने वाले हैं, भोग्य है, अतः इनका भोक्ता, अनुभव कर्ता भी कोई होना चाहिए। प्रकृति एवं उससे उत्पन्न शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तो जड़ (अचेतन) हैं, इनमें भोग करने की शक्ति नहीं होती। अतः इनके भोक्ता के रूप में 'पुरूष' का अस्तित्व सिद्ध होता है। यह तर्क नैतिक (Ethical) कहा जाता है।

5. **कैवल्यार्थ प्रवृत्ते**:–

सांख्य दर्शन कहता है कि संसार में बहुत सारे व्यक्ति सांसारिक दुखों से एवं प्रकृति के बन्धनों से मुक्ति (मोक्ष) पाने हेतु प्रयत्न करते देखे जाते हैं। वे जप ध्यान, साधना आदि में रत रहते हैं। यह प्रयत्न किसी भौतिक जड़ पदार्थ जो अचेतन होते तपश्चर्या हैं, नहीं कर सकते। मोक्ष की कामना अशरीरी चेतन व्यक्ति के द्वारा ही सम्भव है और वही चेतन तत्व पुरूष है जो मोक्ष के लिए प्रयत्न करता है। इस प्रकार कैवल्यार्थ प्रवृत्ति (मोक्ष या कैवल्य के लिए प्रवृत्ति) से पुरूष की सत्ता प्रमाणित होती है। इसे धार्मिक प्रमाण (Religious Proof) कह सकते हैं।

इस प्रकार सांख्य दर्शन भिन्न–2 तर्कों के आधार पर पुरूष की सत्ता को सिद्ध करता है। इन विचारों एवं तर्का से योग दर्शन पूर्णतः सहमत है। पुरूष शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार आदि से भिन्न वह चेतन तत्व है जिसे भारतीय दर्शन में आत्मा कहा गया है।

17.3.5 पुरूष की अनेकता:–भारतीय दर्शन में वेदान्त दर्शन (शंकराचार्य) सबके अन्दर एक ही आत्मा अर्थात एक ही पुरूष को मानते हैं किन्तु सांख्य दर्शन पुरूष की अनेकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। सांख्य दर्शन में पुरूष अनेक माने गये हैं। जितने जीव

हैं उतनी ही आत्माएं (पुरूष) हैं। जैन एवं मीमांसा दर्शन भी सांख्य की तरह पुरूष की अनेकता में विश्वास करते हैं।

17.3.6 पुरूष की अनेकता के प्रमाणः–

सांख्य एवं योग दर्शन पुरूष को अनेक मानते हैं और पुरूष की अनेकता को युक्तियों के द्वारा प्रमाणित करते हैं। सांख्यकारिका में ईश्वर कृष्ण कहते हैंः–

जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमात् अयुगपत्प्रवृत्तेश्च।

पुरूष बहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्य विपर्यात् चैव।।

(सा.का.–18)

अर्थात्–जन्म, मरण एवं इन्द्रियों के व्यापार में भिन्नता, प्रवृत्ति में असमानता एवं स्वभाव की भिन्नता से पुरूष की अनेकता सिद्ध होती है।

उपर्युक्त कारिका में पुरूष की अनेकता को सिद्ध करने के लिए निम्न प्रमाण (तर्क) दिये गये हैंः–

1.संसार में व्यक्तियों के जन्म और मरण में विभिन्नता है। विभिन्न जीवों के जन्म और मृत्यु अलग–अलग होते हैं। एक जन्म लेता है तो दूसरे की मृत्यु होती है। यदि सबके अन्दर एक ही आत्मा (पुरूष) होती तो एक व्यक्ति के जन्म से सबका जन्म हो जाता और एक व्यक्ति के मरने से सभी को मरना पड़ता। किन्तु ऐसा नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति का जन्म और मृत्यु अलग–अलग होती है। इस प्रकार व्यक्ति के जन्म–मरण की भिन्नता से सिद्ध होता है कि पुरूष (आत्मा) अनेक हैं।

2.प्रत्येक व्यक्ति की इन्द्रियों की क्रियाएं भी अलग–अलग होती हैं। व्यक्तियों की ज्ञान इन्द्रियों एवं कर्म इन्द्रियों में विभिन्नता है। कोई व्यक्ति अंधा है तो कोई आंख वाला। यदि सब में एक ही आत्मा होती तो एक पुरूष के अंधा, बहरा या लंगडा होने से सभी पुरूषों को अंधा, बहरा या लंगड़ा होना पड़ता। लेकिन संसार में ऐसा नहीं दिखाई पड़ता। अतः सिद्ध है कि पुरूष एक नहीं अपुति अनेक हैं।

3.संसार के सभी व्यक्तियों में युगपत् प्रवृत्ति (समान व्यवहार) नहीं दिखाई पड़ती। प्रत्येक व्यक्ति में अलग–2 प्रवृत्ति दिखाई देती है। कोई हंस रहा होता है तो कोई रोता है,कोई सक्रिय है तो कोई निष्क्रिय । कोई खेलता है तो कोई पढ़ रहा होता है। कोई पाप कर्म में लीन है तो कोई परोपकार में संलग्न। यदि सभी जीवों ने एक ही पुरूष होता तो सबकी प्रवृत्ति एक समान होती किन्तु ऐसा नहीं होता। इससे सिद्ध है कि पुरूष अनेक हैं।

4.इस जगत में भिन्न–2 स्वभाव के व्यक्ति दिखाई देते हैं और अनेक गुणों में भी असमानता है। कोई सात्विक (सतोगुण प्रधान) है तो कोई रजोगुण प्रधान (राजसिक) तो किसी में तमोगुण की अधिकता (तामसिक) है। जो सात्विक है उनमें सुख, संतोष, शांति, ज्ञान की प्रधानता है। राजसिक व्यक्ति दुख, अशांति और क्रोध से युक्त हैं। तामसिक व्यक्तियों में

मोह, अज्ञानता और उदासीनता निहित है। यदि पुरूष (आत्मा) एक होता तो ये भेद न होते। अतः पुरूष अनेक हैं।

5.संसार के सभी जीवों में विभिन्न श्रेणियाँ हैं। कोई उच्च स्तर का है तो कोई निम्न स्तर का। देवतागण मनुष्य से उच्चकोटि के माने जाते हैं। जबकि पशु पक्षी इत्यादि इससे निम्न स्तर के प्राणी है। यदि विश्व में सबके अन्दर एक ही पुरूष होता तो सभी जीवों को एक ही कोटि में रखा जाता किन्तु ऐसा नहीं होता। अतः सिद्ध है कि पुरूष एक नहीं अपितु अनेक है।

17.3.7 सांख्य योग दर्शन के पुरूष सिद्धान्त की समीक्षा

भारतीय दर्शन के दो रूप है–

1.नास्तिक दर्शन (चार्वाक, बौद्ध, जैन)

2.आस्तिक दर्शन (न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त)

आस्तिक वह है जो वेदों में विश्वास करें इसके विपरीत वेदों की सत्यता को नकारने वाला दर्शन नास्तिक कहलाता है। योग दर्शन आस्तिक दर्शन है। योग एवं सांख्य दर्शन समान तंत्र कहलाते हैं और पुरूष के सम्बन्ध में योग, सांख्य के विचारों से पूर्णतः सहमत है। साख्यकी तरह योग दर्शन पुरूष को सत् मानता है। चित् मानता है किन्तु आनन्द स्वरूप नहीं मानता है। जबकि शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में आत्मा को सच्चिदानंद (सत् + चित् + आनन्द) स्वरूप माना गया है। इसी तरह अद्वैत वेदान्त के अनुसार सबके अन्दर एक ही आत्मा है जबकि योग के अनुसार पुरूष अनेक हैं। अर्थात् सबके अन्दर अलग–2 आत्माएं (पुरूष) हैं। सांख्य पुरूष को अकर्ता एवं अभोक्ता कहता है जबकि उसकी अनेकता आदि को सिद्ध करने के लिए कर्म व भोग इत्यादि का सहारा लेता है। यह सांख्य दर्शन की कमी प्रतीत होती है। वास्तव में सांख्य दर्शन जीव और आत्मा (पुरूष) में अन्तर नहीं करता। अद्वैत वेदान्त की तरह यदि सांख्य व योग दर्शन शुद्ध आत्मा और चित्त विशिष्ट आत्मा (जीव) में भेद करले तो उसके विरोधाभास मिटाये जा सकते हैं। सांख्य दर्शन में पुरूष की अनेकता को सिद्ध करने के लिए जितने तर्क दिये गये हैं वे वास्तव में बन्धन ग्रस्त जीव की अनेकता को ही सिद्ध करते हैं शुद्ध आत्मा की अनेकता को नहीं। वास्तव में सांख्य में वेदान्त दर्शन के विकास की संभावनाएं छिपी हुई है।

17.5 अभ्यास प्रश्न

1. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए–

(क) योग और सांख्य दर्शन..... तंत्र कहे जाते हैं।

(ख) योग दर्शन, सांख्य दर्शन के तत्वमीमांसीय विचारों को..... करता है।

(ग) योग दर्शन को.....सांख्य भी कहा जाता है।

(घ) ''पुर्यां शेते इति..... ''।

(ड) भारतीय दर्शन में योग के पुरूष तत्व को..... कहा गया है।

2. **सत्य/असत्य बताइयेः–**

(क) योग दर्शन में प्रत्येक 'पुरूष' की मृत्यु सुनिश्चित है।

(ख) स्त्री भी पुरूष है।

(ग) पुरूष परिवर्तनशील है।

(घ) चित् और चित्त अचेतन होते हैं।

(ड) सांख्य–योग दर्शन में प्रत्येक व्यक्ति में अलग–अलग आत्माएं होती हैं।

3. **संक्षिप्त अन्तर बताइयेः–**

(क) सत् और सत्य

(ख) चित् और चित्त

(ग) सापेक्ष और निरपेक्ष

(घ) जड़ और चेतन

4. **अतिलघुत्तरीय प्रश्न**– संक्षेप में उत्तर देंः–

(क) पुरूष सुख–दुख से परे क्यों है?

(ख) योग दर्शन में पुरूष को आनन्द स्वरूप क्यों नहीं माना गया है?

(ग) कैवल्य का क्या अर्थ है?

(घ) नास्तिक दर्शन कौन–2 से हैं?

(ड) योग दर्शन आस्तिक दर्शन क्यों माना जाता है?

17.4 सारांश

इस इकाई में अब तक आपने जाना कि योग एवं सांख्य, समान तंत्र कहलाते हैं। योग दर्शन सांख्य की तत्वमीमांसा को स्वीकार करता है। इन दोनों दर्शनों में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है और आत्मा के लिए 'पुरूष' शब्द का प्रयोग हुआ है। पुरूष शरीर

से भिन्न है। शरीर मन बुद्धि अहंकार (चित्त) आदि प्रकृति से उत्पन्न भौतिक तत्व है जबकि पुरूष अभौतिक यानी आध्यात्मिक तत्व है।

पुरूष का अर्थ शरीर धारी व्यक्ति नहीं अपितु हमारे अन्दर की चेतन शक्ति है। इस रूप में स्त्री भी पुरूष है। पुरूष नित्य, शाश्वत अनादि, अनन्त, अविनाशी, अपरिवर्तनशील चेतन तत्व है। वह त्रिगुणातीत है। सुख–दुख व आनन्द से परे है। पुरूष अकर्ता है, द्रष्टा है, साक्षी मात्र है। वह सांख्य में अनेक है। प्रत्येक प्राणी में अलग–अलग पुरूष (आत्माएं) है।

17.5 शब्दावली

तत्व मीमांसा	:	जीवन और जगत के मूल तत्वों की विवेचना करना।
पृष्ठ भूमि	:	आधार
सेश्वर	:	ईश्वर सहित (स + ईश्वर)
व्यक्त	:	प्रकट, स्थूल
अव्यक्त	:	अप्रकट, सूक्ष्म
ज्ञेय	:	जिसे जाना जा सके (जिसका ज्ञान हो सके)
त्रिगुणात्मक	:	सत् रज एवं तम इन तीन गुणों वाली
विषयी	:	विषयों (ज्ञेय पदार्थों) को जानने वाला–आधार
अपरिणामी	:	अपरिवर्तनशील
जाग्रतावस्था	:	चेतना की वह अवस्था जिसमें हमें बाह्य वस्तुओं व पदार्थों का अनुभव होता है।
सुषुप्ति	:	गहरी नींद की अवस्था, जिसमें हमें बाह्य पदार्थों या आन्तरिक विषय (स्वप्न) किसी का अनुभव नहीं होता।
परे	:	अलग
द्रष्टा	:	देखने वाला, साक्षी
सत्ता	:	अस्तित्व
संघात	:	अनेक अणुओं (परमाणुओं) से मिलकर बने पदार्थ, सांसारिक वस्तुएं, सावयव वस्तुएं।

भोक्ता	:	भोग करने वाला, उपयोग करने वाला।
अधिष्ठित	:	प्रेरित
अपितु	:	बल्कि
रत	:	लगे हुए, प्रयत्नशील
प्रवृत्ति	:	स्वभाव
संलग्न	:	लगा हुआ
चित्	:	चेतन तत्व (पुरूष)
चित्त	:	मन, बुद्धि अहंकार का समुच्चय
चित्तविशिष्ट (पुरूष)		आत्मा मन बुद्धि अहंकार सहित पुरूष अर्थात बंधन ग्रस्त जीव

17.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. **(क)** समान **(ख)** स्वीकार **(ग)** सेश्वर
   (घ) पुरूषः **(ड)** आत्मा
2. **(क)** असत्य **(ख)** सत्य **(ग)** असत्य
   (घ) असत्य **(ड.)** सत्य
3. **(क)** वर्तमान में जो जैसा जिस रूप में है उसको वैसा ही, उसी रूप में जानना या कहना 'सत्य' है। जो आज सत्य है वह कल असत्य भी हो सकता है।इसीलिए विज्ञान के सिद्धान्त भी कभी–कभी बदल जाते हैं। इसके विपरीत सत् वह है जो तीनों कालों में नित्य व शाश्वत हो। जो हमेशा से विद्यमान है वह सत् है।

   (ख) चित् हमारी चेतन शक्ति (पुरूष) है जबकि चित्त मन बुद्धि अहंकार (प्रकृति की विकृति) को कहते हें।

   (ग) सापेक्ष का अर्थ है अपेक्षा युक्त अर्थात जिसको अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य की अपेक्षा हो वह सापेक्ष तत्व है जबकि निरपेक्ष तत्व किसी अन्य पर आश्रित नहीं होता। उसे अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य की आवश्यकता नहीं होती।

   (घ) चेतन का अर्थ है सोचने, समझने, अनुभव करने की शक्ति। इसके विपरीत जड़ का अर्थ है चेतना का अभाव। अचेतन तत्व ही जड़ कहलाता है।

4. **(क)** क्योंकि सुख–दुख गुणों के परिणाम हैं और पुरूष त्रिगुणातीत है।

(ख) क्योंकि योग दर्शन के अनुसार आनन्द सतोगुण का फल है और पुरूष तीनों गुणों से परे है।

(ग) कैवल्य का अर्थ है पुरूष की मुक्ति या मोक्ष प्राप्त करना।

(घ) भारतीय दर्शन में चार्वाक, बौद्ध और जैन नास्तिक दर्शन कहलाते हैं।

(ड) क्योंकि योग दर्शन वेद में विश्वास करता है।

17.7 संदर्भ ग्रन्थ सूचीः

महर्षि पंजलि– योग दर्शन, गीता प्रेस गोरखपुर।

मिश्र, वाचस्पति– तत्व वैशारदी (व्यासभाष्य टीका)

ईश्वर कृष्ण– सांख्य कारिका, नेशनल पब्लिसिंग हाउस दिल्ली।

राधाकृष्णन, सर्वपल्ली– भारतीय दर्शन।

उपाध्याय, आचार्य बलदेव–भारतीय दर्शन शारदा मंदिर, वाराणसी

सिन्हा, हरेन्द्र प्रसाद– भारतीय दर्शन की रूप रेखा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

शर्मा, चन्द्रधर– भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

चतुर्वेदी, गिरधर शर्मा– दर्शन अनुचिंतन, भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी (1964)

17.9 निबंधात्मक प्रश्न

1.योग और सांख्य को समानतन्त्र क्यों कहा जाता है? व्याख्या कीजिए।

2.सांख्य–योग दर्शन के अनुसार पुरूष के स्वरूप की विवेचना कीजिए।

3.योग दर्शन के अनुसार पुरूष एक है या अनेक? कारण सहित उत्तर दीजिए।

4.सांख्य–दर्शन में पुरूष के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए कौन–2 से तर्क दिये गये हैं? वर्णन करें।

5.सांख्य– दर्शन पुरूष की अनेकता को किस प्रकार सिद्ध करता है? स्पष्ट करें।

6.सांख्य–योग दर्शन के पुरूष, सिद्धान्त की समीक्षा कीजिए।

इकाई–18 प्रकृति की अवधारणा एवं स्वरूप

18.1 प्रस्तावना

18.2 उद्देश्य

18.3 प्रकृति की अवधारणा एवं स्वरूप

18.3.1 प्रकृति सिद्धान्त एवं प्रकृति से तात्पर्य

18.3.2 प्रकृति का स्वरूप एवं तीन गुण

18.3.3 प्रकृति के गुणों का स्वरूप

18.3.4 प्रकृति की अन्य विशेषताएँ

18.3.5प्रकृति के अस्तित्व के प्रमाण

18.3.6 प्रकृति और पुरुष में अन्तर

18.3.7 प्रकृति का विकास (विकासवाद)

18.3.8 सृष्टि–विकास का क्रम

18.3.9 विकास की समीक्षा

19.3.10प्रकृति सिद्धान्त की समीक्षा

18.4 सारांश

18.5 शब्दावली

18.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

18.7 सहायक सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

18.8 निबन्धात्मक प्रश्न

18.1 प्रस्तावनाः–

दर्शन जीवन एवं जगत की बौद्धिक विवेचना है। दार्शनिक हो या कोई भी बुद्धिजीवी, चिन्तनशील मनुष्य अथवा वैज्ञानिक, हर किसी के मन में यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि यह संसार क्या है? इसकी उत्पत्ति कैसे हुई? संसार की उत्पत्ति स्वतः हुई यानी यह स्वतः विकास का परिणाम है अथवा किसी अदृश्य शक्ति (जैसे ईश्वर) की रचना। सांख्य एवं योगदर्शन का प्रकृति सिद्धान्त इन्हीं दार्शनिक प्रश्नों का एक समाधान है।

सांख्य दर्शन के अनुसार यह जगत प्रकृति का परिणाम है। संसार एवं सभी भौतिक वस्तुओं का मूल कारण प्रकृति है। जड़तत्व प्रकृति के सम्पर्क में चेतन तत्व पुरुष के आने से प्रकृति के स्वरूप में परिवर्तन होता है, उसकी साम्यावस्था भंग होती है और अव्यक्त प्रकृति के अन्दर से यह संसार क्रमशः महत्–अहंकार एकादश इन्द्रियां तन्मात्राएं एवं पंचमहाभूतों के रूप में व्यक्त होता है।

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप प्रकृति का स्वरूप, प्रकृति के विकार, सत्, रज, तम गुण एवं उनके कार्य तथा मन बुद्धि अहंकार जैसे अन्तःकरण व इन्द्रियों आदि वाह्यकरण के साथ–साथ सांख्य दर्शन के विकासवाद का यह उद्घोष कि सूक्ष्म की स्थूल में व्यक्त होता है जैसे तथ्यों को ठीक से जान व समझ सकेंगे, जो आगे चलकर योग साधना, चित्त एवं चित्तवृत्ति आदि का समझने में आपके लिए सहायक सिद्ध होगा।

18.2 उद्देश्यः–

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप यह समझ सकेंगे कि–

- ☞ प्रकृति क्या है?
- ☞ प्रकृति के सत्, रज एवं तम गुणों का स्वरूप व कार्य क्या है?
- ☞ प्रकृति से जगत का विकास किस प्रकार हुआ और
- ☞ बुद्धि, अहंकार, मन एवं इन्द्रियाँ क्या होती हैं एवं इन्हें कैसे अधोगामी से उर्ध्वगामी बनाकर जीवन में सुख–शन्ति एवं सफलता पायी जा सकती है।

18.3 प्रकृति की अवधारणा एवं स्वरूप

भारतीय आस्तिक दर्शनों में योगदर्शन सैद्धान्तिक पक्ष के बजाय व्यावहारिक पक्ष पर विशेष बल देता है। इसीलिए यह व्यवहारिक दर्शन कहलाता है। योगदर्शन में तत्व मीमांसीय व ज्ञानमीमांसीय दार्शनिक प्रश्नों पर चर्चा करने के बजाय, आसन यौगिक क्रिया, प्राणायाम, ध्यान समाधि आदि के माध्यम से आध्यात्मिक उपलब्धि पाने के उपयोग पर प्रकाश डाला गया है। अपनी इसी विशेषता के कारण योग दर्शन प्राचीन काल से आज तक अपनी उपयोगिता और जनमानस में उपस्थिति निरन्तर बनाये हुए है।

योग को व्यावहारिक दर्शन कहने का अर्थ यह नहीं है कि इस दर्शन में दार्शनिक सैद्धान्तिक प्रश्नों की उपेक्षा की गई है। वास्तव में यह योग दर्शन सांख्य दर्शन का पूरक दर्शन है। यह सांख्य के तत्वमीमांसीय विचारों को स्वीकार करते हुए उसके साथ अपने मत को जोड़ देता है। इसलिए सांख्य के प्रकृति सिद्धान्त से योग दर्शन पूर्णतः सहमत है। अतः 'प्रकृति की अवधारणा एवं स्वरूप' के सम्बन्ध में सांख्य एवं दर्शन समान मत रखते हैं। सांख्य सिद्धान्त को योग आत्मसात करता है।

18.3.1 प्रकृति सिद्धान्त एवं प्रकृति से तात्पर्य

सांख्य एवं योगदर्शन द्वैतवादी हैं। इनके अनुसार मूलतत्व दो हैं– (1) प्रकृति और (2) पुरुष। मूलतत्व का अर्थ है वह तत्व जो परम सत् है। जो उत्पत्ति और विनाश से परे है। सृष्टि से पूर्व भी जो था आज भी है और सृष्टि विनाश के बाद भी रहेगा। इस प्रकार परम सत् भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में रहने वाला शाश्वत तत्व है। इस प्रकार सांख्य दर्शन की द्वैतकारी विचारधारा में जो दो परमतत्व है उनमें पुरुष के बाद दूसरा परमतत्व अव्यक्त या प्रकृति है। प्रकृति ही इस विश्व का मूल कारण है।

जगत का मूल कारणः–

भारतीय दर्शन हो या पाश्चात्य दर्शन, प्रत्येक दर्षन में एवं उन दार्शनिकों के सम्मुख हमेशा से ही एक प्रमुख प्रश्न रहा है कि जगत की उत्पत्ति कैसे हुई? संसार का मूल कारण क्या है? पाश्चात्य दर्शन में सर्वप्रथम 'थेलीज' नामक दार्शनिक ने दर्शन के क्षेत्र में प्रश्न उठाया कि जगत का मूल कारण क्या है? कारण पर विचार करने का ही सम्भवतः परिणाम है कि आज 'थेलीज' महोदय को पाश्चात्य दर्शन का जनक कहलाने का श्रेय प्राप्त है। यद्यपि पाश्चात्य दर्शन में जगत का मूल तत्व थेलीज ने 'जल' को माना तो उनके शिष्य एनेक्जीमण्डेर ने उस मूलकारण को असीम नाम दिया। एनेक्जीमेनीज ने 'वायु' को मूलतत्व माना तो हेराक्लाइटस ने अग्नि को। एम्पेडाक्लीज ने पृथ्वी, जल, वायु एवं अग्नि– ये चार मूलतत्व माने तो डिमोक्रिटस ने इनके परमाणुओं को मूलतत्व स्वीकार किया।

सांख्य दर्शन विश्व का मूल कारण प्रकृति को स्वीकार करता है। विविधताओं से भरा यह संसार प्रकृति से ही उत्पन्न है। सांख्य दर्शन सत्कार्य को मानता है। इस सिद्धान्त के अनुसार कार्य अपने उत्पत्ति के पूर्व अपने कारण में अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। उत्पत्ति का अर्थ है अव्यक्त का व्यक्त हो जाना। इस तरह सांख्य दर्शन व्यक्त संसार का मूल कारण अव्यक्त प्रकृति को स्वीकार करता है।

प्रकृति का अर्थ–

सामान्यतः प्रकृति से हमारा तात्पर्य हमारे आस–पास के वातावरण या हमारे चारों तरफ बिखरे नैसर्गिक वातावरण से है जिसे अंग्रेजी में Nature कहते हैं। किसी वस्तु या व्यक्ति के स्वभाव को भी उसकी प्रकृति कहा जाता है किन्तु सांख्य दर्शन में प्रकृति शब्द का प्रयोग इन सामान्य अर्थों में न होकर विशिष्ट है। शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से–

'प्रकर्षेण क्रीयते सर्वविष्वमनया इति प्रकृति'

अर्थात्– जिस मूलतत्व के द्वारा अच्छी प्रकार जगत का निर्माण किया जाता है वह प्रकृति है। सांख्य की प्रकृति शब्द में मूलतत्व (अव्यक्त) सम्बन्धी सभी भावनाओं का समावेष है।

मूलकारण प्रकृति ही क्यों?

विविधताओं से भरे इस संसार में दो प्रकार की वस्तुएं दिखाई पड़ती है–

1. **स्थूल पदार्थ** (जैसे–मिट्टी, नदी, पहाड़, जल, वृक्ष, शारीरिक, भौतिक तत्व और

2. **सूक्ष्म पदार्थ** (जैसे– मन, बुद्धि, अहंकार, इन्द्रियां आदि मानसिक तत्व)।

विश्व का मूल कारण वही हो सकता है जो विश्व के स्थूल पदार्थों को उत्पन्न करने के साथ–साथ सूक्ष्म पदार्थों को उत्पन्न कर सके। सांख्य दर्शन के अनुसार चैतन्य स्वरुप पुरुष इस विश्व का मूल कारण नहीं हो सकता क्योंकि सांख्य दर्शन पुरुष को कारण कार्य शृंखला से परे मानता है। पुरुष न तो किसी का कारण है और न किसी का कार्य। अतः विश्व का मूल कारण पुरुष को छोड़कर कोई अन्य तत्व ही हो सकता है। वह अन्य तत्व क्या है?

कुछ भारतीय दर्शन जैसे चार्वाक, बौद्ध, न्याय वैषेषिक एवं मीमांसा दर्शन के अनुसार विश्व का मूल कारण पृथ्वी, जल अग्नि और वायु के परमाणु हैं किन्तु सांख्य योग दर्शन इस मान्यता को अस्वीकार करता है सांख्य के अनुसार भौतिक परमाणुओं को विश्व का मूल कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि इन परमाणुओं से स्थूल पदार्थों की उत्पत्ति तो सम्भव है किन्तु इनसे मन, बुद्धि, अहंकार आदि सूक्ष्म–अतिसूक्ष्म पदर्थों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार अद्वैत वेदान्त और महायान बौद्ध दर्शन विश्व का कारण चेतना (Consciousness) को मानते हैं, परन्तु सांख्य को यह विचार भी अमान्य है क्योंकि चेतना से तो सिर्फ सूक्ष्म पदार्थों की उत्पत्ति/व्याख्या हो सकती है। चेतना स्थूल पदार्थों को उत्पन्न करने में असमर्थ है। संसार का मूल कारण वही हो सकता है जो स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों प्रकार की वस्तुओं को उत्पन्न कर सकें। जोकि प्रकृति है।

प्रकृति जड़ (भौतिक) होने के साथ–साथ सूक्ष्म पदार्थ भी है इसलिए स्थूल एवं सूक्ष्म (सम्पूर्ण विश्व) दोनों तरह के पदार्थों की उत्पत्ति करने में समर्थ है। इसलिए सांख्य दर्षन के अनुसार प्रकृति ही विश्व का मूल कारण है। उसे प्रकृति कहते ही इसलिए हैं क्योंकि–

''प्रकर्षेण क्रीयते सर्वविष्वमनया इति प्रकृति''

प्रकृति के अनेक नामः–

सांख्य दर्शन में प्रकृति को 'प्रधान', 'अविद्या', 'माया', 'अनुमा', 'अनुमेया', 'जड़', 'अव्यक्त', 'शक्ति', 'अविनाशिनी', 'प्रसवधमिर्णी', 'तमस्', 'अक्षर', 'ब्रहम', 'अजा' आदि अनेक नामों से सम्बोधित किया गया है।

18.3.2 प्रकृति का स्वरूप एवं तीन गुणः–

सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। इसमें तीन गुण पाये जाते हैं– सत्त्व, रजस और तमस्। इन तीनों गुणों की साम्यवस्था ही प्रकृति है।

'' सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः''।

(सांख्यकारिका, 16 पर गौड़पाद का भाष्य)

यद्यपि प्रकृति एक है फिर भी उसका स्वरूप जटिल है। प्रकृति का विश्लेषण करने पर प्रकृति में सत्व, रसज्, तमस ये तीन प्रकार के गुण पाये जाते हैं। इन तीनों गुणों की साम्यावस्था को ही प्रकृति कहा गया है।

अब प्रश्न यह है कि ये गुण क्या है?

प्रकृति और उसके गुणों में क्या सम्बन्ध है? प्रायः गुण शब्द का प्रयोग विशेषण के रूप में होता है किन्तु सांख्य दर्शन में गुण शब्द का प्रयोग सामान्य अर्थ में न होकर विशेष अर्थ में हुआ है। गुण का अर्थ यहां किसी द्रव्य या पदार्थ की विशेषता नहीं अपितु स्वयं द्रव्य या तत्व है। गुण प्रकृति से निर्मायक तत्व हैं। गुण प्रकृति से अलग नहीं है अपितु ये तीनों गुण ही साम्यावस्था में प्रकृति कहलाते हैं।

सांख्यप्रवचन भाष्य के अनुसार सत्व, रजस और तमस् को गुण इसलिए कहा जाता है क्योंकि ये रस्सी के तीनों गुणों (रेशों) के समान पुरुष को बन्धन में डालने (बांधने) का काम करते हैं। चूंकि ये पुरुष के उद्देश्य की प्राप्ति में गौण रूप में सहायक हैं, इसलिए भी इन्हें 'गुण' कहा जाता है।

18.3.3 प्रकृति के गुणों का स्वरूप–

सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति के गुण अत्यन्त ही सूक्ष्म होते हैं, जिस कारण इनका प्रत्यक्ष नहीं होता। प्रकृति के गुणों का ज्ञान 'अनुमान' द्वारा होता है। इसीलिए सांख्य दर्शन ने प्रकृति को 'अनुमेय' भी कहा है क्योंकि प्रकृति का भी प्रत्यक्ष नहीं होता, प्रकृति का ज्ञान उसके गुणों के आधार पर अनुमान द्वारा होता है। प्रकृति के गुणों का ज्ञान (अनुमान) उनके कार्यों के आधार पर किया जाता है। प्रकृति के संघटक तत्व सत्व, रजस् और तमस् क्रमशः सुख–दुःख और मोह (उदासीनता) उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार सुख–दुःख और उदासीनता को उत्पन्न करने वाले तत्व के रूप में सत्व, रजस्, और तमस् नामक गुणों की सत्ता का अनुमान किया जाता है।

ईश्वर कृष्ण इन तीनों गुणों का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि–

'सत्वं लघु प्रकाषकमिश्टमुपश्टम्भकं चलंच रजः।

गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः।। (सांख्यकारिका–13)

अर्थात् सतोगुण हल्का प्रकाशक और आनन्ददायक होता है, रजोगुण दुःखदायी एवं गतिशील होता है तथा तमोगुण भारी एवं अवरोधक होता है। जिस प्रकार दीपक में तेल, बत्ती और ज्वाला परस्पर विरोधी होते हुए भी आपस में मिलकर प्रकाश उत्पन्न करते हैं इस प्रकार ये तीनों गुण परस्पर विरोधी होते हुए भी पारस्परिक सहयोग से कार्य करते हैं यानी सांसारिक विषयों को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार सत्व, रज और तम क्रमशः प्रीति, अप्रीति एवं विषाद के जनक हैं तथा परस्पर एक–दूसरे की सहायता करते हुए संसार का निर्माण करते हैं। इन तीनों गुणों के परस्पर विरोधी होने के कारण इनका आपस में वैधर्म्य है–

प्रीत्यप्रीतिविषादद्यैर्गुणानामन्योऽन्यं वैधर्म्यम्।

(विज्ञानभिक्षु, सांख्य प्रवचन भाष्य–127)

सत्वगुण हल्का प्रकाषक और आनन्ददायक हैः–

सांख्य दर्शन के अनुसार सत्वगुण ज्ञान का प्रतीक है। यह प्रकाश स्वरूप है, स्वतः प्रकाशित है और अन्य विषयों व वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है। मन, बुद्धि एवं इन्द्रियों में अपने विषयों को ग्रहण करने की शक्ति सत्त्व गुण से आती है। सत्त्व गुण के कारण ही सूर्य द्वारा संसार को आलोकित करने तथा दर्पण में प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की सामर्थ्य आती है। सत्त्व गुण स्वभाव में लघु और हल्का होता है। हल्केपन के कारण ऊपर उठना (उर्ध्वगमन) सत्त्वगुण का कार्य है। उत्तम विचार, श्रेष्ठ चिन्तन, मन की उन्नति, अग्नि ज्वाला का ऊपर उठना आदि सत्त्व गुण के कारण ही सम्भव होता है। यह प्रीति स्वरूप वाला अर्थात् आनन्ददायक है, सुख का कारण है। सभी प्रकार की सुखात्मक अनुभूतियां जैसे– हर्ष, प्रसन्नता, शान्ति, सन्तोष, उल्लास, प्रीति, लाघव, तीतिक्षा, श्रद्धा, तृप्ति, सरलता आदि सत्त्वगुण के कार्य हैं। सत्वगुण श्वेत रंग का होता है।

रजोगुण दुःखदायी और गतिशील है–

रजोगुण सभी प्रत्येक कर्म या क्रिया का प्रेरक है। यह स्वयं गतिशील है और अन्य वस्तुओं को भी गतिशील बनाता है, उन्हें उत्तेजित करता है। हवा में गति, इन्द्रियों का अपने विषयों की ओर प्रवृत्ति, मन का चंचल होना, अस्थिरता रजोगुण के ही कारण होता है।

उल्लेखनीय है कि अपने शुद्ध स्वरूप में सतोगुण और तमोगुण निष्क्रिय होते हैं। रजोगुण के प्रभाव में आकर ही ये सक्रिय हो जाते हैं। इस प्रकार रजस् सत्त्व व तमस को क्रियाशील करता है। जिससे कि वे अपने कार्य कर सकें। रजोगुण दुखात्मक है, यह दुःख का कारण है। सभी प्रकार की दुःखात्मक अनुभूतियां जैसे– चिन्ता, क्रोध, विषाद, ईर्ष्या, द्वेष, असन्तोष, अतृप्ति, अभिमान, अहंकार, मद, मत्सर आदि रजोगुण के कार्य हैं। यह लाल रंग का है।

तमोगुण भारी एवं अवरोधक है–

यह अज्ञान एवं अंधकार का प्रतीक है। तमोगुण सत्त्वगुण के विपरीत स्वभाव वाला है। सत्त्व ज्ञान स्वरूप है यह अज्ञान स्वरूप। सत्व हल्का होता है, यह भारी है। सत्व उर्ध्वगामी होता है, तम अधोगामी। सत्त्व ज्ञान प्राप्ति में सहायक है, तो तम ज्ञान–प्राप्ति में बाधक। तम सतोगुण एवं रजोगुण की क्रिया का अवरोधक है। यह जड़ता एवं निष्क्रियता का प्रतीक है। तमस के फलस्वरूप मनुष्य में आलस्य, प्रमाद और निष्क्रियता आती है। इससे मोह एवं उदासीनता उत्पन्न होती है। सभी प्रकार की उदासीनता की वृत्तियां जैसे– आलस्य, प्रमाद, निद्रा, तन्द्रा आदि तमस के कार्य हैं। इसका रंग काला होता है।

यद्यपि तीनों गुण परस्पर विरोधी सवभाव के है। फिर भी आपस में सहयोग करके सांसारिक वस्तुओं को उसी प्रकार उत्पन्न करते हैं जैसे दीपक की बत्ती, तेल और अग्नि परस्पर विरुद्ध धर्मी होकर भी आपसी सहयोग से प्रकाश की उत्पत्ति करते हैं।

प्रकृति एवं उसके गुणों का अनुमान होता है, प्रत्यक्ष नहीं

प्रकृति की तरह उसके गुणों (सत्, रज, और तम) का प्रत्यक्ष नहीं होता। प्रकृति एवं उसके गुण अत्यन्त सूक्ष्म हैं। इन्द्रियों के द्वारा इन गुणों का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है। गुणों का ज्ञान इनके कार्यों के आधार पर अनुभव से प्राप्त होता है। इस प्रकार गुण अनुभव का विषय है। संसार के सभी विषय सुख–दुःख अथवा उदासीनता उत्पन्न करते हैं। एक ही वस्तु से किसी को सुख मिलता है तो किसी को दुःख मिलता है और अन्य कोई उदासीन रहता है।

जैसे संगीत रसिक व्यक्ति को सुख, बीमार को दुःख और पशु को न सुख और न ही दुख, यानी उदासीनता का भाव प्रदान करता है। सुख–दुःख और उदासीनता का कारण सत्त्व, रजस, और तमस हैं। इस प्रकार सुख– दुःख और उदासीनता रूपी कार्य को देखकर उन्हें उत्पन्न करने वाले कारण स्वरूप सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुण की सत्ता का अनुमान किया जाता है।

तीनों गुण प्रत्येक वस्तु में विद्यमान हैं–

जिस प्रकार अव्यक्त प्रकृति त्रिगुणात्मक है उसी प्रकार प्रकृति से व्यक्त समस्त वस्तुएं भी तीनों गुणों से युक्त होती हैं। चूंकि सत्, रज और तम्, तीनों गुण परस्पर सम्मिलित रहते हैं, ये अलग नहीं किए जा सकते। इनमें मात्राभेद अवश्य होता है अर्थात् तीनों गुण सभी वस्तुओं में समान मात्रा में नहीं पाये जाते। प्रत्येक वस्तु में कोई एक गुण प्रधान होता है और अन्य दोनों गुण गौण होते हैं। वस्तु के स्वरूप का निर्धारण उनके प्रधन या प्रबल गुण के आधार पर निर्धारित होता है। जिस वस्तु में सत्वगुण की प्रधानता होती और रजस एवं तमस गौण होते हैं, उन्हें सात्त्विक कहा जाता है। इसी प्रकार रजस या तमस की प्रधानता होने पर तथा अन्य दोनों गुणों के गौण होने पर वस्तुओं को क्रमशः राजसिक अथवा तामसिक कहा जाता है। इस प्रकार वस्तुओं को सतोगुणी, रजोगुणी या तमोगुणी कहने का आधार उनमें क्रमषः सत, रज एवं तम की प्रधानता का होना है। सत्व, रजस या तमस की प्रधानता के कारण ही वस्तुओं को शुभ, अशुभ या तटस्थ कहा जाता है।

सत्–रज–तम सदैव परिवर्तनषील हैंः–

सांख्य दर्शन के अनुसार सत्, रज एवं तम तीनों गुण निरन्तर गतिषील रहते हैं। कोई भी गुण एक क्षण के लिए भी स्थिर नहीं रह सकता। तीनों गुण सदैव परिवर्तनशील हैं। परिवर्तित होना इनका स्वरूप है। गुणों में परिवर्तन या परिणाम दो प्रकार का होता है–

1.) स्वरूप परिवर्तन और

2.) विरूप परिवर्तन

स्वरूप परिवर्तनः– वह है जब एक गुण अपने वर्ग के गुणों में स्वतः आकर चिपक जाता है। इस परिवर्तन में सत्व का रूपान्तरण सत्व में, रजस का रूपान्तरण रजस में और तमस का रूपान्तरण तमस में होता है। स्वरूप परिवर्तन विनाश या प्रलय के समय अथवा प्रकृति की साम्यावस्था में होता है।

विरूप परिवर्तनः– तब होता है जब एक वर्ग के गुणों का रूपान्तरण दूसरे वर्ग के गुण में होता है। अर्थात इसमें सत्व का रूपान्तरण तमस में, तमस का रजस में होने लगता है। विरूप परिणाम या परिवर्तन सर्ग (सृष्टि) की अवस्था में होता है। विरूप परिवर्तन तब प्रारम्भ होता है जब पुरुष के संयोग से प्रकृति की साम्यावस्था में क्षोभ (गुण क्षोभ) उत्पन्न होता है और प्रकृति भी साम्यावस्था भंग होती है जिससे विकास भी क्रिया प्रारम्भ होती है और सांसारिक विषयों का आविर्भाव होता है। गुण क्षोभ की स्थिति में ये तीनों परस्पर क्रिया–प्रतिक्रिया करते हैं फलस्वरूप विरूप परिवर्तन प्रारम्भ होता है जिसमें सृष्टि प्रक्रिया शुरू हो जाती है। सृष्टि के लिए विरूप परिणाम नितान्त आवष्यक है।

प्रकृति एक, नाम अनेकः– सांख्य दर्शन में प्रकृति एक है किन्तु एक प्रकृति को अनेक नामों से सम्बोधित किया गया है सांख्य दर्शन में प्रकृति को प्रधान कहा गया क्योंकि यह विश्व का प्रथम मूलभूत कारण है। प्रकृति अव्यक्त भी है क्योंकि सम्पूर्ण जगत अस्तित्व में आने से पूर्व इसी में अव्यक्त रूप से निहित था। प्रकृति का ज्ञान प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से न होकर केवल अनुमान से होता है।

इसलिए प्रकृति को अनुमान या अनुमेया भी कहा गया है। प्रकृति को अजा कहते हैं क्योंकि यह अनुत्पन्न है इसका कोई कारण नहीं है। यह जड़ है क्योंकि यह मूलभूत भौतिक पदार्थ है। प्रकृति अचेतन होने कारण अविवेकी भी है। प्रकृति अकारण और अनुत्पन्न है इसलिए यह नित्य एवं शाश्वत है। यह विषय या ज्ञेय है क्योंकि यह पुरुष द्वारा भोग्य एवं जानी जाती है। यह स्वतन्त्र है क्योंकि यह किसी अन्य तत्व पर आश्रित नहीं है। प्रकृति को सामान्य कहा गया हैं क्योंकि यह सम्पूर्ण भौतिक जगत में व्याप्त है और यह जगत अपनी उत्पत्ति से पूर्व इसी में निहित था। सम्पूर्ण जगत प्रकृति से प्रसूत है, अतः यह प्रसवधर्मी है।

18.3.4 प्रकृति की अन्य विषेषताएंः–

1. अत्यन्त सूक्ष्म तत्वः– प्रकृति अत्यन्त ही सूक्ष्म तत्त्व है यह इतनी सूक्ष्म है कि हम इसका प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। यह दिखाई नहीं देती। यह समस्त संसार इस प्रकृति का विकार है हम इस विकृति स्वरूप जगत को देखकर उसके कारण के रूप में प्रकृति के अस्तित्व का अनुमान कर सकते हैं इसीलिए इसे अनुमेया भी कहा गया है।

2. अनादि एवं अनन्तः– संस्कृत भाषा की दृष्टि से प्रकृति शब्द प्र+कृति से बना है जिसका अर्थ है पूर्व–कृति अर्थात जो पूर्व से ही स्थित हो यानी अनादि काल से ही हो। जो अनादि होता है वह अनन्त भी होता है। इस प्रकार प्रकृति अनादि और अनन्त है।

3. अनाश्रितः– प्रकृति पूर्ण स्वतन्त्र तत्व है वह किसी पर भी आश्रित नहीं है। प्रकृति किसी का कार्य भी नहीं है कि उसकी उत्पत्ति हेतु किसी कारण भी आवश्यकता हो। वह स्वतन्त्र अनाश्रित है।

4 अलिंगः– प्रकृति अलिंगी है। अलिंग का अर्थ है जिसका लय न हो। कारण में कार्य का लय हो जाना ही विनाश है। प्रकृति का कोई कारण नहीं हैं अतः उसका कारण में लय नहीं होता अतः उसे अलिंग भी कहा गया है।

5. निरवयवः– प्रकृति निरवयव है। रूप, रस, गंध शब्द स्पर्श आदि अवयव प्रकृति के विकारों (विकृति) में होते है; प्रकृति में नहीं। इसलिए प्रकृति निरवयव है।

6. विषयः– प्रकृति विषय है यानी भोग्या है भोग की वस्तु है। चैतन्य पुरुष जड़ प्रकृति का भोग करता है।

7ः– प्रसवधर्मीः– यह जगत को उत्पन्न करने वाली है। जगत की उत्पत्ति प्रकृति के अन्दर से होती है। यह समस्त संसार एवं उसके विषय प्रकृति के विकार हैं। जो प्रसवधर्मी प्रकृति के अन्दर से विकसित हुए हैं।

18.3.5 प्रकृति के अस्तित्व के प्रमाणः–

सांख्य दर्शन तर्क के आधार पर प्रकृति के अस्तित्व को प्रमाणित करता है। सांख्य कारिका में ईष्वर कृष्ण कहते हैं–

भेदनां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेष्च।

कारणकार्य विभागात् अविभागात् वैष्वरूपस्य।। (सां॰ का॰–15)

अर्थात्– भेदों के परिणाम से, समन्वय से, शक्ति के अनुसार ही प्रवृति होने से, कारण और कार्य का विभाग होने से तथा जगत के लय क्रम से भी सिद्ध होता है कि अव्यक्त अर्थात् प्रकृति ही कारण है। सांख्य दर्शन के ये तर्क निम्नवत हैं–

1. भेदानां परिमाणात्ः– संसार में जितने भी पदार्थ हैं, जो कुछ भी सब सीमित हैं, एक दूसरे पर निर्भर हैं, यानी परतन्त्र व सापेक्ष हैं। इसलिए संसार की उत्पत्ति का कारण किसी ऐसे तत्व को मानना पड़ेगा जो असीम स्वतन्त्र व निरपेक्ष हो, वह तत्व प्रकृति है।

2. समन्वयातः– संसार की समस्त वस्तुएं सुख, दुख, उदासीनता उत्पन्न करती हैं। इससे सिद्ध हेाता है कि इनका मूल कारण कोई ऐसा तत्व होना चाहिए जिसमें सुख दुख उदासीनता उत्पन्न करने वाले तीनों सत्, रज, व तम् का समन्वय हो। ऐसा तत्व त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही है।

3. शक्तितः प्रवृत्तेः– प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। विश्व एक कार्य है जिसका कोई समर्थ कारण अवश्य है प्रत्येक कार्य ऐसे कारण से उत्पन्न होता है जिसमें उसे उत्पन्न करने की शक्ति होती है जैसे तिल में तेल उत्पन्न करने की शक्ति होती है इसलिए उसमें से तेल निकलता है। बालू से तेल नहीं उत्पन्न होता क्योंकि बालू में तेल उत्पन्न करने की शक्ति नहीं होती। ठीक इसी प्रकार संसार के सभी सूक्ष्म अति सूक्ष्म व स्थूल पदार्थों का कारण एक ऐसा तत्त्व ही हो सकता है जिसमें उन्हे उत्पन्न करने की शक्ति हो। सांख्य के अनुसार वह समर्थ कारण अव्यक्त प्रकृति ही है जिससे समस्त संसार व्यक्त होता है।

4. कारणकार्य विभागातः– संसार में कारण और कार्य में अन्तर दिखाई देता है। प्रत्येक वस्तु या कार्य का कोई कारण होता है। फिर उस कारण का भी एक कारण होता है। इस तरह कारण का भी कारण फिर उसका कारण। सभी कारणों के अन्त में एक मूल कारण भी होना चाहिए जिसका कोई अन्य कारण नहीं है। यह मूलभूत कारण ही अव्यक्त प्रकृति है।

5. अविभागत् वैश्वरूपस्यः– सांख्य दर्शन सत्कार्यवाद को मानता है। सांख्य के अनुसार कारण और कार्य में तादात्म्य सम्बन्ध है। सृष्टि के समय कारण से कार्य उत्पन्न होता है और विनाश या प्रलय के समय कार्य कारण में लय (विलीन) हो जाता है। मिट्टी से घड़ा बनता है और अन्त में वह घड़ा फूट–टूट जाने पर मिट्टी में ही परिवर्तित हो जाता है। इस आधार पर सांख्य दर्शन का कहना है कि सम्पूर्ण विश्व एक ऐसे कारण से उत्पन्न हेाना चाहिए जिसमें वह प्रलय की अवस्था में पुनः विलीन हो सके। वह कारण प्रकृति ही है। इस तरह सांख्य दर्शन उपर्युक्त तर्को के आधार पर प्रकृति के अस्तित्व को सिद्ध करता

है जो चेतन पुरुष तत्व को छोड़कर अन्य सभी वस्तुओं समस्त संसार जड़ जगत का मूल कारण है।

18.3.6 प्रकृति और पुरुष में अन्तर

सांख्य दर्शन की द्वैतवादी विचार धारा में पुरुष और प्रकृति दो मूलतत्व हैं। दोनों नित्य, शाश्वत, असीम एवं अविनाशी हैं किन्तु प्रकृति भौतिक, अचेतन, परिवर्तनशील, सक्रिय, त्रिगुणात्मक, ज्ञेय, कार्यकरण नियम से आबद्ध, अविवेकी, परिणामीनित्य एवं संख्या में एक है जबकि–

पुरुष अभौतिक, चेतन, अपरिवर्तनशील, निष्क्रिय अर्थात् त्रिगुणातीत, ज्ञाता, कार्यकारण नियम से परे, विवेकी, अपरिणामी नित्य एवं संख्या में अनेक है।

इस प्रकार प्रकृति और पुरुष दोनों एक दूसरे के सर्वथा विपरीत तत्व हैं। इसके अन्तर को निम्न तालिका द्वारा सहजता से समझा जा सकता है।

प्रकृति	पुरूष
1 प्रकृति जड़ है।	1 पुरुष चेतन है।
2 प्रकृति अज्ञान स्वरूप है।	2 पुरुष ज्ञान स्वरूप है।
3 प्रकृति त्रिगुणात्मिका है।	3 पुरुष सत्, रज, तम तीनों गुणों से परे यानी त्रिगुणातीत ।
4 प्रकृति परिवर्तनशील है।	4 पुरुष अपरिवर्तनशील है।
5 प्रकृति सक्रिय है।	5 पुरुष निष्क्रिय है।
6 प्रकृति विकारों को उत्पन्न वाली है	6 पुरुष विकारों से परे है।
7 प्रकृति जगत का मूल कारण है	7 पुरुष कारण कार्य श्रृंखला से परे है।
8 प्रकृति ज्ञान का विषय (ज्ञेय) है।	8 पुरुष ज्ञाता है।
9 प्रकृति बंधन का कारण है।	9 पुरुष बंधन से परे (मुक्त) है।
10 प्रकृति देश और काल में है।	10 पुरुष देष और काल से परे है।
11 प्रकृति भोग का विषय (भोग्या) है।	11 पुरुष भोक्ता है।
12 प्रकृति एक है।	12 पुरुष अनेक है।

18.3.7 प्रकृति का विकास,

विकासवाद या सृष्टि प्रक्रियाः–

(Theory of Evoution)

जीवन और जगत की बौद्धिक विवेचना ही दर्शन है। प्रत्येक दार्शनिकों के लिए जीवन क्या हैं? यह संसार क्या है? संसार की उत्पत्ति कैसे हुई? इत्यादि प्रश्न महत्वपूर्ण हैं। सृष्टि का

निर्माण किसी ने किया है या समय के साथ–साथ इसका विकास हुआ है? इस पर विचार करना दार्शनिक चिंतन का प्रमुख विषय रहा है।

जगत की उत्पत्ति के सन्दर्भ में दो मुख्य सिद्धान्त हैं–

1. सृष्टिवाद और **2. विकासवाद**

सृष्टिवाद के अनुसार यह संसार ईश्वर की रचना है। किसी अदृश्य समर्थ शक्ति (ईश्वर) ने सृष्टि का निर्माण किया है।

विकासवाद के अनुसार यह जगत किसी ईश्वर की रचना न होकर अपने स्वभाव के अनुसार विकास का परिणाम है।

सांख्य दर्शन सृष्टिवाद को नहीं मानता क्योंकि सांख्य ईश्वर की सत्ता में अविश्वास करता है। जब ईश्वर ही नहीं है तो फिर सृष्टि कौन कर सकता है? सांख्य के अनुसार यह संसार किसी ईश्वर की सृष्टि नहीं है, अपितु यह विकास का फल है। इस प्रकार सांख्य का विकासवाद चार्वाक दर्शन द्वारा प्रतिपादित विकासवाद एवं आधुनिक विज्ञान द्वारा प्रतिपादित विकासवाद से अत्यन्त भिन्न एक अद्‌भुत एवं विलक्षण विकासवादी सिद्धान्त है।

प्रकृति से विकासः– सांख्य दर्शन द्वैतवादी है। सांख्य के अनुसार प्रकृति एवं पुरुष दो मूल तत्व हैं जो नित्य हैं शाश्वत हैं। जब कुछ भी नहीं था तब भी ये दो तत्व थे और प्रलय के बाद जब कुछ भी नहीं रहेगा तब भी ये दोनों तत्व रहेगे। इन दोनों मूल तत्वों में से प्रकृति ही वह तत्व है जिससे संसार की समस्त वस्तुएं विकसित होती है। यह संसार प्रकृति का ही परिणाम है। इसलिए सांख्य का यह सिद्धान्त प्रकृति परिणामवाद भी कहलाता है।

सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। प्रकृति के तीन गुण हैं– सत्व, रजस और तमस। इन तीनों गुणों की साम्यावस्था ही मूल प्रकृति है जो सृष्टि पूर्व की अवस्था है एवं विषमावस्था ही संसार है, प्रकृति का परिणाम (विकार) यानी विकृति है। अर्थात प्रकृति के अन्दर जो सूक्ष्म रूप में पहले से विद्यमान था उसका व्यक्त हो जाना ही संसार है। अव्यक्त का व्यक्त होना ही सर्ग है।

विकासवाद का आधार सत्कार्यवादः–

सांख्य दर्शन सत्कार्यवाद को मानता है और यह सिद्धान्त ही उसके प्रकृति विकासवाद का आधार है। सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व अपने उपादान कारण में अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। उत्पत्ति का अर्थ है अव्यक्त का व्यक्त होना एवं विनाश का अर्थ है व्यक्त का अव्यक्त हो जाना यानी कार्य का अपने कारण में लीन हो जाना। संसार का मूलकारण प्रकृति है। प्रकृति में जो पहले से अव्यक्त रूप में विद्यमान था उसी का व्यक्त हो जाना ही सृष्टि है। इसी प्रकार प्रलय का अर्थ है जो व्यक्त (सांसारिक वस्तुएं) हैं उनका अपने मूलकारण (प्रकृति) में लीन हो जाना।

प्रकृति की साम्यावस्था एवं विषमावस्थाः–

सत् रज एवं तम इस तीन गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं। प्रकृति एवं उसके गुण निरन्तर परिवर्तन शील रहते हैं। गुणों में परिवर्तन (परिणाम) दो प्रकार का होता है–

(1) सरूप परिणाम और (2) विरूप परिणाम।

सरूप परिणाम प्रकृति की साम्यावस्था है जिसमें गुणों में स्वयं में परिवर्तन होता रहता है। इस अवस्था में प्रकृति से कोई विकार उत्पन्न नहीं होते। यह शान्त अवस्था है।

विरूप परिणाम प्रकृति की विषमावस्था है जिसमें गुणों में क्षोभ उत्पन्न होता है और प्रकृति से विकृतियाँ उत्पन्न होती है एवं विकास का प्रारम्भ होता है। इस प्रकार विकासवाद की क्रिया तभी आरम्भ हो सकती है जब प्रकृति में विरूप परिणाम हो। किन्तु सांख्य के अनुसार प्रकृति के अन्दर विरूप परिणाम उत्पन्न करने के लिए पुरुष का संयोग आवश्यक है।

प्रकृति पुरुष संयोगः– प्रकृति की साम्यावस्था भंग करने एवं विकास प्रक्रिया प्रारम्भ के लिए पुरुष और प्रकृति का संयोग आवश्यक है। अकेली प्रकृति विकास नहीं कर सकती क्योंकि वह अचेतन एवं जड़ है। इसी प्रकार अकेला पुरुष भी विकास नहीं कर सकता क्योंकि वह निष्क्रिय है। अतः विकास के लिए प्रकृति और पुरुष दोनों का संयोग आवश्यक है यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रकृति और पुरुष का संयोग वैसा नहीं होता जैसा दो चेतन या अचेतन वस्तुओं जैसे रथ और घोड़े में होता है। वस्तुतः प्रकृति और पुरुष में वास्तविक संयोग नहीं होता। पुरुष की निकटता मात्र से प्रकृति के गुणों में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है, जैसे चेतन विचारों से अचेतन शरीर में हलचल मच जाती है वैसे ही चेतन पुरुष की समीपता से अचेतन प्रकृति के गुणों में हलचल मच जाती है और गुण क्षोभ उत्पन्न होता है जिससे प्रकृति की साम्यावस्था भंग हो जाती है और विभिन्न तत्वों की क्रमशः उत्पत्ति होने लगती है।

अब प्रश्न यह है कि सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष परस्पर विरोधी स्वभाव वाले है फिर इन विपरीत गुणों वाले दोनों तत्वों में संयोग किस प्रकार सम्भव है? चेतन, निष्क्रिय एवं त्रिगुणातीत पुरुष तथा अचेतन, सक्रिय एवं त्रिगुणात्मक प्रकृति के बीच ससंर्ग कैसे हो सकता है?

प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध सांख्य दर्शन के लिए गम्भीर समस्या है। सांख्य का कहना है कि दोनों को एक दूसरे की आवष्यकता है। प्रकृति दर्शनार्थ अर्थात देखे जाने के लिए पुरुष पर आश्रित है और पुरुष कैवल्यार्थ अर्थात मोक्ष प्राप्त करने के लिए प्रकृति की अपेक्षा रखता है। इस प्रकार दोनों को एक दूसरे के संसर्ग की आवश्यकता होती है। परन्तु विपरीत स्वभाव वाले इन दोनों तत्वों के बीच संसर्ग कैसे हो सकता है?

उपमा का सहाराः– सांख्य दार्शनिक प्रकृति पुरुष संयोग की व्याख्या करने के लिए उपमाओं का सहारा लेते हैं। वे अंधे और लंगड़े का उदाहरण देते हुए कहते है कि एक अंधा और एक लंगड़ा व्यक्ति एक दूसरे से भिन्न स्वभाव वाले हैं। अंधा देख नहीं पाता तो लंगड़ा चल नहीं सकता फिर भी परस्पर सहयोग से दोनों जंगल पार कर जाते है। (यानी अपने गंतव्य स्थल तक पहुँच जाते हैं) उसी प्रकार प्रकृति और पुरुष विपरीत स्वभाव वाले होकर भी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए परस्पर सहयोग करते हैं। प्रकृति ज्ञेय है वह ज्ञात होने के लिए पुरुष की अपेक्षा करती है। पुरुष दैहिक, दैविक एवं भौतिक तापों से मुक्त होने (कैवल्य या मोक्ष प्राप्ति) के लिए प्रकृति की अपेक्षा करता है। दोनों की परस्पर अपेक्षाएं ही उनके संयोग को सम्भव बनाती है।

पुरुषस्य दर्षनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।

पंग्व् अन्धवत् उभयोःअपि संयोगः तत्कृतः सर्गः।।

(सांख्यकारिका–21)

प्रकृति पुरुष संयोग के विषय में सांख्य दर्शन चुम्बक और लोहे के बीच सम्बन्ध का भी उदाहरण देता है। सांख्य दर्शन का कहना है कि यद्यपि पुरुष निष्क्रिय है फिर भी वह प्रकृति को उसी प्रकार प्रभावित करता है। जिस प्रकार चुम्बक लोहे को अपनी ओर खीचती है। इस प्रकार सांख्य दर्शन पुरुष और प्रकृति के संयोग को सम्भव मानकर सृष्टि के उद्भव और विकास की व्याख्या करता है।

अचेतन प्रकृति से सांसारिक विषय कैसे उत्पन्न होते है? सांख्य दर्शन इस विषय में भी कतिपय उपमाओं का सहारा लेता है। उसके अनुसार जिस प्रकार अचेतन वृक्षों से जीवों के कल्याण हेतु फल उत्पन्न हेाते है। बछड़े के पोषण के लिए गाय के थन से अचेतन दूध स्वतः प्रवाहित होने लगता है। पानी लोकहिताय स्वतः बहता है घास स्वयं दूध के रूप में परिणत हो जाती है। तथा अचेतन चुम्बक लोहे को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है, उसी प्रकार जड़ प्रकृति चेतन पुरुषों के कैवल्यार्थ सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थों को उत्पन्न करती है।

विकास का प्रयोजनः– विश्व के विकास की आधुनिक विचारधारा (जैसे डार्विन का विकासवाद) विकास क्रिया को यान्त्रिक मानती है। उनके अनुसार विकास के पीछे उद्देश्य (प्रयोजन) नहीं है। जबकि सांख्य का विकास प्रयोजनवादी है।

सांख्य विकासवाद निरुद्देश्य नहीं है, यह सोद्देश्य है। इसके द्वारा प्रकृति और पुरुष दोनों का प्रयोजन सिद्ध होता है। प्रकृति का प्रयोजन दर्शनार्थ एवं भोगार्थ (दर्षन और भोग के लिए) होता है जबकि पुरुष का प्रयोजन मोक्ष के लिए (कैवल्यार्थ) होता है।

पुरुषस्य दर्शनार्थ कैवल्यार्थ तथा प्रधानस्य। (सा॰ का॰ 21)

18.3.8 सृष्टि विकास का क्रमः–

सांख्य दर्शन विकासवादी है। उसके अनुसार सृष्टि किसी ईश्वर की रचना नहीं बल्कि पुरुष के संयोग से प्रकृति का परिणाम है। पुरुष के प्रकृति के समीप आने पर प्रकृति के गुणों में क्षोभ उत्पन्न होता है। गुण क्षोभ होने से प्रकृति के गुणों में विरूप परिणाम होने लगता है और प्रकृति की साम्यावस्था भंग हो जाती है, फलस्वरूप विकास प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

सांख्य दर्शन के अनुसार विकास का क्रम इस प्रकार है–

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणष्च षोडषकः।

तस्मादिप षोडषकात्पंचभ्यः पंचभूतानि। (सांख्यकारिका– 22)

अर्थात् –प्रकृति से महान महत् से अहंकार, या महत् अहंकार से सोलह का समूह (1 मन 5 ज्ञानेन्द्रियाँ, 5 कर्मेन्द्रियाँ और 5 तन्मात्राएं) और उन सोलह में भी 5 तन्मात्राओं से 5 महाभूत उत्पन्न होते हैं।

1. महत् तत्त्वः–सांख्य दर्षन के अनुसार विकास की प्रक्रिया में प्रकृति से उत्पन्न होने वाला प्रथम तत्त्व 'महत' या बुद्धि है। महत् का अर्थ महान होता है। इसे बुद्धि भी कहते है जो भिन्न–भिन्न जीवों में विद्यमान है। निश्चय एवं अवधारणा बुद्धि ही के दो कार्य हैं। बुद्धि ही

निर्णय देती है। बुद्धि के द्वारा ही ज्ञाता और ज्ञेय के बीच भेद सम्भव होता है। बुद्धि की सहायता से पुरुष अपने स्वयं को और प्रकृति के भेद को समझता है तथा अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानता है।

यद्यपि प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण बुद्धि स्वभावतः जड़ (अचेतन) है किन्तु आत्मा (चेतना) के सम्पर्क से आत्मा का प्रतिविम्ब पड़ने के कारण वह प्रकाश युक्त हो जाती है और स्वयं को तथा अन्य वस्तुओं का प्रकाशित करने लगती है।बुद्धि त्रिगुणात्मक है। इसमें सत्, रज और तम तीनों गुण होते है। जब बुद्धि सतोगुण प्रधान होती है तो बुद्धि में ज्ञान, वैराग्य, धर्म एवं ऐश्वर्य की उत्पत्ति होती है। परन्तु जब बुद्धि में तमोगुण की प्रधानता होती है तो उसमें अज्ञान, अधर्म, अशक्ति एवं आसक्ति जैसे गुणों का विकास होता है।

2. अंहकारः– प्रकृति का दूसरा विकार अंहकार है। रजोगुण की प्रधानता होने पर महत् से अंहकार की उत्पत्ति होती है। अंहकार का कारण बुद्धि है अंहकार को अभिमान भी कहते हैं। अभिमानोऽहंकारः। मैं और मेरा की भावना अभिमान है। अपने स्वयं को कर्त्ता, भोक्ता, स्वामी समझना अंहकार का परिणाम है। अंहकार के कारण ही पुरुष मिथ्या भ्रम में पड़ जाता है। हमारे समस्त व्यवहार का मूल अंहकार है।

अहंकार के प्रकारः–

अंहकार तीन प्रकार का होता है–

1. वैकारिक या सात्विक अंहकार
2. तेजस या राजस अंहकार और
3. भूतादि या तामस अंहकार।

1. सात्विक अंहकार में सतोगुण की प्रधानता होती है राजसिक या राजस अंहकार में रजोगुण की प्रधानता होती है, जबकि तामस अंहकार तमोगुण प्रधान होता है।

इन तीनों अंहकारों से ही इन्द्रिय मन एवं तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है।

सात्विक अंहकार से मन, पंचज्ञानेन्द्रियों एवं पंचकर्मेन्द्रियों का विकास होता है।

तामस अंहकार से पंचतन्मात्राएं उत्पन्न होती हैं और इन पंच तन्मात्राओं से ही पंचमहाभूतों का विकास होता है।

राजस अंहकार से किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती। यह सात्विक एवं तामस अंहकारों को शक्ति प्रदान करना है जिससे वे अपने अपने विकारों का उत्पन्न कर सकें।

सांख्य कारिका 25 में वर्णित उपर्युक्त क्रम से सांख्य दार्शनिक वाचस्पति मिश्र भी सहमत हैं किन्तु विज्ञानभिक्षु के अनुसार सात्विक अंहकार से केवल मन उत्पन्न होता है। पंचज्ञानेन्द्रियाँ एवं पंचकर्मेन्द्रियाँ (दश इन्द्रियाँ) राजस अंहकार से उत्पन्न होती हैं तथा तामस अंहकार पंचतन्मात्राओं को उत्पन्न करता है। किन्तु विज्ञानभिक्षु के मत की अपेक्षा सांख्यकारिका का मूल मत अधिक मान्य है।

1. एकादश इन्द्रियाँः– पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंचकर्मेन्द्रियाँ एवं एक मन सहित ग्यारह इन्द्रियाँ सात्विक अंहकार से उत्पन्न होती है।

2. पांच ज्ञानेन्द्रियाँः– ज्ञान प्राप्त कराने वाली इन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियाँ कहलाती हैं। ये संख्या में 5 हैं– नेत्र (आँख) घ्राण (नाक) श्रोत (कान) रसना (जीभ) और त्वक् (त्वचा)। इन पांच ज्ञानेन्द्रियों से क्रमशः रूप, गंध, शब्द, रस (स्वाद) और स्पर्श विषयों का ज्ञान होता है।

3. पाँच कर्मेन्द्रियाँः– कर्मेन्द्रिय वह है जो मनुष्य को कर्म करने में समर्थ बनाती हैं। इनकी संख्या भी पाँच है– वाक् (मुख) पाणि (हाथ) पाद (पैर) पायु (मलद्वार) और उपस्थ (जननेन्द्रिय)। इन कर्म इन्द्रियों से क्रमशः बोलना पकड़ना चलना फिरना मल बाहर करना और प्रजनन कार्य किये जाते हैं।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आँख कान या हाथ पैर जैसे दीखने वाले अंग इन्द्रियाँ नहीं हैं। इन्द्रियाँ अत्यन्त सूक्ष्म होती हैं। ये दिखायी नहीं देती। वास्तव में ये अत्यन्त सूक्ष्म शक्ति हैं जो उन अंगों में रहती है जिनका नाम इन्द्रिय के रूप में लिया जाता है। जैसे नेत्र इन्द्रिय का अर्थ है– नेत्र के अन्दर की सूक्ष्म शक्ति जो आँख को देखने में समर्थ बनाती है। इसी प्रकार कर्मेन्द्रिय यानी कान के अन्दर की सूक्ष्म इन्द्रिय शक्ति आदि।

मनः– सांख्य दर्शन में मन को सात्विक अहंकार से उत्पन्न एक इन्द्रिय माना गया है। मन अन्य दश इन्द्रियों को उनके विषयों की ओर प्रेरित करता है। मन एक आन्तरिक इन्द्रिय है। मन का कार्य है संकल्प करना। ईश्वर कृष्ण ने सांख्य कारिका 27 में मन को उभयात्मक कहा है। मन उभय इन्द्रिय है अर्थात यह ज्ञानेन्द्रिय भी है और कर्मेन्द्रिय भी। मन इन्द्रिय संवेदनों को ग्रहण करके ज्ञान प्राप्त करता है। तथा संकल्प विकल्प का कार्य भी करता है। मन के सहयोग के बिना ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण करने में असमर्थ होती हैं।

अन्तःकरणः– सांख्य एवं योग दर्शन में मन अंहकार एवं बुद्धि को अन्तः करण कहा गया है।

बाह्य करणः– पंचज्ञानेन्द्रियाँ एवं पंच कर्मेन्द्रियाँ अर्थात (दश इन्द्रियाँ) बाह्य करण हैं।

त्रयोदष करणः– अन्तःकरण और वाह्यकरण मिलाकर त्रयोदश करण कहलाते हैं।

वाह्यकरण का सम्बन्ध केवल वर्तमान कालीन विषयों से होता है जबकि अन्तःकरण का सम्बन्ध भूत वर्तमान और भविष्य तीनों कालों के विषयों से होता है।

तन्मात्राः– तामस अंहकार से तन्मात्राओं का विकास होता है। तन्मात्र का अर्थ है सूक्ष्म तत्व। तन्मात्राएं पंचमहाभूतों के सूक्ष्म रूप हैं, उनके सार तत्व हैं। इन्हीं तन्मात्राओं से महाभूतों की उत्पत्ति होती है। तन्मात्राएं पाँच प्रकार की होती हैं– रूप, रस, गंध, शब्द और स्पर्श तन्मात्रा। ये तन्मात्राएं इतनी सूक्ष्म अति सूक्ष्म होती हैं कि इनका प्रत्यक्ष नहीं होता, इनका ज्ञान अनुमान से होता है।

पंचमहाभूतः– पंचतन्मात्राओं से पंचमहाभूतों का प्रादुर्भाव होता है। तन्मात्रा एवं महाभूत में अन्तर यह है कि पंच तन्मात्राएं सूक्ष्म है और पंच महाभूत स्थूल हैं। ये पाँच स्थूल महाभूत हैं– आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी। इन महाभूतों में प्रत्येक के विशिष्ट गुण माने गये हैं जो क्रमशः आकाश, का शब्द, वायु का स्पर्श, अग्नि का रूप, जल का रस या स्वाद

और पृथ्वी का विशिष्ट गुण गंध होता है। इन पंचमहाभूतों के आपस में मिलने से ही संसार की अन्य वस्तुओं का निर्माण होता है।

सांख्य दर्शन के विकासवाद (सृष्टि प्रक्रिया) को रेखाचित्र के द्वारा निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है।

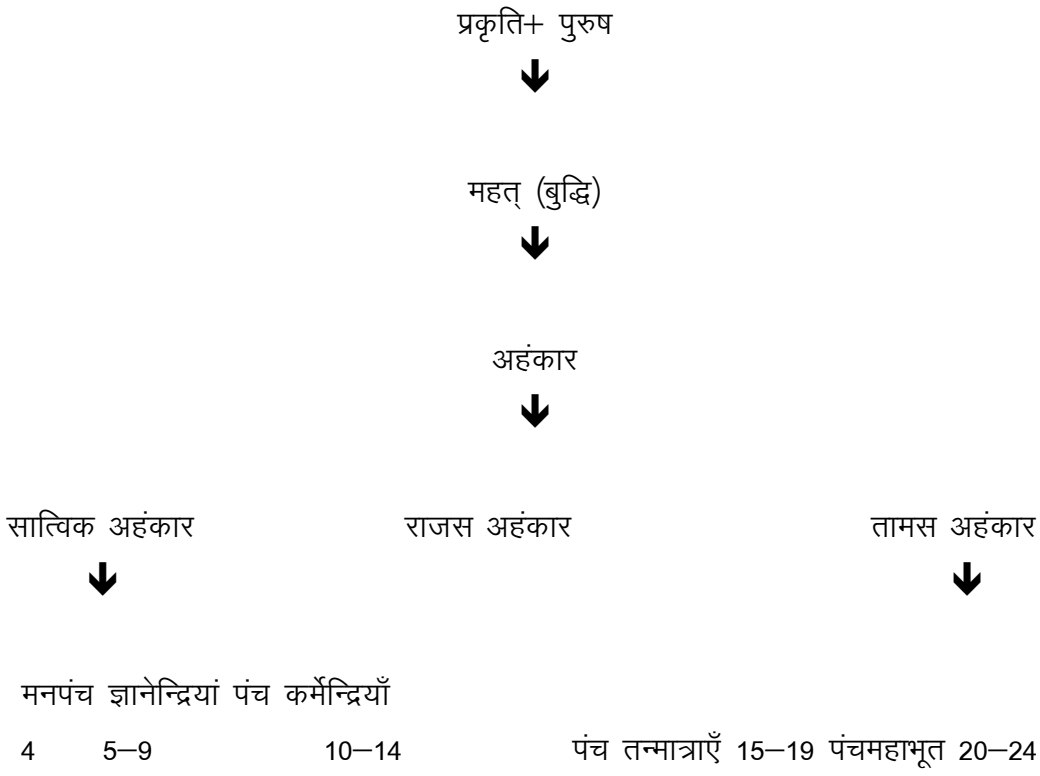

इस प्रकार हम देखते है कि सांख्य दर्शन का विकासवाद प्रकृति के कुल 23 विकारों (परिणामों) को प्रकट करता है जो महत् से लेकर पंचमहाभूत तक हैं। इन 23 तत्वों में प्रकृति को भी जोड़ लेने पर 24 तत्त्व हो जाते हैं। बिना पुरुष के सानिध्य के विकास प्रक्रिया प्रारम्भ नहीं हो सकती इसलिए पुरुष को भी जोड़ लेने पर तत्त्वों की संख्या 25 हो जाती है। इस तरह सांख्य दर्शन के अनुसार सम्पूर्ण सृष्टि के विकास तत्त्वों की संख्या 25 है।

तत्त्वो की विषेषताएं:– सांख्य दर्शन में उपर्युक्त 25 तत्त्वों की अपनी अलग–अलग विषेषताएँ हैं। जैसे पुरुष केवल द्रष्टा है, वह न तो प्रकृति है और न ही विकृति। पुरुष न तो कारण है न ही कार्य। वह कार्य कारण से परे है। प्रकृति केवल प्रकृति है, विकृति नहीं अर्थात प्रकृति किसी का विकार नहीं है। प्रकृति मूल कारण है, कार्य नहीं है। महत अहंकार और पंचतन्मात्राएं प्रकृति (कारण) भी है और विकृति (कार्य) भी। पंचज्ञानेन्द्रियाँ,

पंचकर्मेन्द्रियाँ मन तथा पंचमहाभूत इन सोलह तत्त्वों से किसी तत्त्व का जन्म नहीं होता। इसलिए ये केवल विकृति मात्र हैं, प्रकृति नहीं अर्थात ये केवल कार्य हैं, कारण नहीं।

प्रकृति विकास का क्रमः– सांख्य दर्शन के अनुसार विकासवाद का अर्थ है– अव्यक्त का व्यक्त होना अर्थात जो दिया हुआ है, पहले से निहित है, उसका प्रकट हो जाना, बाहर आ जाना। इसलिए सांख्य दर्शन में विकास का क्रम सूक्ष्म से स्थूल की ओर है। विकास प्रक्रिया प्रकृति से प्रारम्भ होकर महाभूत तक जाती है। प्रकृति जहाँ अत्यन्त सूक्ष्म है, वहीं महाभूत स्थूल तत्त्व हैं।

इस प्रकार सांख्य दर्शन द्वारा विकास का क्रम सूक्ष्म से स्थूल की ओर बतलाना अत्यन्त ही महत्वपूर्ण विचार है।

18.3.9 विकासवाद की समीक्षा

सांख्य दर्शन का विकासवादी सिद्धान्त यद्यपि अनेक दृष्टिकोणों से डार्विन के वैज्ञानिक विकासवादी सिद्धान्त या आधुनिक विकासवादी सिद्धान्त से मेल नहीं खाता फिर भी भारतीय दर्शन में इस सांख्य सिद्धान्त का अपना महत्व है। वास्तव में सांख्य दर्शन का सिद्धान्त कोई जीवधारियों का विकास सिद्धान्त या भौतिक या नैतिक विकास सिद्धान्त न होकर दार्शनिक चिंतन से दिया गया विकास सिद्धान्तहै। सांख्य का विकासवाद अनेक दृष्टिकोणों से महत्वपूर्ण होते हुए भी निर्दोष सिद्धान्त नहीं है।तार्किक दृष्टिकोण से इसमें निम्न दोष हैं–

1. प्रयोजन में दोषः–

सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति पुरुष के प्रयोजन हेतु जगत का विकास करती है। किन्तु प्रकृति तो अचेतन है फिर वह चेतन पुरुष के प्रयोजन हेतु विकास कैसे करेगी।

2. **प्रकृति पुरुष संयोग में दोषः–**

सांख्य दर्शन प्रकृति और पुरुष को एक दूसरे के सर्वथा विपरीत विरोधी स्वतन्त्र तत्त्व मानता है किन्तु ऐसी अवस्था में दो परस्पर विरोधी स्वतन्त्र तत्त्वों में संयोग कैसे हो सकता है?

3. उपमा दोषः–

सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष के संयोग को उपमाओं के द्वारा उदाहरण देकर समझाने का प्रयास किया गया है किन्तु ये उपमाएं भी दोष पूर्ण है जैसे– अंधे और लंगड़े की उपमा। सांख्य के अनुसार प्रकृति और पुरुष अंधे और लगड़े की तरह परस्पर सहयोग करके अपने गंतव्य तक पहुंच जाते हैं। किन्तु यह उदाहरण ठीक नही है क्योंकि यहाँ अंधा और लगड़ा दोनों चेतन प्राणी है; दोनों का उद्देश्य भी एक है (जंगल पार करना) जबकि प्रकृति और पुरुष में से प्रकृति अचेतन है दोनों का उद्देश्य भी समान नहीं है।

इसी तरह सांख्य दर्शन का कहना है कि जिस प्रकार गाय के थन से बछड़े के निमित्त स्वतः दूध निकलता है वैसे ही प्रकृति पुरुष के लिए स्वतः प्रवृत्त होती है। यह उदाहरण भी दोष युक्त है क्योंकि यहाँ गाय चेतन है जबकि प्रकृति अचेतन तत्त्व है। पुनः गाय के थन से स्नेह वश बछड़े के लिए दूध निकलता है और बछड़ा स्वयं दूध पीने का प्रयास करता है। गाय के पास पहुँचता है जबकि पुरुष कोई प्रयास नहीं कर सकता क्योंकि पुरुष

निष्क्रिय तत्त्व है इस प्रकार सांख्य अनेक प्रयत्न करने के बाद भी पुरुष और प्रकृति के संयोग को सुलझा नहीं पाता। वास्तव में प्रकृति और पुरुष का संयोग तभी हो सकता है जब कोई तीसरी शक्ति हो जो उनका संयोग करा सके। इसलिए बाद में सांख्य दार्शनिकों ने एवं सांख्य के तत्त्वदर्शन पर आधारित योग दर्शन में ईश्वर की आवश्यकता स्वीकार की गई है।

18.3.10 प्रकृति सिद्धान्त की समीक्षाः–

सांख्य दर्शन की प्रकृति की अवधारणा एवं उसका विकासवादी दृष्टिकोण अनेक रूपों में महत्वपूर्ण होते हुए भी दोषों से मुक्त नहीं है। सांख्य के प्रकृति सिद्धान्त में अनेकों त्रुटियाँ परिलक्षित होती है जैसे–

1. सांख्य ने प्रकृति को जड़ एवं व्यक्तित्व रहित माना है। किन्तु सांख्य द्वारा प्रकृति के स्वरूप की विवेचना से ऐसा लगता है मानो वह व्यक्तित्व पूर्ण हो। प्रकृति को नर्तकी, गुणवती, उदार, अन्धी, निःस्वार्थी, स्त्री, प्रसव धार्मिणी, नदी के समान प्रदर्शन करने वाली, इत्यादि शब्दो से सम्बोधित किया गया है। अतः व्यक्तित्व शून्य प्रकृति के विचार में विरोधाभास दिखाई देता है।
2. सांख्य दर्शन में प्रकृति को निरपेक्ष और स्वतन्त्र तत्त्व कहा गया है किन्तु पुरुष के संयोग के बिना प्रकृति विकास करने में असमर्थ है। जब प्रकृति विकास के लिए पुरुष पर आश्रित है, उसे पुरुष की अपेक्षा है तो उसे स्वतन्त्र और निरपेक्ष कैसे कहा जा सकता है?
3. प्रकृति अचेतन है और वही इस संसार का मूल कारण मानी गई है किन्तु इस सुव्यवस्थित सुन्दर और सामन्जस्य पूर्ण विश्व का निर्माण कोई अचेतन शक्ति कैसे कर सकती है।
4. कर्म सिद्धान्त के अनुसार जो कर्म करता है उसी को उन कर्मो का फल भोगना पड़ता है। किन्तु सांख्य के प्रकृति सिद्धान्त पर विचार करें तो पाते हैं कि कर्म तो प्रकृति करती है (क्योंकि वही सक्रिय है) और फल पुरुष भोगता है। इस प्रकार यह विचार कर्म सिद्धान्त का खण्डन करता है।
5. सांख्य दर्शन प्रकृति के साथ पुरुष के संयोग को स्थापित करने में भी तार्किक दृष्टि से असफल रहता है।

अभ्यास प्रश्नः–

1. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए–

(क) समस्त संसार का मूलकारण.....है।
(ख) प्रकृति के अन्दर.....पाये जाते है।
(ग) प्रकृत्ति का ज्ञान..... से नहीं अपितु.....से होता है।
(घ) अहंकार का कारण.....है।
(ङ) मन, अहंकार एवं बुद्धि को.....कहते है

2. सत्य/असत्य बताइये–

(क) योग दर्शन सांख्य के विकासवाद को नहीं मानता।
(ख) सत्, रज तम इन तीन गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है।

(ग) कारण की उत्पत्ति कार्य से होती है।
(घ) गंध तन्मात्रा से पृथ्वी महाभूत की उत्पत्ति होती है।
(ङ) आकाश का विशेष गुण शब्द है।

3. संक्षिप्त अन्तर बताइये–

(क) प्रकृति एवं विकृति
(ख) सरूप परिणाम एवं विरूप परिणाम
(ग) ज्ञाता एवं ज्ञेय
(घ) बुद्धि एवं मन
(ङ) सृष्टिवाद एवं विकासवाद

4. अति लघुत्तरीय प्रश्न–

निम्न प्रश्नों का संक्षेप में उत्तर दीजिए–

(क) अहंकार कितने प्रकार का होता है?
(ख) पाँच कर्मेन्द्रिया कौन कौन सी है?
(ग) विकास का क्या अर्थ है?
(घ) पंचतन्मात्राएं कौन–कौन सी हैं?
(ङ) त्रयोदश करण क्या हैं?

18.4 सारांशः–

इस इकाई में अब तक आपको ज्ञात हो चुका कि योग दर्शन सांख्य दर्शन में वर्णित प्रकृति की अवधारणा एवं स्वरूप से पूरी तरह सहमत है। सांख्य के विचार ही योग दर्शन के विचार हैं क्योंकि दोनोंसमान तन्त्र हैं और योग दर्शन सांख्य की तत्त्व मीमांसा को स्वीकार करता है।

इस संसार का मूल कारण प्रकृति है। जिस प्रकार एक बीज के अन्दर सूक्ष्म रूप से पौधा छिपा होता है और वह पौधा बीज से ही प्रकट होता है उसी प्रकार यह समस्त संसार अव्यक्त रूप में प्रकृति के अन्दर निहित था और पुरुष के सम्पर्क में आने पर प्रकृति के अन्दर से संसार विकसित हुआ। यह सृष्टि किसी ईश्वर की रचना या परमाणुओं के आकस्मिक संयोग का परिणाम न होकर प्रकृति का परिणाम है। प्रकृति से ही समस्त जड़ जगत की उत्पत्ति होती है। सृष्टि प्रकृति की विकृति का नाम है। सृष्टि का अर्थ है अव्यक्त का व्यक्त होना अर्थात कारण से कार्य की उत्पत्ति और प्रलय का अर्थ है व्यक्त का अव्यक्त हो जाना, यानी कार्य का अपने कारण में विलीन हो जाना।

सत, रज और तम तीनों गुण एक साथ रहते हैं। इन तीनों का स्वरूप और विषेषताएं अलग–अलग हैं। जिस व्यक्ति में जिस गुण की अधिकता रहती है, उसकी प्रवृत्ति उसी गुण के अनुरूप होती है। इसलिए व्यक्ति अपने गुण कर्म और स्वभाव में सतोगुण की वृद्धि करके सुख (आनन्द), शान्ति, ज्ञान, प्रकाश एवं श्रेष्ठता की ओर उन्मुख हो सकता है। मन, बुद्धि अहंकार रूपी अन्तः करण, पंचज्ञानेद्रिय और पंचकर्मेन्द्रिय रूपी वाह्यकरण तथा इन सबका समन्वित नाम त्रयोदष करण में सतोगुण की निरन्तर वृद्धि ही दुःखों से मुक्ति और उत्कर्ष का आधार है।

18.5 शब्दावली–

आस्तिक – आस्तिक का सामान्य अर्थ है ईश्वर में विश्वास करने वाला। किन्तु भारतीय दार्शनिक दृष्टिकोण से आस्तिक का अर्थ है वेदों में विश्वास करने वाला।

नास्तिक –'नास्तिको वेद निन्दकः' अर्थात जो वेदों की निन्दा करे वह नास्तिक है। सामान्यतः ईश्वर में विश्वास न करने वाला भी नास्तिक कहलाता है।

तत्वमीमांसा – सृष्टि के मूल तत्त्व ईश्वर आत्मा जीव जगत बन्धन मोक्ष, योग साधना सम्बन्धी विचार।

ज्ञानमीमांसा – तत्त्व ज्ञान एवं उनके साधनों की विचेचना।

मत	–	विचार
शाश्वत	–	हमेशा रहने वाला, अविनाशी
साम्यावस्था	–	समान अवस्था
विशेषण	–	विशेषता, विशिष्ट गुण
निर्मायक तत्त्व	–	निर्माण करने वाले तत्त्व
प्रत्यक्ष ज्ञान	–	नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों से होने वाला ज्ञान
अनुमेय	–	जिसका ज्ञान अनुमान से हो
आलोकित	–	प्रकाशित
सर्ग	–	सृष्टि
क्षोभ	–	परिवर्तन
अजा	–	जिसका जन्म न हुआ हो, जन्मरहित
जड	–	अचेतन, भौतिक
ज्ञेय	–	ज्ञान का विषय, जिसे जाना जा सके।
ज्ञाता	–	ज्ञान प्राप्त करने वाला
प्रसूत	–	उत्पन्न
विकार	–	दोष, विकृति, निकला हुआ
सापेक्ष	–	अपेक्षायुक्त, आश्रित
लय	–	विलीन
आबद्ध	–	बंधी हुई, उसके अधीन
परे	–	मुक्त

भोक्ता	–	भोग करने वाला
अदृष्ट	–	दिखाई न देने वाली
त्रिगुणातीत	–	तीनों गुणों से परे
कैवल्य	–	मुक्ति, मोक्ष
सन्सर्ग	–	सम्बन्ध
आसक्ति	–	लगाव, राग
असक्ति	–	निर्बलता, कमजोरी, शक्तिहीन
प्रयोजन	–	उद्देश्य

18. 6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

(1) **(क)** प्रकृति **(ख)** सत रज और तम ये तीन गुण **(ग)** प्रत्यक्ष, अनुमान **(घ)** बुद्धि (महत) **(ङ)** अन्तःकरण

(2) **(क)** असत्य **(ख)** सत्य **(ग)** असत्य **(घ)** सत्य **(ङ)** सत्य

(3) **(क)** प्रकृति कारण है और विकृति कार्य।

(ख) सत रज और तम गुणों में जब सत का सत में, रज का रज में, तम का तम में परिवर्तन होता रहता है तो सरूप परिणाम कहलाता है। किन्तु विरूप परिणाम या परिवर्तन में एक गुण का किसी अन्य गुण में (जैसे सत का तम में) रूपान्तरण होने लगता है।

(ग) ज्ञान प्राप्त करने वाला ज्ञाता कहलाता है और ज्ञान के विषय को ज्ञेय कहते हैं। पुरुष ज्ञाता है प्रकृति ज्ञेय।

(घ) बुद्धि निर्णय शक्ति है जबकि मन संकल्प–विकल्प शक्ति।

(ङ) सृष्टिवाद के अनुसार यह संसार ईश्वर की रचना है जबकि विकासवाद के अनुसार जढ़ तत्व विकास का परिणाम।

(4.) **(क)** अहंकार तीन प्रकार का होता है– सात्विक अहंकार, राजस अंहकार और तामस अंहकार।

(ख) कर्मेन्द्रियाँ पाँच होती हैं– वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ।

(ग) सांख्य दर्शन के अनुसार विकास का अर्थ है अव्यक्त का व्यक्त होना।

(घ) पंचतन्मात्राएं हैं– रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श।

(ङ) बुद्धि अहंकार एवं मन को अन्तःकरण तथा दश इन्द्रियों (पंचज्ञानेन्द्रियाँ+पंचकर्मेन्द्रियाँ) को वाह्य करण कहते हैं। इन तेरहों को एक साथ त्रयोदश करण कहा जाता है।

18.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ईश्वर कृष्ण – सांख्यकारिका, नेशनल पब्लिसिंग हाउस, दिल्ली।
2. मिश्रवाचस्पति – तत्व वैशारदी (व्यास भाष्य टीका)
3. महर्षि पतंजलि – योगदर्शन, गीताप्रेस, गोरखपुर
4. राधाकृष्णन, सर्वपल्ली – भारतीय दर्शन
5 .उपाध्याय आचार्य बलदेव – भारतीय दर्शन, शारदा मंदिर, वाराणसी
6. शर्मा, चन्द्रधर – भारतीय दर्शन आलोचना और अनुशीलन, मोतीलाल, बनारसीदास दिल्ली,
7. सिन्हा हरेन्द्र प्रसाद – भारतीय दर्शन की रूपरेखा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
8. चतुर्वेदी गिरधर शर्मा – दर्शन अनुचिन्तन, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी
9. निगम, डॉ. शोभा – भारतीय दर्शन, मोतीलाल, बनारसी दास दिल्ली
10. भारतीय डॉ. महश – भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएं, इण्डोःविजन प्रा. लि. गाजियाबाद
11. पाठक, राममूर्ति – भारतीय दर्शन की समीक्षात्मक रूपरेखा, अभिमन्यु प्रकाशन, इलाहाबाद
12. भारतीय दर्शन परिभाषा कोष– वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, मानव संसाधन विकास मन्त्रालय भारत सरकार (1999)

18.9 निबंधात्मक प्रश्न–

1. सांख्य दर्शन में प्रकृति क्या है? इसके अस्तित्व के लिए कौन से तर्क दिये गये है?
2. प्रकृति के तीन गुण कौन–कौन से हैं? इसके स्वरूप की विवेचना कीजिए।
3. सांख्य दर्शन प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध को किस प्रकार समझाता है? व्याख्या कीजिए।
4. सांख्य के प्रकृति विकासवाद की विवेचना करें।
5. प्रकृति और पुरुष में क्या अन्तर है? स्पष्ट करें।

इकाईः 19 ईश्वर की अवधारणा एवं स्वरूप

19.1 प्रस्तावना
19.2 उद्देश्य
19.3 ईश्वर की अवधारणा एवं स्वरूप
19.3.1 ईश्वर क्या है?
19.3.2 ईश्वर एक नाम अनेक
19.4 भारतीय दर्शन में ईश्वर का स्वरूप
19.4.1 न्याय दर्शन में ईश्वर
19.4.2 ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण
19.4.3 वैशेषिक दर्शन में ईश्वर
19.4.4 वेदान्त दर्शन में ईश्वर
19.4.5 सांख्य दर्शन में ईश्वर
19.5 योग दर्शन में ईश्वर का स्वरूप
19.5.1 पुरुष विशेष ईश्वरः
19.5.2 जीव आत्मा एवं ईश्वर
19.5.3 योग दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण
19.5.4 ईश्वर का वाचक प्रणव ही क्यों?
19.5.5 ईश्वर प्रणिधान
19.5.6 ईश्वर प्रणिधान का फल
19.5.7 योग दर्शन में ईश्वर की उपयोगिता एवं समीक्षा
19.6 सारांश
19.7 शब्दावली
19.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
19.9 सहायक सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
19.10 निबंधात्मक प्रश्न

19.1 प्रस्तावनाः–

ईश्वर शब्द बड़ा ही अभिव्यंजनात्मक है। सारी सृष्टि में ही जिसका ऐश्वर्य भरा पड़ा हो सृष्टि के कण–कण में जो विराजमान हो ऐसे सत्यं–शिवं–सुन्दरमं स्वरूप, नित्य शाश्वत, असीम, अन्नत पूर्ण परमात्मा के विश्वास पर ही मानव प्रगति का इतिहास टिका हुआ है। जब यह विश्वास डगमगा जाता है तो व्यक्ति विक्षुब्ध मनः स्थिति में हैरान परेशान शांति की तलाश में इधर–उधर भटकने लगता है। इसीलिए ईश्वर की स्तुति और उपासना मनुष्य के कल्याणार्थ आवश्यक मानी गई है। प्रेम, करूणा, उदारता, दया, दान संयम, सदाचार, पुण्य, परमार्थ जैसी श्रेष्ठ प्रवृत्तियों और सामाजिक सद्गुणो का विकास ईश्वर विश्वास के सहारे सहज सम्भव है। इसलिए महर्षि पंतजलि ने भी अपने योग दर्शन में ईश्वर पर विश्वास किया है और उसकी भक्ति, शरणागति नाम–जप को दुःखों से मुक्ति एवं समाधि प्राप्ति का प्रमुख साधन माना है– यद्यपि ध्यान का विषय कुछ भी हो सकता है किंतु यदि ईश्वर प्रणिधान किया जाय तो ईश्वर हमारी साधना में सहायक बनता है उसकी कृपा से चित्त की शुद्धि एवं विघ्नों का नाश सहज रूप में होने लगता है जिससे समाधि सुगम हो जाती है।

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप विभिन्न भारतीय दर्शनों में ईश्वर के स्वरूप तथा उसके अस्तित्व के प्रमाण से अवगत होंगे। योग दर्शन में ईश्वर का स्वरूप क्या है? और ईश्वर पुरुष से किस प्रकार विशिष्ट है? उसे प्रणव ही क्यों कहा गया है? तथा ईश्वर उपासना से क्या लाभ हैं? जैसे प्रश्नों का समाधान भी आप जान सकेंगे, जो आपकी बौद्धिक जिज्ञासा की संतुष्टि एवं उत्कर्ष में सहायक सिद्ध होगा।

19.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप यह समझ सकेंगे कि–

- ☞ ईश्वर क्या है तथा उसके अस्तित्व के क्या प्रमाण हैं?
- ☞ विभिन्न भारतीय दर्शनों का ईश्वर के सम्बन्ध में क्या मत है?
- ☞ ईश्वर को लेकर सांख्य और योग दर्शन में मूलभूत अन्तर क्या है?

19.3 ईश्वर की अवधारणा एवं स्वरूप

मनुष्य एक चिंतनशील प्राणी है। जानने की इच्छा मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। अपनी इसी प्रवृत्ति वश अनादि काल से ही मनुष्य के मन में यह जिज्ञासा रही है कि यह संसार क्या है? इसे किसने बनाया? संसार की रचना किस प्रकर हुई? यह स्वतः उत्पन्न हुआ या इसे किसी अदृश्य समर्थ शक्ति ने बनाया? प्रत्येक निर्माण बिना निर्माता के पूरा नहीं होता बिना व्यवस्थापक के व्यवस्था नहीं बन पाती, इसलिए इस संसार का भी कोई निर्माता अवश्य होगा। संसार में जो सुव्यवस्था है वह अनायास नहीं हो सकता, अवश्य ही कोई चेतन शक्ति है जो संसार को बनाई है और संसार में व्याप्त रहकर इसकी व्यवस्था भी

संभाले हुए है। इन्ही सब जिज्ञासाओं के समाधान स्वरूप मानव की ईश्वर नामक एक समर्थ शक्ति के प्रति विश्वास सदा से रहा है। दर्शन के क्षेत्र में भी ईश्वर एक महत्त्वपूर्ण सम्प्रत्यय है। जो दर्शन ईश्वर में विश्वास करता है वह ईश्वरवादी दर्शन कहलाता है और जो ईश्वर में विश्वास न करे वह अनीश्वरवादी। ईश्वरवादी दर्शनो में ईश्वर के स्वरूप को लेकर अनेक मत हैं। इस प्रकार भिन्न–भिन्न दर्शनों में ईश्वर का स्वरूप भी अलग अलग बताये गये हैं।

यद्यपि सांख्य और योग दर्शन समान तन्त्र हैं किन्तु ईश्वर को लेकर इनमें मत भेद है। सांख्य दर्शन पुरुष एवं प्रकृति से अलग किसी ईश्वर सदृश्य सत्ता को स्वीकार करने की आवश्यकता महसूस नहीं करता, जबकि योग दर्शन सांख्य की तत्वमीमांसा का ज्यों की त्यों स्वीकार करते हुए उसमें ईश्वर की अवधारणा को भी जोड़ देता है। यही कारण है कि महर्षि कपिल के सांख्य दर्शन को निरीश्वर सांख्य एवं महर्षि पतंजलि के योग दर्शन को सेश्वर सांख्य भी कहा जाता है।

19.3.1 ईश्वर क्या है?

शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से ईश्वर शब्द ईश धातु में वरच् प्रत्यय लगाकर बना है जिसका अर्थ है ऐश्वर्य युक्त, समर्थ, शक्तिशाली, स्वामी, प्रभु, मालिक, राजा, शासक आदि। हिन्दी संस्कृत कोश के अनुसार ईश्वर शब्द का प्रयोग परमेश्वर, जगदीश्वर, परमात्मन, परमेश, स्वामी, शिव आदि अनेक रूपों में किया गया है।

ऋग्वेद में ईश धातु का प्रयोग अनेक रूपों में मिलता है जैसे–

' मा नो दुःशंस ईशत''। (ऋग्वेद 9.23.9)

'' ईशे ह्यग्निःअमृतस्य''। (ऋग्वेद 7.4.6)

'' ईशे यो विश्वस्यादेववीतेः''। (ऋग्वेद 10.6.3)

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में ईश्वर विश्वरूप है–

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रापात्।

स भूमिः विश्वतो वृत्वाऽत्पतिष्ठत् दशाङगुलम। (ऋग्वेद 10.90)

19.3.2 ईश्वर एक–नाम अनेकः–

ईश्वर एक है किन्तु उसके नाम अनेक हैं। ऋग्वेद में वर्णित अनेक देव शक्तियाँ एक ही ईश्वर के पर्याय है।

इन्द्रं मित्रं वरूणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुंपर्णो गरुत्मान्।

एकं सद्विप्रा वहुधा वदन्त्याग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।

कठोपनिषद के ऋषि ने परमेश्वर को ब्रहम के रूप में अणु से भी अणु (यानी सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म) और महान से भी महान बताया, जिसे प्राप्त करके मनुष्य को अमृतत्व की प्राप्ति हो जाती है।

अणोरणीयन्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।

तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्म–हिमानमात्मानः।। (कठो॰ 1.2.20)

इसलिए **महर्षि पतंजलि** ने मोक्ष प्राप्ति के साधनों में ईश्वर प्रणिधान का वर्णन किया है।

ईश्वर प्रणिधानाद्वा। (पातंजल योग सूत्र, समाधिपाद 1.23)

ईश्वर क्या है? इस सम्बन्ध में **भाष्यकार व्यास** का कथन है कि जो भोगों से रहित है वही ईश्वर है–

'' यो ह्यनेन भोगेना परामृष्टः स पुरुष विशेष ईश्वरः''।।

इसी प्रकार का उल्लेख **भोजवृत्ति** में भी प्राप्त होता है।

'' वासनाख्याः संस्कारास्तैरपरामृष्टस्त्रिष्वपि।

कालेषु न संस्पृष्टः पुरुष विशेषः।।''

अर्थात्– वासना रूपी संस्कार से रहित तीनों कालो में भी जिसका सम्बन्ध नहीं होता वह पुरुष विशेष ईश्वर है। योग भाष्यकार **महर्षि व्यास** ईश्वर को असीम ऐश्वर्य युक्त मानते है उनका कहना है कि जिसमें एश्वर्य है वही ईश्वर है।

'तस्माद्यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्यस्य स ईश्वर इति।

वृत्रिकार भोज ने भी इच्छामात्र से सम्पूर्ण जगत की उत्पत्ति और प्रलय करने में समर्थ शक्ति को ईश्वर कहा है–

'ईश्वर ईशनशील इच्छामात्रेण सकलजगदुद्धरणक्षमः''

श्रीमद् भगवद्गीता के अनुसार ईश्वर इस सम्पूर्ण विश्व का स्वामी है। वह ही सृष्टि कर्ता, पालन कर्ता, और संहार कर्ता है। ईश्वर इस जगत का पिता, माता, धाता, पितामह, गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण तथा सुहत् है। वही इसका उत्पत्ति स्थान, प्रलय स्थान, निधान तथा अविनाशी बीज है–

पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शंरण सुहृत्।

प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।। (गीता 9/17,18)

ईश्वर जड़ पदार्थों (क्षर) तथा चेतन जीवों (अक्षर) से भिन्न है। वह इन दोनों से परे और उत्तम है। अतः वह परमात्मा और पुरुषोत्तम है–

द्वाविमे पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।

अतोऽस्मि लोकेवेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।। (गीता 15/16,18)

19.4 भारतीय दर्शन में ईश्वर का स्वरूपः–

प्राचीन भारतीय दर्शन दो सम्प्रदायों में विभक्त है 1. नास्तिक दर्शन और 2. आस्तिक दर्शन। नास्तिक सम्प्रदायों में चार्वाक, बौद्ध तथा जैन दर्शन आते है। ये सभी सम्प्रदाय ईश्वर में विश्वास नहीं करते यद्यपि इनमें से चार्वाक दर्शन ही पूर्णतः ईश्वर में अविश्वास करता है। बौद्ध एवं जैन दर्शन में क्रमशः महात्मा बुद्ध एवं महावीर आदि तीर्थकरों को ईश्वर के समान सम्मान व श्रद्धा प्राप्त है।

आस्तिक सम्प्रदाओं में न्याय, वैशेषिक, सांख्य योग, मीमांसा एवं वेदान्त दर्शन की गणना होती है। इनमें मीमांसा एवं सांख्य निरीश्वरवादी माने जाते हैं किन्तु बाद में इनका सेश्वर रूप भी प्राप्त होता है। न्याय, वैशेषिक, वेदान्त और योग ईश्वर में विश्वास करते हैं। यद्यपि ईश्वर के स्वरूप को लेकर इनमें मतभेद है। इन दर्शनों में न्याय दर्शन ईश्वर के सम्बन्ध में विशेष तर्क देता है।

19.4.1 न्याय दर्शन में ईश्वरः–

न्याय दर्शन एक पूर्णतः आस्तिक दर्शन है क्योंकि यह वेदों की प्रमाणिकता के साथ–साथ ईश्वर में भी विश्वास करता है। न्याय दर्शन में न केवल ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है अपितु तर्को के द्वारा उसके आस्तिव की सिद्धि भी की गई है। न्याय दर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम है। यद्यपि गौतम के न्याय सूत्र में ईश्वर विषयक केवल तीन सूत्र ही प्राप्त होते हैं (जो न्याय सूत्र के चतुर्थ अध्याय के प्रथम आह्निक के 19 से लेकर 21 सूत्र तक है) किन्तु परवर्ती नैयायिकों जैसे उद्योतकर, वाचस्वति मिश्र, उदयन, अन्नमभट्ट आदि ने ईश्वर का विशद वर्णन प्रस्तुत किया है। न्याय दर्शन में हुए इस परिवर्तन का कारण सम्भवतः बौद्ध दर्शन है। बौद्ध दार्शनिक जैसे–जैसे ईश्वर के अस्तिव का खण्डन करते जाते थे वैसे–वैसे नैयायिक उसके अस्तित्व की सिद्धि हेतु सक्रिय होते रहते थे। इस प्रकार न्याय ग्रन्थों में ईश्वर सम्बन्धी विस्तृत विवेचना प्राप्त होता है।

न्याय दर्शन में आत्मा के दो प्रकार बताये गये हैं– 1. जीवात्मा और 2. परमात्मा। परमात्मा को ही ईश्वर कहा जाता है। ईश्वर, जीवात्मा से पूर्णतः भिन्न है। जीवात्मा जहाँ अल्पज्ञ, अनित्य एवं बन्धनग्रस्त है, वहाँ परमात्मा (ईश्वर) सर्वज्ञ नित्य एवं स्वतन्त्र है। जीवात्मा जन्म

मरण के दुख चक्र में धूमती रहती है। परमात्मा इनसे परे है– वह कर्मफल प्रदाता है। ईश्वर विश्व का सृष्टि कर्ता, पालन कर्ता, और संहार कर्ता है। ईश्वर सृष्टि का निमित्त कारण है। वह विश्व की सृष्टि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के परमाणुओं तथा दिक् काल मन और आत्माओं के द्वारा करता है। ईश्वर की कृपा से ही तत्व ज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति होती है।

ईश्वर छः प्रकार के ऐश्वर्य से युक्त (षडैश्वर्य सम्पन्न) है। ये षड् ऐश्वर्य हैं– आधिपत्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य। इन ऐश्वर्यों के कारण ही वह ईश्वर कहलाता है। इन गुणों से– ऐश्वर्य से सम्पन्न होने के कारण ही ईश्वर पुरुष विशेष कहा जाता है।

19.4.2 न्याय दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाणः–

न्याय दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए अनेक प्रकार के तर्क दिये गये हैं। अपने ग्रन्थ न्याय कुसुमांजलि में **उदयनाचार्य** कहते हैं–

कार्यायोजन धृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।

वाक्यात् संख्या विशेषाच्च साध्यो या विश्वविदव्ययः।। (न्यायकुसुमांजलि 5/1)

अर्थात् कार्यो, आयोजन से, धारण आदि से, परम्परा गत कलाओं से, प्रामाणिकता से, श्रुतियों से, श्रुति वाक्यों से तथा विशिष्ट संख्याओं से एक नित्य, स्थायी और सर्वज्ञ ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती है जो निम्नवत् है–

1. कार्यात् – जगत रूपी कार्य का कर्ता होने से ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध होता है। जगत एक कार्य है। इस जगत का निर्माण कोई समर्थ चेतन शक्ति ही कर सकती है जो कि ईश्वर है।

2. आयोजनात्– जड़ परमात्माओं में गति का संचालन कर्ता एवं जीवों का उनके कर्मानुसार फल प्रदान करने वाले आयोजन कर्त्ता के रूप में ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध होता है।

3. धृत्यादेः– इस जगत के आधार यानी धारण कर्ता के रूप में ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध होता है।

4. पदातः– पदों के प्रस्तुतकर्ता के रूप में ईश्वर की सत्ता सिद्ध है। इस जगत में ऐसे अनेक कला कौशल व व्यवहार हैं जिसके आदि शिक्षक के रूप में ईश्वर की सत्ता सिद्ध है।

5. प्रत्ययः– वेदो के रचयिता के रूप में ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध होता है।

6. श्रुतेः – श्रुतियाँ (जैसे वेद, उपनिषद्, गीता आदि) भी ईश्वर की सत्ता का प्रति पादन करती हैं। अतः ईश्वर सिद्ध है।

7. वाक्यात्– वेद वाक्यों के रचयिता के रूप में ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध होता है।

8. संख्या–विशेषात्– द्वयणुक त्रयणुक आदि क्रम से सृष्टि की रचना बिना किसी चेतन ईश्वर के सम्भव नहीं है। अतः ईश्वर सिद्ध है।

9. अदृष्टातः– न्याय दर्शन में पाप–पुण्य कर्मो के फल को 'अदृष्ट' कहा गया है। इस अदृष्ट के संचालक के रूप में यानी कर्मो के फल प्रदाता के रूप में भी ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती है।

इस प्रकार न्याय दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व को युक्तियों द्वारा सिद्ध किया गया है।

19.4.3 वैशेषिक दर्शन में ईश्वरः–

वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कणाद हैं। महर्षि कणाद के वैशेषिक सूत्र में ईश्वर के सम्बन्ध में ज्यादा वर्णन प्राप्त नहीं होता। प्रथम सूत्र– **''तद्वचनादामनायस्य प्रमाण्यम्''** (वैशेषिक सूत्र 1–1.3) में **तत्** शब्द ईश्वर बोधक स्वीकार किया जाता है। दूसरे वैशेषिक सूत्र में **''अस्मद्विविशिष्ट''** शब्द को ईश्वर बोधक माना गया है किन्तु यह शब्द योगियों का बोधक भी हो सकता है। इसलिए कुछ विद्वानों का मत है कि वैशेषिक सूत्रों में ईश्वर का स्पष्ट वर्णन नहीं है किन्तु आगे चलकर प्रशस्तपाद भाष्य तथा न्याय कन्दली आदि वैशेषिक ग्रन्थों में ईश्वर का वर्णन मिलता है। न्याय और वैशेषिक समान तन्त्र माने जाते हैं। वैशेषिक के परवर्ती आचार्यों का ईश्वर विचार न्याय दर्शन पर आधारित है।

19.4.4 वेदान्त दर्शन में ईश्वरः–

वेदान्त दर्शन में ईश्वर को स्वीकार किया गया है। विश्व की सृष्टि का कारण ईश्वर ही है। सारा सृष्टि व्यापार ईश्वर द्वारा संचालित है– **प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्।** (ब्रह्मसूत्र 1–4.23)

अद्वैतवेदान्त दर्शन में शंकराचार्य ने ईश्वर को जगत का निमित्त कारण के साथ साथ उपादान कारण भी स्वीकार किया है। उनके अनुसार मूलतत्व ब्रह्म है। ब्रह्म के दो रूप हैंः– सगुण बह्म और निर्गुण ब्रह्म। दोनों वस्तुतः एक है किन्तु व्यावहारिक व परमार्थिक दो दृष्टिकोणों से दो रूपों में स्वीकार किये जाते है। निर्गुण ब्रह्म ही परब्रह्म है। वही श्रुति द्वारा प्रतिपादित सत्यम्–ज्ञानम्–अनन्तम् ब्रह्म है। परन्तु यही ब्रह्म व्यावरिक दृष्टि से जब माया से आच्छादित होता है तो इस मायोपहित ब्रह्म (सगुण ब्रह्म) को ही ईश्वर कहते हैं। जिस प्रकार मकड़ी अपने अन्दर से जाले का निर्माण करती है, उसी प्रकार ईश्वर अपनी माया शक्ति से जगत की रचना करता है। इसलिए ईश्वर इस जगत का उपादान और निमित्त कारण दोनों है। संसार के दृष्टिकोण से ही ईश्वर का अस्तित्व है।

19.4.5 सांख्य दर्शन में ईश्वरः–

ईश्वर के अस्तित्व को लेकर सांख्य दर्शन के भाष्यकारों एवं समर्थकों में मतभेद है। वाचस्पति मिश्र एवं अनिरूद्ध जैसे सांख्य दार्शनिकों ने सांख्य को अनीश्वर वादी माना है, तो विज्ञान भिक्षु ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। विद्वानों का मत है कि मूल सांख्य ईश्वर वादी रहा होगा। किन्तु ईश्वर कृष्ण के समय तब बौद्ध एवं जैन दर्शन के प्रभाव में

आकर निरीश्वरवाद की ओर मुड़ गया। बाद में फिर सांख्य दर्शन में ईश्वर को प्रतिष्ठा मिली। जो भी हो आज सांख्य की गणना निरीश्वरवादी दर्शन के रूप में ही होती है। सेश्वर सांख्य के रूप में योग दर्शन को स्वीकार किया जाता है।

19.5 योग दर्शन में ईश्वर का स्वरूपः–

योग दर्शन ईश्वर को स्वीकार करता है और इसी रूप में वह सांख्य से भिन्न है। योग और सांख्य समान तत्व होते हुए क्रमशः सेश्वर सांख्य और निरीश्वर सांख्य कहे जाते हैं।

सांख्य दर्शन ने प्रकृति और पुरुष से भिन्न किसी अन्य ईश्वरीय सत्ता को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं समझी। उसके अनुसार प्रकृति के स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण ही प्रकृति में गुण क्षोभ तथा उससे सृष्टि का उद्‌भव और विकास पुरुष के कैवल्य के लिए होता है। इस प्रक्रिया में किसी तीसरे तत्व की आवश्यकता नहीं होती। पुनः सांख्य दर्शन की दृष्टि में पुरुष के कैवल्य हेतु ज्ञान की आवश्यकता है, किसी ईश्वर की भक्ति या उसकी सहायता की आवश्यकता नहीं होती। जबकि योग दर्शन ज्ञान हेतु चित्त का शुद्धि व इस हेतु ईश्वर प्रणिधान पर बल देता है। योग दर्शन सांख्य दर्शन की तत्वमीमांसा को तर्क संगत बनाने के लिए ईश्वर की सत्ता को स्वीकार कर सांख्य की कमियों से स्वयं को मुक्त कर लिया है।

यद्यपि योग दर्शन ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करता है। फिर भी योग दर्शन में ईश्वर का मूल्य महत्त्व और स्थान वह नहीं है जो कि न्याय दर्शन में ईश्वर को प्राप्त है। योग दर्शन में ईश्वर का व्यावहारिक महत्त्व है। ईश्वर साधन है, साध्य नहीं।

योग दर्शन का मुख्य उद्देश्य चित्तवृत्तियों का निरोध है, जिसकी प्राप्ति ईश्वर प्रणिधान से सम्भव मानी गई है। योग सूत्र में ईश्वर को समाधि के अंग के रूप में ध्यान केन्द्रित करने के लिए स्वीकार किया गया है। यहाँ ईश्वर प्रणिधान प्रथम अध्याय (1–23) में ईश्वर के प्रति भक्ति के अर्थ में तथा दूसरे अध्याय (2–32) में सभी कर्मो को ईश्वर को समर्पित करने या कर्म फल का त्याग करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार योग सूत्र में ईश्वर केवल साधन है, साध्य नहीं है।

ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में महर्षि पतंजलि कहते हैं–

1. 'क्लेशकर्मविपाका शयैरपरामृष्टःपुरुष विशेष ईश्वरः'' (योग सूत्र 1/24)

2. 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम' (योग सूत्र 1/25)

3. स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। (योग सूत्र 1/26)

4. तस्य वाचकः प्रणवः। (यो॰ सू॰ 1/27)

5. तज्जपस्तदर्थभावनम्। (योग सूत्र 1/28)

6. ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। (योग सूत्र 1/29)

19.5.1 पुरुष विशेष ईश्वरः

महर्षि पतंजलि ने ईश्वर को पुरुष विशेष कहा है। उनके अनुसार क्लेश, कर्म, विपाक एवं आशय से सर्वथा मुक्त, अन्य पुरुषों से विशेष (उत्कृष्ट) पुरुष ही ईश्वर है।

क्लेशः– जो दुख देते हैं उन दुख के कारणों को क्लेश कहते हैं। क्लेश पाँच हैं– अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश यानी (जीवित रहने की इच्छा)।

कर्म– इन क्लेशों से शुभ–अशुभ और इनसे मिश्रित कर्म उत्पन्न होते हैं।

विपाकः– कर्मो के फल को विपाक कहते हैं।

आशय– कर्म संस्कारों के समुदाय का नाम आशय है अर्थात सुख दुख भोग आदि से उत्पन्न वासना ही आशय है।

सामान्य पुरुष इन क्लेश कर्म आदि से प्रभावति होते हैं जबकि ईश्वर इनसे सर्वथा अप्रभावित है। सामान्य जीव अविद्या राग–द्वेष आदि से प्रभावित हो कर्म करता और फल भोगता है जबकि ईश्वर इन सबसे मुक्त है। ईश्वर बन्धन ग्रस्त जीवों (पुरुषों) से तो विशेष है ही, वह मुक्त आत्माओं से भी विशिष्ट है। क्योंकि मुक्त आत्माएं पहले बन्धनग्रस्त थीं बाद में योग साधना से मुक्त हुईं जबकि ईश्वर नित्य मुक्त है। वह कभी भी बन्धन में नहीं था और न उसके भविष्य में बन्धन ग्रस्त होने की आशंका है। इस प्रकार का पुरुष विशेष ही ईश्वर है।

योग दर्शन में ईश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान, सर्वव्यायी, नित्य, अनादि, अनन्त, आप्त काम एवं पूर्ण है। वह त्रिगुणातीत है।

ईश्वर में ऐश्वर्य और ज्ञान की पराकाष्ठा है। ईश्वर गुरुओं का भी गुरु है। वह वेद शास्त्रों का प्रथम उपदेष्टा है। प्रणव उसका वाचक है यानी ऊँ उसका प्रतीक है। ईश्वर एक है। वह दयालु एवं करूणाशील है। जो ईश्वर की भक्ति करते हैं ईश्वर उनकी सहायता करता है और योग मार्ग की रूकावटों को दूर करता है।

यद्यपि योग दर्शन में ईश्वर को विश्व का सृष्टि कर्ता, पालन कर्ता और संहार कर्ता के रूप में नहीं बताया गया है किन्तु व्यासभाष्य तथा वाचस्पति मिश्र की तत्ववैशारदी में ईश्वर का सृष्टि रचयिता आदि का स्वरूप भी प्राप्त होता है। सृष्टि प्रकृति के विकास के फलस्वरूप ही हुई है। यद्यपि ईश्वर विश्व का स्त्रष्टा नहीं है, फिर भी वह विश्व की सृष्टि में सहायक होता है। विश्व की सृष्टि प्रकृति और पुरुष के संयोग से प्रारम्भ होती है। इन दो विपरीत तत्वों को मिलाने (संयोग कराने) में ईश्वर सहयोगी है। (यहाँ योग दर्शन ईश्वर को मानकर सांख्य की प्रकृति–पुरुष संयोग की कठिनाई से बच जाता है) इस प्रकार ईश्वर विश्व का निमित्त कारण है और प्रकृति उपादान कारण।

यदि ईश्वर को मानने वाले सभी आस्तिक दर्शनों पर दृष्टिपात करें तो हम पाते हैं कि सभी ईश्वरवादी भारतीय दर्शन ईश्वर की निम्न विशेषताओं को स्वीकार करते हैंः–

1 सृष्टि का रचयिता

2 कर्म फल प्रदाता

3 एक, नित्य, शाश्वत

4 सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी

5 वेदों का रचयिता

6 दयालु, कृपालु, करूणाशील

किन्तु निम्न लिखित बातों में हमें उक्त दर्शनों में असहमति (मतभेद) भी प्राप्त होते हैं–

1. शांकर वेदान्त (अद्वैत वेदान्त) में ईश्वर को सृष्टि का निमित्त और उपादान, दोनों प्रकार का कारण माना गया है। जबकि न्याय, वैशेषिक और योग दर्शन ईश्वर को केवल निमित्त कारण मानते हैं उपादान कारण नहीं। सृष्टि के उपादान कारण के रूप में न्याय–वैशेषिक परमाणुओं को मानते हैं जबकि साख्य–योग दर्शन प्रकृति को।

2. सभी वेदान्ती सृष्टि का उद्देश्य ईश्वर की लीला मानते हैं जबकि योग दर्शन में यह प्रयोजन ईश्वर द्वारा प्राणियों पर अनुकम्पा या करुणा माना गया है और न्याय दर्शन में ईश्वर का स्वभाव।

19.5.2 जीव, आत्मा एवं ईश्वर

योग दर्शन में आत्मा और परमात्मा दो अलग तत्व हैं। आत्मा पुरुष तत्व है जबकि परमात्मा, पुरुष विशेष ईश्वर है। बन्धग्रस्त पुरुष जीवात्मा है। ईश्वर, जीव एवं आत्मा से अलग तत्व है। जीवात्मा क्लेश कर्म विपाक आदि से ग्रस्त हो बन्धन में पड़ती, दुख भोगती और योग साधना द्वारा चित्त शुद्धि एवं विवेक ज्ञान होने पर बन्धनों से मुक्त होती जबकि ईश्वर इन क्लेश कर्म विपाक आदि से सर्वथा परे है। वह जन्म मरण के बन्धनों से मुक्त है। ईश्वर मुक्त आत्माओं से भी भिन्न है क्योंकि मुक्त आत्माएं पहले बन्धन ग्रस्त थीं और भविष्य में पुनः उनके बन्धन ग्रस्त होने की आंशका हो सकती है, जबकि ईश्वर न तो कभी बन्धन ग्रस्त था और न ही ईश्वर के भविष्य में भी कभी बन्धन ग्रस्त होने की सम्भावना है क्योंकि वह इन सबसे हमेशा हमेशा के लिए मुक्त है इसीलिए तो वह विशेष पुरुष है। पुनः ईश्वर एक है जबकि पुरुष या आत्मा अनेक हैं। शंकाराचार्य के अद्वैतवेदान्त में आत्मा और ब्रह्म एक है। और मुक्त आत्मा ब्रह्म में लीन हो जाती है। उसका ब्रह्म से अलग अस्तित्व नहीं रहता जबकि योग दर्शन में मुक्त पुरुष ईश्वर के साथ–साथ अपना अलग अस्तित्व बनाये रखते हैं और पुरुष (आत्मा) एक न होकर अलग–अलग हैं। ईश्वर सदैव ऐश्वर्यवान है और सदैव मुक्त है। न कोई उसके समान है और न कोई उससे बड़ा है।

सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति।

तच्च तस्यैश्वर्य साम्यातिशयविनिर्मुक्तम् न तावत् ऐश्वर्यान्तरेण तदतिश्य्यते।

योग ग्रन्थ भोजवृत्ति में भी कहा गया है कि ईश्वर एक है, अनेक नहीं है–

'' न चेश्वराणामनेकत्वम्''

ईश्वर इस जगत का निमित्त कारण है। ईश्वर की प्रेरणा से ही प्रकृति पुरुष में संयोग वियोग की प्रक्रिया होती है तथा सृष्टि एवं प्रलय होता है।

'प्रकृतिपुरुषसंयोगवियोगयोरीश्वरेच्छाव्यतिरेकेणानुपपत्तेः।

जीव अल्पज्ञ है जबकि ईश्वर सर्वज्ञ है। ईश्वर ज्ञानादि गुणों की (ऐश्वर्यों की) पराकाष्ठा है।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ बीजम्। (प॰ योग सूत्र 1/25)

19.5.3 योग दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण

न्याय दर्शन की तरह योग दर्शन में भी ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए प्रमाण दिये गये हैं। यद्यपि स्वयं पंतजलि ने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए कोई प्रयास नहीं किया था किन्तु बाद में योग सूत्र के भाष्यकारों ने तर्को के माध्यम से ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास किया। इस सम्बन्ध में कुछ प्रमुख युक्तियाँ (तर्क) निम्नलिखित हैं–

1. शब्द प्रमाणः– ईश्वर की सत्ता के लिए आगमशास्त्र प्रमाण हैं। वेद एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। वेद में जो कुछ कहा गया है वह पूर्णतः सत्य है। वेद में ईश्वर का वर्णन है। वेद के अतिरिक्त उपनिषद् एवं अन्य शास्त्रों भी ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। तथा उसकी प्राप्ति को ही जीवन का लक्ष्य मानते हैं। इससे प्रमाणित होता है कि ईश्वर की सत्ता है। इस प्रकार शब्द प्रमाण से ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध है। व्यास ने योग भाष्य में ईश्वर के पूर्ण स्वभाव (प्रकृष्टसत्व) के लिए शास्त्र को ही प्रमाण माना है।

2. ज्ञान की पराकाष्ठाः– अविच्छिन्नता नियम के अनुसार संसार में जितनी भी न्यूनाधिक मात्रा होती है, उसकी अल्पतम और अधिकतम सीमा भी अवश्य होती है। जैसे भौतिक वस्तुओं का अल्पतम रूप परमाणु है तो विशालतम (अधिक मात्रा वाला) रूप आकाश है। इसी प्रकार ज्ञान की न्यूनाधिक मात्रा भी हमें विभिन्न मनुष्यों में दिखाई देती हैं। अतः ज्ञान की अधिकतम मात्रा भी किसी में होनी चाहिए। वह सर्वज्ञ सत्ता ही ईश्वर है–

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ बीजम्। (प॰ योग सूत्र 1/25)

3. प्रकृति पुरुष में संयोग एवं वियोग कर्ता ही ईश्वर है–

योग दर्शन के अनुसार प्रकृति एवं पुरुष के संयोग से जगत का विकास (सृष्टि) होता है और वियोग से प्रलय होता है। किन्तु प्रकृति और पुरुष एक दूसरे से सर्वथा भिन्न विपरीत तत्व हैं, जिससे इनका संयोग और वियोग स्वतः नहीं हो सकता। इनका संयोग और वियोग

कराने हेतु एक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान सत्ता का होना आवश्यक है। वह सत्ता विशेष पुरुष ईश्वर ही है। अतः ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध है–

प्रकृति पुरुषसंयोगवियोगयोरीश्वरेच्द्याव्यतिरेकेणानुपपत्तेः।

4. योगभ्यास में सहायक ईश्वरः– ईश्वर का अस्तित्व इसलिए भी आवश्यक है कि वह योगाभ्यास में सहायक है। ईश्वर प्रणिधान समाधि का साधन है। वैसे तो ध्यान का विषय कुछ भी हो सकता है किन्तु यदि ईश्वर पर ध्यान किया जाए तो ईश्वर की शरणागति से ईश्वर की कृपावश योग मार्ग के अवरोध मिट जाते हैं और योग मार्ग सुगम हो जाता है। अतः योग साधना की दृष्टि से भी ईश्वर का अस्तित्व मानना आवश्यक है।

19.5.4 ईश्वर का वाचक 'प्रणव' ही क्यों?

महर्षि पतंजलि ने ईश्वर को प्रणव नाम से सम्बोधित किया है उनके अनुसार–

तस्य वाचकः प्रणवः। (योगसूत्र 1/27)

अर्थात् उस ईश्वर का वाचक (नाम) प्रणव (ऊँकार) है। प्रणवपद की व्युत्पत्ति करते हुए **स्वामी दयानन्द सरस्वती** सत्यार्थ प्रकाश में लिखते है जिस पद द्वारा प्रकम रूप से परमात्मा की स्तुति की जाय, उस पद को प्रणव कहते हैं और ऐसा पद ओउम है। यह ओंकार शब्द परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है क्योंकि इसमें जो अ, उ, और म तीन अक्षर मिलकर एक ओउम समुदाय बना है। इस एक नाम से परमेश्वर के बहुत नाम आ जाते हैं। जैसे अकार से विराट् अग्नि और विश्वादि। उकार से हिरण्य गर्भ, वायु और तैजसादि। तथा मकार से ईश्वर आदित्य और प्राज्ञादि नामों का वाचक और ग्राहक है। ईश्वर के अन्य नाम उसके किसी एक ऐश्वर्य या गुण को अभिव्यक्त करते हैं। जबकि ऊँ में उस परमेश्वर के सभी गुण समाहित है। यह ऊँ का शब्द उसके पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त करता है। शास्त्रकारों ने ईश्वर को सत् चित् आनन्द स्वरूप कहा है। इन तीनों गुणों का ही समन्वित रूप ऊँ है। अकार से आनन्द, उकार से चित् और मकार से सत् का बोध होता है।

व्यास भाष्य में प्रश्न किया गया है कि क्या ईश्वर और प्रणव का वाच्य–वाचक संकेत मनुष्य की कल्पना है या दीपक और प्रकाश की तरह नित्य सम्बन्ध? इस शंका को समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि इस वाच्य ईश्वर का वाचक प्रणव के साथ नित्य सम्बन्ध है। सकेंत तो केवल अर्थ को प्रकट करता है। जैसे ''यह इसका पिता और यह उसका पुत्र है'' यह संकेत कथन पिता पुत्र के सम्बन्ध को उत्पन्न नहीं करता अपितु पहले से विद्यमान सम्बन्ध को प्रकट मात्र करता है। वैसे ही वाचक और वाच्य ईश्वर का नित्य सम्बन्ध है। अतः प्रणव ही ईश्वर का वाचक है।

माण्डूक्य उपनिषद में प्रणव (ऊँकार) को ब्रह्म स्वरूप बताया गया है–

प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म प्रणवश्च परः स्मृतः। (माण्डूक्य उपनिषद आगम प्रकरण 26)

अर्थात् प्रणव (ऊँकार) ही परब्रह्म और अपर ब्रह्म माना जाता है।

कठोपनिषद् में भी 'ऊँ' को ब्रह्म कहा गया है–

'एतंद्वयेवाक्षरं ब्रह्म'। (कठोपनिषद, द्वितीय वल्ली 16)

अर्थात् यह प्रणव (ऊँ) अक्षर ही ब्रह्म है।

मनुस्मृति के अनुसार भी एकाक्षर ऊँ पर ब्रह्म है–

एकाक्षरं परं ब्रह्म्। (मनुस्मृति 2.83)

इस प्रकार ईश्वर के अनन्त गुणों का बोध कराने वाले उसके गुण कर्म स्वभाव के आधार पर असंख्य नाम है परन्तु जिस नाम में उसके सभी गुण आ जाते हैं, वह एकाक्षरी नाम ऊँ है। ओ३म में परमात्मा के सभी गुण समाहित हैं। मनुस्मृति के अनुसार ऊँ वेदों का सारतत्व है। मनु महाराज कहते हैं कि प्रजापति भगवान में तीनो वेदों को मथा और मथकर भूः भुवः स्वः रूप मक्खन इन वेदों मे से निकाला और इसी प्रकार से अत्यन्त सार रूप अ, उ, एवं म अर्थात ओ३म इन वेदों के घृत रूप में प्रकट हुआ–

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः।

वेदत्रयान्निरहुद् भुर्भुवः स्वारितीति च।। (मनुस्मृति 2.76)

वेद स्वयं प्रणव रूप ऊँकार के विषय में उपदेश देते हुए समस्त मानवों से कहता है–

"ओ क्रतो स्मर"। (यजुर्वेद 40.15)

अर्थात् हे जीव तो ओं का स्मरण करें।

"ओं रव ब्रह्मं"। (यजु॰ 40.17)

अर्थात् मैं ओं आकाशवत् व्यापक और सबसे बड़ा हूँ–

"ओ प्रतिष्ठ" (यजु॰ 2.13)

अर्थात् ओं में स्थित हो।

इस प्रकार समस्त वेद शास्त्रों में उस ईश्वर को प्रणव रूप ओंकार रूप में उपासना करने की शिक्षा प्राप्त होती है। इसलिए महर्षि पतंजलि भी ईश्वर का वाचक प्रणव बताते हैं (तस्य वाचकः प्रणवः) और कैवल्य की प्राप्ति हेतु उसी का जप भाव पूर्वक करने का निर्देश देते हैं–

तज्जपस्तदर्थ भावनम्। (योग सूत्र 1/28)

श्री मद्भगवद् गीता में भी भगवान श्री कृष्ण का उपदेश है–

ओमित्येकाक्षंर ब्रह्म, व्याहरन् मामनुस्मरन्।

यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गति।। (गीता 8.1)

अर्थात्– ऊँ इस एक अक्षर ब्रह्म को जपता हुआ और उसके अर्थ को जानता हुआ जो देह त्याग करता है, वह परमगति को प्राप्त होता है।

19.5.5 ईश्वर प्रणिधानः–

योग दर्शन में ईश्वर का प्रतिपादन एक ऐसे तत्व के रूप में हुआ है। जिसे ध्येय बनाकर साधक शीघ्र समाधि एवं मुक्ति प्राप्ति में समर्थ हो सकता है। समाधि 8 एवं उसके फल कैवल्य की प्राप्ति हेतु ईश्वर प्रणिधान का विशेष महत्त्व है। ईश्वर प्रणिधान का अर्थ है– ईश्वर की भक्ति, ध्यान एवं समर्पण। **व्यास भाष्य** के अनुसार सभी क्रियाओं को परमगुरु परमात्मा में अर्पण करना और उसके फल की इच्छा का त्याग करना अर्थात निष्काम कर्म करना ईश्वर प्रणिधान कहलाता है। **भोजवृत्ति** के अनुसार ईश्वर प्रणिधान का अर्थ है– ईश्वर की भक्ति, उसकी विशेष उपासना, अपनी सभी क्रियाओं को ईश्वर में अर्पण करना, विषय सुख आदि को भी ईश्वर पर छोड़ देना, निष्काम कर्म, फल की इच्छा न करना आदि। ईश्वर प्रणिधान समाधि और उसके फल लाभ का सर्वश्रेष्ठ उपाय है।

पातंजल योग दर्शन में महर्षि पतंजलि ने ईश्वर प्रणिधान सम्बन्धी मुख्यतः निम्न चार सूत्रों का उल्लेख किया है–

1. ईश्वर प्रणिधानात् वा। (योग सूत्र 1/23)

2. तपः स्वाध्यायः ईश्वर प्रणिधानानि क्रिया योगः। (योग सूत्र 2/11)

3. शौचसंतोषतपः स्वाध्यायः ईश्वर प्रणिधानानि नियमाः। (योग सूत्र 2.32)

4. समाधि सिद्धिः ईश्वर प्रणिधानात्। (योग सूत्र 2.45)

योग सूत्र के समाधिपाद में 23 वाँ सूत्र तथा साधनपाद का पहला, 32 वाँ और 45 वाँ सूत्र 'ईश्वर प्रणिधानात्' से सम्बन्धित हैं। ईश्वर प्रणिधान का सर्वप्रथम उल्लेख समाधिपाद में है। साधनपाद में क्रियायोग और नियम के अन्तर्गत ईश्वर प्रणिधान का उल्लेख है तथा साधन पाद में ही ईश्वर प्रणिधान से समाधि प्राप्ति का वर्णन उपलब्ध होता है।

अब प्रश्न यह है कि उपर्युक्त सभी स्थलों पर वर्णित ईश्वर प्रणिधान का अर्थ एक ही है या अलग अलग। पुनः यदि ईश्वर प्रणिधान से ही समाधि की प्राप्ति हो जाती है तो फिर क्या अन्य मार्ग एवं योग के अन्य अंग व्यर्थ है?

समाधिपाद में वर्णित ईश्वर प्रणिधान ध्यान योग एवं भक्ति प्रधान है। यह समाधि का सुगम मार्ग है

'तज्जपस्तदर्थभावनम्' (योग सूत्र 1/28) सूत्र के अनुसार जप करने एवं ईश्वर का ध्यान करने से समाधि की प्राप्ति होती है।

साधनपाद के प्रथम सूत्र में ईश्वर प्रणिधान क्रिया योग का एक अंग है। तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान को क्रिया योग कहा गया है। यहाँ ईश्वर ध्यान का विषय नहीं है अपितु ईश्वर को लक्ष्य करके कर्म फल त्याग का भाव यानी निष्काम कर्म करने का अभ्यास है।

साधनपाद में ईश्वर प्रणिधान का वर्णन करते हुए **भाष्यकार व्यास** कहते हैं– सभी क्रियाओं का परम गुरु परमात्मा में अर्पण करना तथा उसके फल की इच्छा का त्याग करना अर्थात निष्काम कर्म करना ही ईश्वर प्रणिधान कहलाता है। इस सूत्र में प्रणव आदि जप ध्यान और शास्त्रों का अध्ययन स्वाध्याय के अन्तर्गत समाविष्ट है।

साधनपाद के ही सूत्र संख्या 32 में ईश्वर प्रणिधान की चर्चा नियम के अन्तर्गत है। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान नियम कहलाते हैं। नियम वे हैं जिनका पालन करने से अन्दर बाहर की पवित्रता आती है। साधक का चित्त शुद्ध होता है और वह योग मार्ग के उपयुक्त बनता है और धीरे धीरे अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति कर लेता है। यहाँ ईश्वर प्रणिधान नैतिक अनुशासन और शारीरिक–मानसिक– तप का एक अंग है।

'समाधिसिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्' सूत्र में ईश्वर प्रणिधान से समाधि प्राप्त होने की बात कही गई है। ईश्वर प्रणिधान से अविद्या से मुक्त होकर जीवात्मा पुरुष अपने वास्तविक रूप को पहचान जाता है। अब यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि जब ईश्वर प्रणिधान से ही समाधि की प्राप्ति हो जाती है तो फिर योग के अन्य अंगों के पालन की क्या आवश्यकता? किन्तु योग दर्शन में यह प्रश्न निरर्थक है। क्योंकि अष्टांग योग के सभी अंग परस्पर सम्बन्धित हैं। यम नियम एवं आसन आदि के पालन से साधक का शरीर व मन योग साधना के अनुकूल हो जाता है। चित्त की शुद्धि होने से ईश्वर प्रणिधान और समाधि की प्राप्ति सरल सहज हो जाती। ध्यान का विषय ईश्वर के अतिरिक्त भी कुछ हो सकता है किन्तु ईश्वर का ध्यान करने से योग के विघ्नों का नाश सरलता से हो जाता और साधक भटकने से बच जाता है इसलिए ईश्वर प्रणिधान के साथ योग के अन्य अंग भी एवं योग मार्ग भी समाधि में सहायक हैं।

19.5.6 ईश्वर प्रणिधान का फलः–

महर्षि पतंजलि ईश्वर प्रणिधान अर्थात उसके नाम जप और स्वरूप चिंतन (तज्जपस्तदर्थ भावनम्) के फल का वर्णन करते हुए कहते हैं–

''ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायभावश्च''। (योग सूत्र 1/29)

अर्थात् उक्त साधना से (ईश्वर प्रणिधान से) प्रत्यक् चेतना का अधिगम और अन्तरायों का अभाव हो जाता है।

इस सूत्र में प्रत्यक् चेतना का अर्थ **व्यास भाष्य** में जीवात्मा है जबकि महर्षि दयानन्द ने प्रत्यक् चेतना का अर्थ अन्तर्यामी ईश्वर किया है। यहाँ ईश्वर एवं जीवात्मा दोनों के अर्थ का ग्रहण किया जाना संगत है। ओंकार जप से चित्त शुद्ध होने पर जीवात्मा को अपने स्वरूप का बोध तो होता ही है, तदर्थभाव से ओउम स्वरूप ईश्वर का साक्षात्कार भी उसे हो जाता है। इस प्रकार व्यास भाष्य के अनुसार ईश्वर प्रणिधान से प्रत्यक् चेतना का

अधिगम यानी जीवात्मा को अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है जबकि स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार प्रत्यक् चेतना अधिगम से तात्पर्य है कि जीवात्मा को अन्तर्यामी परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है।

ईश्वर प्रणिधान का दूसरा फल अन्तरायों का अभाव है।

योग साधना के विघ्न–बाधाओं को अन्तराय कहते हैं। ये बाधाएं शारीरिक एवं मानसिक दोनों तरह की होती हैं। महर्षि पतंजलि ने योग अन्तरायों को ''चित्त का विक्षेप'' भी कहा है जो नौ प्रकार की होती हैं–

''व्याधि स्त्यान संशय प्रमाद आलस्य अविरति भ्रान्दिर्शन अलब्धभूमिकत्व अनवास्थितत्वानि चित्त विक्षेपाः ते अन्तरायाः।'' (योग सूत्र 1/30)

योग साधना में लगे हुए साधक के चित्त में विक्षेप उत्पन्न करके उसको योग साधना से विचलित कर देने वाले विघ्न स्वरूप योग अन्तराय निम्न 9 प्रकार के होते हैं–

1. व्याधिः– शरीर और मन में किसी प्रकार का रोग उत्पन्न हो जाना ही व्याधि है।

2. स्त्यानः– साधना में, सत्य कर्मों में प्रवृत्त न होना अर्थात अकर्मण्यता ही स्त्यान कहलाता है।

3. संशयः– स्वयं के प्रति, ईश्वर के प्रति या योग साधना के प्रति संदेह उत्पन्न हो जाना संशय है।

4. प्रमादः– मानसिक अस्थिरता एवं लापरवाही प्रमाद है।

5. आलस्यः– शरीर और मन आराम की इच्छा से पुरुषार्थ छोड़ देना साधना में प्रवृत्त न होना आलस्य है।

6. अविरतिः– विषय भोगों में तृष्णा का होना ही अविरति है।

7. भ्रांतिदर्शनः– भ्रम की स्थिति, मिथ्या ज्ञान भ्रांतिदर्शन कहलाता है।

8. अलब्ध भूमिकतत्वः– अर्थात समाधि की प्राप्ति न होना।

9. अनवस्थितत्वः– समाधि की प्राप्ति होने पर भी उसमें चित्त स्थिर न होना ही अनवस्थितत्व है।

ये नौ प्रकार के विध्न साधक को विचलित करते रहते हैं और उसके चित्त को विक्षिप्त कर उसे योग मार्ग से भष्ट कर देते हैं इसीलिए इन विघ्नों को अन्तराय, चित्त के विक्षेप, योग के मल, विघ्न–बाधाएं अथवा योग के प्रतिपक्षी भी कहते हैं।

अन्तरायों का फलः– योग अन्तरायों के कारण चित्त विक्षेपों के साथ साथ दुख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व, श्वास और प्रश्वास– ये पाँच विघ्न भी साथ–साथ उत्पन्न होते हैं–

''दुखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासाः विक्षेप सहभुवः।। (योग सूत्र 1/31)

1. दुख :– दैहिक, दैविक एवं भौतिक इन त्रिविध तापों को दुख कहते हैं। दैहिक या आध्यात्मिक दुख वह है जो काम, क्रोध आदि मनोविकारों या शारीरिक रोगों आदि निजीकरणों से शरीर एवं मन को भोगना पड़ता है। शत्रु, मनुष्य, पशु आदि वाह्य कारणों से होने वाली पीड़ा का नाम आधि भौतिक दुख है। तथा सर्दी, गर्मी, भूकम्प, सुनामी आदि प्राकृतिक घटनाओं से होने वाला दुख का नाम अधिदैविक दुख है।

2. दौर्मनस्यः– इच्छा की पूर्ति न होने पर मन में होने वाला क्षोभ दौर्मनस्य है।

3. अङ्गमेजयत्वः– शरीर के अंगो में होने वाला कम्पन (जिससे एक आसन पर ध्यान केन्द्रित करने में बाधा उत्पन्न होती है)

4. श्वासः– बिना इच्छा के बाहर की वायु का भीतर प्रवेश कर जाना अर्थात बाह्य कुम्भक में विध्न हो जाना श्वास है।

5. प्रश्वासः– बिना इच्छा के ही भीतर की वायु का बाहर निकल जाना अर्थात भीतरी कुम्भक में विध्न हो जाना प्रश्वास है।

ये विध्न केवल विक्षिप्त चित्त में ही होते हैं। शान्त चित्त अर्थात समाहित चित्त वाले योगी को नहीं होते। इसलिए इनको 'विक्षेप सहभू' कहते हैं। ईश्वर प्रणिधान से योग अन्तरायों का अभाव हो जाता है (अन्तराया अभावश्च, योग सूत्र 1/29) इसलिए सभी प्रकार के चित्त विक्षेपों एवं दुखों का अन्त हो जाता है। अतः ईश्वर की कृपा से उसके नाम जप व ध्यान से योगी योग के सभी प्रकार के विघ्नों से मुक्त होकर सरलता पूर्वक अपने योग पथ पर अग्रसर होता हुआ स्वलक्ष्य की प्राप्ति में समर्थ हो जाता है।

19.5.7 योग दर्शन में ईश्वर की उपयोगिता एवं समीक्षाः–

दार्शनिक दृष्टि से योग दर्शन सांख्य के समान होते हुए भी यदि सांख्य दर्शन से अलग अपना विशिष्ट स्थान रखता है तो ईश्वर की अवधारणा के कारण। ईश्वर तत्व ही सेश्वर सांख्य और निरीश्वर सांख्य का भेद दर्शन जगत में लाता है। योग दर्शन ईश्वर को स्वीकार करने के कारण सेश्वर सांख्य कहलाता है जबकि सांख्य दर्शन ईश्वर को न मानने के नाते निरीश्वर सांख्य। ईश्वर को मानकर योग दर्शन ने सांख्य की कठिनाइयों को अपने दर्शन में नहीं आने दिया है। ईश्वर को स्वीकार न करने के कारण ही सांख्य दर्शन अनेक उदाहरणों उपमाओं का सहारा लेकर भी प्रकृति–पुरुष संयोग की व्याख्या कर पाने में असफल रहता है। सांख्य दर्शन का विकासवाद सृष्टि प्रक्रिया की व्याख्या आदि तार्किक दृष्टिकोण से ईश्वर के अभाव में असंगत प्रतीत होते हैं। ईश्वर के अभाव में अचेतन प्रकृति और निष्क्रिय चेतन पुरुष का सम्बन्ध स्थापित होना एक कठिन समस्या है और इस समस्या से सांख्य मुक्ति नहीं पाता किन्तु योग दर्शन ईश्वर को स्वीकार करके सांख्य की समस्या का समाधान कर देता है। ईश्वर ही वह समर्थ सत्ता परम पुरुष है जो प्रकृति और पुरुष का संयोग कराने में सहायक है। इस दृष्टि से योग दर्शन का ईश्वर विचार उसे सांख्य दर्शन का अग्रगामी बना देता है।

इस ईश्वरीय महिमा के बावजूद योग दर्शन में ईश्वर सम्बन्धी विचार संतोष जनक प्रतीत नहीं होता। न्याय दर्शन की तरह योग दर्शन का ईश्वर जगत का सृष्टि कर्ता पालन कर्ता एवं सहार कर्ता नहीं है वह तो केवल प्रकृति और पुरुष के मध्य संयोजक और वियोजक का कार्य करने वाला है। सृष्टि के उद्भव और विकास में उसकी इस से अलग कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं है। ईश्वर पुरुष–विशेष है, विश्व का स्रष्टा नहीं है। योग का ईश्वर कर्म नियम का अध्यक्ष भी नहीं है। वह मनुष्य को उनके कर्मों के लिए पुरस्कार या दण्ड़ नहीं देता। उसे हमारे कर्मो से कोई विशेष मतलब नहीं रहता किन्तु जब हम ईश्वर का ध्यान जप करते है तो वह हमारे पुण्य वृद्धि और पाप क्षय (चित्त शुद्धि) में सहायक अवश्य होता है। ईश्वर कैवल्य प्राप्ति (मोक्ष) में मात्र सहायक है, वह कैवल्य प्रदान करने वाला नहीं है।

योग दर्शन का ईश्वर जीवन का लक्ष्य नहीं है। वह योग साधना का भी लक्ष्य नहीं है। वह तो केवल योग साधना में सहायक मात्र है। ईश्वर प्रणिधान चित्त की एकाग्रता एवं कैवल्य प्राप्ति के अनेक उपायों में से एक उपाय है। योग साधना का लक्ष्य समाधि है और ईश्वर समाधि का साधन। इस प्रकार से हम कह सकते हैं कि योग दर्शन में ईश्वर का स्थान गौण दिखता है। इसलिए शंकराचार्य ने अपने ब्रह्म सूत्र भाष्य में योग दर्शन के ईश्वर विषयक विचार को अपर्याप्त सिद्ध किया है। (ब्रह्म सूत्र शांकारभाष्य 2/2/38–41)

वास्तव में योग दर्शन एक व्यावहारिक दर्शन है। इसलिए इसमें ईश्वर का भी सैद्धान्तिक के बजाय व्यावहारिक महत्त्व अधिक है। सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, दयालु, जीव कल्याण में सहयोगी, सभी जीवों का पथ प्रदर्शक, गुरुओं का भी गुरु, हमारे उत्कर्ष में सहायक, दुखों से मुक्ति दिलाने वाला परमेश्वर दार्शनिक एवं व्यावहारिक हर दृष्टि से उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है।

अभ्यास प्रश्न

1 रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिएः–

(क) जो भोगों से रहित है वही.....है।

(ख) कर्मो के फल को.....कहते हैं।

(ग) कर्म संस्कारों के समुदाय का नाम है–..... ।

(घ) ईश्वर सृष्टि का.....कारण है।

(ङ) ईश्वर प्रणिधान से.....की प्राप्ति हो जाती है।

2 सत्य/असत्य बताइयेः–

(क) योग दर्शन में ईश्वर सृष्टि का उपादान कारण है।

(ख) शब्द प्रमाण ईश्वर की सिद्धि में सहायक नहीं है।

(ग) ईश्वर में ज्ञान और शक्ति की पराकाष्ठा है।

(घ) ईश्वर मुक्त आत्माओं के समान है।

(ङ) ईश्वर का नाम प्रणव है।

3 संक्षिप्त अन्तर बताइयेः–

(क) उपादान कारण और निमित्त कारण।

(ख) सेश्वर सांख्य और निरीश्वर सांख्य।

(ग) पुरुष एवं विशेष पुरुष।

(घ) आलस्य एवं प्रमाद।

(ङ) संयोग एवं वियोग।

4 अतिलघुत्तरीय प्रश्नः–

(क) पंचक्लेश कौन कौन से हैं?

(ख) क्लेश का परिणाम क्या है?

(ग) योग सूत्र में ईश्वर प्रणिधान का उल्लेख कहाँ–कहाँ हुआ है?

(घ) क्रियायोग किसे कहते हैं?

(ङ) दुख कितने प्रकार का होता है?

19.6 सारांश

इस इकाई में अब तक आप को ज्ञात हो चुका होगा कि योग दर्शन आस्तिक दर्शन होने के साथ साथ ईश्वरवादी दर्शन भी है। सांख्य और योग दर्शन समान तन्त्र हैं। योग दर्शन सांख्य के तत्वमीमांसीय विचारों को स्वीकार करते हुए उसमें ईश्वर की अवधारणा भी जोड़ देता है। ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करने के कारण ही योग दर्शन को सेश्वर सांख्य कहा जाता है।

ईश्वर का अर्थ है– ऐश्वर्य युक्त सत्ता। ईश्वर आधिपत्य, यश, वीर्य, श्री, ज्ञान और वैराग्य रूपी षडैश्वर्य सम्पन्न है। योग दर्शन का ईश्वर अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश जैसे पंचक्लेशों, इन क्लेशों से उत्पन्न कर्म, कर्मफल एवं संस्कारों से सर्वथा मुक्त, पुरुष विशेष है जो नित्य, शाश्वत, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी, अनादि, अनन्त एवं पूर्ण है। ईश्वर त्रिगुणातीत है। वह जन्म मृत्यु से परे, दयालु, क्षमाशील, एवं साधकों का सहयोगी है। उसका नाम प्रणव यानी ऊँकार है। प्रणव के जप और तदनुरूप भावना से साधक के योग मार्ग के विध्नों का नाश हो जाता है और चित्त शुद्धि के साथ समाधि का मार्ग सुगम हो जाता है।

अन्य ईश्वरवादी भारतीय दर्शनों की तरह योग दार्शनिकों ने भी ईश्वर को युक्तियों से सिद्ध करने का प्रयास किया है। योग ईश्वर को अपनाकर सांख्य की समस्याओं से स्वयं को बचा लेता है। योग का ईश्वर प्रकृति और पुरुष के संयोग में सहायक है। इन महत्ताओं के बावजूद योग दर्शन में ईश्वर का सैद्धान्तिक के बजाय व्यावहारिक महत्त्व अधिक है।

19.7 शब्दावली

प्रवृत्ति	–	स्वभाव
जिज्ञासा	–	जानने की इच्छा
व्याप्त	–	मौजूद
भर्ता	–	भरण पोषण करने वाला
कर्त्ता	–	उत्पन्न करने वाला
हर्ता	–	संहार करने वाला
परवर्ती	–	बाद के
नैयायिक	–	न्याय दार्शनिक
विशद्	–	व्यापक
अल्पज्ञ	–	कम बुद्धि वाला, कमजानने वाला
अनित्य	–	नाशवान
गुणक्षोभ	–	सत, रज, तम गुणों में परिवर्तन
सर्वथा	–	पूरी तरह से
नित्य	–	हमेशा रहने वाला, शाश्वत
आप्तकाम	–	जिसकी सभी इच्छाए पूर्ण हों
पराकाष्ठा	–	सर्वोच्चसीमा, पूर्णता
उपदेष्टा	–	उपदेश देने वाला
वाचक	–	नाम
कैवल्य	–	मुक्ति या मोक्ष
समाविष्ट	–	शामिल, सम्मिलित

जीव	–	बन्धन ग्रस्त पुरुष
उत्कर्ष	–	उन्नति
उत्कृष्ट	–	श्रेष्ठ, विशेष

19.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. (क) ईश्वर **(ख)** विपाक **(ग)** आशय **(घ)** निमित्त **(ङ)** समाधि।

2. (क) असत्य **(ख)** असत्य **(ग)** सत्य **(घ)** असत्य **(ङ)** सत्य।

3. (क) किसी वस्तु के निर्माण में सामग्री को उपादान कारण एवं चेतन सहयोगी शक्ति को निमित्त कारण कहते हैं।

(ख) योग दर्शन सेश्वर सांख्य कहलाता है जबकि कपिल का सांख्य दर्शन निरीश्वर सांख्य।

(ग) पंचक्लेश आदि से सर्वथा मुक्त ईश्वर विशेष पुरुष कहलाता है जबकि अन्य चेतन सत्ताए पुरुष हैं।

पुरुष का जन्म मृत्यु और कैवल्य होता है। जबकि विशेष पुरुष इन से सर्वथा मुक्त है।

(घ) शरीर की अकर्मण्यता आलस्य है जबकि मन का लापरवाही अस्थिरता प्रमाद।

(ङ) किसी से जुड़ना संयोग है अलग हो जाना वियोग। प्रकृति–पुरुष का संयोग सृष्टि है एवं वियोग प्रलय।

4 (क) अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पंच क्लेश है।

(ख) क्लेश का परिणाम दुख होता है।

(ग) योग सूत्र के समाधिपाद का 23 वे एवं साधनपाद का पहले, 32 वें और 45 वें सूत्र में ईश्वर प्रणिधान का उल्लेख है।

(घ) तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान को क्रिया योग कहते हैं।

(ङ) दुख तीन प्रकार का होता है– आध्यात्मिक दुख, अधिदैविक दुख, एवं आधि भौतिक दुख।

19.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. महर्षि पतंजलि– योग दर्शन, गीता प्रेस गोरखपुर।

2. तीर्थ, श्री स्वामी ओमानन्द– पांतजल योग प्रदीप, गीताप्रेस गोरखपुर।

3. राधा कृष्णन, डॉ सर्वपल्ली– भारतीय दर्शन।

4. शर्मा, चन्द्रधर– भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, मोती लाल बनारसीदास, दिल्ली।

5. शर्मा, कार्यानन्द, भारतीय दर्शन के मूल सम्प्रत्यय, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

6. सिंहा, हरेन्द्रप्रसाद– भारतीय दर्शन की रूपरेखा, मोती लाल बनारसीदास, दिल्ली।

7. चतुर्वेदी, गिरधर शर्मा– दर्शन अनुचिंतन, भारतीय ज्ञान पीठ वाराणसी।

8. निगम, डॉ॰ शोभा– भारतीय दर्शन, मोती लाल बनारसीदास, दिल्ली।

9. भारतीय, डॉ॰ महेश– भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएँ, इण्डोबिजन प्राइवेट लिमिटेड, गाजियाबाद।

10. पाठक, राममूर्ति– भारतीय दर्शन की समीक्षात्मक रूप रेखा, अभिमन्यु प्रकाशन, इलाहाबाद

11. द्विवेदी डॉ॰ कपिल देव– साधना और सिद्धि, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी।

12. सेठ अनुपमा– योग दर्शन में ईश्वर प्रणिधान की व्याख्या, नाग प्रकाशन दिल्ली।

19.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. भारतीय दर्शन के परिप्रेक्ष्य में ईश्वर की अवधारणा पर प्रकाश डालिए।

2. ईश्वर क्या है? न्याय दर्शन ईश्वर के अस्तित्व को किस प्रकार प्रमाणित करता है।

3. योग दर्शन के अनुसार ईश्वर के स्वरूप की विवेचना कीजिए।

4. योग दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व को किस प्रकार सिद्ध किया गया है? व्याख्या करें।

5. योग दर्शन में ईश्वर के महत्त्व पर प्रकाश डालिए।

6. ईश्वर प्रणिधान क्या है? इसके फल की विवेचना करें।

7. योग अन्तराय से आप क्या समझते है? स्पष्ट करें।

इकाईः 20 कैवल्य की अवधारणा एवं कैवल्य प्राप्ति के उपाय

20.1 प्रस्तावना
20.2 उद्देश्य
20.3 कैवल्य की अवधारणा
    20.3.1 जीवन का परम पुरुषार्थः कैवल्य
    20.3.2 कैवल्य या मोक्ष क्या है?
    20.3.3 भारतीय दर्शन में कैवल्य
    20.3.4 त्रिविध दुख
    20.3.5 सांख्य दर्शन में कैवल्य का स्वरूप
    20.3.6 योग दर्शन में कैवल्य का स्वरूप
    20.3.7 हेय हेतु हान एवं हानोपाय
20.4 कैवल्य प्राप्ति के उपाय
    20.4.1 ज्ञान योग साधना
    20.4.2 कर्म योग साधना
    20.4.3 भक्ति योग साधना
    20.4.4 हठ योग साधना
    20.4.5 राज योग साधना
    20.4.6 अष्टांग योग साधना
    20.4.7 क्रिया योग साधना
    20.4.8 अभ्यास एवं वैराग्य साधना
    20.4.9 कैवल्य सम्प्रत्यय एवं इसके साधनों (उपायो) की समीक्षा
20.5 सांराश
20.6 अभ्यास प्रश्न
20.7 शब्दावली
20.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
20.9 निबंधात्मक प्रश्न

20.1 प्रस्तावना

कैवल्य भारतीय दर्शन एवं योग साधना का एक महत्त्वपूर्ण सम्प्रत्यय है जिसे मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण, अपवर्ग, निःश्रेयस आदि अनेक नामों से सम्बोधित किया गया है।

मोक्ष/कैवल्य का सम्बन्ध आत्मा (पुरुष) से है जो भी दर्शन आत्मा को स्वीकार करते है वे जीवन के परमपुरुषार्थ के रूप में मोक्ष या कैवल्य को अवश्य मानते हैं।

यद्यपि इसके स्वरूप व प्राप्ति के साधन के विषय में मतभेद अवश्य है किन्तु एक बात सभी दर्शनों में समान है कि मोक्ष दुखों से आत्यन्तिक निवृत्ति की अवस्था है मोक्ष के बाद पुनर्जन्म नहीं होता। मोक्ष जीवन का परम लक्ष्य है।

योग दर्शन में मोक्ष को कैवल्य कहा गया है। 'केवली भावं कैवल्यम्' अर्थात् जब पुरुष केवल रूप में अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूप में अवस्थित होता है तो वह अवस्था कैवल्य कहलाती है। इस अवस्था की प्राप्ति चित्त के शुद्ध निर्मल होकर अज्ञान से निवृत्त होने पर ही सम्भव है जिसके लिए अनेकों प्रकार के योग मार्ग बताये गये हैं। प्रस्तुत इकाई में कैवल्य सम्बन्धी इन्ही सब विचारो की विश्लेषण व व्याख्या की गई है।

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप सांख्य एवं योग दर्शन सहित अन्य भारतीय दर्शनों में कैवल्य एवं उसकी प्राप्ति के उपायों से ठीक ढंग से अवगत हो सकेगे जो दर्शन में योग एवं योग में दर्शन सम्बन्धी आपकी समझ को विकसित करने में सहायक सिद्ध होगा।

20.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप यह बता सकेंगे कि–

☞ कैवल्य किसे कहते हैं?

☞ कैवल्य जीवन का परम पुरुषार्थ क्यों है?

☞ जीवन के दुखो का मूल कारण क्या है?

☞ वह कौन सा उपाय है जिससे हम दुखों से बचकर सुख शान्ति और सन्तोष की जिन्दगी जी सके।

☞ भौतिक आध्यात्मिक किसी भी क्षेत्र में उन्नति के लिए साधना के महत्त्व को समझ सकेंगे।

कैवल्य प्राप्ति के यौगिक उपायों से परिचित हो सकेंगे।

20.3 कैवल्य की अवधारणा

20.3.1 जीवन का परम पुरुषार्थः कैवल्य

भारतीय संस्कृति एवं दर्शन में जीवन के चार आदर्श सा उद्देश्य हैं जिन्हें पुरुषार्थ कहा जाता है और वे हैं– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। मोक्ष मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य व परम पुरुषार्थ है। चार्वाक को छोड़कर प्रायः सभी भारतीय दर्शन आस्तिक हो या नास्तिक,

सभी मोक्ष में विश्वास करते हैं और इसे ही जीवन का चरम लक्ष्य और परम आदर्श–अन्तिम पुरुषार्थ मानते हैं। यद्यपि सभी दर्शनों में मोक्ष के स्वरूप एवं उसकी प्राप्ति के साधनों को लेकर आपस में मतभेद है फिर भी मोक्ष की सामान्य धारणा से प्रायः सभी की आस्था है। मोक्ष की अत्यधिक प्रधानता रहने के कारण ही कुछ विद्वान भारतीय दर्शन को मोक्ष दर्शन मोक्ष शास्त्र भी कहते हैं।

भारत में दार्शनिक चिंतन का लक्ष्य जीवन की समस्याओं का समाधान भी है। यहाँ दर्शन सिर्फ बौद्धिक जिज्ञासा की शांति या मानसिक कौतूहल की निवृत्ति न होकर जीवन की समस्याओं को सुलझाना है। अतः भारतीय दर्शन का जीवन से गहरा सम्बन्ध है। इसलिए डॉ॰ राधाकृष्ण ने कहा है कि 'भारत में दर्शन जीवन के लिए है'। प्रो॰ मैक्समूलर के शब्दों में ''भारत में दर्शन बौद्धिक ज्ञान के लिए नहीं बल्कि सर्वोच्च लक्ष्य के लिए था। जिसके लिए मनुष्य इस जीवन में प्रयत्नशील रह सकता है'' और वह सर्वोच्च लक्ष्य है मोक्ष जिसे भारतीय दर्शन में मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण, निःश्रेयस, अपवर्ग या कैवल्य आदि अनेक नामों से सम्बोधित किया गया है।

20.3.2 कैवल्य या मोक्ष क्या है?

मोक्ष का सामान्य अर्थ दुखों का विनाश है। दुखों के आत्यन्तिक निवृत्ति को ही मोक्ष या कैवल्य कहते हैं। प्रायः सभी भारतीय दर्शन यह मानते हैं कि संसार दुखमय है। दुखों से भरा हुआ है। किन्तु ये दुख अनायास नहीं है, इन दुखों का कारण है। उस कारण को समाप्त करके हम सभी प्रकार के दुखों से मुक्त हो सकते है। दुख मुक्ति की यह अवस्था ही मोक्ष है, मुक्ति है, निर्वात है, अपवर्ग है, कैवल्य है। और यही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। जब तक इस लक्ष्य की प्राप्ति नही हो जाती तब तक संसार में जन्म मरण का चक्र चलता रहेगा और जीव दुख भोगता रहेगा। भारतीय दर्शन सिर्फ मोक्ष की सैद्धान्तिक चर्चा ही नहीं करता बल्कि उसकी प्राप्ति के व्यावहारिक उपाय भी बताता है इसीलिए भारतीय दर्शन कोरा सैद्धान्तिक दर्शन न होकर एक व्यावहारिक दर्शन है। यद्यपि विभिन्न दर्शनों में मोक्ष के स्वरूप एवं उसके प्राप्ति के उपाय को लेकर मतेभेद है किन्तु चार्वाक को छोड़कर सभी भारतीय दर्शन इस बात में एक मत हैं कि–

1. मोक्ष दुखों की पूर्ण निवृत्ति है।
2. यही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है।
3. इस लक्ष्य को इसी जीवन में पाया जा सकता है।
4. मोक्ष जन्म मरण चक्र का समाप्त हो जाना है।

मोक्ष का विचार बन्धन से जुड़ा हुआ है। आत्मा का सांसारिक दुखों से ग्रस्त होना ही उसका बन्धन है और इन दुखों से सर्वथा मुक्त हो जाना मोक्ष। व्यावहारिक जीवन में प्रायः हर कोई कहता है कि मैं दुखी हुँ, मुझे दुख है। यहाँ प्रश्न यह है कि 'मैं' का अर्थ क्या है? दुख क्या है? दुख क्यों है दुख का अन्त सम्भव है या नहीं? इन सब प्रश्नों पर भारतीय दर्शन में गहराई से विचार किया गया है।

चार्वाक को छोडकर प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में 'मैं' का अर्थ आत्म तत्व से है जिसे आत्मा या पुरुष कहा गया है यह आत्मा सुख दुख से परे है फिर भी सुख दुख का

अनुभव करती है। इसका अनुभव का कारण अज्ञान या अविवेक है जिसके प्रभाव से आत्म का अनात्म से संयोग हो जाता है फलस्वरूप त्रिगुणातीत आत्म तत्व त्रिगुणात्मक अनात्म तत्व को ही अपना स्वरूप समझने लगता है उदाहरण के लिए 'मैं' विशुद्ध आत्म तत्व (पुरुष) है किन्तु व्यवहार में अज्ञान वश व्यक्ति अपने शरीर मन, बुद्धि को ही 'मैं' समझने लगता है और इनसे सम्बन्ध वश सुख–दुख को भोगता है। यह सम्बन्ध ही बन्धन है और इस सम्बन्ध से मुक्ति (छुटकारा पाना) ही मोक्ष या कैवल्य। बन्धन का कारण अज्ञान है। इसलिए मोक्ष का उपाय इस अज्ञान का नाश करना है जो ज्ञान से सम्भव है इसीलिए कहा गया है– **ज्ञानात् मुक्तिः।**

अधिकांश भारतीय दर्शन बन्धन और मोक्ष सम्बन्धी उपर्युक्त विचार से सहमत है। यदि कोई अपवाद है तो वह है– चार्वाक दर्शन।

चार्वाक दर्शन घोर नास्तिक एवं भौतिक वादी दर्शन है। इसका मानना है कि न तो कोई ईश्वर है न ही आत्मा। बन्धन और मोक्ष की कल्पना भी निरर्थक है। यह शरीर ही आत्मा है और शरीर का विनाश ही मोक्ष क्योंकि शरीर का नाश होते ही सभी दुखों का नाश हो जाता है। इस जीवन के बाद कोई दूसरा जन्म नहीं होता, कोई स्वर्ग नरक नहीं होता। जीवन का उद्देश्य है सुखों का भोग करना। चार्वाक का मूल मत है–

यावज्जीवत् सुखं जीवेत, ऋणं कृत्वा घृतम् पीवेत।

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनमः कुतः।।

अर्थात्– जब तक जियों सुख से जिओं, कर्ज लेकर भी धी पीओ (यानी मौज–मस्ती करो)। एक दिन यह शरीर भस्म हो जायेगा फिर पुनः लौट कर कहाँ आना है। यानी पुनर्जन्म नहीं होगा।

इस प्रकार चार्वाक दर्शन तो जीवित रहते दुखों से पूर्ण छुटकारा या पूर्ण विनाश सम्भव ही नहीं मानता। जब तक जीवन है सुख दुख लगे ही रहेंगे। दुख के भय से सुख का भी त्याग कर देना यानी मोक्ष की कल्पना में तपस्या आदि करना मूर्खता है–

त्याजयं सुखं विषय संगम जन्म पुंसा।

दुःखोपसृष्टमिति मूर्ख विचारणैषा।। (सर्वदर्शन संग्रह)

जंगली पशुओं (मृग) के भय से क्या खेती करना छोड़ देना चाहिए।

न हि मृगाः सन्तीति शालयों नोप्यन्ते।

जीवन के चार पुरुषार्थों में से चार्वाक दर्शन केवल दो ही पुरुषार्थ को मान्यता देता है– अर्थ और काम। वह धर्म और मोक्ष को नहीं मानता। इसलिए चार्वाक दर्शन में मोक्ष एवं मोक्ष मार्ग पर विचार करना निरर्थक है। चार्वाक का विचार न तो दार्शनिक दृष्टि से उपयुक्त है न ही व्यावहारिक सामाजिक दृष्टिकोण से। यदि व्यक्ति अपने निहित सुख तक ही सोचे तो ऐसे घोर स्वार्थी समाज में किसका भला हो सकता है? आज समाज में बढ़ रहे अपराध बलात्कार, भ्रष्टाचार घोटाले जैसी घटनाएं नैतिक मूल्यों के ह्रास का ही परिणाम है जिसका समर्थन चार्वाक विचार धारा से होता है। जबकि मोक्ष या कैवल्य के आदर्श का

मूल आधार ही नैतिकता है। योग का प्रारम्भिक चरण ही यम–नियम का पालन है। यही कारण है कि मोक्ष को मानने वाले सभी दर्शन सदाचार पर बल देते हैं।

चार्वाक के अतिरिक्त अन्य सभी भारतीय दर्शनों में कैवल्य या मोक्ष को जीवन का परम पुरुषार्थ मानते हुए इसे प्राप्त करने के उपाय बताये गये हैं और इस हेतु किसी न किसी रूप में योग साधना पर बल देते है।

20.3.3 भारतीय दर्शन में कैवल्य

वेद में आस्था रखने वाले आस्तिक एवं वेद विरोधी नास्तिक, दोनों प्रकार के भारतीय दर्शन (चार्वाक को छोड़कर) मोक्ष को स्वीकार करते हैं और अपने–अपने दृष्टिकोण से कैवल्य या मोक्ष के स्वरूप एवं साधनो को जन कल्याण हेतु बताते हैं।

नास्तिक कहे जाने वाले **बौद्ध दर्शन** में भी मोक्ष की अवधारणा है और मोक्ष को निर्वाण कहा गया है। निर्वाण का अर्थ है दुखों से मुक्ति। अविद्या का नष्ट हो जाना, समस्त पाप कर्मो का समाप्त हो जाना, तृष्णा की अग्नि का बुझ जाना और पुनर्जन्म से छुटकारा पा जाना ही 'निर्वाण की अवस्था' है। निर्वाण प्राप्त व्यक्ति को बौद्ध धर्म में अर्हत या तथागत कहा गया है। बौद्ध दर्शन का चतुर्थ आर्य सत्य (दुख निरोध मार्ग या अष्टांगिक मार्ग) निर्वाण प्राप्ति का यौगिक उपाय है–

''शील–समाधि–प्रज्ञा रूपी तीन स्कन्धों वाले इस स्पष्ट अष्टांगिक अविनाशी और आर्य मार्ग पर आरूढ़ होकर मनुष्य दुख के हेतु रूप दोषों को छोड़ता है और उस अत्यन्त मंगलमय निर्वाण पद को प्राप्त करता है।'' (सौन्दरनंद 16/37)

जैन दर्शन भी मोक्ष के आदर्श को स्वीकार करते हुए इसे जीवन का चरम लक्ष्य कहते है। मोक्ष का अर्थ है आत्मा का अपनी वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति। मोक्षावस्था में जीवात्मा दुख के कारणों कषाय आदि से मुक्त होकर पुनः अपने अनन्त चतुष्टय स्वरूप (अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति, अनन्त दर्शन और अनन्त आनन्द) को प्राप्त कर लेती है। मोक्ष की प्राप्ति हेतु सम्यक् दर्शन सम्यक ज्ञान और सम्यक् चरित्र का पालन आवश्यक है–

सम्यक दर्शन–ज्ञान–चारित्राणि मोक्ष मार्गः। (उमास्वामी, तत्वार्थ अधिगम सूत्र 2.3)

जैन दर्शन में सम्यक दर्शन ज्ञान और चरित्र को त्रिरत्न कहते हैं। सम्यक चरित्र के अन्तर्गत पंचमहाव्रत का पालन अनिवार्य है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रहमचर्य ही पंचमहाव्रत हैं। इन्हें ही बौद्ध दर्शन में पंचशील तथा योग दर्शन मे यम कहा गया है जिनका पालन दुखों से मुक्ति हेतु आवश्यक है।

अन्य भारतीय दर्शनों की भाँति **न्याय वैशेषिक** दर्शन का उद्देश्य भी मनुष्य को मानव जीवन का परम श्रेय मोक्ष की उपलब्धि कराना है न्याय और वैशेषिक दोनों दर्शन समान तन्त्र कहे जाते हैं। क्योंकि अनेक बातो में इनमें समान मत है न्याय वैशेषिक में मोक्ष को अपवर्ग तथा निःश्रेयस भी कहा गया है।

न्याय एवं वैशेषिक दर्शन मोक्ष को दुखों की आत्यन्तिक निवृत्ति की अवस्था मानते हैं, महर्षि गौतम कहते हैं–

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः (न्याय सूत्र 1/1/22)

किन्तु न्याय वैशेषिक दर्शन में मोक्ष को आनन्द की अवस्था नहीं माना गया है। न्याय वैशेषिक के अनुसार मोक्षावस्था में आत्मा अचेतन हो जाती है क्योंकि चेतना आत्मा का आगन्तुक गुण है। आत्मा में चेतना तब आती है जब आत्मा का सम्बन्ध शरीर से होता है। मोक्षावस्था में आत्मा शरीर से अलग हो जाती है। इसलिए मोक्षावस्था अचेतन अवस्था है। न्याय वैशेषिक दर्शन में परम निःश्रेयस की प्राप्ति मृत्यु के बाद ही मानी गई है। न्याय वैशेषिक दर्शन केवल विदेह मुक्ति को ही मानते हैं। जीवन मुक्ति (यानी जीवित रहते ही मोक्ष प्राप्त कर लेना) जिसे महात्मा बुद्ध, शंकराचार्य सांख्य एवं योग दर्शन मानते हैं। न्याय वैशेषिक दर्शन को मान्य नहीं है। अपवर्ग या मोक्ष की प्राप्ति तत्वज्ञान से ही सम्भव है जिसके लिए श्रवण, मनन और निदिध्यासन की साधना आवश्यक है।

मीमांसा दर्शन को मोक्ष विचार न्याय–वैशेषिक के लगभग समान हैं। मोक्ष दुख के अभाव की अवस्था है। मोक्षावस्था में आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर लेती है, जो अचेतन है। इसलिए मोक्ष में सुख–दुख–आनन्द का अभाव है। इस अवस्था में आत्मा में ज्ञान का भी अभाव रहता है। मीमासा दर्शन में विदेह मुक्ति को ही माना गया है, जीवन मुक्ति को नहीं। मोक्ष की प्राप्ति के लिए ज्ञान और कर्म दोनों आवश्यक हैं।

शंकराचार्य के **अद्वैतवेदान्त में** भी मोक्ष की प्राप्ति ही जीवन का परम पुरुषार्थ है। शंकराचार्य आत्मा और ब्रह्म को अद्वैत मानते हैं। आत्मा ही ब्रह्म है इसलिए ब्रह्म रूप में वह दुखों से सर्वथा परे है किन्तु अज्ञान वश अपने स्वरूप को भूलकर सुख दुख के चक्र में भ्रमण करती रहती है इसलिए शंकराचार्य के अनुसार–

मोक्ष का अर्थ है आत्मा का अपने वास्तविक स्वरूप में अवस्थित हो जाना।

स्वात्मन्यमवस्थानम् मोक्षः। (तैतिरीय उपनिषद भाष्य 1/11)

पुनः ब्रह्म भाव ही मोक्ष है–

ब्रहम भावश्च मोक्षः।

ब्रह्म और मोक्षावस्था एक ही है–

ब्रह्म एव ही मुक्त्यावस्था।

अज्ञान या अविद्या के कारण ही जीवात्मा अपने मुक्तावस्थाः ब्रह्मस्वरूप को भूलकर दुख भोगती है इसलिए इस अज्ञान से मुक्ति ही मोक्ष है–

अविद्याः निवृत्तिः एव मोक्षः।

मोक्ष के दो रूप हैं– 1. जीवन्मुक्ति और 2. विदेह मुक्ति। शंकराचार्य इन दोनों रूपों को स्वीकार करते है। जीवित रहते ही ज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो जाना–जीवन मुक्ति है। विदेह मुक्ति मृत्यु के बाद उपलब्ध होती है।

मोक्ष प्राप्ति का मार्ग ज्ञान योग साधना है। ज्ञान से ही मुक्ति होती है–

ज्ञानात् एव मुक्तिः

बिना ज्ञान के मुक्ति सम्भव नहीं है–

ऋते ज्ञानात् न मुक्तिः।

मोक्ष की प्राप्ति के लिए साधन चतुष्टय आवश्यक है– 1. विवेक 2. वैराग्य 3. षड् सम्पत्ति (शम, दम, श्रद्धा, समाधान उपरति एवं तितीक्षा) और 4. मुमुक्षुत्वं, ये चार साधन चतुष्टय हैं–

नित्यानित्यवस्तुविवेकः।

इहमुत्रार्थ भोग विरागः।

शमदमादिषट्क सम्पत्तिः।

मुमुक्षुत्वं चेति।। (शंकराचार्य तत्वबोध)

इन चार साधनों से युक्त साधक को श्रवण, मनन और निदिध्यासन से ज्ञान की प्राप्ति होती है।

शंकराचार्य के अनुसार आत्मा वस्तुतः मुक्त है। मोक्ष अपने आत्म स्वरूप का ज्ञान होना है इसलिए मोक्ष कोई नई चीज नहीं है अपितु जो पहले से प्राप्त था उसी की पुनः प्राप्ति यानी ज्ञान होना है। इसलिए शंकर ने मोक्ष को 'प्राप्तस्व प्राप्ति' कहा है। शंकर ने बन्धन को प्रतीति मात्र माना है।

सांख्य एवं योग दर्शन में मोक्ष का अर्थ तीन प्रकार के दुखों से छुटकारा पाना है। बन्धन का कारण अविवेक है। पुरुष प्रकृति एवं उसकी विकृतियों से भिन्न है परन्तु अज्ञान वश पुरुष इन्हे अपना स्वरूप समझने लगता है और दुख भोगता, जन्म–मरण के चक्र में धूमता है। मोक्ष का अर्थ है– पुरुष का अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान जिससे जन्म–मरण चक्र एवं दुखों से निवृत्ति मिल जाती है। इस विवेक ज्ञान की प्राप्ति योग साधना से सम्भव है। इस सम्बन्ध में विस्तृत अध्ययन विद्यार्थी अगले उपखण्ड में करेंगे–

सांख्य दर्शन के अनुसार कैवल्य (मोक्ष) तीनों प्रकार के दुखों की आत्यन्तिक निवृत्ति मात्र है–

आत्यन्तिको दुःखत्रयाभावः कैवल्यम्।

इसलिए सांख्य–योग दर्शन में कैवल्य के स्वरूप को ठीक से समझने से पूर्व आवश्यक है कि दुखत्रय को पहले समझा जाय। इसलिए अगले उपखण्ड में दुखत्रय की विवेचना की जा रही है।

20.3.4 त्रिविध दुखः–

संसार दुखमय है। जीवन दुखों से भरा हुआ है। जन्म मृत्यु, बुढ़ापा रोग प्रिय वस्तुओं का वियोग अप्रिय का संयोग ये सभी दुख उत्पन्न करते हैं। संसार की सभी वस्तुएं दुख देने वाली हैं। जिन्हें हम सुखात्मक समझते है वे भी बाद में दुख ही देती हैं। किन्तु ये दुख शाश्वत नहीं है इनका नाश सम्भव है। दुखों का कारण है और इस कारण को ही दूर करके दुख को दूर किया जा सकता है। प्रायः सभी भारतीय दार्शनिकों ने इस सत्य का अनुभव किया और दुखों को दूर करने के लिए विभिन्न उपाय बताये हैं।

सांख्य एवं योग दर्शन भी दुख सम्बन्धी उपर्युक्त मत से सहमत हैं और इन दुखों का पूर्ण विनाश ही जीवन का लक्ष्य मानते हैं जिसे मोक्ष या कैवल्य कहते हैं–

आत्यन्तिको दुःखत्रया भावः कैवल्यम्।

सांख्य दर्शन में दुखों की गम्भीर विवेचना करते हुए दुख के तीन प्रकार बताए गये है–

आध्यात्मिक दुख, आधिभौतिक दुख और अधिदैविक दुख।

1. आध्यात्मिक दुखः– आध्यात्मिक दुख उस दुख को कहा जाता है जो मनुष्य के शरीर और मन के कारण उत्पन्न होते हैं यानी शारीरिक और मानसिक दुख ही आध्यात्मिक दुख हैं। वात, पित्त, कफ आदि विकारों से उत्पन्न होने वाले (त्रिदोष जन्य) दुख शारीरिक दुख है जैसे ज्वर, सिर दर्द, भूख आदि तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष आदि से उत्पन्न होने वाले कष्ट मानसिक दुख हैं। इन सभी दुखों को आध्यात्मिक दुख कहते हैं।

2. आधिभौतिक दुखः– अधिभौतिक दुख वह है जो वाहय भौतिक कारणों से उत्पन्न होते हैं। किसी अन्य व्यक्ति, पशु, पक्षी, सर्प, बिच्छू, कॉटा गड़ना, तीर चुभना, ठोकर लग जाना आदि कारणों से होने वाला दुख आधिभौतिक दुख है।

3. आधिदैविक दुखः– आधिदैविक दुख वह है जो अलौकिक कारणों से उत्पन्न होता है। जैसे ग्रह, नक्षत्र, भूत प्रेत दैवी प्रकोप आदि से होने वाले दुख आधिदैविक दुख कहलाते है।

सांख्य दर्शन के अनुसार सभी मनुष्य इन तीन प्रकार के दुखों से पीड़ित हैं और इनसे छुटकारा पाना चाहते हैं। चिकित्सा विज्ञान वैद्य आदि के द्वारा इन दुखों से अस्थायी छुटकारा ही मिल पाता है; हमेशा–हमेशा के लिए नहीं। जबकि मानव इन दुखों से हमेशा के लिए मुक्ति पाना चाहता है। मनुष्य केवल वर्तमान के दुखों से ही नहीं बल्कि भविष्य में होने वाले दुखों से भी बचना चाहता है। चिकित्सा आदि के उपाय इस हेतु असमर्थ हैं। यदि कोई यह कहे कि मृत्यु के बाद तो मनुष्य इन सांसारिक दुखों से स्वयं मुक्त हो जाता है तो यहाँ सांख्य दर्शन का कहना है कि मृत्यु के बाद भी जीवन समाप्त नहीं होता। पुनर्जन्म द्वारा जीवात्मा शरीर बदल कर पुनः इस संसार में आ जाती है और दुख भोगती है। दुखों का पूर्ण विनाश तो कैवल्य या मोक्ष से ही सम्भव है। कैवल्य का अर्थ ही है त्रिविध दुखों की आत्यन्तिक निवृत्ति। कैवल्य या मोक्ष ही परम अपवर्ग है, यही परम पुरुषार्थ है।

<u>दुख का कारण अज्ञानः–</u>

सभी प्रकार के दुखों का मूल कारण अविवेक या अज्ञान है। अज्ञान का अर्थ है अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान न होना। वास्तव में जो हम हैं उसे भूलकर जो हम नहीं हैं उसकों अपना स्वरूप मान लेना अविवेक या अज्ञान कहलाता है।

शुद्ध चैतन्य स्वरूप पुरुष शरीर मन बुद्धि अंहकार आदि से भिन्न है किन्तु अविवेक के कारण ही वह इन्ही को अपना स्वरूप समझ लेता है और सुख–दुख की अनुभूति स्वयं करने लगता है। इस प्रकार दुख का कारण यह अज्ञान ही है।

अज्ञान से बन्धनः–

साख्य दर्शन के अनुसार भी दुखों का मूलकारण अज्ञान है इसलिए दुखों से निवृत्ति अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान से सम्भव है। इसके विपरीत अज्ञान से बन्धन की प्राप्ति होती है।

ज्ञानेन चापवर्गः विपर्ययाष्यिते बन्धः।

अब प्रश्न यह है कि बन्धन क्या है?

सूक्ष्म शरीर के साथ पुरुष का संयोग ही बन्धन है और बन्धन का कारण अविवेक है। पुरुष (आत्मा) स्वभावतः शुद्ध चैतन्य स्वरूप ज्ञाता मात्र है। वह प्रकृति एवं उसके विकारों– बुद्धि, अंहकार, मन, इन्द्रिय, शरीर आदि से पूर्णतः भिन्न है किन्तु वह अविवेक (अज्ञान) के कारण अनात्म वस्तुओं से अपना तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करके अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है और उन्हें ही अपना स्वरूप समझ लेता है। पुरुष का यह मिथ्या सम्बन्ध ही उसका बन्धन है और दुखानुभूति का कारण है। इस प्रकार बन्धन अविवेक और दुख के बीच की कड़ी है।

बन्धन अवास्तविक है–

यद्यपि अज्ञान (अविवेक) के कारण आत्मा बन्धन ग्रस्त होकर दुख भोगती है किन्तु आत्मा या पुरुष का यह बन्धन वास्तविक नहीं है, एक भ्रम है। बन्धन एक प्रतीति है। सांख्य दार्शनिक कहते है कि पुरुष वस्तुतः बन्धन में पड़ता ही नहीं है। पुरुष तो शुद्ध ज्ञानस्वरूप नित्य मुक्त तथा बंधन रहित है। वह प्रकृति के व्यापारों का द्रष्टा मात्र है, स्वभावतः वह अकर्ता है। जो पुरुष मुक्त स्वभाव का है वह बन्धन ग्रस्त कैसे हो सकता है? इसलिए पुरुष का बन्धन में पड़ना भी उसका भ्रम है। जिस प्रकार से सफेद स्फटिक लाल फूल की निकटता से लाल दिखाई देता है उसी प्रकार नित्य मुक्त पुरुष (आत्मा) मन बुद्धि अहंकार की निकटता वश बुद्धि का दुख की छाया (परछाई) ग्रहण करने से बन्धन ग्रस्त प्रतीत होता है।

ज्ञान से अपवर्ग या कैवल्य

दुख दायी बन्धन का नाश तभी सम्भव है जब पुरुष वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति करता है। बन्धन का कारण अज्ञान है। अज्ञान का नाश (अन्त) ज्ञान या विवेक से ही सम्भव है। जिस प्रकार अंधकार का नाश प्रकाश से होता है उसी प्रकार अज्ञान का नाश ज्ञान से होता है इसलिए सांख्य दर्शन में ज्ञान को मोक्ष का साधन माना गया है जिसे कैवल्य या अपवर्ग भी कहते हैं। ईश्वर कृष्ण का कहना है कि–

ज्ञानेन चापवर्गः विपयर्याष्यिते बन्धः

यहाँ ज्ञान का अर्थ विवके ज्ञान या सम्यक् ज्ञान से है। पुरुष और प्रकृति के भेद के ज्ञान को विवेक ज्ञान कहा जाता है परन्तु इस ज्ञान को केवल मन से जान लेना ही पर्याप्त नहीं है बल्कि इस ज्ञान की साक्षात् अनुभूति भी परम आवश्यक है। विवेक ज्ञान के द्वारा पुरुष को इस बात की साक्षात् अनुभूति होनी चाहिए कि वह शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि से भिन्न शुद्ध चेतन तत्व है। जब पुरुष को यह अनुभूति हो जाय कि मैं प्रकृति से परे आत्म तत्व हूँ मैं अनात्म नहीं हूँ मेरा कुछ नहीं है मैं तो दुखों से मुक्त शाश्वत अमर सत्ता हूँ तो वह मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है। जिस प्रकार रस्सी में साप का भ्रम तभी दूर हो सकता है जब रस्सी का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाय उसी प्रकार पुरुष या आत्मा का यह भ्रम कि मैं शरीर, इन्द्रिय और बुद्धि से युक्त हूँ तभी दूर हो सकता है जब पुरुष को इनसे अपनी विभिन्नता की साक्षात् अनुभूति हो जाय। इस अनुभूति को पाने के लिए अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूप–बोध विवेक ज्ञान के लिए पुरुष को तत्व अभ्यास तथा मनन एवं निदिध्यासन की

आवश्यकता होती है। महर्षि पंतजलि ने अपने योग दर्शन में इस हेतु अष्टांग योग आदि अनेक यौगिक उपाय भी बताये हैं जिन्हे सांख्य दर्शन भी स्वीकार करता है। इन यौगिक उपायों को आप योग दर्शन में कैवल्य प्राप्ति के यौगिक उपाय उपखण्ड के अन्तर्गत अध्ययन कर सकेगें।

20.3.5 सांख्य दर्शन में कैवल्य का स्वरूपः–

कैवल्य या मोक्ष दुखों की आत्यन्तिक निवृत्ति की अवस्था है इसीलिए कैवल्य प्राप्ति के बाद जीवात्मा के सभी प्रकार के दुख दूर हो जाते हैं। वह अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है अर्थात् उसे अपने शुद्ध वास्तविक स्वरूप का बोध (ज्ञान) हो जाता है। सांख्य दर्शन में मोक्ष को सुख रूप नहीं माना गया है। मोक्ष त्रिगुणातीत अवस्था है इसलिए सांख्य कैवल्य को सुख दुख और आनन्द से रहित अवस्था मानता है। सांख्य के विपरीत शंकराचार्य (वेदान्त दर्शन) मोक्ष को आनन्द मय मानते है।

कैवल्य के प्रकारः–

सांख्य एवं योग दर्शन में मुक्ति या कैवल्य दो प्रकार की मानी गई है। 1. जीवन मुक्ति और 2. विदेह मुक्ति

जीवन मुक्ति का अर्थ है शरीर रहते हुए ही मोक्ष (कैवल्य) प्राप्त कर लेना अर्थात् जीवित रहते ही मुक्त हो जाना। जीव को ज्यों ही तत्व ज्ञान का अनुभव (विवेक ज्ञान) होता है अर्थात् उसे अपने वास्तविक स्वरूप का बोध हो जाता है, प्रकृति और पुरुष के भेद का ज्ञान होता है त्यों ही वह मुक्त हो जाता है। किन्तु जब तक उसके सभी प्रारब्ध कर्म समाप्त नहीं हो जाते (यानी प्रारब्ध भोग पर्यन्त तक) तब तक उसका शरीर बना रहता है किन्तु शरीर के सुख दुख उसे प्रभावित नहीं करते। वह सांसारिक जीवन में भाग लेते हुए उससे विरक्त होता है। जीवन्मुक्त व्यक्ति कर्म तो करता है किन्तु उसके द्वारा किये गये कर्म से फल का संचय नहीं होता। जिस प्रकार कुम्हार का चाक् कुम्हार के डंडे को हटा लेने के बाद भी पूर्व वेग के संस्कार के कारण कुछ समय तक घूमता रहता है और वेग समाप्त हो जाने के बाद बन्द हो जाता है उसी प्रकार जीवन मुक्त जीव का शरीर पूर्व कृत्त प्रारब्ध कर्मो के कारण चलता रहता है और प्रारब्ध कर्मो की समाप्ति के बाद शरीर भी समाप्त हो जाता है। यह विदेह मुक्ति की अवस्था है।

सम्यग् ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारण प्राप्तौ।

तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमवत् धृत शरीरः।। (सांख्य कारिका, 67)

पुनश्च,

प्राप्ते शरीर भेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ।

ऐकान्तिकम् आत्यन्तिकम् उभयम् कैवल्यम् आप्नोति।। (सांख्य कारिका 68)

प्रारब्ध कर्मो का भोग समाप्त हो जाने के बाद जीवन्मुक्त का शरीर भी समाप्त हो जाता है और उसे विदेह मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। जैसा कि उपर्युक्त सांख्य कारिका में कहा गया है कि शरीर नाश होने पर पुरुष के एकान्तिक (अवश्यम भावी) और आत्यान्तिक (अविनाशी) दुख त्रय का विनाश हो जाता है। यही विदेह मुक्ति या विदेह कैवल्य है। इस

अवस्था में पुरुष का स्थूल एवं सूक्ष्म सभी शरीरों से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। और उसे पूर्ण कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है।

सांख्य एवं योग दर्शन की तरह शंकराचार्य अद्वैतवेदान्त दर्शन में भी मुक्ति के दोनों भेद माने गये हैं। जबकि न्याय–वैषेषिक दर्शन, सांख्य दार्शनिक विज्ञान भिक्षु एवं रामानुज (वेदान्त दर्शन) केवल विदेह मुक्ति को ही मानते हैं, जीवन्मुक्ति को नहीं। बन्धन और मोक्ष दोनों ही दशाओं में पुरुष के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता। वह तो सदा शुद्ध बुद्ध नित्य मुक्त है, बन्धन और मोक्ष तो प्रतीति मात्र हैं।

20.3.6 योग दर्शन में कैवल्य का स्वरूपः–

विगत् इकाईयों के अध्ययन से आप (विद्यार्थीगण) ने यह जान लिया होगा कि योग दर्शन सांख्य का पूरक है। दोनों समान तन्त्र हैं। दोनों के तत्वमीमांसीय विचार लगभग समान हैं। योग दर्शन सांख्य के तत्वमीमांसा को स्वीकार करता है और सांख्य दर्शन योग की आचारमीमांसा से सहमत है। इन दोनों में अत्यधिक समानता के कारण ही इन्हे समान तन्त्र कहा जाता है इसीलिए कहा गया है कि वे अज्ञानी हैं जो सांख्य और योग को बिल्कुल अलग अलग दर्शन समझते हैं विद्वान वे हैं जो इन दोनों में कोई भेद नहीं देखते।

सांख्य योगो पृथक बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।

कहने का आशय यह है कि योग दर्शन की अपनी मौलिक विशेषता और उपयोगिता होते हुए भी उसकी नीवं सांख्य का दार्शनिक आधार ही है। अस्तु कैवल्य के सम्बन्ध में भी सांख्य की विचार धारा से योग दर्शन सहमत है। किन्तु जहाँ सांख्य दर्शन में कैवल्य प्राप्ति का उपाय तत्वाभास–पुरुष प्रकृति के भेद का मनन और निदिध्यासन जैसे शब्द संकेत हैं, वही महर्षि पंतजलि अपने योग सूत्र में कैवल्य प्राप्ति का व्यावहारिक उपाय बताते हैं। यदि संक्षेप में कहा जाय तो पूरा का पूरा योग सूत्र ग्रन्थ ही कैवल्यार्थ है। 'अर्थ' से प्रारम्भ हुआ योग सूत्र (अथ योगानुशासनम) कैवल्य के साथ ही 'इति' हो जाता है–

कैवल्यं स्वरूप प्रतिष्ठा वा चिति शक्तेः इति। (4–34)

कैवल्य का अर्थः–

'केवली भावं कैवल्यम्' अर्थात् जब पुरुष केवल रूप में अर्थात् कुशल रूप में अपने स्वरूप में अवस्थित होता है, उस अवस्था को कैवल्य कहते हैं। भारतीय दर्शन में मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण, अपवर्ग कैवल्य आदि समानर्थी शब्द हैं, पर्याय हैं। मोक्ष या कैवल्य का अर्थ दैहिक, दैविक एवं भौतिक त्रितापों से अर्थात् (सभी प्रकार के दुखों से) आत्यन्तिक निवृत्ति और अपने वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति है।

महर्षि पंतजलि ने मोक्ष के लिए कैवल्य शब्द का निर्धारण किया है। योग सूत्र में उन्होंने मुक्ति, मोक्ष या सांख्य दर्शन की तरह अपवर्ग शब्द का प्रयोग न करते हुए बार–बार कैवल्य शब्द का ही प्रयोग किया है। कैवल्य शब्द मोक्ष और अपवर्ग का पर्यायवाची होते हुए भी इनसे कुछ विशिष्ट अर्थ अपने में संजोए हुए है। कैवल्य का शब्दार्थ है केवल वही होना अर्थात् आत्मा या पुरुष अपने आप में हो (अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित हो) और किसी के साथ उसका सम्बन्ध न हो। मुक्ति, मोक्ष, अपवर्ग आदि का विशेष मन्तव्य दुख निवृत्ति पर है जबकि कैवल्य का दुख निवृत्ति के अनन्तर अवस्था विशेष पर।

महर्षि पंतजलि के योग सूत्र में कैवल्य का स्वरूप निम्नलिखित सूत्रों में वर्णित हुआ है:–

1. तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। (समाधि पाद 1–3)

2. तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्। (साधनपाद 2–25)

3. सत्त्व पुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्। (विभूतिपाद 3–55)

4. पुरुषार्थ शून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप प्रतिष्ठा वा चिति शक्तेः इति।

(कैवल्यपाद 4, 34)

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्:– योग सूत्र समाधिपाद के इस प्रथम सूत्र (1–3) में महर्षि ने बताया है कि 'कैवल्य' पुरुष का अपने वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति है। कैवल्य की अवस्था में पुरुष को अपने वास्तविक रूप का ज्ञान (विवेक ज्ञान) हो जाता है। जबकि बन्धन की अवस्था में वह प्रकृत्ति एवं उसकी विकृतियों (मन, बुद्धि, अंहकार) को ही 'मैं' (अपना स्वरूप) समझता था और बन्धन ग्रस्त हो दुख भोगता था।

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्:–

योग सूत्र द्वितीयपाद (साधनपाद) के इस 25 वें सूत्र मे पंतजलि कहते है कि–

तत् अभावात् संयोग अभावः हानम् तत् दृशेः कैवल्यम्।

अर्थात् जब आत्मदर्शन रूप विवेक ज्ञान से अविद्या (अविवेक/अज्ञान) का सर्वथा अभाव हो जाता है तब अज्ञान जनित संयोग का भी अपने आप अभाव हो जाता है, फिर पुरुष का प्रकृति से कोई सम्बन्ध नहीं रहता और उसके जन्म मरण आदि सम्पूर्ण दुखों का सदा के लिए अत्यन्त अभाव हो जाता है तथा पुरुष अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, यही उसका कैवल्य है।

स्पष्ट है कि सांख्य दर्शन की तरह योग भी मानता है कि–

☞ कैवल्य पुरुष के अपने स्वरूप में स्थित होने की अवस्था है।

☞ कैवल्य की प्राप्ति आत्म ज्ञान से होती है।

☞ कैवल्य विवेक ज्ञान की अवस्था है।

☞ कैवल्य में पुरुष प्रकृति संयोग रूपी बन्धन का अभाव हो जाता है।

☞ कैवल्य के बाद जन्म–मरण आदि सम्पूर्ण दुखों का आत्यन्तिक विनाश हो जाता है।

सत्त्व पुरुषायोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्:–

विभूतिपाद के इस अन्तिम 55 वें सूत्र में पंतजलि कैवल्य के विषय में कहते हैं कि जब सत्त्व अर्थात् चित्त प्रकृति और पुरुष इन दोनों की जब समान भाव से शुद्धि हो जाती है तब कैवल्य होता है।

यहाँ तात्पर्य यह है कि योग साधना से जब चित्त शुद्ध होने लगता है विवेक ज्ञान का उदय होने पर बुद्धि अत्यन्त निर्मल होकर अपने कारण में विलीन होने लग जाती है और उधर पुरुष का जो बुद्धि के साथ अज्ञान कृत सम्बन्ध है उसका अभाव होने से एवं उस अज्ञानजन्य मल–विक्षेप–आवरण का अभाव होने से पुरुष भी निर्मल हो जाता है। इस प्रकार जब दोनों की समभाव से शुद्धि हो जाती है तब कैवल्य होता है।

स्पष्ट है कि कैवल्य शुद्ध चित्त की अवस्था भी है। बुद्धि के स्वच्छ अर्थात् क्लिष्ट वृत्ति रहित होने पर विम्ब के अभाव में प्रतिविम्ब पड़ना ही सम्भव नहीं है। यही पुरुष का स्वरूप में अवस्थान या उसकी शुद्धि है। और यही कैवल्य है। यह जीवनमुक्ति (या कैवल्य) की अवस्था है। देहान्त के बाद विदेह कैवल्य या पूर्ण कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है। इसीलिए महर्षि पंतजलि अपने योग सूत्र ग्रन्थ अंतिम कैवल्य पाद 34 में कैवल्य का सर्वाग पूर्ण वर्णन करते हुए कहते हैं कि–

पुरुषार्थ शून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यम् स्वरूप प्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति।

अर्थात् जिनका पुरुष के लिए कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहा ऐसे गुणों का अपने कारण में विलीन हो जाना (प्रतिप्रसव) कैवल्य है अथवा यों कहिये कि द्रष्टा पुरुष का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना कैवल्य है।

इस सूत्र में कैवल्य का वर्णन दो दृष्टियों से किया गया है– पहला गुणों की दृष्टि से तथा दूसरा पुरुष की दृष्टि से। प्रकृति के गुणों की प्रवृत्ति पुरुष के भोग और अपवर्ग का सम्पादन करने के लिए है। जैसा कि सांख्य कारिका में ईश्वर कृष्ण ने कहा है–

पुरुषस्य दर्शनार्थ कैवल्यार्थ प्रवृत्तेश्च।।

और योग सूत्र में महर्षि पंतजलि भी कहते हैं – भोग अपवर्गार्थम् दृश्यम् (2/18)

इसी काम को पूरा करने के लिए वे बुद्धि, अंहकार, मन, इन्द्रिय, तन्मात्रा और शब्द आदि विषयों के आकार में परिणत होते हैं (प्रकृति से विकृति का विकास होता है)।

पुरुष के भोग और अपवर्ग रूप फल उपस्थित करना ही गुणों का पुरुषार्थ है। जिस पुरुष के लिए ये गुण भोग भुगताकर कैवल्य (मोक्ष) का सम्पादन कर देते हैं उसके लिए अब इन गुणों का कोई कर्त्तव्य शेष नही रहता। इस प्रकार पुरुषार्थ शून्य हुए ये गुण अब और कोई प्रयोजन न होने से अपने कारणों में लय (विलीन) हो जाते हैं। यही गुणों की दृष्टि से कैवल्य है। तथा पुरुष की दृष्टि से कैवल्य है– उसका अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना।

जब पुरुष का प्रकृति के साथ भोगात्मक सम्बन्ध समाप्त हो जाता है तो इसे जीवन्मुक्ति या जीवन कैवल्य कहते हैं तथा प्रारब्ध कर्मों के समाप्त हो जाने पर देहान्त पश्चात विदेह कैवल्य (विदेह मुक्ति) की प्राप्ति हो जाती है योग दर्शन सांख्य के मुक्ति भेद से भी सहमत है। कैवल्य प्राप्त पुरुष का पुनर्जन्म आदि नहीं होता।

20.3.7 हेय, हेतु, हान एवं हानोपायः–

समस्त प्राणी दुखों से बचना एवं सुख पाना चाहता है– किन्तु दुखों की श्रृंखला जीवन में आती ही रहती है। इसीलिए महर्षि पंतजलि में कहा है कि सभी प्रकार के दुखों से पूर्ण रूप छुटकारा पाने अर्थात् कैवल्य के लिए चार विषयों को जानना अत्यन्त आवश्यक है। ये

चार विषय हैं– 1. हेय 2. हेयहेतु 3. हान और 4. हानोपाय। अर्थात् दुख, दुख के कारण, दुख से मुक्ति और दुख मुक्ति के उपाय।

महर्षि पंतजलि के अनुसार जो सुख दायक प्रतीत होता है उसका परिणाम भी दुख दायक होता है (परिणाम दुख) सुख के समाप्त होने का भय दुख दायी है (ताप, दुख), सुख के संस्कार भी पुनः सुख न मिलने पर कष्ट ही देते हैं (संस्कार दुख) तथा तीनों गुणों में विरोध (गुण वृत्ति विरोध) के कारण भी दुविधा से दुख ही उत्पन्न होता है इसलिए विवेक वान पुरुष इन दुखों का समझते हैं–

परिणाम ताप संस्कार दुखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुखमेव सर्व विवेकिनः। (योग सूत्र 2/15)

इन दुखों का कारण (हेतहेतुः) पुरुष और प्रकृति (बुद्धि) का संयोग है–

द्रष्टा दृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः। (योग सूत्र 2/17)

और उस संयोग का कारण है अविद्या–

तस्य हेतुः अविद्या। (योग सूत्र 2/24)

अविद्या के अभाव से चेतन पुरुष और अचेतन बुद्धि के संयोग का अभाव हो जाता है जिससे पुनर्जन्मादि भावी दुखों का विनाश हो जाता है। यही हान है, इसी को पंतजलि ने चेतन आत्मा (पुरुष) का कैवल्य भी कहा है।

तद्भावात् संयोग अभावो हानं तत् दृशेः कैवल्यम् (योग सूत्र 2/25)

इस कैवल्य रूप हान का उपाय है विवेक ख्याति।

विवेकख्यातिः अविप्लवा हानोपायः। (योग सूत्र 2/26)

अर्थात् निश्चल और निर्दोष विवेक ज्ञान (विवेक ख्याति) ही हान का उपाय है।

प्रायः सांख्य, वेदान्त आदि सभी भारतीय दर्शन ज्ञान से ही मुक्ति की बात करते हैं अर्थात् विवेक ज्ञान ही मोक्ष का साधन है। पंतजलि भी इसी परम्परा का निर्वाह करते है। उनके अनुसार भी विवेक ज्ञान से ही कैवल्य होता है।

अब प्रश्न यह है कि उस विवेक ख्याति को प्राप्त करने का उपाय क्या है?

इस सन्दर्भ में महर्षि पंतजलि योग साधना को कैवल्य का उपाय बताते हैं। उनका कहना है कि योग के अंग का अनुष्ठान करने से अशुद्धि का नाश होने पर ज्ञान का प्रकाश विवेकख्याति पर्यन्त हो जाता है–

योगांग अनुष्ठानात् अशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिः आविवेक ख्यातेः। (योग सूत्र 2/28)

20.4 कैवल्य प्राप्ति के उपाय

भारतीय दर्शन सिर्फ सैद्धान्तिक दर्शन न होकर एक व्यावहारिक दर्शन है। इसलिए मोक्ष, निर्वाण या कैवल्य को अवधारणा भी व्यवहार से जुड़ी है। कैवल्य किताबी शब्द नहीं अपितु व्यावहारिक उपलब्धि है जिसे प्रयत्न के द्वारा पाया जा सकता है। इस अवस्था तक पहुँचने

के लिए ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, हठयोग, राजयोग, अष्टांग योग, क्रियायोग आदि अनेक प्रकार के साधना मार्ग बतलाये गये हैं। साधक अपनी रूचि योग्यता एवं विश्वास के अनुरूप किसी भी मार्ग पर चलकर साधना के नियमों का पालन कर कैवल्य की प्राप्ति कर सकता है।

20.4.1 ज्ञान योग साधनाः–

कैवल्य प्राप्ति हेतु जितने भी योग साधना मार्ग हैं उनमें ज्ञान साधना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जब साधक मुख्य रूप से ज्ञान को ही आधार बनाकर कैवल्य की प्राप्ति के लिए साधना करता है तो उसे ज्ञानयोग साधना कहते हैं। अद्वैतवेदान्त दर्शन मुक्ति (मोक्ष/कैवल्य) के लिए जो योग साधना बताई गई है वह ज्ञान योग साधना ही है। श्री मद्भगवद् गीता में सांख्य आधारित साधना को भी ज्ञान योग कहा गया है क्योंकि वहाँ (सांख्य में) तत्वों के ज्ञान से मुक्ति (कैवल्य) की प्राप्ति बताई गई है।

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में कैवल्य के लिए मोक्ष शब्द का प्रयोग हुआ है और वहाँ मोक्ष का अर्थ है आत्मा का अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाना–

स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षः। (तैत्तिरीय उप॰ भाष्य 1/11)

शंकराचार्य के अनुसार आत्मा ही ब्रह्म है– अयम् आत्मा ब्रह्म।

(वृहदाहरण्यक उपनिषद 2.5.19)

वह स्वभावतः सच्चिदानन्द स्वरूप है किन्तु अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण (अज्ञान वश) वह बन्धन ग्रस्त होकर जीव के रूप में सुख दुख भोगती है। अज्ञान का नाश ज्ञान से ही सम्भव है। अतः मुक्ति का मार्ग ज्ञान मार्ग ही है– **ज्ञानात् एवं मुक्तिः।**

यहाँ ज्ञान से तात्पर्य आत्म ज्ञान या ब्रह्म ज्ञान से है। वेदान्त दर्शन में कैवल्य के लिए मुक्ति या मोक्ष शब्द का प्रयोग हुआ है।

अब प्रश्न यह है कि आत्म ज्ञान कैसे होगा? इस सम्बन्ध में वेदान्त दर्शन के अनुसार उच्च कोटि के साधकों (पूर्वजन्म के योगियों) की हृदय ग्रन्थि तो श्रुति वाक्य सुनने से ही खुल जाती है, उनके अज्ञान का नाश होकर ब्रह्म भाव की प्राप्ति हो जाती किन्तु अन्य निम्न कोटि के व्यक्तियों के लिए तो चतुष्टय का होना अनिवार्य है। जिसे ज्ञानयोग के वहिरंग साधना कहते हैं। तत्पश्चात अन्तरंग साधना के अन्तर्गत श्रवण मनन और निदिध्यासन से समाधि की अवस्था में पहुँचने पर आत्म साक्षात्कार होता है।

साधन चतुष्टयः– मोक्ष प्राप्ति के इच्छुक साधक में चार प्रकार की योग्यताओं का होना आवश्यक है जिन्हे साधन चतुष्टयः कहते हैं।

ये चार योग्यताएं हैं– 1. विवेक 2. वैराग्य 3. षड्सम्पत्ति और 4. मुमुक्षुत्व–

आचार्य शंकर के शब्दों में–

नित्यनित्य वस्तुविवेकः इहमूत्रार्थ भोग विरागः।

शमादि–षट्क सम्पत्तिः मुमुक्षुत्वं चेति।। (तत्व बोध 3)

अर्थात् नित्य और अनित्य वस्तु का पृथक–पृथक विवेक हो जाना, इस लोक तथा परलोक में भोगों की इच्छा का न होना, शमदम आदि षड्सम्पत्ति और मोक्ष के प्रति तीव्र इच्छा का होना– ये साधन चतुष्टय हैं।

1. विवेकः– ज्ञान योग साधना की पहली आवश्यकता विवेक का होना है। ब्रह्म ही एक मात्र नित्य वस्तु है। ब्रह्म के अतिरिक्त समस्त वस्तुएं अनित्य (मिथ्वा, नाशवान) हैं। इस प्रकार का निश्चय हो जाना ही नित्य–अनित्य वस्तु विवेक कहलाता है।

2. वैराग्यः– मोक्ष या कैवल्य के इच्छुक साधक के अन्दर लौकिक एवं परालौकिक भोगों के प्रति राग का अभाव (वैराग्यभाव) होना आवश्यक है।

3. षड् सम्पत्तिः– मोक्ष साधना के इच्छुक साधक के लिए छः सम्पत्तियों (शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान) की साधना आवश्यक है, जिनका वर्णन निम्नवत् है–

(i) शमः– अन्तः इन्द्रिय मन को वश में रखना अर्थात् मनोनिग्रह (मन पर नियन्त्रण) शम कहलाता है–

शमो नाम अन्तरिन्द्रिय निग्रहः।

अन्तरिन्द्रिय नाम मनः।

तस्य निग्रहः शमः।।

यद्यपि मन महाबलवान चंचल एवं दुर्दमन है परन्तु अभ्यास वैराग्य के द्वारा इसे वश में किया जा सकता है–

असंशय महाबाहो मनोदुर्निग्रहं चलम्।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येन च गृहयते।। (गीता 6/35)

यह चंचल मन यदि वश में हो जाय तो सधे हुए घोड़े के समान आनन्ददायक तथा गन्तव्य स्थान (मोक्ष) तक पहुँचाने वाला भी बन जाता है। अतः मन का निग्रह साधना की आवश्यक शर्त भी है और उपलब्धि भी। मन के संयम (शम) से ही इन्द्रियों का संयम (दम) सम्भव हो पाता है अन्यथा नहीं। इसलिए दम से पूर्व शम आवश्यक बताया गया है।

(ii) दमः– इन्द्रियों के नियन्त्रण को दम कहते हैं– ''दमो नाम बाहयेन्द्रियनिग्रहः''।

अर्थात् आँख, कान, जिह्वा आदि वाह्य इन्द्रियों का नियन्त्रण दम है। अनुचित कार्यो, दुश्चरितों, पतन की तरफ ले जाने वाले विषय भोगों की तरफ भागने से इन्दियों को रोकना ही दम कहलाता है।

गीता में श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि प्रबल इन्दियाँ मन को बलपूर्वक विचलित कर देती हैं–

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः। (गीता 2/60)

तथा जिसकी इन्द्रियाँ वश में है उसकी बुद्धि दृढ़ता पूर्वक स्थिर रहती है–

वशे हि यस्यइन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता। (गीता 2/61)

अतः मोक्ष के इच्छुक साधक (दुखों से मुक्ति जो भी चाहता हो उस) के लिए दम आवश्यक है।

यहाँ विद्यार्थी ध्यान दें तो शम और दम के अन्दर एक मनोविज्ञान पायेंगे। शम का अर्थ है शमन यानी शान्त करना जबकि दम का अर्थ है दमन यानी दबाना जबरदस्ती उसको उसके कार्यो से रोकना। योग साधना में मन का शमन कहा गया है दमन नहीं। जिस प्रकार आग को दबाया नहीं जा सकता। आग को दबाने पर वह कुछ देर बाद और प्रबल हो उठती है उसी प्रकार मन को भी दबाया नहीं जाना चाहिए। मन का दमन नहीं करना है जैसे अग्नि शमन यन्त्र (फायर ब्रिगेड) अग्नि का दमन नहीं शमन करता है वह आग को दबाता नहीं बल्कि अग्नि के विपरीत गुणों (पानी) की बौछार अग्नि पर करता है, उसी प्रकार मन के शमन के लिए मन के अन्दर श्रेष्ठ भावों, उत्तम विचारों को लाकर बुरे भावों–बुरे विचारों का शमन किया जाता हैं। मन का दमन करना मनोरोगों का कारण बनता है। कुन्ठा, निराशा, हिंसा, हीनता एवं अन्य मनोविकार उत्पन्न होते हैं। अतः मन के लिए शम है और इन्द्रियों के लिए दम। इन्द्रियों को बलपूर्वक रोकना होता है यही दमन है।

इसलिए दम से पूर्व शम की अधिक आवश्यकता है। बिना मन पर नियन्त्रण किये इन्द्रियों पर नियन्त्रण व्यर्थ है। गीता में भी कहा गया है–

" मन से विषयों का चिन्तन कर, जो कर्म इन्द्रियों को रोके।

मिथ्याचारी पाखण्डी वह कह उसको सारा जग टोके।।"

(iii) उपरतिः– उपरति का अर्थ है विरत (अलग) हो जाना। इन्द्रियों को विषयों से हटाकर सब कामनाओं से शून्य हो जाना उपरति है। शंकराचार्य ने अपने धर्म का पालन करने को उपरति कहा है– स्वधर्मानुष्ठानमेव। इस प्रकार अपने अपने कर्त्तव्य कर्म में तत्पर रहकर तथा आसक्ति (राग) से विरत होकर मन को आत्मा में लगाये रखना ही उपरति है।

(iv) तितिक्षाः– सर्दी–गर्मी, भूख–प्यास, मान–अपमान, सुख–दुख आदि द्वन्द्वों को खुशी–खुशी धैर्यपूर्वक सहन कर साधना में लगे रहना ही तितिक्षा है। इसे तप भी कहते हैं–

तपो द्वन्द्व सहनम्।

प्रत्येक योग साधना में तप का महत्त्व है। महर्षि पंतजलि कहते हैं कि तप के प्रभाव से जब अशुद्धि का क्षय हो जाता है तब शरीर तथा इन्द्रियों की सिद्धि हो जाती है–

कायेन्द्रियसिद्धिः अशुद्धिक्षयात् तपसः। (योग सूत्र 2/43)

(v) श्रद्धाः– शंकराचार्य के शब्दों में 'गुरुवेदान्त वाक्ये विश्वासः श्रद्धा' अर्थात् वेद, वेदान्त और गुरुवाक्यों में दृढ़ निष्ठा एवं अटल विश्वास रखना ही श्रद्धा है। गीता के अनुसार श्रद्धावानः व्यक्ति ही ज्ञान की प्राप्ति करता है–

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं।

(vi) 6. समाधानः– चित्त की एकाग्रता ही समाधान है। मल, विक्षेप, आवरण आदि से रहित शुद्ध निर्मल चित्त को ब्रह्म में स्थिर रखना समाधान कहलाता है, चित्त की इच्छापूर्ति का नाम समाधान नहीं है–

सर्वदा स्थापनं बुद्धेः शुद्धे ब्रहमणि सर्वथा।

तत्समाधानम् इति युक्तं न तु चित्तस्य लालनम्।। (आचार्य शंकर, तत्वबोध)

4. मुमुक्षुत्वः– इस दुख–मय संसार सागर से तर कर मोक्ष रूप अमृत पद को प्राप्त करने की तीव्र इच्छा ही मुमुक्षुत्व है। मोक्ष की तीव्र इच्छा होने पर ही साधक मोक्ष मार्ग पर चलने (साधना करने) को तत्पर होता है। इसलिए साधक के लिए मुमुक्षुत्व का विशेष महत्त्व है।

शंकराचार्य के अनुसार उपर्युक्त चार साधनो (विवेक, वैराग्य, षड्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व) से सम्बन्ध होने पर ही मुमुक्षु तत्वविवेक के अधिकारी होते हैं–

एतत्साधन चतुष्टयम् ततस्तत्त्व विवेकस्याधिकारिणो भवन्ति। (शंकरचार्य, तत्वबोध 14)

और अन्ततः तत्वविवेक या विवेक ज्ञान से मुक्ति मिलती है अर्थात् आत्मा को अपने वास्तविक रूप का ज्ञान हो जाता है।

वृहराण्यक उपनिषद् में **महर्षि याज्ञवल्क्य** अपनी भार्या मैत्रेयी को विवेक ज्ञान हेतु श्रवण, मनन, और निदिध्यासन का उपदेश देते हैं–

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यों निदिध्यासितव्य मैत्रेयी।।(वृह॰ 4/5/6)

1 श्रवणः– गुरु के शास्त्रोक्त उपदेशों का सुनना श्रवण है।

2 मननः– गुरु के उपदेशों एवं श्रुति वाक्यों पर निरन्तर चिन्तन करना मनन है।

3 निदिध्यासनः– निदिध्यासन का अर्थ है अनुभूति या साक्षात्कार। जीव और ब्रह्म के तादात्म्य का ध्यान करते रहना निदिध्यासन है। निदिध्यासन का अभ्यास तब तक करते रहना चाहिए जब तक की ब्रहमात्मैकत्व (ब्रह्म और आत्मा एक ही है) की अपरोक्ष अनुभूति न हो जाय।

उदाहरण के लिए जब साधन चतष्टय से युक्त सुपात्र शिष्य को गुरु यह उपदेश देता है कि तत्वमसि (अर्थात् वह ब्रह्म तुम हो) और इस गुरु उपदेश वाक्य का शिष्य श्रवण करके तब तक उस पर मनन और निदिध्यासन करता रहता है जब तक उसे अहम् ब्रहमास्मि (अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ यानी यह आत्मा ही ब्रह्म है) का साक्षात् अनुभव न हो जाय। इस आत्म साक्षात्कार से अविद्या दूर हो जाती है और ब्रह्म भाव प्राप्त हो जाता है जो कि मोक्ष की अवस्था है– ब्रह्मभावश्च मोक्षः। यह जीवन्मुक्ति है। शरीर छुटने पर विदेह मुक्ति हो जाती है।

वेदान्त दर्शन में निदिध्यासन का विशेष महत्त्व है क्योंकि समाधि और आत्म साक्षात्कार इसी से होता है इसीलिए वेदान्त दर्शन में निदिध्यासन को ही योग माना गया है। अपरोक्षानुभूति में निदिध्यासन को एक पूरी साधना प्रणाली मानकर इसके 15 अंग बताये

गये हैं। यम, नियम, त्याग, मौन, देश, आसन, मूलबन्ध, देहस्थिति, दृक्स्थिति, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

यमोहि नियमस्त्यागो मौनं देशश्चकालतः।

आसनमूलबन्धश्च देहसाम्यं च दृक्स्थितिः।।

प्राणसंयमनं चैव प्रत्याहारश्च धारणा।

आत्मध्यानं समाधिश्च प्रोक्तान्यङ्गानि वै क्रमात।। (अपरोक्षानुभूति 102–103)

20.4.2 कर्म योग साधनाः–

प्रायः यह कहा जाता है कि कर्म ही बन्धन के कारण होते हैं क्योंकि व्यक्ति कर्म करता रहता है और कर्म का अच्छा या बुरा फल भोगने के लिए वह जन्म मृत्यु के चक्र में धूमता रहता है। इस प्रकार कर्म करना, उस कर्म से कर्म संस्कार बनना और फल भागेने का क्रम बना रहता है। इस प्रकार कर्म ही बन्धन का कारण कहा जाता है।

किन्तु कर्म योग कर्म को बन्धन का कारण ही नहीं मानता बल्कि वह इसे मोक्ष का साधन भी मानता है। कर्म योग साधना के अनुसार कर्म के पीछे भाव महत्त्वपूर्ण होता है। जो कर्म राग, द्वेष आसक्ति की भावना से (फल की इच्छा से) किये जाते हैं, वे अवश्य ही बन्धन का कारण बनते हैं किन्तु जो कर्म कर्त्तव्य भावना से किये जाते हैं, आसक्ति को त्याग कर निष्काम भाव से किये जाते हैं, उनसे कर्म संस्कार नहीं बनते। वे भुने हुए बीज के समान हो जाते हैं, जो उगता नहीं हैं इस प्रकार निष्काम कर्म मोक्ष का मार्ग है।

इस प्रकार कर्म दो रूप है–

1. सकाम कर्म– यह बन्धन का कारण है।

2. निष्काम कर्म– यह मोक्ष का मार्ग है।

गीता में कृष्ण ने कर्मो की कुशलता को ही योग कहा है–

योगः कर्मशु कौशलम्। (गीता 2/50)

व्यक्ति एक क्षण भी बिना कर्म किये नही रह सकता। कर्म करना उसका स्वभाव है इसलिए कुशलता के साथ ज्ञान युक्त कर्म करना ही कर्म योग कहलाता है, जिस पर चलते हुए अन्त में मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। इसीलिए गीता में कर्म सन्यास से कर्म योग को श्रेष्ठ माना गया है–

सन्यासः कर्म योगेश्च निःश्रेयस करा वुभौ।

तयोस्तु कर्म सन्यासात कर्मयोगो विशिष्यते।।

कर्मयोग साधना के तीन चरणः–

प्रथम चरण कर्मफल त्यागः– कर्म योग साधना की प्रथम अवस्था में साधक अपने कर्त्तव्य कर्मो को फल की इच्छा से रहित होकर करता रहता है जिससे वह शाश्वत शान्ति को प्राप्त करता है–

युक्तः कर्मफलंत्यक्त्वा शान्तिमाप्तोति नैष्ठिकीम्।

अयुक्तः कामकारेण फलेसक्तो निबध्यते।। (गीता 5/12)

द्वितीय चरण– भगवद् अर्पित कर्मः–

साधना की दूसरी अवस्था में वह कर्त्तव्य कर्म को भी भगवान् को अर्पित करने लगता है। इस अवस्था में उसमें भक्ति भावना आ जाती है और वह जो कुछ भी करता है भगवान के लिए करता है, स्वयं के लिए नहीं। इसीलिए गीता में श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं–

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददाति यत्।

यत्रपस्यसि कौन्तेय तत्कुरूष्व मदर्पणम्।। (गीता 9/27)

अर्थात् हे अर्जुन तू जो भी कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दानादि देता है, जो तप करता है, वह सब मुझको अर्पण कर। इस प्रकार समर्पण भाव से कर्म करना कर्म योग की द्वितीय अवस्था है।

तृतीय चरण– कर्तापन से मुक्तिः–

कर्म योग की तृतीय, अवस्था में साधक कर्ता भाव से भी मुक्त हो जाता है। वह अपने को कर्ता भी नहीं मानता। उसके अन्दर करने वाले राम कराने वाले राम का भाव प्रगाढ़ हो जाता है। वह अनुभव करता है कि मेरे द्वारा जो भी कर्म हो रहे है, उन सब को करने वाले ईश्वर ही हैं। वह तो निमित्त मात्र है। इस अवस्थाओ में साधक कर्म करता हुआ भी कर्म फल के बन्धन से मुक्त रहता है। ऐसे कर्मो से संस्कार उत्पन्न नहीं होते। ये कर्म भुने हुए बीज के समान हो जाते हैं। कर्म योग की यह साधना साधक के मोक्ष का मार्ग प्रशस्त कर देती है।

सांसारिक व्यक्तियों के लिए कर्म योग साधना उचित एवं स्वाभविक मार्ग है, जिसे बिना घर परिवार संसार छोड़े ही सांसारिक जीवन जीते हुए सांसारिकता से मुक्त रहकर किया जा सकता है। कर्म योग साधना एक ऐसा मार्ग है जिसमें व्यावहारिक और पारमार्थिक लौकिक और पारलौकिक– दोनों तरह के उत्कर्ष होते हैं। इसीलिए महात्मा गाँधी ने कहा है कि सब योगों में श्रेष्ठ निष्काम कर्म योग ही है।

20.4.3 भक्ति योग साधनाः–

सभी योग साधनाओं में भक्तियोग सबसे सरल, सहज, सुगम, सर्वसुलभ और सर्वजन प्रिय साधना है जिसका अधिकारी हर कोई भाव प्रधान व्यक्ति बन सकता है।

भक्ति शब्द भज् सेवायाम् धातु से क्तिन् प्रत्यय लगाकर बनता है जिसका अर्थ है सेवा पूजा उपासना और संगतिकरण आदि। संस्कृत शब्द भक्ति का हिन्दी पर्याय प्रेम है इसीलिए कहा है कि 'भक्ति नाम प्रेम विशेष' अर्थात् भगवान के प्रति उत्कट प्रेम विशेष का नाम भक्ति है। भक्त और प्रेमी दोनो एक ही हैं। भक्त का सेवा के द्वारा भगवान से सम्बन्ध स्थापित करने का नाम भक्तियोग है और जिसके अन्तःकरण में अनन्त प्रेम की धारा बह रही हो वही भक्त है।

ज्ञानयोग साधक अद्वैत मार्गी शंकराचार्य ने भी भक्ति साधना के महत्त्व को बताते हुए कहा है कि–

मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।

स्वस्वरूप अनुसन्धानं भक्तिरित्याभिधीयते।। (विवेक चूडामणि, 32)

अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के समस्त साधनाओं में से भक्ति साधना ही सबसे बढ़कर है और अपने स्वस्वरूप का अनुसन्धान करना ही भक्ति कहलाता है।

भक्ति योग की परिभाषाएंः–

भक्ति योग के शास्त्रों में भक्ति की भिन्न भिन्न परिभाषाएं दी गई है परन्तु सबका लक्ष्य एक ही है भगवद् प्राप्ति। जैसे–

स्वामी विवेकानन्द के अनुसारः–

सच्चे व निष्कपट भाव से ईश्वर की खोज करना ही भक्ति योग है।

पराशरनन्दन **व्यास (पराशर्य) के अनुसार** भगवान की पूजा अर्चना तथा उपासना आदि में विशेष अनुराग का होना ही भक्ति है–

पूजादिष्वनुराग इति पराशर्यः। (नारद भक्ति सूत्र 16)

आचार्य गर्ग के अनुसार– भगवान के दिव्य गुण कथन के श्रवण आदि में अनुराग होना ही भक्ति है–

कथादिष्वितिगर्गः। (नारद भक्ति सूत्र 17)

महर्षि शान्डिल्य के अनुसार– आत्म प्रेम के अविरोधी साधनों में अनुराग का होना भक्ति है। अर्थात् आत्म प्रेम ही भक्ति है–

आत्मरत्य विरोधेनेति शाण्डिल्यः। (नारद भक्ति सूत्र 18)

परम भक्त **नारद जी के मतानुसार** – अपने समस्त कर्मों का भगवान में अर्पित कर देना और भगवान का थोड़ा सा भी विस्मरण होने पर जो नितान्त व्याकुल हो जाना है वही परा भक्ति है–

नारदस्तुतदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परम व्याकुलतेति। (नारद भक्ति सूत्र 19)

इस प्रकार ईश्वर के प्रति अनन्य प्रेम ही भक्ति का मूल मन्त्र है। भक्ति योग में भक्त का भगवान से भक्ति के माध्यम से योग (मिलन) होता है। भक्ति योग साधना में किसी न किसी रूप में भगवान को मानना आवश्यक है और उसके प्रति श्रद्धा के साथ साथ भगवान के प्रेम में डूबकर उसके साथ एक हो जाना ही भक्ति योग का लक्ष्य है और यही जीवन का परम पुरुषार्थ मोक्ष है।

चार प्रकार के भक्तः–

जो भी व्यक्ति भगवान का भजन उपासना पूजा आदि करता है वही भक्त है (भजन भक्ति) हर भक्त के भाव और भक्ति के पीछे प्रयोजन अलग अलग हो सकते हैं। इस दृष्टि से गीता में चार प्रकार के भक्त बताये गये हैं– आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, और ज्ञानी।

चतुर्विद्या भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।

आर्तो जिज्ञासुः अर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।। (गीता 7/16)

1. आर्तः– आर्तभक्त वे है जो सांसारिक विपत्तियों से छुटकारा पाने की लिए भगवान को याद करते हैं। जैसे गजराज और द्रोपदी आदि।

2. जिज्ञासुः– ब्रह्मतत्व को यथार्थ रूप में जानने की इच्छा से भगवान का भजन करने वाले भक्त जिज्ञासु होते हैं जैसे राजा जनक, मुचुकुन्द, उद्धव आदि।

3. अर्थार्थीः– अर्थार्थी भक्त वे है जो लोकेषणा, वित्तेषणा, पुत्रेषणा, की प्राप्ति हेतु अर्थात् धन दौलत, मान मर्यादा, प्रतिष्ठा, पत्नी, पुत्र आदि प्राप्ति की इच्छा से भगवान का भजन करते हैं। जैसे ध्रुव, सामान्य मनुष्य एवं दानव आदि।

4. ज्ञानीः– ज्ञानी भक्त वे है जो आत्म ज्ञान को आवश्यक समझकर अपने चित्त को ध्यान समाधि लगाये रहते हैं। ऐसे समाहित चित्त वाले भक्त को श्री कृष्ण ने अपना स्वरूप ही बताया है–

ज्ञानी त्वात्मैव में मतम्।। (गीता)

सभी प्रकार के भक्तो में ज्ञानी भक्त ही सबसे श्रेष्ठ और उत्तम होता है।

भक्ति के भेदः–

भक्ति रसायनं नामक ग्रन्थ के अनुसार भक्ति के भेद एवं उपभेद निम्न प्रकार से है–

भक्ति

(क) अपरा भक्ति (ख) परा भक्ति

या

गौणी भक्ति

1 वैधी भक्ति 2 रागात्मिका भक्ति

या

नवधा भक्ति

भक्ति रसायन में कहा गया है कि–

भक्तिस्तु द्विविधा प्रोक्ता परापरेति संज्ञिता।

एकधात्र पराप्रोक्ता त्वपरा नवधा स्मृता।।

भक्ति दो प्रकार की होती है परा भक्ति और अपरा भक्ति। अपराभक्ति का ही अपर नाम गौणी भक्ति भी है जो दो प्रकार की होती है– वैधी और रागात्मिका। वैधी भक्ति को नवधा भक्ति भी कहते हैं क्योकि यह नौ प्रकार की होती है।

(क) अपरा भक्तिः– इसे गौणी भक्ति भी कहते हैं। आरम्भिक भक्त ईश्वर के सगुण रूप की उपासना मूर्ति पूजा, आरती, नमाज, नाम जप, कीर्तन, प्रार्थना आदि साधनो के द्वारा अपना प्रेम, और श्रद्धा विश्वास ईश्वर को अर्पित करते हैं– इस प्रकार की भक्ति ही अपरा या गौणी भक्ति कहलाती है। यह भक्ति भी दो प्रकार की होती है– **1.** वैधी भक्ति या नवधा भक्ति और **2.** रागात्मिका भक्ति।

नवधा भक्तिः– भक्ति योग साधना का आरम्भ साधारण पूजा पाठ से होता है जिसे अनेक प्रकार से किया जाता है। इस वैधी भक्ति के नौ प्रकार होने से इसे नवधा भक्ति भी कहते हैं। भक्ति शास्त्रों में नवधा भक्ति का विशेष महत्त्व है और इसका विस्तार पूर्वक वर्णन मिलता है। जैसे श्री मद्भागवत महापुराण में कहा गया है–

''श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम्।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।। (भागवत 7/5/23)

अर्थात् श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद सेवन, अर्चन वंदन, दास्य, सांख्य और आत्मनिवेदन ये भक्ति के नवभेद है, जो निम्नवत हैं–

1. श्रवण भक्तिः– श्रवण का अर्थ है सुनना। शांत चित्त होकर श्रद्धा भक्ति एवं विश्वास पूर्वक भगवान की महिमा उनके दिव्य गुण एवं लीलाओं का, मंगल चरित्र को सुनना ही श्रवण भक्ति है। जैसे परीक्षित की भक्ति।

2. कीर्तन भक्तिः– भगवान के नाम का जप उनके रूप गुण चरित्र एवं लीला आदि को गीत व भजनों के माध्यम से गाना (गायन करना) नृत्य करना, कथन करना कीर्तन भक्ति है जैसे श्री शुकदेव जी की भक्ति।

3. स्मरण भक्तिः– भगवान को हर पल हर क्षण याद करना, भगवान के यश, गुण व कीर्ति का निरन्तर चिंतन करते रहना स्मरण भक्ति है। जैसे भक्त प्रहलाद की भक्ति।

4. पाद सेवनमः– भगवान के श्री चरणों की सेवा करना, उनके चरणों में मन को लगाना ही पाद सेवन भक्ति है। जैसे लक्ष्मी जी की भक्ति।

5. अर्चन भक्ति– अर्चन का तात्पर्य है पूजन। भगवान का शास्त्रोक्त विधि से स्थूल रूप में या मानसिक रूप से पूजन करना अर्चन भक्ति है। जैसे राजा पृथु की भक्ति।

6. वन्दन भक्तिः– वैदिक मन्त्रों एवं स्तोत्रों के द्वारा भगवान की स्तुति प्रार्थना करना ही वन्दन भक्ति है। जैसे अक्रूर की भक्ति।

7. दास्य भक्तिः– स्वयं को भगवान का सेवक समझकर दस्य भाव से कर्म करना ही दास्य भक्ति है। जैसे हनुमान जी की भक्ति।

8. सख्य भक्तिः– भगवान के प्रति मित्रभाव रखकर उनकी भक्ति करना साख्य भक्ति है। जैसे अर्जुन, सुदामा की भक्ति।

9. आत्म निवेदन भक्तिः– अपनी बुद्धि , प्रतिमा, ज्ञान, संकल्प, मन, कर्म– सबकुछ भगवान को अर्पित करके उनके शरणागत हो जाना, ईश्वर का दिया जीवन ईश्वरीय कार्यो में ही न्योछावर कर देना आत्मनिवेदन भक्ति हैं जैसे राजा बलि की भक्ति। यह नवधा भक्ति की चरम अवस्था है।

2. रागत्मिका भक्तिः– अपरा भक्ति या गौणी भक्ति की उच्च अवस्था रागात्मिका भक्ति है।

जब भक्त साधक नवधा भक्ति की चरम अवस्था को पार कर लेता है तब उसक हृदय में एक अलौकिक भगवत प्रेम भाव प्रवाहित होने लगती है। इस दिव्य प्रेम और आनन्द रस का अनुभव कराने वाली भक्ति विशेष ही रागात्मिका भक्ति है–

''रसानुभाविका आनन्द शक्तिदा रागात्मिका।''

नवधा भक्ति साधनावस्था है तो रागात्मिका भक्ति अनुभूति अवस्था। इसमें भक्त को भगवान की झलक सर्वत्र मिल जाती है।

(ख) परा भक्तिः– रागात्मिका भक्ति (अपरा भक्ति) की चरम अवस्था ही परा भक्ति है। यह साधक (भक्त) के भक्तियोग की पराकाष्ठा है जिसमें भक्त को कण कण में भगवान, स्वयं के अन्दर भी भगवान का अनुभव हो जाता है परा भक्ति में भक्त और भगवान अलग अलग नहीं रहते। उपासक और उपास्य का द्वैत मिट जाता है। भक्त भक्तियोग के गहन समाधि में लीन होकर अभेद भक्ति से आत्मा में ही ब्रह्म का साक्षात्कार करके अन्ततः कैवल्य या मोक्ष को प्राप्त करता है।

20.4.4 हठयोग साधनाः–

हठ शब्द 'ह' और 'ठ' इन दो अक्षरों से मिलकर बना है। इनमें 'ह' कार का अर्थ सूर्य स्वर या पिंगला नाड़ी से तथा 'ठ' कार का अर्थ चन्द्र स्वर या इड़ा नाड़ी से लिया गया है। इन दोनों नाड़ियो के मिलन से वायु सुषम्ना नाड़ी में चलने लगता है जिससे मूलाधार में सोई हुई कुंडलिनी शक्ति जाग्रत होकर सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश कर ऊपर की ओर चलने लगती है और षड् चक्रों का भेदन करती हुई ब्रह्म रंध्र में पहुँचकर ब्रह्म के साथ एकत्व को प्राप्त होती है। यही आत्म और परमात्म तत्व का मिलन है। यह मिलन ही योग कहलाता है जिससे मोक्ष मुक्ति या कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है।

योग शिखोपनिषद में कहा गया है कि–

हकारेण तु सूर्यः स्यात् ठकारेणोन्दुरूच्यते।

सूर्य चन्द्रम सोरैक्यं हठ इत्यभिधीयते।। (योग शिखोपनिषद 1/133)

अर्थात् ह कार (ह) से सूर्य तथा ठ कार (ठ) से चन्द्रमा कहा गया है। सूर्य और चन्द्र का ऐक्य होना ही हठ कहलाता है।

हठप्रदीपिका के अनुसार– हठात् मोक्ष द्वार का उद्घाटन करने वाली साधना पद्धति को हठयोग कहते है।

उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुचिंकया हठात्।

कुण्डलिन्या ततो योगी मोक्षद्वारं प्रभदयेत्।। (हठप्रदीपिका 105)

हठप्रदीपिका के टीकाकार **ब्रह्ममानन्द** के मतानुसार 'ह' अर्थात् सूर्य से तात्पर्य प्राणवायु से है एवं 'ठ' अर्थात् चन्द्र से तात्पर्य अपान वायु से है। इन दोनों वायुओ का प्राणायाम से निरोध करना ही हठयोग कहलाता है।

हठयोग के अंगः–

हठप्रदीपिका में स्वामी स्वात्माराम जी के अनुसार हठयोग के मुख्य रूप से चार अंग हैं– **1.** आसन **2.** प्राणायाम **3.** मुद्रा एवं बन्ध और **4.** नादानुसंधान। हठप्रदीपिका के दूसरे अध्याय में प्राणायाम साधना की तैयारी हेतु शुद्धि क्रियाओं के रूप में षड्कर्म (धौति, नेति, वस्ति, नौली, त्राटक और कपालभाति) का वर्णन किया गया है। मुद्रा के अन्तर्गत शक्ति चालिनी मुद्रा के सन्दर्भ में कुण्डलिनी शक्ति एवं उसके जागरण की विधि पर प्रकाश डाला गया है। तथा नाद अनुसंधान के अन्तर्गत समाधि का वर्णन प्राप्त होता है।

कैवल्य धाम लोनावाला से प्रकाशित हठप्रदीपिका में हठयोग के पाँच अंग बताए गये हैं। जिसमें पांचवा अंग यौगिक चिकित्सा है।

गोरक्षनाथ ने हठयोग के 6 अंग बताये है। गोरक्ष पद्धति में कहा गया कि आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि– हठयोग के 6 अंग है–

आसनं प्राणं संरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।

ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वदन्ति षट्।।

योग के अन्य प्रमुख ग्रन्थ घेरण्ड संहिता में महर्षि घेरण्ड ने हठयोग के सात अंग बताये है जिन्हें **सप्तांग योग** भी कहते हैं जो निम्न है–

शोधनं दृढ़ता चैव स्थैर्य धैर्य च लाघवम्।

प्रत्यक्षं च निर्लिप्तम् च घटस्य सप्त साधनम्। (घेरण्ड संहिता 1/9)

अर्थात् शरीर रूपी घट को शुद्ध करने के लिए योगाभ्यासी को सात साधनों का अभ्यास करना चाहिए–

1. शोधन अर्थात् शरीर की शुद्धि
2. दृढ़ता अर्थात् शरीर को दृढ़ करना
3. स्थैर्य अर्थात् शरीर में स्थिरता लाना
4. धैर्य अर्थात् धैर्य की प्राप्ति करना
5. लाघव अर्थात् शरीर को हल्का करना
6. प्रत्यक्षं अर्थात् प्रत्यक्ष करना
7. निर्लिप्तम् अर्थात् निर्लिप्तता।

उपर्युक्त सात साधन कैसे प्राप्त होगें, इसका उपाय बताते हुए घेरण्ड ऋषि कहते हैं कि–

षड्कर्मणा शोघनं च आसनेन भवेद् दृढ़म।

मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता।।

प्राणायामाल्लघवं च ध्यानात् प्रत्यक्षमात्मनः।

समाधिना निर्लिप्त च मुक्तिरेव न संशयः।। (घेरण्ड संहिता 1/10,11)

अर्थात् षड्कर्मो द्वारा शरीर की शुद्धि होती है। आसनों से शरीर दृढ़ होता है मुद्राओ से शरीर में स्थिरता आती है। प्रत्याहार से धैर्य की प्राप्ति होती है। प्राणायाम के द्वारा शरीर लघुता को प्राप्त होता है एवं समाधि से चित्त निर्लिप्त होता है जिससे अवश्य ही मुक्ति (मोक्ष या कैवल्य की प्राप्ति) हो जाती है, इसमें कोई संशय नहीं है।

इस प्रकार शरीर, मन व प्राण का शोधन करके इन्हें वश में करना ही हठयोग का लक्ष्य है। बिना शरीर एवं चित्त की शुद्धि तथा संयम के आध्यात्मिक उन्नति आत्म साक्षात्कार सम्भव नहीं हो पाता। इसीलिए स्वामी स्वात्माराम जी कहते हैं कि राजयोग अर्थात् समाधि की अवस्था प्राप्त करने के लिए हठयोग विद्या का उपेदश किया जा रहा है–

केवल राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते। (हठयोग प्रदीपिका 1/2)

20.4.5 राज योग साधनाः–

राजयोग साधना को सभी प्रकार के योग साधनाओं का राजा कहा जाता है। हठयोग साधना का प्रारम्भ शरीर के शोधन व नियन्त्रण से होता है जबकि राजयोग साधना का प्रारम्भ सूक्ष्म श्रीर या मन (चित्त) के शोधन नियन्त्रण से होता है। मन सभी इन्द्रियों का राजा है, इसलिए भी मन संयम प्रधान इस योग साधना को राजयोग साधना कहा जाता है। राजयोग साधना का प्रमुख ग्रन्थ महर्षि पंतजलि द्वारा रचित 'योग सूत्र' है यही कारण है कि पंतजलि द्वारा बताई गई योग साधनाओं को ही अनुभवी योगियों ने राजयोग साधना का नाम दिया है।

स्वामी विवेकानन्द ने महर्षि पंतजलि के अष्टांग योग को ही राजयोग कहा है।

अष्टांग योग साधना के आठ अंग है– **1**. यम **2.** नियम **3.** आसन **4.** प्राणायाम **5.** प्रत्याहार **6.** धारणा **7.** ध्यान और **8.** समाधि।

प्रारम्भ के पाँच अंग बहिरंग योग कहलाते है जबकि अन्तिम तीन अंग (धारणा, ध्यान और समाधि) अन्तरंग योग। कुछ विद्वानो के अनुसार राजयोग साधना के अंग अन्तिम तीन धारणा ध्यान एवं समाधि ही है इन तीनों को एकत्रित रूप में पंतजलि ने 'संयम' कहा है–

त्रयमेकत्र संयमः। (योग सूत्र 3/4)

राजयोग साधना को अष्टांग योग, अन्तरंग योग, ध्यान योग, समाधि योग आदि अनेक नामों से जाना जाता है।

राजयोग साधना के अधिकारीः–

राजयोग साधना में उत्तम, मध्यम एवं अधम तीन तरह के साधक कहे गये हैं। और उनकी पात्रता के अनुसार ही साधना की विधि वर्णित है।

उत्तम कोटि के श्रेष्ठ साधकों के लिए अभ्यास और वैराग्य तथा ईश्वर प्रणिधान की साधना बताई गयी है।

अभ्यास वैराग्याभ्याम् तन्निरोधः। (योग सूत्र 1/12)

उच्च कोटि के साधक केवल ईश्वर प्रणिधान से भी समाधि को प्राप्त कर सकते है।

समाधिसिद्धिः ईश्वर प्रणिधानात्। (योग सूत्र 2/45)

मध्यम कोटि के साधकों के लिए 'क्रिया योग' है, जिसके तीन अंग है तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान।

तपः स्वाध्याय ईश्वर प्रणिधानानि क्रिया योगः। (योग सूत्र 2/1)

अधम या निम्न स्तरीय प्रारम्भिक साधकों के लिए अष्टांग योग साधना करनी आवश्यक है जिसके आठ अंग है।

1. **यम–** अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रहमचर्य और अपरिग्रह का पालन करना यम है।

2. **नियम–** शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, और ईश्वर प्रणिधान का पालन करना नियम है।

3. **आसन–** यह शरीर का संयम है।

4. **प्राणायाम–** यह प्राणवायु का संयम है।

5. **प्रत्याहार–** यह इन्द्रियों का संयम है।

6. **धारणा–** यह मन का संयम है।

7. **ध्यान –** मन की एकाग्रवस्था है।

8. **समाधि–** यह योग की अंतिम अवस्था है जिसकी पराकाष्ठा में कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है।

20.4.6 अष्टांग योग साधना

20.4.7 क्रिया योग साधना

20.4.8 अभ्यास एवं वैराग्य साधनाः–

उपर्युक्त साधनाओं के विस्तृत अध्ययन के लिए विद्यार्थी कृपया अपने इसी प्रश्नपत्र के इकाई संख्या 13 (समाधि) के अन्तर्गत पातंजल योग साधना (13.3.8) को देखें।

महर्षि पंतजलि के योग सूत्र में वर्णित उपर्युक्त साधनाएं चित्त वृत्तियों के निरोध द्वारा कैवल्य प्राप्ति के श्रेष्ठ उपाय हैं। प्रारम्भिक साधक के लिए अष्टांग योग है। जिसे राजयोग भी कहा गया है। मध्यम साधक के लिए क्रियायोग तथा उत्तम कोटि के समाहित चित्त वाले उच्च स्तरीय साधक के लिए अभ्यास वैराग्य की साधना बताई गयी है। इन साधना मार्गो पर चलने से चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियाँ निरूद्ध हो जाती है तथा आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है जो कि कैवल्य की अवस्था है। इन साधनाओं का विस्तृत वर्णन इसी प्रश्न पत्र के इकाई संख्या 13 (समाधि) में समाधि प्राप्ति के विविध साधनों के अन्तर्गत किया जा चुका है जिसका अध्ययन विद्यार्थी कर चूके हैं। अतः यहाँ पुनरावृत्ति से बचते हुए विद्यार्थियों से अनुरोध है कि कृपया इकाई संख्या 13 का पुनः अवलोकन करने का कष्ट करें।

इस प्रकार कैवल्य प्राप्ति के अनेकों उपाय हैं जिसे अपनाकर मुक्ति, मोक्ष या कैवल्य की अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है। यह कोई नई चीज नहीं अपितु अपने वास्तविक स्वरूप का ही बोध, अनुभव या साक्षात्कार है।

20.4.9 कैवल्य सिद्धान्त एवं इसके साधनों की समीक्षा

चार्वाक दर्शन को छोडकर शेष सभी भारतीय दर्शनो में जीवन का अंतिम लक्ष्य, परम पुरुषार्थ–मोक्ष को माना गया है जिसे मुक्ति, कैवल्य, अपवर्ग, निर्वाण, निःश्रेयस आदि अनेक समानार्थी शब्दो से सम्बोधित किया गया है। दार्शनिक दृष्टिकोण में भिन्नता के आधार पर कैवल्य के स्वरूप में भी भिन्नता है। न्याय– वैशेषिक एवं मीमांसा दर्शन आत्मा को स्वभावतः अचेतन मानते हैं। इसलिए इन दर्शनों में मोक्ष की अवस्था में आत्मा अचेतन हो जाती है। इसीलिए ये तीनो दर्शन जीवन्मुक्ति को भी नहीं मानते, केवल विदेह मुक्ति को ही मानते हैं। सांख्य–योग दर्शन में आत्मा यानी पुरुष को चैतन्य स्वरूप माना गया है इसलिए इनके अनुसार कैवल्य की अवस्था में आत्मा विशुद्ध चैतन्य स्वरूप होती है किन्तु उसमें आनन्द का अभाव हेाता है क्योंकि आनन्द सत्वगुण का परिणाम है और आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में त्रिगुणातीत है इसलिए वह मोक्ष (या कैवल्य) की अवस्था सुख दुख के साथ साथ आनन्द से भी रहित मानते है। सांख्य की इस विचार धारा से हटकर अद्वैत वेदान्त आनन्द को आत्मा का स्वरूप बताता है। आत्मा ब्रह्म स्वरूप है और ब्रह्म सत् चित् आनन्द स्वरूप है इसलिए मोक्ष की अवस्था आनन्द से युक्त है। वेदान्त आनन्द को सतोगुण का परिणाम नहीं मानता बल्कि आत्मा का स्वरूप मानता है। सांख्य योग और अद्वैत वेदान्त में जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति दोनों को स्वीकार किया गया है। शरीर रहते अविद्या के नाश होने पर विवेक ज्ञान के द्वारा मोक्ष या कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है, यह जीवन्मुक्ति है तथा शरीर पात (मृत्यु) होने पर विदेह मुक्ति की प्राप्ति होती है। अद्वैत वेदान्त में आत्मा मोक्षावस्था में ब्रह्म में लीन हो जाती है जबकि अन्य मोक्षवादी दर्शनों में आत्मा मोक्ष के बाद अपने वास्तविक स्वरूप में प्रतिष्ठित अपना अलग अस्तिव बनाये रखती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि न्याय, वैशेषिक एवं मींमांसा दर्शन आत्मा व मोक्ष को सत् मानते है, चित् (चेतन अवस्था) और आनन्द नहीं। सांख्य–योग दर्शन सत् के साथ चित् भी मानते हैं किन्तु आनन्द स्वरूप नहीं मानते जबकि वेदान्त दर्शन सत् और चित् के साथ आनन्द को मानकर मोक्ष (कैवल्य) विचार में पूर्णता ला देता है। वास्तव में आनन्द से रहित अवस्था की प्राप्ति कौन चाहेगा?

कैवल्य के सम्बन्ध में उपर्युक्त मतभेद के होते हुए भी जो बाते सभी मोक्षवादी दर्शनों में समान रूप से मिलती है वे है–

1. मोक्ष या कैवल्य दुखों से आत्यन्तिक निवृत्ति की अवस्था है।

2. दुख एवं बन्धन का कारण अज्ञान है इसलिए कैवल्य की प्राप्ति ज्ञान से होती है।

3. कैवल्य या मुक्ति की अवस्था में आत्मा या पुरुष अपने वास्तविक स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

4. कैवल्य या मोक्ष के बाद पुनर्जन्म नहीं हेाता।

5. योगाभ्यास–साधना के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है।

मोक्ष या कैवल्य की प्राप्ति के जितने भी उपाय (साधन) हैं उनमें महर्षि पंतजलि का अष्टांग योग विशेष महत्त्वपूर्ण है। क्योकि इसके आठो अंग व्यक्तिगत उत्कर्ष के साथ साथ

सामाजिक उत्कर्ष में भी सहायक है। पंतजलि के अष्टांग योग का प्रभाव प्रत्येक साधना प्रणाली पर परलक्षित होता है।

नास्तिक दर्शन कहे जाने वाले बौद्ध एवं जैन दर्शनों के मोक्ष मार्ग भी अष्टांग योग से प्रभावित हैं। **बौद्ध दर्शन** में निर्वाण प्राप्ति हेतु अष्टांगिक मार्ग की विवेचना है जिसके अन्तर्गत सम्यक्– दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि की गणना की जाती है जिस पर अष्टांग योग के सदाचार (यम नियम) और ध्यान समाधि का स्पष्ट प्रभाव है। इसी प्रकार **जैन दर्शन** में मुक्ति हेतु पंचमहाब्रतों के पालन पर जोर दिया गया है। ये पंचमहाब्रत अष्टांग योग में यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रहमचर्य) कहलाते है।

जितने भी योग मार्ग हैं सभी में दुखों से मुक्ति (मोक्ष) हेतु सदाचार का पालन पहली शर्त है।

आज के परिवेश में जितनी भी समस्याएं है उनमें से अधिकांश सदाचार की उपेक्षा का ही परिणाम है। चोरी, डकैती, हिंसा, व्यभिचार, आये दिन हो रही बलात्कार की घटनाएं, भ्रष्टाचार आदि समस्याओं के जड़ में सदाचार का अभाव ही है।

हमारे भूतपूर्व प्रधानमन्त्री अटल बिहारी वाजपेयी अपनी कविता में कहते है कि–

छोटे मन से कोई बड़ा नहीं होता।

टूटे मन से कोई खड़ा नहीं होता।

अटल जी की यह कविता दार्शनिक संकेतों वाली है। जब तक हमारा आदर्श बड़ा नहीं होगा हमारी सोच हमारा लक्ष्य ऊँचा नहीं होगा हम बड़ा (महान) नहीं बन सकते। कैवल्य या मोक्ष का महान आदर्श अपनाकर ही व्यक्ति का मन और कर्म बड़ा हो सकता है और समाज में सदाचार को प्रश्रय मिल सकता है। इस रूप में योग साधनाएं व्यक्तिगत के साथ साथ सामाजिक उन्नति में भी सहायक होने से प्रासंगिक है।

अभ्यास प्रश्नः–

1. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए–

(क) मनुष्य के अपने निजी शरीर एवं मन के कारण उत्पन्न दुख को..... दुख कहते हैं।

(ख) आत्यन्तिको दुखत्रयाभावः..... ।

(ग) शम.....का संयम कहलाता है।

(घ) निर्लिप्तता की प्राप्ति.....से होती है।

(ङ) घेरण्ड संहिता में हठयोग के.....अंग बताये गये हैं।

2. सत्य/असत्य बताइयेः–

(क) जीवन् कैवल्य, विदेह कैवल्य की पूर्व अवस्था है।

(ख) समाधि की प्राप्ति कैवल्य के बाद होती है।

(ग) गीता में कर्म सन्यास से कर्म योग को श्रेष्ठ माना गया है।

(घ) पर वैराग्य से निर्बीज समाधि की सिद्धि होती है।

(ङ) सत्य का पालन नियम है।

3 संक्षिप्त अन्तर बताइयेः–

(क) मोक्ष (अद्वैतवेदान्त) अपवर्ग (सांख्य)।

(ख) भक्तियोग एवं ज्ञान योग

(ग) अष्टांग योग एवं क्रियायोग

(घ) हेय, हेतु, हान एवं हानोपाय

(ङ) न्याय दर्शन में अपवर्ग एवं सांख्य दर्शन में अपवर्ग।

4. अतिलघुत्तरीय प्रश्नः–

(क) कैवल्य सुख की अवस्था क्यों नहीं है?

(ख) षड् दर्शनों मे से कौन कौन दर्शन जीवन्मुक्ति को नहीं मानते?

(ग) साधन चतुष्टय कौन–कौन से है?

(घ) त्रिविध दुखों के नाम बताइये।

(ङ) हठयोग के चार अंग कौन कौन से हैं?

20.5 सारांश

पुरुष (आत्मा) का अपने वास्तविक स्वरूप में अवस्थिति ही कैवल्य है जिसे मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण, अपवर्ग, निःश्रेयस आदि कई नामों से भारतीय दर्शन में सम्बोधित करते हुए जीवन का चरम लक्ष्य बताया गया है। यही परम पुरुषार्थ है।

यह दुखों से आत्यन्तिक निवृत्ति की अवस्था है। दुख का कारण अज्ञान है। अज्ञान वश पुरुष प्रकृति (मन, बुद्धि, अंहकार) को अपना स्वरूप समझ उसके गुणों से प्रभावित हो सुख दुख भोगता रहता और बन्धनग्रस्त हो जन्म–मरण के चक्र में घूमता रहता है। मोक्ष इसी अविद्या (अज्ञान) से मुक्ति की अवस्था है जिसकी प्राप्ति ज्ञान या विवेक से सम्भव मानी गई है। इस विवेक ज्ञान की प्राप्ति या कैवल्य की प्राप्ति के लिए ज्ञान योग, कर्म योग, भक्ति योग, राजयोग, अष्टांग योग आदि अनेक प्रकार के साधना मार्ग बताये गये हैं जिन पर चलने से चित्त की वृत्तियाँ निरूद्ध हो जाती हैं। मन चित्त आदि के शुद्ध निर्मल होकर होने पर पुरुष समाधि की अवस्था में आत्म साक्षात्कार प्राप्त कर अपने वास्तविक रूप को जान जाता है। यही कैवल्य है, जो इसी जीवन में सम्भव होने पर जीवन कैवल्य कहलाता है तथा शरीर छूट जाने पर मृत्यु उपरान्त विदेह कैवल्य होता है, जहाँ से पुनर्जन्म नहीं होता।

20.6 शब्दावली

सम्प्रत्यय	–	विचार
निवृत्त	–	छुटकारा
विष्लेषण	–	विवेचना
अवगत्	–	जानना
आत्यन्तिक	–	पूर्ण रूप से
अनात्म	–	जो आत्मा नही है, अचेतन तत्व
ह्रास	–	कमी
तथागत	–	जो वास्तविक सत्य को जानता हो
वीर्य	–	शक्ति
विदेह	–	बिना देह का
मुमुक्षु	–	मोक्ष प्राप्त करने का इच्छुक व्यक्ति
भार्या	–	पत्नी
उत्कर्ष	–	उन्नति
अविनाशी	–	जिसका नाश सम्भव न हो
अजर	–	जो बूढ़ा न हो
युक्त	–	सहित
परे	–	अलग
सम्यक्	–	सही–सही
बोध	–	ज्ञान, अनुभव

प्रारब्ध– पहले से किये हुए वे कर्म जिनका फल मिलना शुरू हो गया हो अर्थात् पूर्व कृत कर्मों के फल

20.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. **(क)** आध्यात्मिक **(ख)** कैवल्यम् **(ग)** मन **(घ)** समाधि **(ड़)** सात।
2. **(क)** सत्य **(ख)** असत्य **(ग)** सत्य **(घ)** सत्य **(ड़)** असत्य
3. **(क)** अद्वैत वेदान्त में मोक्ष आनन्द की अवस्था है जबकि साख्य दर्शन अपवर्ग को आनन्द रहित मानता है। वह आनन्द को सतोगुण का फल मानता है और पुरुष त्रिगुणातीत होने से आनन्द से रहित स्वरूप वाला है।

(ख) भक्तियोग भाव प्रधान साधना है जबकि ज्ञान योग बुद्धि प्रधान साधना।

(ग) अष्टांग योग प्रारम्भिक साधकों के लिए है जबकि क्रिया योग मध्यम श्रेणी के साधकों के लिए होता है।

(घ) हेय का अर्थ है दुख या संसार

हेतु का अर्थ है दुख का कारण अर्थात् अविद्या

हानं का अर्थ है दुख से मुक्ति अर्थात् कैवल्य

हानोपाय का अर्थ है कैवल्य का उपाय अर्थात् विवेकख्याति

(ङ) न्याय दर्शन के अपवर्ग में आत्मा अचेतन हो जाती है (क्योंकि यही उसका वास्तविक स्वरूप है) जबकि सांख्य दर्शन में वह चेतन बनी रहती है। क्योंकि पुरुष चैतन्य स्वरूप है।

4. **(क)** क्योंकि सुख सतोगुण का परिणाम है और कैवल्य त्रिगुणातीत अवस्था है।

(ख) भारतीय षड्दर्शनों में न्याय–वैशेषिक एवं मीमांसा दर्शन जीवन मुक्ति को नहीं मानते। ये केवल विदेह मुक्ति ही स्वीकार करते हैं।

(ग) विवेक वैराग्य षड्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व को साधन चतुष्टय कहते हैं।

(घ) आध्यात्मिक दुख, आधिभौतिक दुख एवं आधिदैविक दुख को त्रिविध दुख कहते हैं।

(ङ) हठयोग के चार अंग हैं– आसन, प्राणायाम, मुद्रा एवं बन्ध तथा नादानुसंधान।

20.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. महर्षि पंतजलि– योग दर्शन – गीता प्रेस गोरखपुर।

2. ईश्वर कृष्ण– सांख्य कारिका– नेशनल पब्लिसिंग हाउस, दिल्ली।

3. राधा कृष्णन सर्वपल्ली– भारतीय दर्शन।

4. सरस्वती, स्वामी विज्ञानानन्द– योग विज्ञान– योग निकेतन ट्रस्ट टिहरी गढ़वाल।

5. कल्याण, योगाङ्क– गीताप्रेस गोरखपुर।

6. कल्याण–साधना अंक– गीताप्रेस गोरखपुर।

7. निगम डॉ॰ शोभा– भारतीय दर्शन– मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली।

8. पाठक राममूर्ति– भारतीय दर्शन का समीक्षात्मक रूपरेखा– अभिमन्यु प्रकाशन इलाहाबाद।

9. सिन्हा डॉ॰ हरेन्द्र प्रसाद– भारतीय दर्शन की रूपरेखा– मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली।

10. उपाध्याय, बलदेव– भारतीय दर्शन–शारदा मंदिर, वाराणसी।

11. तीर्थ, स्वामी ओमानन्द– पांतजल योग प्रदीप–गीताप्रेस, गोरखपुर।

12. शर्मा, आचार्य श्री राम–साधना से सिद्धि–अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा।

20.10 निबंधात्मक प्रश्नः–

1. कैवल्य से आप क्या समझते है, व्याख्या करें।
2. योग दर्शन के अनुसार कैवल्य के स्वरूप ही विवेचना कीजिए।
3. सांख्य दर्शन में दुख क्या है? इससे मुक्ति कैसे सम्भव है?
4. जीवन मुक्ति एवं विदेह मुक्ति में अन्तर स्पष्ट कीजिए?
5. महर्षि पंतजलि ने कैवल्य प्राप्ति के कौन–कौन से उपाय बताये हैं? किसी एक का वर्णन करें।
6. अष्टांग योग क्या है? इसके महत्त्व को रेखांकित कीजिए।
7. क्रिया–योग से कैवल्य की प्राप्ति किस प्रकार सम्भव है? समझाइय